ब्रह्ममीमांसासूत्रम्

शाङ्करभाष्यानुकूलया कौण्डिन्न्यायनवृत्त्या संवलितम्

हिन्दीभाषानुवादसहितम्

शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
१२५

वेदव्यास-बादरायणमुनि-कृतं

ब्रह्ममीमांसासूत्रम्

शाङ्करभाष्यानुकूलया कौण्डिन्न्यायनवृत्त्या सहितम्

हिन्दीभाषानुवादयुतम्

अधिकरणरचना-तदर्थसङ्ग्रहविराजितम्

दर्शनशास्त्रपरिचय-भारतवर्षीयप्रमुखदर्शनविवरण-
ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थपरिचय-ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थाऽध्ययनाऽधिकारिनिरूपण-
वेदान्तशास्त्रग्रन्थकारपरिचयादियुतया प्रस्ताविकया चोपबृंहितम्

ब्रह्ममीमांसासूत्रमूलपाठयुतम्

ब्रह्ममीमांसासूत्रपदानुक्रमणिकादिपरिशिष्टविशिष्टं च

वृत्तिकारः

शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः

ब्रह्ममीमांसाचार्यः, साहित्याचार्यः, एम.ए. (संस्कृते), एम.ए. (फिलोसफिविषये),
विद्यावारिधिः (पी-एच्.डी.), वाचस्पतिः (डी.लिट्.)

सम्पादकः

सुमोदवर्धनः कौण्डिन्न्यायनः, ब्रह्ममीमांसाचार्यः
(स्वाद् ध्यायशालाकुटुम्बगृहपतिगृह्यः)

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 420404

पुनर्मुद्रित संस्करण 2002 ई.
मूल्य : 300.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 3956391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 335263, 333431

विषयानुक्रमणिका

द्वितीये पादे—

उपास्यब्रह्मपरकाऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयपरे—

तृतीये पादे—

ज्ञेयब्रह्मपरकाऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयपरे—

चतुर्थे पादे—

अव्यक्तादि-सन्दिग्धपदसमन्वयपरे—

अथ द्वितीयोऽविरोधाध्यायः १०२-२०२

चतुर्थे पादे–

लिङ्गशरीरश्रुतिवाक्यविरोधाऽभावप्रतिपादनपरे–

अथ तृतीयः साधनाध्यायः २०३-३३०

तत्र प्रथमे पादे–

जीवसंसृतिनिरूपणात्मके वैराग्यजागरणपरे–

द्वितीये पादे

त्वम्पदार्थ-तत्पदार्थ-निरूपणपरे—

तृतीये पादे—

सगुणब्रह्मविद्यागुणोपसंहाराऽनुपसंहार-निर्गुणब्रह्मविद्यावाक्यपदोपसंहारा-ऽनुपसंहारादि-निरूपणपरे—

चतुर्थे पादे—

निर्गुणब्रह्मविद्या-तदन्तरङ्गबहिरङ्ग-साधनादिविचारपरे—

अथ चतुर्थः फलाध्यायः ३३१-३९५

प्रथमे पादे—

साधनशेष-सगुणनिर्गुणब्रह्मविद्याफलरूपजीवन्मुक्ति-निरूपणपरे—

प्रस्तुत वृत्ति की विशेषताएं

वेदान्त वेद का अन्त अथवा सारभाग है। वेदान्तशब्द से मुख्य रूप में उपनिषदों का बोध होता है। उपनिषद् वेद की अनेक शाखाओं में अनेक हैं। उन में परमात्मज्ञान के प्रतिपादन के नाना प्रकार हैं। उन प्रकारों के समन्वय से आत्मज्ञान के प्रतिपादन की आवश्यकता पडती है, और एक शाखा की उपनिषद् के तात्पर्य के निर्णय में दूसरी शाखा की उपनिषद् के समान प्रकरण का विचार भी सहायक होता है। एक शाखा में अप्राप्त अत्यावश्यक मोक्षविषयक ज्ञान का शाखान्तर की उपनिषद् से सङ्गृहीत करने की आवश्यकता भी कभीकभी पडजाती है। अतः उपनिषदों के नाना प्रकरणों का अध्ययन और उन के समन्वयात्मक अर्थ का निश्चय करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु यह कार्य कलियुग के मन्दमति मनुष्यों के लिए दुष्कर है। अत एव मन्दमति मुमुक्षुजन के उपकार के लिए पराशरपुत्त्र बादरायण कृष्णद्वैपायन व्यास ने ब्रह्ममीमांसासूत्र बनाकर उपनिषदों के विभिन्न प्रकरणों का समन्वित अर्थ निश्चित रूप में समझने के लिए मार्ग दिखा दिया है।

इस ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थ का ठीकठीक अर्थ को समझना भी कठिन है। अत एव इस के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन और नवीन विद्वानों ने इस पर वृत्ति और भाष्य रचे हैं। शङ्करभगवत्पाद से प्राचीन वृत्तियों में उपवर्ष की और बोधायन की वृत्तियों का नाम लिया जाता है। किन्तु वे वृत्तियां अनुपलब्ध हैं। ब्रह्ममीमांसासूत्र की वर्तमान काल में उपलभ्यमान व्याख्याओं में शङ्करभगवत्पाद का भाष्य प्राचीनतम है। यद्यपि इस भाष्य का भाष्यकार से व्यवहृत नाम **शारीरकमीमांसाभाष्य** है, तथापि यह भाष्य सम्प्रति **ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य** नाम से प्रसिद्ध है। यह भाष्य अद्वैतपरक है। यह भाष्य विस्तृत और स्थानस्थान में दुर्बोध भी है। इस लिए अनेक अर्वाचीन विद्वानों ने शाङ्करभाष्यानुसारी वृत्तियाँ रचीं हैं।

यद्यपि ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यानुसारी वृत्तियाँ अनेक हैं तथापि उन में से किसी में केवल सूत्रार्थ हैं, अधिकरण स्पष्ट रूप में प्रतिपादित नहीं हैं; उदाहरणार्थ शङ्करानन्दकृत **दीपिका,** अन्नम्भट्टकृत **मिताक्षरा,** हरिदीक्षितकृत **सुबोधिनी** इत्यादि का नाम लिया जा सकता है; और किसी में केवल अधिकरण हैं सूत्रार्थ नहीं, उदाहरणार्थ अनन्यानुभवकृत **शारीरकन्यायमणिमाला,** विद्यातीर्थकृत **वैयासकन्यायमाला** इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। इस से जिज्ञासुओं और विद्यार्थियों को ब्रह्ममीमांसासूत्र को ठीकठीक समझने में कठिनाइ हो रही प्रतीत होती है। इसी लिए प्रस्तुत वृत्ति में सूत्रार्थों के साथसाथ अधिकरणों का भी स्पष्ट रूप में प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत वृत्ति में सूत्रार्थ के प्रतिपादन में सूत्रस्थ पद, पूर्वसूत्रस्थ पद की अनुवृत्ति, अध्याहार्य पद, वाक्यरचना, सङ्गति इत्यादि का सम्यग् विचार कर के सूत्रार्थ निश्चित किया गया है। सूत्रार्थों के निर्धारण में शङ्करानन्दादिकृत पूर्व वृत्तियों का भी कहीं कहीं आवश्यकताऽनुसार विशेष अवलम्बन किया गया है।

"स्मृतेश्च" (१।२।६) इत्यादि सूत्रों में स्मृतिशब्द से कैसा और कौन ग्रन्थ वस्तुतः ग्राह्य है, यह विषय विशेष रूप से प्रस्तुत वृत्ति में विचारित है।

इस वृत्ति में "अपि च सप्त" (३।१।१५), "तुल्यं तु दर्शनम्" (३।४।९) इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्रों में श्रुति-स्मृति-पुराणों से अनेक विशिष्ट वचन उद्धृत करके सूत्रार्थ स्पष्ट और विशदतर रूप में प्रतिपादित हैं।

प्रस्तूयमान वृत्ति के साथ में सूत्रों का हिन्दी में सरल और स्पष्ट अर्थ भी प्रतिपादित है। यद्यपि उदयवीरशास्त्री का और हरिकृष्णदास गोयन्दका का भी हिन्दी में ब्रह्ममीमांसासूत्र का अर्थ प्रकाशित है, तथापि उन के अर्थ शाङ्करभाष्य के अनुकूल और सुसमन्वित भी नहीं हैं। इस वृत्ति के साथ में मुख्य रूप में सभी सूत्रों का शाङ्करभाष्य का अनुकूल अर्थ ही हिन्दी में दिया गया है।

भामती-वेदान्तकल्पतरु-कल्पतरुपरिमल-टीकाओं से युक्त और भाष्यरत्नप्रभा-भामती-शारीरकभाष्यन्यायनिर्णयटीकाओं से युक्त शाङ्करभाष्य के संस्करणों में भी मूलस्थलनिर्देश से रहित अनेक श्रुति-स्मृति-पुराण-महाभारतादि-वचनों का प्रभूत प्रयास से विविध उपायों और उपकरणों से मूल स्थलों का अन्वेषण करके मूल ग्रन्थों को भी देखकर परीक्षापूर्वक इस वृत्ति में मूलस्थलनिर्देश भी किया गया है।

वेदान्तदर्शन को सुगम बनाने के लिए पूर्वपक्षादि रूप में विचारणीय अन्य भारतवर्षीय दर्शनों की मुख्य बातों का परिचय भी प्रस्ताविका में समाविष्ट है।

ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थ का सङ्क्षिप्त परिचय प्राप्त करने पर ही उस का अवगाहन सरल होता है। इस लिए इस वृत्ति में संलग्न प्रस्ताविका में ब्रह्ममीमांसासूत्र के विविध पक्षों का सङ्क्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

प्रस्तूयमान वृत्ति के साथ में अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थकारों का सङ्क्षिप्त परिचय भी प्रस्ताविका में समाविष्ट है। ग्रन्थकारों के परिचयों में भी इस प्रस्ताविका में अनेक विशेषताएँ हैं। इन परिचयों से अद्वैत वेदान्त की व्याख्या के विकासक्रम को समझने में सुविधा होगी और विद्यार्थी लोग भी इस से लाभान्वित होंगे।

प्रस्तूयमान वृत्ति से युक्त इस संस्करण में पाठकों की और अनुसन्धाताओं की सुविधा के लिए विस्तृत विषयानुक्रमणिका, पृथग् ब्रह्ममीमांसासूत्र-मूलमात्रपाठ, ब्रह्ममीमांसासूत्रपदानुक्रमणिका और वृत्ति में उद्धृत ग्रन्थान्तरवाक्यों की अनुक्रमणिका भी समाविष्ट हैं।

बादरायणीय ब्रह्ममीमांसासूत्र की विविध अङ्गों से युक्त यह वृत्ति विद्वानों के प्रमोद के लिए और छात्रों और अन्य सर्वसाधारण जिज्ञासु जनों के उपकार के लिए भी होगी, यह वृत्तिकार और सम्पादक की आशा है।

—सम्पादक

प्रस्ताविका

दर्शनशास्त्रपरिचयः

अध्यात्मशास्त्रं लोके दर्शनशास्त्रमिति प्रायेणोच्यते। अतोऽत्र दर्शनशास्त्रस्य परिचयः सङ्क्षेपेण प्रस्तूयते—

दर्शनशास्त्रपरिभाषा

दर्शनमिति सामान्यतया ज्ञानमुच्यते। तथापि दर्शनशास्त्रम् इत्यत्र द्रष्टुर् दृश्यस्य तयोः सम्बन्धस्य च निष्कृष्टं निश्चयात्मकं ज्ञानमेव दर्शनशब्दस्यार्थः। एतस्यैवाऽर्थस्य केनाऽपि विस्तरेण प्रतिपादने तु आत्मा, मनः, इन्द्रियाणि, शरीरम्, जन्म, जीवनम्, मृत्युः, पुनर्जन्म, जगत्, दुःखम्, दुःखकारणम्, दुःखमुक्तिः, दुःखमुक्त्युपायः, ईश्वरः, ब्रह्म इत्यादिकानां मुख्यानां विषयाणां निष्कृष्टं निश्चयात्मकं ज्ञानमेव दर्शनमित्युच्यते इति वक्तुं शक्यते। शास्त्रशब्देन त्वत्र वस्तुतत्त्वशंसनपरं वाक्यमेवोच्यते न कर्मशासनपरं वाक्यम्।

दर्शनशास्त्रस्योत्पत्तिः

स्वस्य परस्य वा दुःखेनाऽऽहतो मनुष्यो यदा अन्तर्मुखदृष्टिर् भूत्वा आत्मनः, जगतः, आत्मजगतोः सम्बन्धस्य च विषये विचारयितुं कयाऽपि प्रेरणया प्रवृत्तो भूत्वा तेषां विषये निष्कृष्टं निश्चयात्मकं ज्ञानं प्रापत् तदैव दर्शनशास्त्रस्योत्पत्तिरभूदिति वक्तुं शक्यते। भारतवर्षीयायां परम्परायां तु सा प्रेरणाऽनादेरपौरुषेयाद् वेदादेव मनुष्येण प्राप्ता, आत्मादीनां विषये निष्कृष्टं निश्चयात्मकं ज्ञानं च तत एव प्राप्तमिति स्वीक्रियते।

दर्शनशास्त्रप्रयोजनम्

सुखशान्तिपूर्णजीवनयात्रायै पुनर्जन्मादिसंसृतिचक्रान् मुक्तये चाऽऽवश्यकस्याऽऽधारभूतस्य आत्मादितत्त्वज्ञानस्य मनुष्येभ्यः प्रदानमेव दर्शनशास्त्रस्य प्रयोजनमस्ति।

भारतवर्षीयाणां प्रमुखाणां दर्शनानां सङ्क्षिप्तं विवरणम्

वेदान्तदर्शनस्य मुख्यस्य सिद्धान्तस्य निस्सन्देहरूपेण ग्राह्यतायाः प्रदर्शनायाऽऽवश्यकत्वाद् ब्रह्ममीमांसासूत्रकारेण मुख्यतया पुरुषतुल्यसत्ताकप्रकृतिवादिनाम् अनुमान-प्रधानानां साङ्ख्यानां सिद्धान्तस्य निराकरणं कृत्वाऽन्येषामपि पातञ्जल-वैशेषिक-बौद्ध-जैन-पाशुपत-पाञ्चरात्राणामपि सिद्धान्तानां निराकरणं कृतमिति तेषामपि स्वरूपस्य सङ्क्षेपेण ज्ञानं ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य सम्यग्बोधायाऽऽवश्यकं भवति। तस्मात् तेषां सिद्धान्ता अतिसङ्क्षेपेणाऽत्र प्रतिपाद्यन्ते। तत्प्रसङ्गादन्येषामपि केषां चन भारतवर्षीयदर्शनानामत्र सङ्क्षेपेणोल्लेखः क्रियते—

चार्वाकदर्शनम्

चार्वाकदर्शनस्य सङ्केतश्छान्दोग्योपनिषदि प्रजापतीन्द्रविरोचनाख्यायिकायामपि प्राप्यते (८।७।१-८।८।५)। वाल्मीकिरामायणे महाभारते पुराणेषु च चार्वाकदर्शनस्योल्लेखाः प्राप्यन्ते। प्राकृतलोकमनोहारिचारुवाका एव चार्वाका इति विद्वांसो मन्यन्ते। अत एव ते लोकायतिका लौकायतिका वाऽप्युच्यन्ते। तेषां देहात्मवादिनां भोगपराणां भौतिकवादि-विशेषाणां दर्शनमेव चार्वाकदर्शनमित्युच्यते। सायणमाधवकृते सर्वदर्शनसङ्ग्रहे एतेषां मतस्य प्रतिपादनमस्ति। जयराशिभट्टरचितस् तत्त्वोपप्लवसिंहो नाम चार्वाकदर्शनस्य स्वतन्त्रो ग्रन्थोऽपि मुद्रित उपलभ्यते। चार्वाकाणां मते चेतनावान् देह एवाऽऽत्माऽस्ति। चेतनाऽपि तेषां मते पृथिव्यप्तेजोवायुसंयोगजा किण्वादिसंयोगजमदशक्तितुल्या भौतिकी एव, न तु भूतेभ्योऽत्यन्तं विलक्षणा। तेषां मते जगत उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः स्वभावजा वर्तन्ते। एतेषां मते तत्त्वनिर्णयसाधनं प्रमाणमेकमेव प्रत्यक्षम्। एते वेदस्य प्रामाण्यं नैव स्वीकुर्वते। एते **"त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्ड-धूर्त-निशाचराः। जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्"** इत्यादिकमुक्त्वा वेदस्योपहासं कुर्वते। एते हि **"यावज् जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"** इति वदन्ति। एवं च तेषां मते इहैव लोके यद् दुःखं तदेव नरकम्, भोगविलासादिजन्यमैन्द्रियकं सुखमेव स्वर्गः, सुखभोग एव पुरुषार्थः, लोकसिद्धो राजैवेश्वरः, राज्ञामाज्ञैव धर्मशास्त्रम्, मृत्युरेव मुक्तिः।

जैनदर्शनम्

भारतवर्षस्य गण्डकी-कौशिक्योर् नद्योरन्तराले स्थिते मिथिलाप्रदेशे स्थितायां वैशाल्यां नगर्यां कलियुगाब्दानां चतुर्विंशे शतके जातेन वर्धमानेन जिनेन विशेषतः प्रचारितं दर्शनमेव जैनदर्शनमित्युच्यते। किन्तु जैनानां परम्परा प्राचीना मन्यते। तेषामाद्यस् तीर्थकारः (=शास्त्रकारः) पुराणप्रसिद्ध ऋषभदेव उच्यते। कालेकाले जातेषु अन्येषु एकविंशतौ तीर्थकारेषु व्यतीतेषु कलियुगाब्दानामेकविंश्यां शताब्द्यां त्रयोविंशस् तीर्थकारः पार्श्वनाथोऽजनीति जैना मन्यन्ते। वर्धमानो महावीरः (जिनः) जैनानां चतुर्विंशस् तीर्थकारो मन्यते। जैनानां धर्म-दर्शनग्रन्थेषु प्राकृतभाषायां रचिता आचाराङ्गादय एकादश अङ्गग्रन्थाः, औपपातिकादयो द्वादशोपाङ्गग्रन्थाः, चतुश्शरणादयो दश प्रकीर्णग्रन्थाः, त्रीणि छेदकसूत्रादीनि मूलसूत्राणि, जैनवेदाः प्रथमानुयोगः, चरणानुयोगः, करणानुयोगः, द्रव्यानुयोग इति चत्वारः, चतुर्विंशतेस् तीर्थकाराणां चरित्राणां प्रतिपादकानि आदिपुराणोत्तरपुराणाऽरिष्टनेमिपुराण-पद्मपुराणादीनि चतुर्विंशतिरेव जैनपुराणानि चेत्यादयो ग्रन्थाः सन्ति। जैनानां संस्कृतभाषा-ग्रन्थेषु उमास्वातिकृतं तत्त्वार्थाधिगमसूत्रं कल्यब्दानामेकत्रिंशे शतके (वैक्रमाब्दानां प्रथमे शतके) रचितत्वेन सम्भावितं वर्तते। अन्येऽप्यनेके ग्रन्था अर्वाचीने काले संस्कृतभाषायां जैनै रचिताः सन्ति।

जैनानां मते द्रष्टा जीवश्चेतनोऽस्ति, मध्यमपरिमाणश्चाऽस्ति, तस्य जीवस्य कर्म-कृतस्याऽऽवरणरूपस्य देहस्य विनाशे सततोर्ध्वगमनं मोक्ष उच्यते। जीवा अनेके सन्ति। जीवेऽनेकेषां संस्काराणामाधायिका बन्धहेतव इन्द्रियप्रवृत्तयो जैनैः आस्रवा उच्यन्ते,

संस्कारणां प्रतिरोधकानि शमदमादीनि कर्माणि संवरा उच्यन्ते, जीवात्मनि सञ्चितानामनेकेषां संस्काराणां नाशकानि तप्तशिलारोहणादीनि कर्माणि निर्जरा उच्यन्ते, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-शीलयुतः संवरनिर्जराभ्यासो मोक्षाय भवतीति स्वीक्रियते। जैनदर्शने ईश्वरो नैव स्वीक्रियते। जैनदर्शने मुख्यरूपेण जीवः, अजीवः, आस्रवः, संवरः, निर्जरः, बन्धः, मोक्ष इति सप्त पदार्थाः स्वीक्रियन्ते। अजीवेषु पदार्थेषु आकाशव्यतिरिक्तानि चत्वारि महाभूतानि, गतिहेतुत्वरूपो धर्मास्तिकायः, स्थितिहेतुत्वरूपो धर्मास्तिकायः, आकाशश्च गण्यन्ते। जैनानां मतेऽपि जगतः सृष्टि-स्थिति-प्रलयाः स्वभावजा एव मन्यन्ते। जैनैः प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे स्वीक्रियेते। कस्याऽपि वस्तुनः सत्त्वस्य विषये जैनाः (१) स्यादस्ति, (२) स्यान् नास्ति, (३) स्यादस्ति च नास्ति च, (४) स्यादवक्तव्यः, (५) स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, (६) स्यान् नास्ति चाऽवक्तव्यश्च, (७) स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्चेति सप्तभङ्गीनयं प्रयुञ्जते। वेदान् प्रति जैनानामपि दृष्टिश् चार्वाकाणामिवैव वर्तते।

बौद्धदर्शनम्

बौद्धानां सम्प्रदायेऽपि प्राचीना अनेके ध्यानिबुद्धाः बोधिसत्त्वाः मानुषबुद्धाश्च स्वीक्रियन्ते। मानुषबुद्धेष्वन्तिमो बुद्धः कलियुगाब्दानां पञ्चविंशे शतके जातः शौद्धोदनिः शाक्यसिंहो मन्यते। अयं केषुचन पुराणेषु विष्णोरवतार उक्तोऽस्ति। तथाऽपि महाभारते विष्णोरवतारेषु अस्योल्लेखो नास्ति। बुद्धैः प्रवर्तितं दर्शनं बुद्धदर्शनं बौद्धदर्शनं वोच्यते। तदनुयायिनो बौद्धा उच्यन्ते। बौद्धा मुख्यरूपेण द्विविधाः सन्ति। महायानिनो हीनयानिनश्च। महायानिनोऽपि मुख्यरूपेण द्विविधाः सन्ति माध्यमिका योगाचाराश्चेति। हीनयानिनोऽपि मुख्यतया द्विविधा एव सन्ति सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्चेति। महायानिनां ग्रन्थेषु मुख्यरूपेण प्रज्ञापारमिता–सद्धर्मपुण्डरीक-ललितविस्तर-लङ्कावतारसूत्र-सुवर्णप्रभाससूत्र–गण्डव्यूह–तथागतगुह्यक-समाधिराज-सुखावतीसूत्र-रत्नकूटसूत्रादयो ग्रन्थाः संस्कृतभाषायां रचिताः सन्ति। हीनयानिनां ग्रन्थेषु मुख्या ग्रन्थाः सुत्तपिटकादयस् त्रिपिटकग्रन्थाः पालिभाषायां रचिताः सन्ति। अर्वाचीने काले कनिष्कसमये जातायाश्चतुर्थसङ्गीतेरनन्तरं रचिता महायानिनां माध्यमिककारिका-चतुश्शतक-महायानसूत्रालङ्कार-विज्ञप्तिमात्रतासिद्ध्यादयो ग्रन्थाः, हीनयानिनां कल्पनामण्डितिका-ऽभिधर्मकोषकरका-महाविभाषा-धर्मस्कन्धा-ऽभिधर्मकोष-प्रमाणसमुच्चय-प्रमाणवार्तिकादयो ग्रन्थाश्च संस्कृतभाषायामेव वर्तन्ते।

तत्र माध्यमिका द्रष्टृदृश्यात्मकं सर्वमेव जगत् शून्यस्य आभास एवाऽस्ति, वस्तुतत्त्वं किमपि नास्तीति वदन्ति; योगाचारास्तु परिवर्तनशीलमस्थिरमुत्पत्तिविनाशशालि ज्ञानं वर्तते, तस्यैव विवर्तभूतं जगदस्ति नाऽन्यत् किञ्चिदिति वदन्ति; सौत्रान्तिकाः बुद्ध्याऽनुमिताः क्षणिका बाह्या दृश्या अर्थाः सन्तीति कथयन्ति; वैभाषिकास्तु सर्वं वस्तु प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं चाऽस्तीति भाषन्ते। तदुक्तम्—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस् तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस् त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥ इति।

तत्र प्रायः सर्वेऽपि बौद्धाः 'सर्वेषां वस्तूनामनित्यत्वेऽपि अनादिवासनावशात् तृष्णापरवशा अज्ञानिनः प्राणिनः पुनर्जन्मादिसंसृतिचक्रे भ्रमन्ति, तत्र दुःखं भवति, सम्यग्-दृष्टि-सम्यक्सङ्कल्प-सम्यग्वचन-सम्यक्कर्मान्त-सम्यगाजीव-सम्यग्व्यायाम-सम्यक्-स्मृति-सम्यक्समाधियुतेन अष्टाङ्गकमार्गेण पुनर्जन्मादिसंसृतिकारणाऽज्ञानवासनामूलक-तृष्णानाशे दुःखनिरोधरूपं निर्वाणं (मोक्षः) भवतीति मन्यन्ते। बौद्धानां मते नित्य आत्मा नास्ति, भ्रमेण रूप-सञ्ज्ञा-वेदना-संस्कार-विज्ञान-समूहरूपं स्कन्धपञ्चकमेवाऽऽत्मत्वेन गृह्यते इति ते मन्यन्ते। तेषां मते ईश्वरो नास्ति, जगत्प्रवाहोऽनादिः प्रतीत्यसमुत्पादी स्वभाव-मात्रजो वर्तते। बौद्धानां मते प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे एव प्रमाणे स्तः। तेषां मते वेदाः प्रमाणं न सन्ति। वेदान् प्रति बौद्धानामपि चार्वाकाणां जैनानामिवैव दृष्टिर् वर्तते।

अर्वाचीने काले यदा वेदाङ्गानां षण्णां शास्त्राणां समूहस्याऽनुकरणेन वैशेषिक-तर्क-साङ्ख्य-योग-मीमांसा-वेदान्तानां षण्णां दर्शनानां समूहीकरणेन आस्तिकदर्शनेषु षड् दर्शनानीति व्यवहारः प्रचलितस् तदा नास्तिकदर्शनेष्वपि चार्वाक-जैन-माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकाणां समूहीकरणेन षड नास्तिकदर्शनानीति व्यवहारः प्रचलितो दृश्यते। तथाऽप्येतादृशो व्यवहारो हरिभद्रकृत-षड्दर्शनसमुच्चयादिषु प्राचीनेषु ग्रन्थेषु तु नोपलभ्यते।

वैशेषिकदर्शनम्

कणादप्रणीतं वैशेषिकसूत्रं वैशेषिकदर्शनस्य मुख्यो ग्रन्थः। एतस्य सूत्रग्रन्थस्य प्रशस्तपादभाष्यमिति प्रसिद्धं व्याख्यानमस्ति। किन्तु तद् व्याख्यानम् प्रतिसूत्रं नास्ति। तत् खलु वैशेषिकदर्शन-प्रमाणप्रमेय-निरूपणपर-स्वतन्त्रनिबन्ध-रूपमस्ति। शङ्करमिश्रकृतं वैशेषिक-सूत्रोपस्काराख्यं व्याख्यानं तु सूत्रानुसारि वर्तते। नित्य-द्रव्यादिषु परस्पर-भेदे कारणस्य विशेषाख्यस्य स्वतन्त्रस्य पदार्थस्य स्वीकरणादिदं दर्शनं वैशेषिकदर्शनमुच्यते।

एतस्मिन् दर्शने जीवात्मानोऽचेतनाः नित्या व्यापकाश्च स्वीक्रियन्ते। तेषामणुना मनसाऽणुनैवेन्द्रियेण विषयेण च संयोगे क्षणिकं ज्ञानमुत्पद्यते, तादृशे संयोगेऽसति स्मरणस्य चाऽभावे सति तु आत्मानोऽचेतना एवाऽवतिष्ठन्ते इति वैशेषिकाणां मतमस्ति। पृथिव्यप्तेजोवायूनां परमाणूनां संयोगेन स्थूलाः पृथिव्यप्तेजोवायवः, प्राणिनां शरीराणि, षड् ज्ञानेन्द्रियाणि, भोग्या विषयाः, लोकाश्चोत्पद्यन्ते इति वैशेषिकाः कथयन्ति। पृथक् कर्मेन्द्रियाणि काणादाः (कणादशिष्याः) आक्षपादाः (अक्षपादशिष्याः) च न स्वीकुर्वते। धर्मसेवनप्रवृत्तात् पदार्थतत्त्वविचारात् पदार्थतत्त्वस्य ज्ञाने जाते संसारस्य दोषपूर्णताया ज्ञानेन वैराग्ये चोत्पन्ने मनुष्य आत्मज्ञानं कृत्वा सुखदुःखेच्छाद्वेषादीनामात्मविशेषगुणानामुच्छेदं विधाय मुक्तो भवतीति वैशेषिका मन्यन्ते। वैशेषिकाणां मते द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाया-ऽभावाः सप्त पदार्थाः स्वीकृताः सन्ति। द्रव्येषु च पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश-काल-दिगात्म-मनांसि नव स्वीक्रियन्ते। गुणेषु च गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द-ज्ञान-सुख-दुःखेच्छादयः स्वीकृताः सन्ति। वैशेषिकाणां मते प्राणिनां कर्माणि विचार्य ईश्वरो जगतः सृष्टिं स्थितिं संहारं च करोति। वैशेषिकाः प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे मन्यन्ते।

तथाऽपि ते वेदान् न निन्दन्ति। ते वेदशब्दान् वेदप्रतिपाद्यविषयानुमाने हेतून् वदन्ति। एवं च वेदप्रतिपाद्यान् विषयानपि तेऽनुमानेनैव ज्ञेयान् मन्यन्ते।

तार्किकदर्शनम्

वैदिकनिकाये नैयायिका इति धर्ममीमांसका ब्रह्ममीमांसकाश्चोच्यन्ते। अत एव वैदिकैराक्षपादास्तार्किका उच्यन्ते। अतोऽत्र आक्षपाददर्शनं तार्किकदर्शनमित्युक्तं बोध्यम्। प्राचीनैरनेकैर् विद्वद्भिरपि आक्षपादसूत्रस्य षट्तर्क्यां सङ्ग्रहः कृतोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्। काणादाऽऽक्षपाददर्शनपदार्थसङ्ग्रहरूपोऽन्नम्भट्टकृतो ग्रन्थोऽपि तर्कसङ्ग्रहनाम्ना प्रसिद्धोऽस्तीत्यप्यत्र स्मरणीयम्। एवमेव तर्कभाषा-तर्कामृतादयो ग्रन्थाश्च स्मरणीयाः। **"वार्ता च दण्डनीतिश्च त्रयी चाऽऽन्वीक्षिकीति च। एताश्चतस्रो विद्याः स्युर् लोकसुस्थितिहेतवः"** इत्युक्तासु चतसृषु विद्यासु एतत् तार्किकदर्शनमान्वीक्षिक्यां विद्यायामन्तर्भवतीत्यवगम्यते। तथापि अर्थशास्त्रकारस्य विष्णुगुप्तस्य कौटल्यस्य समये तु आन्वीक्षिक्यां विद्यायामेतस्य दर्शनस्य प्रसिद्धिर् नाऽऽसीदिति **"साङ्ख्यं योगो लोकायतकं चेत्यान्वीक्षिकी"** इति तद्वचनादवगम्यते। तत्र तार्किकदर्शनस्य मुख्यो ग्रन्थोऽक्षपादापरनामक-गौतममुनिकृतं न्यायसूत्रमिति न्यायदर्शनमिति चेदानीं लोके विख्यातं प्रमाणविचारप्रधानमाक्षपादसूत्रमेवास्ति। तस्य पक्षिलस्वाम्यपरनामकवात्स्यायनकृतं भाष्यमुपलभ्यते। भाष्यव्याख्यानम् उद्योतकरकृतं न्यायवार्त्तिकम्, न्यायवार्त्तिक-व्याख्या वाचस्पतिमिश्रकृता न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका, तात्पर्यटीकाया उदयनकृता तात्पर्यपरिशुद्धिनामिका टीका चोपलभ्यन्ते। एतस्य दर्शनस्य उदयनकृतो न्यायकुसुमाञ्जलिः, जयन्तभट्टकृता न्यायमञ्जरी च द्वावन्यौ विख्यातौ ग्रन्थौ स्तः। विश्वनाथन्यायपञ्चाननकृता मुक्तावलिसहिता कारिकावलिस्तु काणादाक्षपाददर्शनपदार्थसङ्ग्रहात्मक एव ग्रन्थोऽस्ति। तार्किकदर्शनस्य केवलानां प्रमाणानां निरूपणे तत्परः पक्षो नव्यन्याय इतीदानीं लोके व्यवह्रियते। नव्यन्यायग्रन्थेषु गङ्गेशोपाध्यायकृतस् तत्त्वचिन्तामणिर् मुख्यो ग्रन्थोऽस्ति। तद्व्याख्या च रघुनाथकृता दीधितिः, दीधितिव्याख्यारूपा जागदीशी-गादाधरी-माथुर्यादयो ग्रन्थाश्चाऽस्यैव पक्षस्य सन्ति। नव्यन्यायविचारसारसङ्क्षेपरूपा जानकीनाथकृता न्यायसिद्धान्तमञ्जरी च लोके प्रचलिता दृश्यते।

आक्षपादसूत्रे **"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्ता-ऽवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान् निश्श्रेयसाधिगमः"** इति प्रथमं सूत्रमस्ति। तत एवाऽस्य दर्शनस्य प्रमाण-परीक्षाप्रधानत्वमवगम्यते। एतस्मिन्नपि दर्शने जीवात्मस्वरूपम्, द्रव्यगुणादयः पदार्थाः, पृथिव्यादीनि द्रव्याणि, गन्धरसरूपस्पर्शशब्दज्ञानसुखदुःखादयो गुणाः, ईश्वरस्वरूपम्, सृष्ट्यादिव्यवस्था च वैशेषिकदर्शने इवैव वर्तते। प्रमाणप्रमेयादिपदार्थतत्त्वज्ञानेन (१।१।१), साधारणधर्म-वर्णाश्रमधर्मपालनेनाऽध्यात्मविद्याभ्यासेन (४।२।४६,४७) च मिथ्याज्ञानापाये दोष-प्रवृत्ति-जन्म-दुःखानां क्रमेण नाशे मोक्षो भवतीति एतस्मिन् दर्शने स्वीक्रियते। तथा हि उक्तम्— **"दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः"** इति (१।१।२)। एतस्मिन् दर्शने दुःखात्यन्ताभाव एव मोक्षः स्वीकृतोऽस्ति (१।१।२२); प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, उपमानम्, शब्दश्चेति चत्वारि प्रमाणानि च स्वीकृतानि सन्ति (१।१।३)।

साङ्ख्यदर्शनम्

सङ्ख्या नाम विवेचनात्मिका बुद्धिः, तस्या इदं साङ्ख्यम्। एतद् दर्शनं बुद्धिप्रधानं न तु वेदान्तदर्शनमिवाऽऽगमप्रधानमित्येतद् दर्शनं साङ्ख्यदर्शनमित्युच्यते। एतस्मिन्नर्थे महाभारतस्य **"दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः। कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा सङ्ख्येत्युपधार्यताम्"** (शान्ति.३२०।८२) इति श्लोकोऽप्यनुकूलः। अस्य दर्शनस्य बुद्धिकार्यानुमानप्रधानत्वादेवाऽस्य दर्शनस्य, अस्य दर्शनस्य प्रकृतितत्त्वस्य वा ब्रह्ममीमांसा-सूत्रेऽनुमानशब्देनोल्लेखः स्थानेस्थाने प्राप्यते (१।१।१८, १।३।३, २।२।१)। साङ्ख्यदर्शनस्य प्रवर्तकः कपिलो मुनिरुच्यते। साङ्ख्यदर्शनाचार्येषु आसुरिः पञ्चशिखश्च प्रसिद्धौ। साङ्ख्य-शास्त्रं षष्टेः पदार्थानां निरूपकत्वात् षष्टितन्त्रमित्यप्युच्यते। साङ्ख्यदर्शनस्येदानीं प्राप्यो मुख्यो ग्रन्थस्तु ईश्वरकृष्णकृतो द्वासप्तत्या आर्याभिः (कारिकाभिः) युक्तः साङ्ख्यकारिकाख्यो ग्रन्थ एवाऽस्ति। कनकसप्ततिः, सुवर्णसप्ततिः, हिरण्यसप्ततिरिति चाऽस्यैव ग्रन्थस्य नामानीति विद्वांसो मन्यन्ते। अस्य ग्रन्थस्य माठरवृत्तिः, गौडपादभाष्यम्, जयमङ्गला, युक्तिदीपिका, साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी चेति प्राचीना व्याख्याः प्रसिद्धाः सन्ति। अन्या नवीनाः साङ्ख्यचन्द्रि-कादयो व्याख्या अपि सन्ति। तत्र साङ्ख्यकारिकाभाष्यकारो गौडपादो माण्डूक्यकारिका-काराद् गौडपादात् तु भिन्नः पुरुषः प्रतीयते। तत्त्वसमाससूत्रम्, साङ्ख्यप्रवचनसूत्रम् इति च द्वावन्यौ ग्रन्थावपि साङ्ख्यदर्शनस्य स्तः। किन्तु तौ प्रायेण विद्वद्भिर् नाऽऽदृतौ दृश्येते।

साङ्ख्यदर्शने पुरुषाः (जीवाः) चेतना अनेकेऽपरिणामिनो निर्विकारा असङ्गाः, वस्तुतः प्रकृत्या तद्विकारैश्च सहाऽसम्बद्धा वर्तन्ते; प्रकृतिसान्निध्येन तु ते ज्ञानिनोऽभि-मन्तारः कर्तारो भोक्तारः सुखिनो दुःखिन इव च भवन्तीति स्वीक्रियते। सत्त्वरजस्तमोगुण-मयी प्रकृतिः पुरुषेभ्यः सर्वथा स्वतन्त्रा जडा पुरुषसान्निध्येन चेतनेव भासमाना विकारान् प्राप्नुवती वर्तत इति साङ्ख्यदर्शने स्वीक्रियते। सृष्टिसमये प्रकृतेर् महानुत्पद्यते, महतो-ऽहङ्कार उत्पद्यते, रजोनुविद्धात् सात्त्विकाद् अहङ्काराद् बुद्धीन्द्रियाणां श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रसन-घ्राणानाम्, कर्मेन्द्रियाणां वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थानाम्, मनसश्चोत्पत्तिर् भवति; रजोनुवि-द्धात् तामसादहङ्कारात् शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र-रसतन्मात्र-गन्धतन्मात्राणा-मुत्पत्तिर् भवति; शब्दतन्मात्रादिभ्यश्चाऽऽकाशादीनामुत्पत्तिर् भवति; आकाशादिभिर् महाभूतैश्च बाह्या भोग्या लोका निर्मिता भवन्ति इति साङ्ख्यसम्मतः सृष्टिक्रमः। प्राणास्तु साङ्ख्यदर्शने महदहङ्कारमनसां मिलितानां व्यापारा एव स्वीक्रियन्ते, न स्वतन्त्रतत्त्वरूपाः। महदादिभिः पञ्चतन्मात्रान्तैस्तत्त्वैः सूक्ष्मशरीरं लिङ्गशरीरापरपर्यायं प्राणिनां निष्पद्यत इति साङ्ख्या वदन्ति (साङ्ख्यका.४०)। साङ्ख्ये प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेतिं त्रीणि प्रमाणानि स्वीक्रियन्ते।

अज्ञानेन, अधर्मेण, ऐश्वर्येण, अनैश्वर्येण, वैराग्येणाऽवैराग्येण चेति प्रकृतिविकार-बुद्धिधर्मैः प्रकृतिर् बध्यते (साङ्ख्यका.२३, ६३)। तत्त्वानां ज्ञानेन (साङ्ख्यका.४४), प्रकृतिपुरुषभेदे स्पष्टतया ज्ञाते सति 'अहं कस्याऽपि नास्मि, न मे किमपि, अहं ज्ञाताऽभि-मन्ता कर्ता भोक्ता च नाऽस्मि' इति विशुद्धे ज्ञाने उत्पन्ने (साङ्ख्यका.६४) प्रकृतिर् मुच्यते; पुरुषो निरपेक्षः स्वच्छः प्रकृतिं पश्यति; ततः पुरुषस्योपेक्षणात् प्रकृतेर् विनिवर्तनाच् च पुनर् महदादिसर्गो न भवतीति सिद्धान्तः साङ्ख्यदर्शने दृश्यते।

साङ्ख्यदर्शनस्य सृष्टिप्रक्रिया, तत्त्वानि च वेदान्तदर्शनस्य सृष्टिप्रक्रियया तत्त्वैश्च प्रायेण तुल्यानि। पुरुषस्वरूपमपि तुल्यम्। गीतायां साङ्ख्यशब्देन वेदान्तज्ञानमप्युक्तम्। अतः केचन मन्दमतयः साङ्ख्य-वेदान्त-पार्थक्यबोधेऽशक्ता अपि दृश्यन्ते। तथापि केषु चन मुख्येष्वंशेषु साङ्ख्यदर्शन-वेदान्तदर्शनयोर् भेदोऽप्यस्त्येव। साङ्ख्यानां प्रकृतिः पुरुषसमसत्ताका, वेदान्तिनां तु न तथा, किन्त्वनिर्वाच्या; वेदान्तदर्शने ईश्वरः स्वीक्रियते, साङ्ख्यदर्शने तु न स्वीक्रियते; वेदान्तदर्शने आत्मा एक एवाऽद्वितीयः, साङ्ख्यदर्शने तु आत्मानो नाना; वेदान्तदर्शनमागमप्रधानम्, साङ्ख्यदर्शनं त्वनुमानप्रधानमिति च साङ्ख्य-वेदान्तिनोः प्रमुखा विमतिविषया वेदितव्याः।

योगदर्शनम्

योगदर्शनस्य मुख्यो ग्रन्थः पतञ्जलिकृतं योगसूत्रमस्ति। एतस्य केनाऽपि विदुषा कृतं व्यासभाष्यनामकं व्याख्यानमस्ति। तस्य भाष्यस्य वाचस्पतिमिश्रकृता तत्त्व-वैशारदी नाम टीकाऽप्युपलभ्यते। योगसूत्रस्य भोजराजकृता वृत्तिरपि प्रकाशमागताऽस्ति। विज्ञानभिक्षुकृतं योगवार्त्तिकम्, नागेशकृता छायाख्या व्याख्या च योगसूत्रार्थस्पष्टीकरणे समीचीनौ ग्रन्थौ मन्येते। विज्ञानभिक्षुकृतो योगसारसङ्ग्रहोऽपि मुद्रितोऽस्ति। यमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारप्रधानाद् हठयोगाद् ध्यानधारणासमाधिप्रधानमेतं योगं पृथक् कर्तुमेतं योगं राजयोगं वदन्ति।

योगदर्शने जीवात्मानः साङ्ख्यदर्शनानुकूला एव स्वीक्रियन्ते। किन्तु योगदर्शने प्रकृतिविकाररूपबुद्धिधर्माणां भ्रमात् स्वधर्मत्वेन ग्रहणेन जीवात्मसु भोक्तृत्वादिक-मागच्छति, ततस् ते बन्धे पतिताः संसृतिचक्रे भ्रमन्तीति स्वीक्रियते। प्रकृतिस् तद्विकाराः सृष्टिप्रक्रिया चाऽपि योगदर्शने प्रायः साङ्ख्यदर्शनोक्तप्रकृत्यादिभिस् तुल्या एव। किन्तु योगदर्शने प्रकृतिः सर्वज्ञेश्वराधीना सती प्रवर्तते न स्वतन्त्रेति स्वीक्रियते। योगदर्शने जगन्-नियामकः कैवल्याय ध्येय आराधनीयश्च ईश्वरः स्वक्रियते। योगदर्शनेऽपि साङ्ख्यदर्शने इवैव प्रत्यक्षाऽनुमानागमास् त्रीणि प्रमाणानि स्वीक्रियन्ते।

योगदर्शनेऽपि प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानादेव मुक्तिर् भवतीति स्वीक्रियते; किन्त्वत्र प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानाय साङ्ख्यदर्शने इव तत्त्वज्ञानमेवाभ्यसनीयमिति (साङ्ख्यका.६४-६८) न मन्यते। अत्र तु प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानाय यम-नियमा-ऽऽसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधीनामभ्यासेन चित्तवृत्तीनां पूर्णो निरोधः कार्य इति स्वीक्रियते। चित्तवृत्तीनां पूर्णे निरोधे निर्बीजसमाधिना चित्ते स्वकारणे विलीने प्रकृतिपुरुषविवेकख्यातौ जातायां भ्रमरूपाया अविद्याया निवृत्तौ पुरुषाणां स्वस्वरूपस्थानां कैवल्यं भवतीति योगदर्शनसिद्धान्तो वर्तते।

पाशुपतदर्शनम्

ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य **"पत्युरसामञ्जस्यात्"** (२।२।३७) इत्यारब्धेऽधिकरणे बाद-रायणमुनिना माहेश्वर-पाशुपतादीनां निमित्तकारणमात्ररूपेश्वरवादिनां मतेन निमित्तोपा-दानोभयविधकारणरूपेश्वरवादे वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्यत इति प्रदर्शितमिति शङ्करभगवत्पादादयः कथयन्ति। अतोऽत्र सङ्क्षेपेण पाशुपतदर्शनस्य परिचयः प्रस्तूयते।

एतस्य पाशुपतदर्शनस्य मुख्य आचार्यो नकुलीशो लकुलीशो लागुडो वा मन्यते। स हि प्राचीनपरम्पराऽऽगतं पाशुपतयोगं प्रतिपादयितुम् **"अथाऽतः पशुपतेः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्यामः"** इति सूत्रेणाऽऽरब्धं पञ्चाध्यायात्मकं पाशुपतसूत्रं रचयामास किल। एतस्य सूत्रग्रन्थस्य राशीकरेण गोत्रकौण्डिन्येन कृतं भाष्यं चोपलभ्यते। अज्ञातकर्तृकः कारणपदार्थः, हरदत्तकृता गणकारिका, तार्किक-भासर्वज्ञकृता गणकारिकाटीका चैतस्य दर्शनस्याऽन्ये मुख्या ग्रन्था अवगम्यन्ते।

एतस्मिन् दर्शने जीवात्मानः पशव उच्यन्ते। पशव इति पाशबद्धा मलिनीभूता द्रष्टारश्चेतना जीवा इत्यर्थः। द्रव्यगुणादयः पदार्थाः, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादीनि द्रव्याणि, शरीरेन्द्रियविषयाः, मर्त्यलोकादयो लोकाश्च एतस्मिन् दर्शने काणादाऽऽक्षपाददर्शनयोरिवैव प्रायेण स्वीक्रियन्ते इति, पाशुपतानां काणादाऽऽक्षपादानां च परस्परं निकटः सम्बन्धो वर्तते इति, पाशुपतयोगाचार्यपरम्परायां कणादस्याऽक्षपादस्य च नामनी स्तः इति, न्यायवार्तिककार उद्योतकर आत्मानं महापाशुपतं ख्यापयतीति, प्रशस्तपादभाष्यव्याख्याता व्योमशिवोऽपि शैव एव प्रतीयत इति चाऽनुसन्धातारो वदन्ति। तार्किकस्य भासर्वज्ञस्य पाशुपतग्रन्थव्याख्यातृत्वं तु पूर्वमेवोक्तम्।

एतस्मिन् दर्शने परमेश्वरः पतिरित्युच्यते, स च पशुशब्दाभिधेयजीवकर्मादिनिरपेक्ष एव स्वेच्छया जगत् सृजति पालयति संहरतीति च स्वीक्रियते। मिथ्याज्ञाना-ऽधर्म-सक्तिहेतु-च्युति-पशुत्वरूपैर् मलैः पाशभूतैः संसारे बद्धाः खलु मलिनाः पशुभावं प्राप्ता जीवाः द्रव्य-काल-क्रिया-मूर्ति-गुरुयोगेन पाशुपतयोगमार्गे दीक्षिताः सन्तो गुरु-जन-गुहादेश-श्मशान-रुद्रस्थानादि-देशस्थाः गुरुभक्ति-प्रसाद-मति-द्वन्द्वजय-धर्मा-ऽप्रमादरूपैर् बलैश्च सहितैर् वास-चर्या-जप-ध्यान-सदारुद्रस्मृति-प्रपत्तिरूपैरुपायैर् अज्ञाना-ऽधर्म-सङ्गहेतु-च्युति-पशुत्वहानीः प्राप्य विशुद्धाः भैक्ष्योत्सृष्टयथालब्धाशनाश् चित्तद्वारेण आत्मेश्वरसम्बन्धरूपं योगं प्राप्ता ईश्वरानुग्रहेण सर्वविधदुःखध्वंसरूपम् ईश्वरस्थसर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वादिपरमैश्वर्य-सङ्क्रान्तिजन्येश्वरसाम्यरूपं च लाभाख्यं दुःखान्ताख्यं वा मोक्षं लभन्ते इति पाशुपतदर्शने स्वीक्रियते।

पाञ्चरात्रदर्शनम्

इदानीं लोके वैष्णवागमः प्रायेण वैखानसागमः, पाञ्चरात्रागमः, भागवतागमश् चेति त्रिविधः श्रूयते। तत्र भागवतागमस्य मुख्या ग्रन्था उपलभ्यमाना न दृश्यन्ते। भागवतपुराणादिषु भागवतागमसिद्धान्ता अनुस्यूताः सन्तीति विद्वांसो वदन्ति। वैखानसागमस्य ग्रन्थेषु इदानीं काश्यपज्ञानकाण्डम् (काश्यपसंहिता), मरीचिकृत-विमानार्चनकल्पः (वैखानसागमः), समूर्तार्चनाधिकरणम् (अत्रिसंहिता) चेति ग्रन्था मुद्रिता अवगम्यन्ते। पाञ्चरात्रागमास्तु ब्राह्मपाञ्चरात्रम्, शैवपाञ्चरात्रम्, कौमारपाञ्चरात्रम्, वासिष्ठपाञ्चरात्रम्, कापिलपाञ्चरात्रम्, गौतमीयपाञ्चरात्रम्, नारदीयपाञ्चरात्रम्, सनत्कुमारपाञ्चरात्रम् इति विविधाः श्रूयन्ते। तत्र केन चन पाञ्चरात्रागमविशेषेण सम्बद्धासु पाञ्चरात्रसंहितासु जयाख्यसंहितायाम्, अहिर्बुध्न्यसंहितायां च ग्रन्थारम्भे एव, सात्वतसंहितायां तु

नानाप्रकरणेषु विकीर्णतया पाञ्चरात्रदर्शनस्य प्रतिपादनमुपलभ्यत इति विद्वांसो वदन्ति। अत्र तु महाभारतशान्तिपर्वान्तर्गतनारायणीयपर्वानुसारं पाञ्चरात्रदर्शनं सङ्क्षेपेण प्रदर्श्यते। तत्र हि राज्ञ उपरिचरस्य सात्वतं विधिमास्थाय सर्वासां क्रियाणां निष्पादनं वर्णितमस्ति (शान्ति.३३५।२४)। तत्र सात्वतस्य शास्त्रस्य सप्तभिर् मरीच्यादिभिर् ऋषिभिः स्वायम्भुवेन मनुना च कृतत्वं प्रवर्तितत्वं च वर्णितमस्ति (३३५।२७-४२; ५३)। श्वेतद्वीपगतं नारदं प्रति भगवता उपदिष्टं सात्वतदर्शनतत्त्वज्ञानं (=पाञ्चरात्रदर्शनतत्त्वज्ञानं) च तत्र वर्णितमस्ति (३३९।२१-४८)।

एवं पाञ्चरात्रदर्शने **"पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्। ते समेता महात्मानः शरीरमिति संज्ञितम्॥ तदाविशति यो ब्रह्मन्नदृश्यो लघुविक्रमः। उत्पन्न एव भवति शरीरं चेष्टयन् प्रभुः॥ न विना धातुसङ्घातं शरीरं भवति क्वचित्। न च जीवं विना ब्रह्मन् वायवश्चेष्टयन्त्युत॥ स जीवः परिसङ्ख्यातः शेषः सङ्कर्षणः प्रभुः। तस्मात् सनत्कुमारत्वं योऽलभत् स्वेन कर्मणा। यस्मिंश्च सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति सङ्क्षयम्। स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते। तस्मात् प्रसूतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च"** इति (३३९।३३-३८) जीवस्योत्पत्तिः प्रतिपादितेव भाति। **"बहवः पुरुषा ब्रह्मँस् त्वया सृष्टा स्वयम्भुवा। सृज्यन्ते चाऽपरे ब्रह्मन् स चैकः पुरुषो विराट्"** इत्यत्र च (३५०।२२) पुरुष-सृष्टिरुल्लिखिता दृश्यते। एवं च पाञ्चरात्रिका जीवोत्पत्तिवादिनः प्रतीयन्ते। तेषामयं सिद्धान्तो ब्रह्ममीमांसासूत्रे **"उत्पत्त्यसम्भवात्"** (२।२।४२) इति सूत्रेण निराकृत इति शङ्कर-भगवत्पादः प्रतिपादयति। यदि पाञ्चरात्रिका अपि जीवोत्पत्तिं न स्वीकुर्वते, **"वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्। अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते॥ स विश्वस् तैजसः प्राज्ञस् तुरीय इति वृत्तिभिः। अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर् भगवान् परिभाव्यते"** इति भागवतोक्तरीत्या (१२।११।२१,२२) जीवं वासुदेवाख्यब्रह्माभिन्नमेव मन्वते, तथा च वैदिकतत्त्वदर्शनं सर्वात्मनाऽनुसरन्ति, तदाऽपि तेषां साधनमार्गस्य अभिगमनोपादानेज्या-स्वाध्याययोगात्मकस्य वैदिकमूलमार्गभिन्नत्वात् ते मार्गान्तरानुयायिन एवाऽवगम्यन्ते।

तत्र नारायणीयपर्वणि परमेश्वरविषये च **"मुक्तानां तु गतिर् ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कल्पिता। स हि सर्वगुणश्चैव निर्गुणश्चैव कथ्यते"** इति (३३४।४१), **"न दृश्यश्चक्षुषा योऽसौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च। न घ्रेयश्चैव गन्धेन रसेन च विवर्जितः॥ सत्त्वं रजस्तमश्चैव न गुणास् तं भजन्ति वै। यश्च सर्वगतः साक्षी लोकस्याऽऽत्मेति कथ्यते॥ भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न विनश्यति। अजो नित्यः शाश्वतश्च निर्गुणो निष्कलस् तथा। द्विर्द्वादशेभ्यस् तत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः। पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते॥ यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः। स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः"** इति (३३९।२१-२५), **"अहं हि पुरुषो ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः। निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परि-ग्रहः"** (३३९।४३-४४) इत्यादि च कथितं वर्तते।

जगत्सृष्टिविषये च तत्र **"यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः। ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः सङ्कर्षणः प्रभुः॥ सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते। प्रद्युम्नाद्**

योऽनिरुद्धस्तु सोऽहङ्कारः स ईश्वरः॥ मत्तः सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम्। अक्षरं च क्षरं चैव सच् चाऽसच् चैव नारद" इति (३३९।४०-४२), "ततो भूयो जगत् सर्वं करिष्यामि च विद्यया। अस्मिन् मूर्तिश्चतुर्थी या साऽसृजच् छेषमव्ययम्। स हि सङ्कर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत्। प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनःपुनः। अनिरुद्धात् तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः। ब्रह्मणः सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च॥ एतां सृष्टिं विजानीहि कल्पादिषु पुनःपुनः। यथा सूर्यस्य गगनादुदयास्तमने इह" (३३९।७०-७५) इति चोक्तं दृश्यते।

नारायणपरतया व्रतानां करणेन जीवानां श्वेतद्वीपं प्रति गमनम्, तत्र भूयो नारायणस्याऽऽराधनेन नारायणपरायण-श्वेतद्वीपवासि-जपादिपरायणजन-दर्शनम्, ततो नारायणदर्शनाधिकारित्व-सम्पत्तिः, नारायण-दर्शनेन नारायणे प्रवेशश् चेत्यादि च तत्र वर्णितमस्ति। तथा हि— "वयं हि ब्रह्मणः पुत्रा मानसाः परिकीर्तिताः। गता निश्श्रेयसार्थं हि कदाचिद् दिशमुत्तराम्। तप्त्वा वर्षसहस्राणि चरित्वा तप उत्तमम्। एकपादाः स्थिताः सम्यक् काष्ठभूताः समाहिताः॥ मेरोरुत्तरभागे तु क्षीरोदस्याऽनुकूलतः। स देशो यत्र नस्तप्तं तपः परमदारुणम्॥ कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणात्मकम्। वरेण्यं वरदं तं वै देवदेवं सनातनम्॥ कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणं त्विति। अथ व्रतस्याऽवभृथे वागुवाचाऽशरीरिणी॥ स्निग्धगम्भीरया वाचा प्रहर्षणकरी विभो। सुतप्तं वस्तपो विप्राः प्रसन्नेनाऽन्तरात्मना॥ यूयं जिज्ञासवो भक्ताः कथं द्रक्ष्यथ तं विभुम्। क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभः॥ तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः। एकान्तभावोपगतास्ते भक्ताः पुरुषोत्तमम्॥ ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्ति सनातनम्। अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः॥ एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः। गच्छध्वं तत्र मुनयस्तत्राऽऽत्मा मे प्रकाशितः" (३३६।२१-३०) इति, "तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर् हरिरेकान्तिभिर् नरैः। भक्त्या परमया युक्तैर् मनोवाक्कर्मभिस्तदा" (३३६।४६-४७) इति, "दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः। दृष्टो भवति देवेश एभिर् दृष्टैर् द्विजोत्तमैः" (३३६।५२-५३) इति, "कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः। शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः" (३३६।५४-५५) इति, "तं वेदाश्चाऽऽश्रमाश्चैव नानामतसमाश्रिताः। भक्त्या सम्पूजयन्त्याशु गतिं चैषां ददाति सः॥ ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः। एतदभ्यधिकं तेषां यत् ते तं प्रविशन्त्युत" (३३४।४३,४४) इति, "पाञ्चरात्रपरा ये तु यथाक्रमपरा नृप। एकान्तभावोपगतास् ते हरिं प्रविशन्ति वै" (३४९।७२) इति, "ये हीनाः सप्तदशभिर् गुणैः कर्मभिरेव च। कलाः पञ्चदश त्यक्तास् ते मुक्ता इति निश्चयः" (३३४।४०) इति, "तथा तं पुरुषं विश्वं परमं सुमहत्तमम्। निर्गुणं निर्गुणा भूत्वा प्रविशन्ति सनातनम्" (३५०।२७) इति च।

एतेन सङ्क्षेपेण पाञ्चरात्रिकाणां जीव-जगत्-परमेश्वर-मोक्षसाधन-मोक्षस्वरूपाणि महाभारतवचनैरेव प्रदर्शितानि वेदितव्यानि। पाञ्चरात्रदर्शने विशेषं जिज्ञासुभिः पाञ्चरात्रागममूलग्रन्थाः पठनीयाः। रामानुजेन ब्रह्ममीमांसासूत्रव्याख्याने पाञ्चरात्रागमं प्रति विशिष्टमनुरागं दर्शयताऽपि स आगमः सम्यगनुसृतो न वेति च जिज्ञासुभिः स्वयं विवेचनीयम्।

धर्ममीमांसादर्शनम्

जैमिनीयधर्ममीमांसाशास्त्रं वस्तुतो मुख्यतया द्रष्टुर् दृश्यस्य तयोः सम्बन्धस्य च निरूपणाय प्रवृत्तं नास्तीति तद् वस्तुतो दर्शनं नास्ति। तत् तु केवलं वैदिकधर्मरूपाणां यज्ञानां स्वरूपस्य विवेचन एव प्रवृत्तं कल्पशास्त्रपुच्छभूतं वेदोपाङ्गरूपं शास्त्रमस्ति। तथापि कर्मकाण्डप्रामाण्यस्थापनाय स्वीकार्याणां निरूपणीयानां च कर्मकाण्डाधारभूत-पदार्थानां जैमिनीयधर्ममीमांसाशास्त्रे भाष्य-वार्तिक-टीका-प्रकरणग्रन्थकारैः प्रसङ्गात् कृतानि निरूपणानि विलोक्य, अर्वाचीनेषु कालेषु वैदिकयज्ञेषु प्रायेण लुप्तेषु मुख्यानां वैदिकयज्ञसम्बद्धानां पदार्थानां विवेचनं गौणीकृत्य प्रासङ्गिकानाम् अन्येषु दर्शनेषु विविच्यमानानां पदार्थानां स्वशास्त्रदृष्ट्या विवेचने प्रवृद्धां धर्ममीमांसकानां प्रवृत्तिं च दृष्ट्वा धर्ममीमांसकान् स्वदर्शनसिद्धान्तखण्डनपरानुपलभ्य मुख्यरूपेण प्रथमं जैनबौद्धादयः स्वप्रतिस्पर्धिदर्शनरूपेण धर्ममीमांसाशास्त्रं जगृहुः किल। ततोऽन्येऽपि धर्ममीमांसाशास्त्रं मीमांसादर्शनरूपेण स्वीकर्तुं प्रारेभिरे। अतोऽत्राऽपि लोकाऽऽकाङ्क्षापूरणाय धर्ममीमांसा-दर्शनस्य सङ्क्षिप्ता चर्चा क्रियमाणा वर्तते।

धर्ममीमांसाशास्त्रस्य ग्रन्थेषु जैमिनिकृतं धर्ममीमांसासूत्रम्, शबरस्वामिकृतं धर्ममीमांसाभाष्यम्, कुमारिलभट्टकृताः श्लोकवार्तिक-तन्त्रवार्त्तिक-टुप्टीकाः, प्रभाकर-मिश्रकृता शाबरभाष्यव्याख्या बृहती, मण्डनमिश्रकृता मीमांसानुक्रमणिका, पार्थसारथि-मिश्रकृता शास्त्रदीपिका, अन्यैः कृताः भाट्टदीपिका, अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तिः, सुबोधिनी वृत्तिश् चेति मुख्या ग्रन्थाः सन्ति। मीमांसान्यायप्रकाशः, अर्थसङ्ग्रहः, मानमेयोदयादयश्चा-ऽन्येऽपि धर्ममीमांसाग्रन्थाः सन्ति।

धर्ममीमांसादर्शने शरीरेन्द्रियान्तःकरणभिन्नः स्वकर्मानुसारं लिङ्गशरीरेण सह स्वर्गं नरकं वा गन्तुं पुनर् मर्त्यलोके जन्म ग्रहीतुं च योग्यो वेदविहितस्य धर्मस्य वेदनिषि-द्धस्याऽधर्मस्य च कर्ता तयोः फलस्य भोक्ता च व्यावहारिको जीवात्मा स्वीक्रियते। तत्र व्यावहारिकदृष्ट्या जीवात्मानोऽनेके स्वीक्रियन्ते। अत एव धर्ममीमांसका देहात्मवादिनाम् अनात्मवादिनां वेदनिन्दकानां च खण्डने प्रवर्तन्ते। तथाऽपि ते जीवस्य पारमार्थिकस्य रूपस्य निरूपणे तूदासीनाः, जीवपारमार्थिकस्वरूपज्ञानाय वेदान्तानां निषेवणीयत्वं स्वीकुर्वाणा दृश्यन्ते। तथा हि–

"इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥" इति

(श्लोकवार्तिके, आत्मवादे श्लो.१४८)।

धर्ममीमांसादर्शने प्राणिनां शरीराणि, ज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि, भोग्याः विषयाः, पृथिवीलोकादयो लोकाश्चेति येये पदार्था वैदिकयज्ञादिनिष्पादनाय आवश्यका भवन्ति ते सर्वे व्यावहारिकसत्यविषयरूपेण स्वीक्रियन्ते। तेषां पारमार्थिकरूपेणापि सत्यत्वे धर्ममीमांसकानां कोऽप्याग्रहो न दृश्यते। व्यावहारिकरूपेण भाट्टा धर्ममीमांसकाः

पदार्थेषु द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्या-ऽभावान् पञ्च स्वीकुर्वते, द्रव्येषु पृथिव्यप्-तेजो-वाय्वाकाश-काल-दिगात्म-तमो-मनः-शब्दान् एकादश स्वीकुर्वते; गुणेषु च रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-संस्कार-प्राकट्य-ध्वनीन् एकविंशतिं स्वीकुर्वते। प्राभाकरास्तु द्रव्य-गुण-कर्म-जाति-शक्ति-सादृश्य-सङ्ख्या-समवायान् अष्टौ पदार्थान् स्वीकुर्वते। प्रमाणेषु भाट्टाः प्रत्यक्षाऽनुमानशब्दोपमानार्थापत्त्यनुपलब्धीः षट् स्वीकुर्वते, प्राभाकरास्तु अनुपलब्धिं वर्जयित्वाऽन्यानि पञ्च प्रमाणानि स्वीकुर्वते। धर्ममीमांसका वेदानपौरुषेयान् अनादीन् अविच्छिन्नगुरुपरम्परयाऽऽगतान् धर्मे परमप्रमाणभूताँश्च प्रतिजानते। ते हि कर्मैवाऽपूर्वद्वारा फलदाने समर्थमिति स्वीकुर्वते। अतस्ते ईश्वरस्य विचारे उदासते। तथा च वेदोक्तस्य परमात्मनः परमेश्वरस्य प्रतिपादनेऽपि ते उदासीना एवाऽऽसते।

धर्ममीमांसका जीवात्मनः शरीरेन्द्रियान्तःकरणादिना प्रपञ्चेन सह सम्बन्धस्य विलये स्वस्वरूपेणाऽवस्थाने मोक्षो भवतीति वदन्ति। एतादृशी प्रपञ्चविलयावस्था च काम्यकर्मणां पापकर्मणां च परिहारेण नित्यकर्मणामग्निहोत्रादीनां करणेन आत्मतत्त्वज्ञानेन चाऽऽगच्छतीति ते वदन्ति। एतस्मिन् विषये जैमिनीये सूत्रग्रन्थे शाबरे भाष्यग्रन्थे च कोऽप्युल्लेखो नोपलभ्यते। तथाऽपि कुमारिलभट्टमहोदयेन श्लोकवार्त्तिके तु—

"मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥" (श्लो.११०)।
"तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वपरिक्षये।
उत्तरप्रचयाभावाद् देहो नोत्पद्यते पुनः॥" (श्लो.१०८)।
"कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्तते।
तदभावे न कश्चिद् धि हेतुस् तत्राऽवतिष्ठते॥" (श्लो.१०९)।
"तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते।" (श्लो.१०६)।

इत्युक्तमस्त्येव सम्बन्धाक्षेपपरिहारप्रकरणे। एतस्य पक्षस्य खण्डनं च शङ्कर-भगवत्पादेन गीताव्याख्योपसंहारे ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्ये च (४।३।१४) कृतमिव भाति। वस्तु-तस्तु कुमारिलभट्टपादात् प्राचीनानां धर्ममीमांसाशास्त्रं लोकायतीकुर्वतां केषाञ्चनाऽन्येषां मतस्यैव शङ्करभगवत्पादेन खण्डितत्वमवगम्यते। तथाऽपि याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्यारम्भे-

"सुश्लिष्टवेदमूलः पावनशाखो महाध्वरस्कन्धः।
हारि-त्रिवर्ग-कुसुमो मोक्षफलो जयति वेदार्थः॥"

इति वदन् विश्वरूपाचार्यः, कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यारम्भे—

"त्रयीसुसंवित्तिविवेकनिर्मलाः *समग्रनिश्श्रेयससिद्धिहेतवः।*
समस्तशास्त्रार्थसतत्त्वबोधका जयन्ति कात्यायनपादपांसवः॥"

इति वदन् कर्कोपाध्यायश्च यज्ञादिविध्यर्थनिर्वहणेनैव ज्ञातात्मसतत्त्वानां जनानां मोक्षस्याऽपि सिद्धिं स्वीकुरुत इति तु गम्यत एव।

देवयाजिना कृतानां यज्ञादीनां मोक्षाऽनुपयोगित्वेऽपि आत्मयाजिना कृतानां यज्ञादीनां तु मोक्षफलकत्वं श्रुतिस्मृतिसम्मतमेव, तथा हि श्रुतिः— "तदाहुरात्तँमयाजी श्श्रेयाउन् देवयाजी३ऽइत्त्यात्तँमयाजीति ह ब्ब्रूयात् त्स ह वाऽआत्तँमयाजी यो बेदेदम् मेऽनेनाऽङ्ग्ँ सँस्क्रियतऽइदम् मेऽनेनाऽङ्गमुपधीयतऽइति, स यथाऽहिस्त् त्वचो निर्म्मुच्च्येतैवमस्म्मान्न् मर्त्त्याच् छरीरात्त् पाप्प्मनो निर्म्मुच्च्यते सऽऋङ्ङ्मयो यजुर्म्मयः साममयऽआहुतिमयः स्वर्ग्गल् लोकमभिसम्भवति॥ अथ ह स देवयाजी यो बेद देवानेवाहमिदय्ँ यजे देवान् त्सपर्य्यामीति स यथा श्श्रेयसे पापीयान्न् बलिँ हरेद् द्वैश्श्यो वा राज्ञ्ँञे बलिँ हरेदेवँ स स ह न तावन्तल् लोकञ् जयति यावन्तमितरः" इति (मा.वा. शत.११।२।६।१३,१४)। स्मृतिश्च— "वेदाभ्यासस् तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः। अहिंसा गुरुसेवा च निश्श्रेयसकरं परम्॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्। किञ्चिच् छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति॥ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद् ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ षण्णामेव तु पूर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च। श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥ वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः। अन्तर्भवन्ति क्रमशस् तस्मिँस्तस्मिन् क्रियाविधौ॥ सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्श्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ इह चाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति" इति (मनुस्मृतौ १२।८३-९१)।

एवं च वेदविहिता यज्ञादयो ज्ञानदार्ढ्यसहकारितया ज्ञानकार्यायैव मोक्षाय भवन्तीति गम्यत एवेत्यवगन्तव्यम्। तथा च धर्ममीमांसाया वैदिकयज्ञादिस्थूलरूपमात्रनिरूपणपरत्वेऽपि वैदिकमोक्षविचाराऽनुकूलत्वं च सिद्ध्यत्येव।

वेदान्तदर्शनम्

वेदान्तशब्देन वेदानामन्त इति वृत्त्या वेदानामन्तिमो भाग इति, वेदानामान्तरः सार इति वाऽवगम्यते। तथा च वेदान्तशब्देन उपनिषद्ग्रन्थः उपनिषद्विद्या च प्रतिपाद्यते। वेदान्तशब्दस्यैतस्मिन्नर्थे प्रयोगाश्च "यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः" (महानारायणोपनिषदि १०।८), "वेदान्ते परमं गुह्यम्" (श्वेताश्वतरोपनिषदि ६।२२), "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मुण्डकोपनिषदि ३।२।६) इत्यादिषु स्थलेषु दृश्यन्ते।

उपनिषद्ग्रन्थाः खलु प्रतिवेदशाखं भिन्ना बहवः सन्ति। तत्र काश्चन उपनिषदो मन्त्रोपनिषदः काश्चन ब्राह्मणोपनिषदः सन्ति। तत्र ऋग्वेदोपनिषत्सु ऐतरेय्युपनिषत् कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (शाङ्खायनारण्यकोपनिषद्) इति ब्राह्मणोपनिषदौ, बाष्कलमन्त्रोपनिषत् तु मन्त्रोपनिषद् इति सङ्कलने ऋग्वेदे तिस्र उपनिषदः; यजुर्वेदोपनिषत्सु च कृष्णयजुर्वेदे तैत्तिरीयोपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, काठकोपनिषद् (कठोपनिषद्), मैत्रायणीयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् इति, शुक्लयजुर्वेदे च माध्यन्दिनीय-वाजसनेयीशावास्योपनिषद्, माध्यन्दिनीयवाजसनेयि-बृहदारण्यकोपनिषद्, काण्ववाजसनेयीशावास्योपनिषद्,

काण्व-वाजसनेयि-बृहदारण्यकोपनिषद्, जाबालोपनिषदिति दशोपनिषदः; तत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् ईशावास्योपनिषदौ च मन्त्रोपनिषदः, अन्याः ब्राह्मणोपनिषदः; सामवेदे च केनोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषच् चेति द्वे ब्राह्मणोपनिषदौ; अथर्ववेदे च प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषच्चेति तिस्र उपनिषदः, तत्र मुण्डकोपनिषद् मन्त्रोपनिषद् अन्ये द्वे ब्राह्मणोपनिषदौ इति सर्वसङ्कलने अष्टादशोपनिषदो विशेषेण प्रसिद्धाः। तत्राऽपि काण्व-वाजसनेयीशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेय्युपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, काण्ववाजसनेयि-बृहदारण्यकोपनिषच् चेति दशोपनिषदः शङ्करभगवत्पादेन व्याख्याय विशेषेण प्रचारिता इति ताः प्रसिद्धतराः।

उपनिषद्विद्या च ब्रह्मात्मविद्यैव। तदुक्तं शङ्करभगवत्पादेन **"सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या, तत्पराणां सहेतोः संसारस्याऽत्यन्तावसादनात्, उपनिपूर्वकस्य सदेस् तदर्थत्वात्, तादर्थ्याद् ग्रन्थोऽप्युपनिषद्"** इति (काण्ववाजसनेयि-बृहदारण्यकोपनिषद्-वृत्त्यारम्भे), **"उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुविषया विद्योच्यते"** इति (कठोपनिषद्-व्याख्यारम्भे), **"उपनिषदिति विद्योच्यते तत्सेविनां गर्भ-जन्म-जरा-निशातनात् तदवसादनाद् वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वात्, उपनिषण्णं वाऽस्यां परं श्रेय इति; तदर्थत्वाद ग्रन्थोऽप्युपनिषद्"** इति च (तैत्तिरीयोपनिषद्व्याख्यारम्भे)।

एतासु उपनिषत्सु विभिन्नेषु प्रकरणेषु प्रतिपादितानां विषयाणां निर्णयाय मुनिना बादरायणेन ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थः प्रणीतोऽस्ति। तत्रोपनिषदां मुख्येषु विषयेषु मीमांसा-न्यायस्य प्रयोगेण निर्णयः कृतोऽस्ति। तत्र प्रकरणतात्पर्यनिर्णये च **"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये"** इति कारिकयोक्तानि लिङ्गानि मुख्यतयाऽऽधारतया स्वीक्रियन्ते। उपनिषत्सु प्रतिपादितेषु विषयेषु ब्रह्मात्मज्ञानाधिकारि-निरूपणम्, नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग-शमदमादिसाधनसम्पन्-मुमुक्षुत्व-रूप-साधनचतुष्टयम्, गुरूपसत्तिः, चित्तशुद्धिः, बन्ध-बन्धहेतु-मोक्ष-मोक्षोपायाः, उपासना-विशेषाः, आत्मज्ञानोपदेशविशेषाः, आत्मज्ञानस्वरूपम्, जीवस्वरूपनिरूपणम्, ब्रह्मस्वरूप-निरूपणम्, ब्रह्मनिरूपणाय सृष्टि-स्थिति-प्रलयप्रतिपादनम्, ब्रह्मजीवात्मैक्यप्रतिपादनम्, अद्वैतप्रतिपादनमिति विषया मुख्याः सन्ति।

वेदान्ते मुख्यरूपेण द्रष्टा दृश्यञ्चेति द्वावेव पदार्थौ स्वीक्रियेते। तत्र द्रष्टा सत्यो ज्ञानरूपोऽनन्तः स्वीक्रियते। द्रष्टा कदापि दृश्यो न भवति। दृश्यं तु अविद्याहङ्काराकाशादि-महाभूतभौतिकनानापदार्थशरीरादिरूपं विश्वम्। एतद् दृश्यं च सत्त्वेन निर्वक्तुमशक्यं बाधात्, असत्त्वेन च निर्वक्तुमशक्यं प्रतीयमानत्वाद् इत्यनिर्वचनीयमित्युच्यते। परमार्थसत आत्मनः परमार्थसत एवाऽन्यस्य द्वितीयत्वं नाऽपरमार्थसत इति आत्माऽद्वितीय इत्युच्यते। आत्मनः अद्वितीयत्वं च **"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्"** (छा.६।२।१) इत्यादिभिः श्रुतिवचनैः स्फुटतया प्रतिपादितमस्ति।

वेदान्तदर्शने प्रतिपादितानां मुख्यानां विषयाणां परिचयः सङ्क्षेपेणाऽधः प्रस्तूयते—

१) **जीवात्मा**– अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं वा अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा, अन्तःकरणे आभासितं चैतन्यं वा अन्तःकरणोपहितं चैतन्यं वा जीवात्मेति दृष्टिभेदेनोच्यते। स चाऽनादिर् मोक्षभाक् च। तथा हि वेदान्तसम्प्रदायविद आहुः– **"जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर् भिदा। अविद्या तच्-चितोर् योगः षडस्माकमनादयः"** इति। उपाधिभेदेन जीवात्मानो भिन्ना अनेके चेति वेदान्तसिद्धान्तोऽस्ति। उपाधिनिवृत्तौ तु जीवात्मनां ब्रह्मणा आत्यन्तिकोऽभेद एवेति च। केषां चित् चार्वाकाणां मते तु चेतनाविशिष्टो देह एवाऽऽत्मा; अन्येषां मते इन्द्रियसमुदाय एवाऽऽत्मा, इतरेषां मते अन्तःकरणमेवाऽऽत्मा; अपरेषां मते मुख्यः प्राण एवाऽऽत्मा; केषाञ्चन मते तु पुत्र एवाऽऽत्मा; देहातिरिक्तो देहपरिमाणश्चेतन आत्मेति जैनाः, शून्यमात्मेति माध्यमिका बौद्धाः, क्षणभङ्गुरं सन्तन्यमानं विज्ञानमात्मेति विज्ञानवादिनो बौद्धाः, रूप-विज्ञान-वेदना-सञ्ज्ञा-संस्कार-स्कन्धपञ्चकमेवाऽऽत्मेति सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च बौद्धाः; कर्तृत्वादिविशिष्टोऽचेतनो ज्ञानादिगुणयोगी अनेकसङ्ख्यो द्रव्यविशेष आत्मेति वैशेषिकास् तार्किकाश्च; चेतनो भोक्ताऽपि पुष्करपलाशवन् निर्लेपोऽनेकसङ्ख्यः पुरुष आत्मेति साङ्ख्याः, तथैव हैरण्यगर्भाश्च; पाशुपत-वैष्णवादीनां जीवात्मानोऽपि प्रायेण वैशेषिकाद्यभिमतजीवात्मसदृशा एव। चिद्रूपः वस्तुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरहितो ब्रह्मणोऽभिन्नोऽद्वितीय आत्मेत्यौपनिषदा इति तु पूर्वमेव प्रतिपादितम्।

२) **ईश्वरः**– वेदान्ते सगुणत्वेन सविशेषत्वेन सृष्टिस्थितिप्रलयानां हेतुत्वेन च प्रतीयमानं मायोपाधिकं ब्रह्मैव ईश्वरः परमेश्वरो वाऽप्युच्यते। मायोपहितं चैतन्यं तु ईश्वरसाक्षीत्युच्यते। जीवसाक्षिचैतन्येश्वरसाक्षिचैतन्ययोरुपाधिमात्रेण भिन्नत्वात् स्वरूपतस्त्वभेद एव स्वीक्रियते।

३) **ब्रह्म**– अबाध्यं परमार्थसत्यं देशेन कालेन वस्तुना चाऽनवच्छिन्नं निर्विकारं चैतन्यं बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेत्युच्यते। एतच् च **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तैत्तिरीय. २।१।१), **"बिज्ज्ँज्ञानमानन्दम् ब्रह्म्म"** (मा.वा.शत.१४।६।९।३४, का.वा.बृह.३।९।३४) इत्यादिभिः ब्रह्मस्वरूपलक्षणप्रतिपादनपरैः श्रुतिवाक्यैः प्रतिपादितम्। एतस्य ब्रह्मणस् तटस्थलक्षणं च **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म"** (तै.३।१) इति श्रुत्या **"जन्माद्यस्य यतः"** (ब्र.मी.सू. १।१।२) इति सूत्रेण च प्रतिपादितमस्ति। तदनुसारमेव व्याख्यातृभिर् ब्रह्मणो नव तटस्थलक्षणानि प्रतिपादितानि सन्ति। ज्ञेयं ब्रह्म निर्गुणं निर्विशेषं च स्वीक्रियते। उपास्यं ब्रह्म तु मुख्यतया सगुणं सविशेषं चोच्यते।

४) **माया**– मिथ्याबुद्धिहेतुभूतमज्ञानं मायेत्युच्यते। मात्यस्यां सर्वं जगदिति माया। माया चाऽद्वैतवादिभिर् वेदान्तिभिस् त्रिगुणात्मिका ज्ञानविरोधिनी भावरूपा च स्वीक्रियते। साङ्ख्यदर्शनेऽपि स्वीकृता सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका अव्यक्तशब्देनाऽपि प्रतिपाद्यमाना प्रकृतिरेव अनादिरूपा शुद्धसत्त्वप्रधाना परमेश्वरोपाधिरूपा परमेश्वराधीना चेति स्वीक्रियमाणा वेदान्ते मायेत्युच्यते। सा च सत्त्वेनाऽसत्त्वेन च निर्वक्तुमशक्येति अनिर्वचनीया मायेत्यभिधीयते। मायोपाधिकं ब्रह्मैव ईश्वराभिधमद्वैतवादिभिर् वेदान्तिभिः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुरिति प्रतिपाद्यते।

५) अविद्या– सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृतिरेवाऽज्ञानरूपा अशुद्धसत्त्वप्रधाना जीवोपाधिरूपा जीवं वशीकृत्य प्रवर्तमानाऽविद्येति भण्यते। इयमेवाऽविद्या भ्रान्तिरित्यप्युच्यते। इयमध्यासरूपाऽस्ति। इयं प्रमाणासहिष्णुर् भवति। प्रमाणेन निरूप्यमाणा चेयं न व्यवतिष्ठते। अत एवेयमनिर्वाच्योच्यते। सेयमविद्यैव जीवस्य बन्ध इत्युच्यते। तदुक्तम्– **"अविद्याऽस्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः"** इति।

६) अध्यासः– भ्रम एवाऽध्यास उच्यते। स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यास इति शङ्करः। अधिष्ठानविषमसत्ताकाऽवभासोऽध्यास इत्यपि वक्तुं शक्यते। यथा चितौ अहम्बुद्धिः। अध्यासोऽपि वेदान्तिभिरनादिरेव स्वीक्रियते। वस्तुतोऽध्यास इत्यविद्यैवोच्यते। अविद्येति न विद्याया अत्यन्ताभाव उच्यते, किन्तु विद्याया अन्यथाभाव एवाऽविद्या भण्यते। यथा शुक्तिज्ञानयोग्यस्थले रजतज्ञानम्। वस्तुतस्तु मायाऽविद्याऽध्यासानामेकत्वमेवाऽवगन्तव्यम्।

७) जगत्– गच्छतीति जगत्। विपरिणामशीलमात्मभिन्नं जडतत्त्वम्। एवं च महाभूतपञ्चकम् आकाशादितन्मात्ररूपम्, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च प्राणाः, मनः, बुद्धिः, पञ्चीकृतं महाभूतपञ्चकम्, स्थूलशरीराणि, पृथिव्याद्यात्मका विषयाः, ब्रह्माण्डानीति सर्वं जगदुच्यते। एतच् च जगद् ब्रह्मविवर्तरूपं मायापरिणामरूपं सत्त्वेन असत्त्वेन च निर्वक्तुमशक्यत्वादनिर्वचनीयम्। अत एव जगद् दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वाच् च मिथ्या शुक्तिरूप्यवत्। एतस्य जगतो ब्रह्मात्मज्ञानेन बाधो भवति। तस्य बाधस्य विषये चैषा कारिका मननीया दृश्यते– **"परिज्ञानेन सर्पत्वं चित्रसर्पस्य नश्यति। यथा तथैव संसारः स्थित एवोपशाम्यति"** इति।

८) विद्या– विद्याशब्दो हि पाणिनीयव्याकरणे ज्ञानार्थकाद् विद्धातोर् भावे क्यपा व्युत्पाद्यते। एवं च विद्याशब्देन साधारणतया ज्ञानमुच्यते। अत एव लोके यस्य कस्याऽपि विषयस्य सुघटितं ज्ञानं विद्योच्यते। तथापि वेदान्ते विशेषतया विद्याशब्देन उपासनारूपं ज्ञानं ब्रह्मात्मज्ञानं चोच्येते। तत्रोपासनारूपं ज्ञानं च शास्त्रोक्तं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसन्तानस्य करणं तद्विलक्षणचित्तवृत्त्यनन्तरितमुच्यते। तत्राऽपि वेदान्ते ब्रह्मात्मवस्तुतत्त्वज्ञाने एव विद्याशब्दो मुख्यतया प्रयुज्यते। तथा च शङ्करभगवत्पादः **"तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते, तद्विवेकेन वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः"** इति (शारीरक-मीमांसाभाष्योपोद्घाते)। कठोपनिषदि च **"दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त"** इति (१।२।४)। **"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाऽविद्वांसस्तपस्विनः"** इति च माध्यन्दिनीय-वाजसनेयिनां शुक्लयजुर्वेदशाखाध्यायिनां शतपथब्राह्मणे (१०।५।४।१६)।

९) मोक्षः– मूलाज्ञाननिवृत्तौ स्वस्वरूपावस्थितिरेव मोक्ष इति औपनिषदा अद्वैतवेदान्तिनः। स्वातन्त्र्यं मृत्युरेव वा मोक्ष इति चार्वाकाः। पारदरसेन देहस्थैर्ये जीवन्मुक्तिरेव मोक्ष इति रसेश्वरवादिनः। कर्मकृतस्य देहस्वरूपस्यावरणस्याऽभावे जीवस्य सततोर्ध्वगमनं

मोक्ष इति जैनाः। स्कन्धपञ्चकरूपात्मोच्छेदो मोक्ष इति शून्यवादिनो माध्यमिका बौद्धाः, निर्मलज्ञानोदयो मोक्ष इत्यपि केचन बौद्धाः। आत्मनोऽशेषविशेषगुणानामुच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिकाः। आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर् मोक्ष इति आक्षपादाः। सर्वकर्तृत्वव्यतिरिक्तानां सर्वज्ञत्वादीनां परमात्मगुणानां प्राप्तिर् याथात्म्येन भगवत्स्वरूपानुभवो भगवद्दासत्व-प्राप्तिश्च मोक्ष इति रामानुजीया वैष्णवाः। प्रायेण तादृश एव मोक्षो राधाकृष्णशरणागति-भक्तिवादिनां निम्बार्कानुयायिनामपि। जगत्कर्तृत्व-लक्ष्मीपतित्व-श्रीवत्सप्राप्तिरहितं वैकुण्ठप्राप्त्या लभ्यं दुःखामिश्रितं पूर्णं सुखं मोक्ष इति माध्वाः। परमैश्वर्यप्राप्तिर् मोक्ष इति पाशुपताः। शिवत्वप्राप्तिर् मोक्ष इति शैवाः। पूर्णात्मलाभो मोक्ष इति प्रत्यभिज्ञावादिनः। प्रकृत्युपरमे पुरुषस्य स्वस्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति साङ्ख्याः। कृतकर्तव्यतया पुरुषार्थ-शून्यानां सत्त्वरजस्तमसां मूलप्रकृतावत्यन्तलयः प्रकृतेर् मोक्षः, चितिशक्तेस् तु निरूपाधिक-स्वस्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति पातञ्जला योगिनः। वेदान्तिनां मोक्षस्य स्वरूपं तु पूर्वमेवोक्तम्।

१०) **मोक्षसाधनम्–** वेदान्ते मोक्षसाधनं तु ब्रह्मात्मज्ञानमेव स्वीक्रियते। तदुक्तम्– **"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** इति (श्वेता.३।८)। ज्ञानपूर्वकं कर्म ज्ञानसहकारि सत् मोक्षसाधनं भवतीति मनुस्मृतिव्याख्यातः (१२।८९-९१) **"आत्तँमयाजीति ह ब्रूयात्"** इत्यादिकया श्रुत्या (मा.वा.शत.११।२।६।१३) प्रतिपादितो वैदिकः सिद्धान्तः। स एव तु कुमारिलभट्टपादैः श्लोकवार्त्तिकेऽपि प्रतिपादितः। स तु शङ्करेण गीताभाष्योपसंहारे शारीरकमीमांसाभाष्ये च (४।३।१४) अनुक्तोपालम्भं कुर्वाणेन पुरोभागित्वमात्मन आविष्कुर्वाणेन चाऽस्थाने एव प्रत्याचिख्यासित इव भाति। वस्तुतस्तु कुमारिलभट्टपादात् प्राचीनैर् धर्ममीमांसां लोकायतीकर्तुं प्रवृत्तैः कैश्चिद् धर्ममीमांसासम्मत-त्वेन प्रतिपादितस्य मोक्षसाधनविषयकसिद्धान्तस्यैव शङ्करेण निराकृतत्वं प्रतीयते। न ह्यास्तिकेन श्रुत्युक्तः श्रुत्यनुसारिजनोक्तः श्रुत्यनुगामी चार्थः प्रत्याख्यातुं योग्यः शक्यो वा।

११) **आत्मज्ञानसाधनानि– "तमेतँव् वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्ब्रह्म्मचर्य्येण तपसा श्श्रद्धया यज्ज्ञेनाऽनाशकेन"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२५) इति, **"तमेतं वेदानुवच-नेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"** (का.वा.बृह.४।४।२२) इति च श्रुतौ, **"वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः। श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः"** इति याज्ञवल्क्यस्मृतौ (३।१९०) च आत्मज्ञानसाधनानि निदर्शितानि। वैराग्यादीनि च साधनानि ब्रह्ममीमांसासूत्र एव साधनाध्याये प्रपञ्चितानि।

अथ ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थस्य परिचयः

वेदानां परस्सहस्राणां शाखानां विविधासूपनिषत्सु स्थितानां परमात्मज्ञानप्रति-पादनस्य प्रकाराणां भेदात् तेषां समन्वयेन परमात्मज्ञानस्य प्रतिपादनस्याऽऽवश्यकत्वात्; एकस्याः शाखाया उपनिषदस् तात्पर्यस्य निर्णये अन्यस्याः शाखाया उपनिषदः समानस्य प्रकरणस्यापि सहायकत्वस्य दृश्यमानत्वेन सर्वासामुपनिषदां ब्रह्मात्मविचारपरकवाक्याणां समन्वयाय विचारस्याऽऽवश्यकत्वात्, एकस्याः शाखाया उपनिषदि अप्राप्तस्य अत्यावश्य-

कस्य मोक्षविषयकस्य ज्ञानस्य शाखान्तरस्योपनिषदः प्रकरणाद् ग्रहणस्याऽपि कुत्र चिदावश्यकत्वात्; सर्वासां वेदशाखानामुपनिषदामध्ययनस्य साधारणैर् जनैः कर्तुमशक्यत्वात्, स्ववेदशाखोपनिषदः प्रकरणानामपि तात्पर्यस्य कलियुगजैः सर्वैः साधारणैर् जनैर् यथार्थतयाऽवगन्तुं दुश्शकत्वाच् च उपनिषदां प्रकरणानां तात्पर्यस्य साङ्गोपाङ्गेन निरूपणेन कलियुगजातवैदिकमुमुक्षुजनानामुपकाराय कृष्णो द्वैपायनो बादरायणः पाराशर्यो व्यासो श्वेतवाराहकल्पस्य सप्तमस्य वैवस्वतमन्वन्तरस्य अष्टाविंशतितमस्य द्वापरयुगस्याऽन्ते ब्रह्मसूत्रमिति प्रसिद्धं ब्रह्मगीमांसासूत्रं रचयामासेति पुराणप्रतिपादितात् कृष्णद्वैपायनकालादवगम्यते। एवं च ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य रचनम् इतः पूर्वं प्रायः पञ्चसहस्रवर्षमिते कालेऽभूदिति अवगन्तव्यम्। म्याक्समूलरादयः के चन पाश्चात्त्यास् तु ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य रचनम् इसोः कालात् पूर्वं शतत्रयमितेषु शतकचतुष्कमितेषु वा वर्षेषु अभूदिति वदन्ति; तदनुयायिनो बलदेवोपाध्यायादयो भारतीया अपि ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य रचनं विक्रमादित्यकालात् पूर्वं शतद्वयमितेषु शतत्रयमितेषु वा वर्षेषु अभूदिति वदन्ति। किन्तु तेषां पाश्चात्त्यानां तदनुयायिनां भारतवर्षीयाणां च कथनं निष्प्रमाणकं कल्पनामात्रमूलकमिति न स्वीकारार्हम्। ब्रह्ममीमांसासूत्रकारस्य बादरायणस्योल्लेखो जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रेऽपि (१।१।५, ५।२।१९, ६।१।८, १०।८।४४, ११।१।६४) दृश्यते इत्यप्यत्र स्मर्तव्यम्।

ब्रह्ममीमांसासूत्रे चत्वारोऽध्यायाः, प्रत्यध्यायं चत्वारः पादाः, सम्पूर्णे ग्रन्थे शङ्करस्य मते १९१ वा १९२ अधिकरणानि, ५५५ (पञ्च शतानि पञ्चपञ्चाशच् च) सूत्राणि सन्ति। रामानुजस्य श्रीकण्ठस्य च मते ५४५ सूत्राणि, भास्करस्य मते ५४७ सूत्राणि, निम्बार्कस्य मते ५४९ सूत्राणि, मध्वस्य मते ५६२ सूत्राणि, बलदेवस्य विज्ञानभिक्षोश्च मते ५५६ सूत्राणि, वल्लभस्य मते ५५५ सूत्राणि स्वीक्रियन्ते। शङ्करानुयायिना वृत्तिकारेण रङ्गनाथेनाऽपि प्रथमस्याऽध्यायस्य द्वितीये पादे **"रूपोपन्यासाच् च"** (१।२।२४) इति सूत्रात् परं **"प्रकरणाच् च"** इत्येकमधिकं सूत्रं स्वीकृतमस्तीति वैयासकन्यायमालाया आनन्दाश्रमसंस्करणे टिप्पण्यामुक्तमस्ति (पृ.२५)।

तत्र **प्रथमेऽध्याये** श्रुतिवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्येण समन्वयः प्रतिपादितोऽस्ति। अत एवाऽयमध्यायः समन्वयाध्याय इत्युच्यते। तत्र प्रथमे पादे चतुस्सूत्र्यां ब्रह्मविचाराऽधिकारी, ब्रह्मणो विचारार्हता, ब्रह्मणस् तटस्थलक्षणम्, ब्रह्मणो वेदशास्त्रैकगम्यत्वम्, ब्रह्मणः वेदशास्त्रैकगम्यत्वं च सर्वेषां वेदान्तानां तात्पर्येण ब्रह्मणि समन्वयादवगन्तव्यमिति विषयाः सन्ति। ततः परं प्रथमे पादे अचेतने प्रधाने श्रुतिसमन्वयो नास्तीति प्रतिपाद्य सुस्पष्टतया ब्रह्मणो बोधकानां श्रुतिवाक्यानां समन्वयः प्रतिपादितोऽस्ति। द्वितीये पादे प्रायेण उपास्यब्रह्मप्रतिपादकानां श्रुतिवाक्यानां समन्वयः, तृतीये पादे प्रायेण ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादकानामस्पष्टश्रुतिवाक्यानां समन्वयः, चतुर्थे पादे अव्यक्तादीनां सन्दिग्धानां पदानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपादितोऽस्ति।

द्वितीयेऽध्याये श्रुतिसमन्वये विरोधस्य परिहारः प्रतिपाद्यत इत्ययमध्यायोऽविरोधाध्याय उच्यते। तत्राऽस्मिन् द्वितीयेऽध्याये प्रथमे पादे साङ्ख्य-योग-काणादादीनां स्मृतिभिस् तर्कैश्चोत्थापितस्य वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वये विरोधस्य स्मृतिभिस् तर्कैरेव

परिहारः कृतोऽस्ति; द्वितीयाऽध्यायस्य द्वितीये पादे साङ्ख्यादिमतानां तर्कैर् निराकरणेन साङ्ख्यादिमतानां ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयस्य विरोधेऽसमर्थतायाः प्रतिपादनं कृतमस्ति; अत एवाऽयं पादस् तर्कपाद इत्युच्यते। द्वितीयाध्यायस्य तृतीये पादे पञ्चमहाभूतसृष्टिश्रुतीनां जीवविषयकश्रुतीनां च विरोधस्य परिहारः प्रतिपादितोऽस्ति। द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थे पादे च लिङ्गशरीरविषयकश्रुतीनां विरोधस्य परिहारः प्रतिपादितोऽस्ति।

तृतीयेऽध्याये मोक्षसाधनानां विवेचनं क्रियते इत्ययमध्यायः साधनाध्याय उच्यते। तत्र प्रथमे पादे जीवस्य लोकान्तरगमन-पुनर्जन्म-मरणानां विवेचनेन वैराग्यस्योद्बोधनम्, द्वितीये पादे जीवात्मस्वरूपस्य परमात्मस्वरूपस्य च निरूपणेन च तत्त्वमस्यादिमहावाक्यपदार्थानां स्पष्टीकरणम्; तृतीये पादे निर्गुणविद्यावाक्येषु सगुणविद्यावाक्येषु च वाक्यान्तरोक्तगुणानामुपसंहारानुपसंहारयोः उपासनासमुच्चयाऽसमुच्चययोश्च निरूपणम्; चतुर्थे पादे च ब्रह्मविद्यायाः स्वतन्त्रायाः मोक्षरूपपरमपुरुषार्थसाधनत्वस्य, आश्रमधर्माणाम्, आश्रमान्तरालस्थ-विधुरादिधर्माणाम्, सर्ववर्णाश्रमसाधारणधर्माणां शमदमश्रवणमननादीनां च ब्रह्मविद्यासाधनत्वस्य निरूपणं कृतमस्ति।

चतुर्थेऽध्याये मोक्षरूपस्य फलस्य विवेचनं कृतमित्ययमध्यायः फलाध्याय इत्युच्यते। तत्र प्रथमे पादे श्रवणाद्यावृत्या निर्गुणं ब्रह्म, उपासनया सगुणं ब्रह्म वाऽपि साक्षात्कृतवतो जनस्य पुण्यपापलेपविनाशलक्षणाया जीवन्मुक्तेः प्रतिपादनम्; द्वितीये पादे प्रयत उत्क्रान्तिप्रकारस्य प्रदर्शनम्; तृतीये पादे प्रयतो ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतोऽर्चिरादिमार्गानुसरणस्य प्रतिपादनम्; चतुर्थे पादे च निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तेः, ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतोऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य ब्रह्मलोके स्थितेरिहलोके पुनरनावृत्तेश्च निरूपणं कृतमस्ति।

ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थे आत्रेयः (३।४।४४), आश्मरथ्यः (१।४।२०), औडुलोमिः (१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६), कार्ष्णाजिनिः (३।१।९), काशकृत्स्नः (१।४।२२) जैमिनिः (१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५), बादरायणः (१।३।२६, १।३।३३, ३।२।४१, ३।४।१, ३।४।८, ३।४।१९, ४।३।१५, ४।४।७, ४।४।१२), बादरिः (१।२।३०, ३।१।११, ४।४।१०) इत्येतेषां मुनीनां नामान्युल्लिखितानि सन्ति।

ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थाधारभूता वैदिकग्रन्थाः

ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थे प्रथमे समन्वयाध्याये शाङ्करभाष्यानुसारं मुख्यरूपेण बृहदारण्यकोपनिषदः, तैत्तिरीयोपनिषदः, छान्दोग्योपनिषदः, ऐतरेय्युपनिषदः, प्रश्नोपनिषदः, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदः, कठोपनिषदः, मुण्डकोपनिषदः, श्वेताश्वतरोपनिषदश्च वाक्यानां प्रकरणानां च विचारः कृतोऽस्ति। तत्रापि भूम्ना छान्दोग्योपनिषदो बृहदारण्यकोपनिषदश्च प्रकरणानां विचारः कृतो दृश्यते। तैत्तिरीयोपनिषदश्चत्वारि प्रकरणानि, कठोपनिषदः पञ्च प्रकरणानि, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदो द्वे प्रकरणे, मुण्डकोपनिषदस्त्रीणि प्रकरणानि, प्रश्नोपनिषद एकं प्रकरणम्, श्वेताश्वतरोपनिषद एकं प्रकरणं च विशेषतो विचारितानि। अन्येष्वप्यध्यायेषु भूम्ना छान्दोग्योपनिषदो बृहदारण्यकोपनिषदश्च वाक्यानामाधारे एव

विचारः प्रवर्तितो निर्णयः कृतश्च दृश्यते। तथापि तैत्तिरीयोपनिषदः, ऐतरेय्युपनिषदः, प्रश्नोपनिषदः कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदः, कठोपनिषदः, मुण्डकोपनिषदः, श्वेताश्वतरोपनिषदश्च वाक्यानामाधारेऽपि अनेके विचाराः प्रवर्तिता निर्णयाः कृताश्च सन्ति। ईशावास्योपनिषदो द्वे वाक्ये च परामृष्टे स्तः। माध्यन्दिनीय-वाजसनेयिशतपथब्राह्मणस्याऽग्निरहस्यकाण्डेऽधीतानां मनश्चिदादीनामुपास्यानामग्नीनां च विचारस्तृतीयेऽध्याये तृतीये पादे कृतोऽस्ति। सूत्रापेक्षितविचाराङ्गत्वेन च शतपथब्राह्मणस्याऽनेकान्येव वाक्यानि शङ्करभगवत्पादेन भाष्ये समुपात्तानि। सूत्रापेक्षितविचारप्रसङ्गे एकद्वा ऋग्वेदमन्त्रांशा अपि शङ्करभगवत्पादेन परामृष्टाः, ऐतरेय्यारण्यक–पैप्पलादाथर्ववेद-माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद–मन्त्रार्षसंहिता–ऽऽत्रेयतैत्तिरीयसंहिता-मैत्रायणीयसंहिता–काठकसंहिता-काण्ववाजसनेयिशतपथब्राह्मण-वाक्यानि च शङ्करभगवत्पादेन ग्रन्थनामोल्लेखं विनैवोद्धृतानि प्रतीयन्ते। वराहोपनिषदि दृश्यमानं वाक्यमपि ग्रन्थनामोल्लेखं विना शङ्करभगवत्पादेनोद्धृतमस्ति। जाबालश्रुतिस्तु नामग्रहणपूर्वकमेवोल्लिखिताऽस्ति। तत्र प्राणाग्निहोत्रविचारे उल्लिखिता जाबालश्रुतिरपि विशेषेणोल्लेखनीयाऽस्ति। प्रायेण लुप्तानां पैङ्गिरहस्यब्राह्मण-राणायनीयखिल-शाट्यायनि-श्रुति-भाल्लविश्रुतीनां चोल्लेखाः शङ्करभगवत्पादेन कृताः। आथर्वणिकश्रुतिरपि अविज्ञायमानशाखासम्बन्धविशेषा शङ्करभगवत्पादेनोल्लिखिताऽस्ति। **"ब्रह्म दासा ब्रह्म दाशाः"** इत्यादिकं पैप्पलादाथर्ववेदसंहितावाक्यं तु सूत्रकारेणैवोल्लिखितं विज्ञायते। शाखान्तरस्थानां समानप्रकरणवाक्यानां विचारेण च सम्बद्धवाक्यार्थनिर्णयः कार्य इति सिद्धान्तं स्वीकृत्य सूत्रकारेण कृतस्य निर्देशस्य व्याख्यानं कुर्वाणेन शङ्करभगवत्पादेन माध्यन्दिनीयवाजसनेयिबृहदारण्यकोपनिषदो वाक्यानां विशेषेणोल्लेखाश्च कृताः सन्ति। एवं च शाङ्करभाष्यानुसारं ब्रह्ममीमांसासूत्रकारेण उपत्रिंशानां श्रुतिग्रन्थानां विचारेण ब्रह्ममीमांसा कृतेति विज्ञायते।

ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थाऽध्ययनाधिकारिविचारः

वैदिक-सनातन-वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्थाऽनुसारं ब्रह्ममीमांसासूत्रस्याऽध्ययनं कदा कर्तव्यमित्यस्मिन् विषये विवरणप्रमेयसङ्ग्रहकारस्याऽयं श्लोको विचारणीयः—

"नित्यस्वाध्यायविधितोऽधीत्य वेदान्तमस्य ये।
संशेरतेऽर्थे ते सूत्रभाष्यादिष्वधिकारिणः॥" इति।

तत्र यथाशास्त्रमुपनीतो वेदाध्ययनाधिकारी **"वेदं समाप्य स्नायात्"** (पारस्कर. १।६।१) इत्यादिकं विधिमनुसृत्य आरण्यकान्तं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं यथाशक्ति शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-च्छन्दश्शास्त्र-ज्योतिषरूपैः षड्भिरङ्गैरुपेतं यथाविधि गुरोरधीतवान् उपाकुर्वाणो ब्रह्मचारी धर्ममीमांसाशास्त्रमप्यधीत्य वेदान्तार्थसंशयापनोदनाय ब्रह्ममीमांसाशास्त्रग्रन्थरूपं ब्रह्ममीमांसासूत्रमधीयीत। तथैव शक्तो नैष्ठिको ब्रह्मचार्यप्यधीयीत। ब्रह्मचर्याश्रमे साङ्गं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमध्येतुमसमर्थो गृहस्थाश्रमं प्रविश्य कथञ्चित् तथा कर्तुं समर्थो गृहस्थोऽपि उक्तक्रमेण ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थमधीयीत। गृहस्थाश्रमेऽपि तादृशमध्ययनं कर्तुमशक्तो वानप्रस्थाश्रमे प्रविष्टोऽपि जनो गृहस्थाद् गुरोर् यथाशक्ति

उक्तक्रमेण ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थमधीयीत। ब्रह्मचर्याश्रमे गृहस्थाश्रमे वानप्रस्थाश्रमे च तथाऽध्ययनं कर्तुमसमर्थः तीव्रवैराग्यात् कथञ्चित् सन्न्यासाश्रमं प्रविष्टो जनस्तु उपाकर्म विनैव चतुर्षु वार्षिकेषु मासेषु द्वयोर् वा वार्षिकयोर् मासयोर् गृहस्थाद् अध्यापककुलोत्पन्नात् सरहस्यसाङ्गवेदाध्यापनसमर्थाद् आचार्याद् अध्यापकाद् द्विजोत्तमाद् गुरोः अनन्यगतिकत्वात् केवलम् आरण्यकमेवाऽधीत्याऽपि ब्रह्ममीमांसासूत्रमधीयीत।

पाणिनीयव्याकरणभाष्यकारपतञ्जलिमुनिधृता **"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"** इति श्रुतिरपि **"ज्ञेयश्च"** इति वाक्येन वेदाध्ययनकाले वेदवाक्यतात्पर्यज्ञानाय धर्ममीमांसा ब्रह्ममीमांसा च कर्तव्येति प्रतिपादयत्येव। सर्वज्ञात्ममुनिरपि सङ्क्षेपशारीरके **"आनन्दविग्रहमपास्तसमस्तदुःखं वस्तुस्वभाव-परिवर्जित-सर्वभेदम्। आत्मानमध्ययनविध्यनुसारिणस्तं प्रत्यक्षतः श्रुतिशिरस्सु समामनन्ति"** (१।२६) इति वदन् अध्ययनविधिमूलकं हि वेदान्ताध्ययनं स्वीकुरुते। **"स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्"** (१।१।१) इति वदन् शङ्करभगवत्पादोऽपि ब्रह्ममीमांसासूत्राध्ययनस्यापि स्वाध्यायाध्ययनविधिमूलकत्वं स्वीकुरुते एव। तत्र शङ्करभगवत्पादेन रभसाऽन्यथा प्रतिपादितत्वेऽपि ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य धर्ममीमांसासूत्रोपजीवित्वस्य **"सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्"** (३।३।१), **"उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च"** (३।३।५), **"हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम्"** (३।३।२६), **"अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम्"** (३।३।३३), **"प्रदानवदेव तदुक्तम्"** (३।३।४३), **"श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच् च न बाधः"** (३।३।४९), **"अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्"** (३।३।५०), **"मन्त्रादिवद् वाऽविरोधः"** (३।३।५६), **"भूम्नः क्रतुवज् ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति"** (३।३।५७), **"विधिर् वा धारणवत्"** (३।४।२०), **"सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्"** (३।४।४७), **"द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः"** (४।४।१२) इति सूत्रेषु स्पष्टत्वाद् मुख्यकल्पे धर्ममीमांसासूत्राध्ययनानन्तरमेव ब्रह्ममीमांसासूत्रमध्येतव्यमित्यवगम्यते।

धर्ममीमांसाध्ययनकालश्च **"तस्माद् गुरुगृहे तिष्ठन् मधुमांसाद्यवर्जयन्। जिज्ञासेताऽविरुद्धत्वाद् धर्ममित्यवगम्यते"** इति कुमारिलभट्टेन श्लोकवार्तिके प्रतिज्ञासूत्रे प्रतिपादितः (श्लो.१०१-१०२)। लौगाक्षिस्मृतौ तु **"अधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गान् शास्त्राणि षट् पदम्। पुराणस्मृतिशिल्पांश्च दीर्घायुष्मान् गृही भवेत्"** (पृ.२२५) इत्यत्र, **"प्रधानहोमात् परतः श्रुतीनामुपदेशतः। परं कल्पोपदेशोऽपि क्रियते शास्त्रवाक्यतः। तत्समत्वेन च तथा पाणिनीयस्य तत्परम्। गौर्ग्मेत्यादिसमाम्नायादिकबोधकताकृतः। शास्त्रस्य तत्परं भूयः पञ्चादिग्रन्थकस्य च। मयादिसूत्रकस्याऽपि मीमांसायुग्मकस्य च"** (पृ.२७५) इत्यत्र चोक्तानां शास्त्राणामध्ययनस्य कालः खलु **"पदक्रमाध्ययनतः पूर्वं पारायणस्य वै। परं शास्त्रस्य कालः स्यान् न तत्पूर्वं तदाचरेत्"** (पृ.४०४) इत्युक्तमिति चाऽवगन्तव्यम्।

त्रैवर्णिकानां ब्रह्मचार्यादीनां सर्वेषामाश्रमिणां वेदान्ताध्ययने ब्रह्ममीमांसाशास्त्राध्ययने चाऽधिकारं सूचयन्ति हि धर्मशास्त्रकाराः। तथा हि—

मनुः—

तपोविशेषैर् विविधैर् व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः *सरहस्यो* द्विजन्मना॥ इति (२।१६५),
यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि॥ इति (४।१००),
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेन चाऽन्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ इति (३।७८),
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राऽऽश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ इति (१२।१०२),
दूषितोऽपि चरेद् धर्मं यत्रतत्राऽऽश्रमे वसन्।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥ इति (६।६६),
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश् चत्वारः पृथगाश्रमाः॥
सर्वेऽपि क्रमशस् त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥ इति (६।८७,८८),
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥ इति (१२।९२),
अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्॥
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥ इति (६।८३,८४),
सन्न्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्॥ इति च (६।९५)।

उशनाश्च—

योऽधीत्य विधिवद् वेदं वेदान्तं न विचारयेत्।
स साऽन्वयः शूद्रकल्पः स पाद्यं न प्रपद्यते॥ इति (औशनसस्मृतौ ३।८२)।

याज्ञवल्क्योऽपि—

स्वकर्मणामनुष्ठानात् सम्यगात्मनि दर्शनात्।
वेदान्तानां परिज्ञानाद् गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥
—इति (बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ ११।४५),
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिस्तथा।
आत्मज्ञानेन मुच्यन्ते यत्र तत्राऽऽश्रमे रताः॥
—इति (बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ ११।४४),

न्यायागतधनस् तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥ इति च (याज्ञवल्क्य.३।२०५)।

व्यासोऽपि—

गृहस्थोऽपि वनस्थस्य यतेरप्यम्बुजेक्षण।
विद्योत्कर्षबलेनैव गुरुर् भवति नाऽन्यथा॥ इति (सूतसंहितायाम् पृ.२८५),
गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तकारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्॥ इति (पद्मपु.सृष्टिख.१५।८१),
देहेष्वनित्यतां दृष्ट्वा नित्यतां परमात्मनः।
कुर्वीत मुक्तये यत्नं यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः॥ इति (स्कन्दपु.काशीख.४१।३५),
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तकारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्॥
—इति (महाभारते शान्तिपर्वणि चित्रशालासंस्करणे २४२।१३),
गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः॥ इति(महा.शान्ति.चि.२६८।१३) च।

श्रुतिरपि सर्वेषां वेदाध्यायिनां ब्रह्मविचारेऽधिकारं सूचयति। तथा हि—

"तद् द्योयो देवानाम् प्रत्यबुद्ध्यत सऽएव तदभवत् तथर्षीणान् तथा मनुष्ष्याणाम्। तद् धैतत् पश्श्यन्नृषिर् ब्वामदेवः प्रतिपेदेऽहम् मनुरभवꣳ सूर्य्यश्च् चेति। तदिदमप्प्येतर्हि यऽएवं वेदाऽहम् ब्रह्मास्म्मीति सऽइदꣳ सर्व्वम् भवति" इति (मा.वा.शत.१४।४।२।२१, २२; का.वा.बृह.१।४।१०)।

आत्मदर्शनेऽपेक्षिते निदिध्यासने सन्न्यासाश्रमस्य विशेषेणोपकारकत्वेऽपि वेदान्तवाक्यतात्पर्यार्थज्ञानप्राप्तिरूपे श्रवणे वेदान्तवाक्यतात्पर्यविषयकविरोधनिराकरण-परकतर्कानुशीलनरूपे मनने च त्रैवर्णिकानां सर्वेषामाश्रमिणाम् अधीतवेदान्तानां विधुरादीनां च प्रवृत्तेः सम्भवाद् वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिरूपणपरस्य वेदान्तवाक्यतात्पर्यविरोधनिराकरण-परस्य च ब्रह्ममीमांसासूत्रस्याऽध्ययने तेषां सर्वेषामेवाऽधिकारो भवति न तु केवलं सन्न्यासिनामित्यवगम्यते। ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य भिक्षुसूत्रमिति व्यवहारस्तु प्रायोवादात् तस्य विविदिषुभिस् तीव्रवैराग्यैर् भिक्षुभिर् बाहुल्येनाऽध्ययनात्।

रैक्व-वाचक्नवीप्रभृतीनामपि ब्रह्मविचारे प्रवृत्तेः श्रुतिषु दर्शनाद् अधीत-स्वस्व-शाखागतवेदान्ता विधुरादयोऽपि यथावसरं यथाकथञ्चिद् गुरोर् ब्रह्ममीमांसासूत्रमधीयीरन्-नित्यवगम्यते।

येषां तु क्षीणकल्मषाणां पुरुषापराधशून्यानां द्विजधौरेयाणां विध्यनुसारिणां स्वाध्यायधर्मपठितनिजवेदशाखागतोपनिषदध्ययनेनैव निस्संशयं निर्भ्रमं च ब्रह्मात्मज्ञानं भवति तेषां कृते तु ब्रह्ममीमांसासूत्राध्ययनमनावश्यकमेव प्रतीयते। तथापि विद्यारण्यादयस् तु **"ब्रह्मसाक्षात्कृतिस् त्वेवं विचारेण विना नृणाम्। आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्र चित्"** (पञ्चदश्यां ध्यानदीपे श्लो.३०) इत्यादि वदन्ति। कार्यब्रह्मोपासनादिविषये तु विद्या-

रण्येनापि **"उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम्। विचाराऽक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः॥ वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन् मीमांसतां जनः। आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि सम्भवेत्"** (पञ्च.ध्यान.श्लो.२८,२९) इत्युक्तमित्यवगन्तव्यम्। उपासनाकल्पसूत्राऽनुसारमुपासना-मीमांसा कार्या चेति तस्य भणितिः प्रतीयते। तत्र रामकृष्णेनाऽपि **"आर्षग्रन्थेषु ब्राह्मवासिष्ठादिमन्त्रकल्पेषु उपासनाप्रकारो वर्णितः"** इति व्याख्यातम्। एते उपासनाकल्पग्रन्था अप्पय्यदीक्षितेनाऽपि **"सर्वज्ञैर् महर्षिभिः प्रणीतेषु कल्पसूत्रेषु कर्मणामङ्गेयत्तेव ब्राह्मवासिष्ठादिषु विद्याकल्पेषूपासनानां गुणेयत्ताऽपि निर्धारिता"** (वेदान्तकल्पतरुपरिमले ३।३।५) इति, **"आर्षग्रन्थेषु ब्राह्मवासिष्ठादिकल्पेषु पञ्चीकरणादिषु चाऽनेकशाखाविप्रकीर्णसर्वार्थोपसंहारेण कल्पसूत्रेष्वग्निहोत्रादिवन् निर्धारितानुष्ठानप्रकारं निर्गुणोपासनम्"** (सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे, तृतीये परिच्छेदेऽष्टमे प्रकरणे) इति च परामृष्टाः। यत् तु मूलशङ्करव्यासेनाऽन्यैश्च ब्राह्म-वासिष्ठादिकल्पशब्देन ब्रह्मपुराण-योगवासिष्ठादीनां ग्रहणं व्याख्यातं तत् त्वबोधमूलकमेव प्रतीयते। एवं चाऽनधीतवेदानां ब्रह्ममीमांसासूत्राऽध्ययनाऽधिकाराभावोऽवगम्यते। तादृशैर् जनैर् गुरूपदेशानुसारमुपासनैव कर्तव्येति विद्यारण्यादीनां मतं प्रतीयते।

ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थस्य भाष्याणि

ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य उपवर्षेण वृत्तिः कृताऽऽसीत्, बोधायनेनाऽपि वृत्तिः कृताऽऽसीत् इति वदन्ति। शङ्करेण स्थानेस्थाने सूत्राणां स्वपूर्ववर्तिभिर् व्याख्याकारैः कृतानि व्याख्यानानि नामग्रहणं विनैव प्रदर्श्य खण्डितानि च सन्ति। तथापि शङ्करात् प्राचीनेन विदुषा कृतं ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य व्याख्यानं तु किमपि न मूलरूपेणाऽद्योपलभ्यते। ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य शङ्करादिभिः कृतानि अनेकानि भाष्याणि प्राप्यन्ते। तैः ब्रह्ममीमांसासूत्रस्यार्थः साधारणानां जनानां कृते सन्देहास्पदीकृतोऽस्ति। तथाऽपि ब्रह्ममीमांसासूत्रपदवाक्यानामनुकूलस्याऽर्थस्यैव यथार्थत्वम्, उपनिषत्पदवाक्यप्रकरणानामनुकूलस्यैव ब्रह्ममीमांसासूत्रार्थस्य यथार्थत्वमिति च विज्ञा निश्चेतुमीशत एवेति शाङ्करभाष्यस्य विशेषेण भूम्ना युक्तियुक्तत्वं निश्चीयते। तेषां भाष्याणामुल्लेखः क्रमेणाऽधः क्रियते–

क्रमसङ्ख्या	भाष्यकारः	समयः	भाष्यनाम	मतम्
(१)	शङ्करः	८४५-८७७ वै.	शारीरकमीमांसाभाष्यम्	निर्विशेषाद्वैतम्
(२)	भास्करः	१०५७ वै.	भास्करभाष्यम्	भेदाभेदः
(३)	रामानुजः	१२०७ वै.	श्रीभाष्यम्	विशिष्टाद्वैतम्
(४)	मध्वः	१२९५ वै.	पूर्णप्रज्ञभाष्यम्	द्वैतम्
(५)	निम्बार्कः	१३०७ वै.	वेदान्तपारिजातसौरभम्	द्वैताद्वैतम्
(६)	श्रीकण्ठः	१३२७ वै.	शैवभाष्यम्	शैवविशिष्टाद्वैतम्
(७)	श्रीपतिः	१४५७ वै.	श्रीकरभाष्यम्	शक्तिविशिष्टाद्वैतम्
(८)	वल्लभः	१५५७ वै.	अणुभाष्यम्	शुद्धाद्वैतम्
(९)	विज्ञानभिक्षुः	१६५७ वै.	विज्ञानामृतभाष्यम्	अविभागाद्वैतम्
(१०)	बलदेवः	१७८२ वै.	गोविन्दभाष्यम्	अचिन्त्यभेदाभेदः
(११)	पञ्चाननस्तर्करत्नम्	१९२३-१९९८ वै.	शक्तिभाष्यम्	शक्त्यद्वैतम्

ब्रह्ममीमांसासूत्र-शाङ्करभाष्यव्याख्यानानि

शारीरकमीमांसाभाष्याख्यस्य ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यस्य व्याख्यानानि अपि बहुभिर् विद्वद्भिः कृतानि सन्ति। तेषु पद्मपादकृतं पञ्चपादिकाख्यं व्याख्यानं प्रथममस्ति। किन्त्वेतद् व्याख्यानमिदानीं चतुस्सूत्रीभाष्यभागस्यैवोपलभ्यते। केचन एतावदेव व्याख्यानं पद्मपादेन कृतमिति वदन्ति। अन्ये तु सम्पूर्णस्यैव ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यस्य व्याख्यानं पद्मपादेन कृतम्, किन्तु तस्य एतावान् भाग एव सुरक्षितः, अन्यो भागो नष्ट इति वदन्ति। ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यस्य द्वितीयं व्याख्यानं वाचस्पतिमिश्रकृतं भामत्याख्यं वर्तते। पञ्चपादिकायाः प्रकाशात्मयतिकृतं व्याख्यानं च विवरणमिति प्रसिद्धमस्ति। अर्वाचीना वेदान्तिनः केचन विवरणानुसारिणो दृश्यन्ते केचन भामत्यनुसारिणः। विवरणानुसारिणो जीवमीश्वरप्रतिबिम्बं कथयन्ति, भामत्यनुसारिणस्तु अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवं वदन्ति। अविद्याया आश्रयो विषयश्च ब्रह्मैवेति विवरणाऽनुसारिणः, जीवोऽविद्याया आश्रयो विषयस्तु ब्रह्मेति भामत्यनुसारिणः। एवमेवाऽनेके विषया अनयोर् द्वयोः प्रस्थानयोः प्रक्रियायां भिन्नाः सन्ति। तथाऽपि ब्रह्मात्माद्वैते न कोऽपि मतभेदः। तत्र पञ्चपादिका-पञ्चपादिकाविवरण-ऋजुविवरण-तात्पर्यदीपिका-भावदीपिका-प्रबोधपरिशोधिनी-तात्पर्यद्योतनी-प्रकटार्थविवरण-विवरणप्रमेयसङ्ग्रहादयष् टीकाप्रटीकाग्रन्थाः विवरणप्रस्थानस्य सन्ति। वेदान्तपरिभाषापि मुख्यरूपेण विवरणप्रस्थानानुरूपैव वर्तते। वेदान्तकल्पतरुप्रभृतयो ग्रन्था भामत्यनुसारिणः सन्ति। भामती स्थानेस्थाने पञ्चपादिकापक्षं खण्डयतीति अमलानन्दः कथयति। चित्सुख-कृता भाष्यभावप्रकाशिका, अनुभूतिस्वरूपकृतं प्रकटार्थविवरणम्, आनन्दज्ञानकृतः शारीरकभाष्यन्यायनिर्णयः, गोविन्दानन्दविरचिता भाष्यरत्नप्रभा, अद्वैतानन्दकृतं ब्रह्मविद्या-भरणं च ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यस्य प्रसिद्धानि मुद्रितानि च व्याख्यानानि सन्ति।

ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यानुसारिण्यः काश्चन ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तयः

शाङ्करभाष्यानुसारिण्यो ब्रह्ममीमांसासूत्रार्थबोधिका वृत्तयोऽपि विद्वद्भी रचिता अनेका अवगम्यन्ते। तत्राऽस्माभिर् दृष्टाः प्राचीना मुख्याः काश्चन वृत्तयः एताः सन्ति।

(१) ब्रह्मसूत्रव्याख्या दीपिका— शङ्करानन्दकृता।
(२) ब्रह्मसूत्रवृत्तिः मिताक्षरा— अन्नम्भट्टकृता।
(३) ब्रह्मसूत्रवृत्तिः सुबोधिनी— हरिदीक्षितकृता।
(४) ब्रह्मसूत्रवृत्तिः वेदान्तसूत्रमुक्तावलिः— ब्रह्मानन्दसरस्वतीकृता।
(५) ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ब्रह्मामृतवर्षिणी— रामकिङ्करकृता।
(६) ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका— सदाशिवेन्द्रसरस्वतीकृता।
(७) ब्रह्मसूत्रवृत्तिः बाल-गङ्गाधर-तिलक-कृता।

ब्रह्ममीमांसासूत्राधिकरणार्थप्रतिपादनपरा अपि केचन ग्रन्था विद्वद्भिः कृताः सन्ति। तत्र मुख्या एते—

१. शारीरकन्यायमणिमाला— अनन्यानुभवकृता।
२. शारीरकमीमांसान्यायसङ्ग्रहः— प्रकाशात्मकृतः।
३. शास्त्रदर्पणः— अमलानन्दकृतः।
४. वैयासकन्यायमाला— विद्यातीर्थकृता।
५. वेदान्तनयभूषणम्— स्वयम्प्रकाशानन्दकृतम्।

वेदान्तशास्त्रग्रन्थकाराणां परिचयः

१. आत्रेयः– एष वेदान्तशास्त्राचार्यो ब्रह्ममीमांसासूत्रेऽपि **"स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः"** (३।४।४४) इति सूत्रे समुल्लिखितोऽस्ति। अत्राऽस्याऽऽचार्यस्य मतमुपासनायाः कर्तुर् विषये प्रदर्शितं वर्तते। महाभारते तु **"सत्कृतश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम्। उपदिश्य तदा राजन् गतो लोकाननुत्तमान्"** (अनु.१३७।३) इति निर्गुणब्रह्मोपदेशकः कश्चन आत्रेय आचार्य उल्लिखितो दृश्यते। आत्रेयस्याऽऽचार्यस्योल्लेखो जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रेऽपि दृश्यते (४।३।१८, ५।२।१८, ६।१।२६)।

२. आश्मरथ्यः– एष वेदान्तशास्त्राचार्यो ब्रह्ममीमांसासूत्रेऽपि **"अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः"** (१।२।२९) इति, **"प्रतिज्ञासिद्धेर् लिङ्गमाश्मरथ्यः"** (१।४।२०) इति चोल्लिखितोऽस्ति। आश्मरथ्यो जीवात्मनः परमात्मनोऽनन्यत्वं मन्यत इति वह्निस्फुलिङ्गन्यायेन तयोः कञ्चन भेदमपि स्वीकुरुत इति चाऽयमाचार्यो भेदाभेदवादीति शङ्कर-वाचस्पतिमिश्राऽऽनन्दगिरि-गोविन्दानन्दप्रभृतयो मन्यन्त इत्यवगम्यते। आश्मरथ्यस्य जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रेऽप्युल्लेखः प्राप्यते (६।५।१६)। सङ्कर्षकाण्डेऽपि आश्मरथ्यस्योल्लेखो लभ्यते (२।४।४३, ४।२।२)।

३. औडुलोमिः– एष वेदान्तशास्त्राचार्यः **"उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः"** (१।४।२१) इति, **"आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस् तस्मै हि परिक्रीयते"** (३।४।४५) इति, **"चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः"** (४।४।६) इति च ब्रह्ममीमांसासूत्रे समुल्लिखितः। अयमप्याचार्यः संसारदशायां जीवात्मनः परमात्मतो भेद एव मुक्तिदशायामभेद एवेति मन्यत इति भेदाभेदवाद्येवायमिति शङ्कर-वाचस्पतिमिश्राऽऽनन्दगिरि-गोविन्दानन्दप्रभृतिभिः प्रतिपादितमस्ति। औडुलोमेरुल्लेखः सङ्कर्षकाण्डेऽप्यस्ति (३।१।१२)।

४. कार्ष्णाजिनिः– एष वेदान्तशास्त्राचार्यो ब्रह्ममीमांसासूत्रेऽपि **"चरणादिति चेन् नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः"** (३।१।९) इत्यत्र नाम्नोल्लिखितः। अनेनाऽऽचार्येण भुक्तफलात् कर्मणोऽतिरिक्तेनाऽनुशयशब्दवाच्येन कर्मणा युक्तो जीवः पुनर्जन्मने एतं लोकमवरोहतीति **"तद् य इह रमणीयचरणाः"** (५।१०।७) इत्यादिकायाश् छान्दोग्यश्रुतेर् व्याख्यानं कृतमिति उक्ताद् ब्रह्ममीमांसासूत्रोल्लेखादवगम्यते। एतस्याऽऽचार्यस्य जीवब्रह्मस्वरूपविषये किं मतमिति तु विशेषतो न ज्ञायते। अस्याऽऽचार्यस्योल्लेखो जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रेऽपि दृश्यते (४।३।१७, ६।७।३५)। सङ्कर्षकाण्डे च कार्ष्णाजिनिरुल्लिखितोऽस्ति (१।१।११)।

५. काशकृत्स्नः– एष वेदान्तशास्त्राचार्यो ब्रह्ममीमांसासूत्रे **"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः"** (१।४।२२) इत्युल्लिखितोऽस्ति। अनेनाऽऽचार्येण सर्वदा जीवात्मनः परमात्मनोऽभेदेनाऽवस्थानं श्रुत्याऽभिप्रेयत इति प्रतिपादितमिति गम्यते। उक्तं हि शङ्करभगवत्पादेनाऽपि उक्तस्य सूत्रस्य व्याख्याने– **"अस्यैव परमात्मनोऽनेनाऽपि विज्ञानात्मभावेनाऽवस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते"** इति।

६. जैमिनिः– एष वेदान्तशास्त्राचार्योऽपि ब्रह्ममीमांसासूत्रे **"साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः"** (१।२।२८) इत्यादिषु सूत्रेषु (१।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११) समुल्लिखितोऽस्ति। तेषु सूत्रेषु जैमिनेर् मते निर्विशेषब्रह्मवाद एव प्रायेण स्वीकृतो दृश्यते। तथाऽपि **"परं जैमिनिर् मुख्यत्वात्"** इति सूत्रे (४।३।१२), **"भावं जैमिनिर् विकल्पामननात्"** इति सूत्रे (४।४।११) च जैमिनिमतं निर्विशेषब्रह्मवादस्य स्फुटतया विरुद्धं दृश्यते।

७. बादरिः– एषोऽपि वेदान्तशास्त्राचार्यो ब्रह्ममीमांसासूत्रे **"अनुस्मृतेर् बादरिः"** (१।२।३०) इत्यादिषु चतुर्षु सूत्रेषु (३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०) उल्लिखितोऽस्ति। बादरिः खलु निर्विशेषे ब्रह्मण्येव श्रुतेस् तात्पर्यं स्वीकरोति। अयमाचार्यो जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रेऽपि बहुष्वेव सूत्रेषूल्लिखितो दृश्यते (३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३३)।

८. बादरायणः– ब्रह्ममीमांसासूत्रकारः खलु बादरायणो मुनिरिति गुरुपरम्पराप्राप्तरूपेण विद्वद्भिः स्वीक्रियते। **"तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्"** (१।३।२६) इत्यादिकेषु सूत्रेषु (१।३।३३, ३।२।४१, ३।४।१, ३।४।८, ३।४।१९, ४।३।१५, ४।४।७, ४।४।१२) ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थेऽपि बादरायणस्योल्लेखो वर्तते। मतभेदस्थले स्वरचिते ग्रन्थेऽपि विशेषेण स्वनाम उल्लिख्य स्वसिद्धान्तं प्रतिपादयन्ति ग्रन्थकारा इति भारतवर्षीयाणां प्राचीनानां ग्रन्थकाराणां प्रथाऽस्ति। कौटलीयेऽर्थशास्त्रेऽपि कौटल्येन स्वमतविशेषप्रतिपादने स्वनाम उल्लिखितं दृश्यते। शङ्करभगवत्पादेन ब्रह्ममीमांसासूत्रान्तिमसूत्रभाष्येऽवतरणिकायाम् **"अत उत्तरं भगवान् बादरायण आचार्यः पठति"** (४।४।२२) इति वदता, पञ्चपादिकाकारेण पद्मपादेन च **"नमः श्रुतिशिरःपद्मषण्डमार्तण्डमूर्तये। बादरायणसञ्ज्ञाय मुनये शमवेश्मने"** इति मङ्गलं पठता, **"श्रीबादरायणमतानुगता महान्तः"** इति (सङ्क्षेपशारीरके १।१४६) वदता सङ्क्षेपशारीरककारेण सर्वज्ञात्ममुनिना, खण्डनखण्डखाद्यकारेण श्रीहर्षेण च **"भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाऽभाषि"** इति वदता ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थस्य बादरायणकृतत्वमास्थितमेव।

एष बादरायणमुनिर् ब्रह्ममानसपुत्रस्य राजर्षिनिमिशापेन देहान्तरं प्राप्तस्य वसिष्ठस्य पौत्रस्य, शक्तेः पुत्रस्य पराशरस्य पुत्रः सत्यवतीसुतो वेदव्यासो द्वैपायनो मुनिः कृष्ण एवाऽस्तीति भारतवर्षीय-पौराणिकविद्वत्परम्परायां प्रसिद्धिरस्ति। एष एव च पुराणसंहितासम्पादको महाभारतकृच् चेति विद्वांसः कथयन्ति।

वेदव्यासस्य पुराणसंहितासम्पादकस्य महाभारतकारस्य सत्यवतीसुतस्य मुख्यं नाम तु कृष्ण इत्येवाऽवगम्यते। एतस्य नाम्नः प्रयोगो महाभारते चित्रशालासंस्करणे

"अनुज्ञातोऽथ कृष्णस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना। निषसादाऽऽसनाभ्यासे प्रीयमाणः शुचिस्मितः" (१।१।६०) इत्यादिषु बहुष्वेव स्थलेषु (आदि.६०।१३, ६२।४३, १९६।१,३; सभा.४६।६, शल्य. ६३।२९, ३६-३७, शान्ति.३३१।६२, अनुशासन.१२०।५,६; स्वर्गारोहण.५।३६) दृश्यते। एतदेव व्यासस्य नामोपादाय शुकः **"कार्ष्णिः"** इति व्यवहृतो दृश्यते (शान्ति.३२६।५)। एतदेव व्यासस्य नामोपादाय महाभारतं **"कार्ष्णो वेदः"** इत्युच्यते (आदि.१।२६८, ६२।१८, स्वर्गारोहण.५।४१, ६६)। विष्णुभागवतेऽपि व्यासस्य **"कृष्णः"** इति नाम प्रयुक्तं दृश्यते (१।४।३,३२; ९।२२।२१-२२, १२।६।३५, १२।१३।१९)।

सत्यवतीसुतस्य पाराशर्यस्य व्यासस्य बहुशः प्रयुज्यमानं प्रसिद्धतरं विशिष्टं नाम तु मुख्यनामौपाधिकनामद्वयोल्लेखयुतं **"कृष्णद्वैपायनः"** इति अस्ति। एतस्य नाम्नः प्रयोगो महाभारते बाहुल्येन प्राप्यते (आदि.१।१०, १।९४, १।२५३, १३।७, ५९।६, ६०।१,२१; ६२।१२, २७,४१,५२; १०५।२४, ११६।१४, १५६।६, १७०।२२; सभा.४।११, ४६।१०; वन.७।२३, उद्योग.६७।९, शल्य.२९।३९, ६२।३१, सौप्तिक.१३।१५, १६।२१, स्त्री.८।१२, शान्ति.२४।१, ३२।१, ३२३।१२, ३२८।१६, ३३३।३३, ३४०।१९, ३४३।८, ३४६।१२; अनु.१८।१, ८१।७, ११७।७, ११९।२,८; १२०।२,३; आश्व.३।१९, ७२।१४; स्वर्गारोहण.५।४८,५३)।

पुराणेष्वपि पुराणसंहिताकारस्य **"कृष्णद्वैपायनः"** इति नाम प्रयुक्तं दृश्यते (पद्म.सृष्टि.१।४३-४४; विष्णु.३।३।१९, ३।४।५, ४।२०।३८, ६।२।३२)।

महाभारतकारस्य **"कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि। को ह्यन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद् भवेत्"** इति (शान्ति.३४६।१२) उल्लेखो महाभारते एव प्राप्यते। विष्णुपुराणेऽप्ययं श्लोकः स्वल्पेन पाठभेदेनोपलक्षितः पठ्यते (३।४।५)। पद्मपुराणे सृष्टिखण्डे त्वयं श्लोकः **"कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणम् प्रभुम्। को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान् महाभारतकृद् भवेत्"** (१।४३-४४) इति पठ्यते। चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकायां वेदान्तापौरुषेयवादेऽस्य श्लोकस्य पद्मपुराणपाठानुरूप एव पाठ उल्लिखितोऽस्ति।

महाभारतकारस्य **"द्वैपायनः"** इत्यपरं प्रसिद्धं नामाऽस्ति। एतस्य नाम्नो निर्वचनं **"न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस् तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः"** (आदि.६३।८६) इति कृतं दृश्यते। **"व्यासः"** इति नाम्नो निर्वचनमपि **"विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः"** (आदि.६३।८८) इति कृतं दृश्यते। **"व्यासः"** इति नाम्नः **"कृष्णः"** इति नाम्नश्च निर्वचनं महाभारते एव **"यो व्यस्य वेदांश्चतुरस् तपसा भगवानृषिः। लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च"** इति (आदि.१०५।१५) सहैव कृतमपि दृश्यते। व्यासस्य कार्ष्ण्यं शान्तिपर्वणि **"कृष्णे युगे च सम्प्राप्ते कृष्णवर्णो भविष्यसि। धर्माणां विविधानां च कर्ता ज्ञानकरस्तथा"** (३४९।४७) इत्यत्राऽपि प्रतिपादितं दृश्यते।

महाभारतकारस्य **"द्वैपायनः"** इति नाम्नः प्रयोगोऽपि महाभारते बहुष्वेव स्थलेषु (आदि.१।५५,५६,८०,१००,१०४; ६३।८६,११४, ११५।१३, १५६।१७, १८५।२, १९५।३३, १९६।२१,२३; सभा.३३।१७,३३ इ.) दृश्यते। पाराशर्यः सत्यवतीसुतः वासवेयः वेदव्यासः इत्यादिकानां नाम्नामपि महाभारते प्रयोगाः स्थानेस्थाने दृश्यन्ते।

एवं च वेदपुराणसंहितासम्पादकस्य महाभारतकारस्य च व्यासस्य मुख्यं नाम कृष्ण इत्यस्ति, द्वैपायन-पाराशर्य-सत्यवतीसुत-वासवेय-कानीन-प्रभृतीनि तु तस्य नामानि शालातुरीय-गोनर्दीय-कौटल्य-दाक्षेय-गोणिकापुत्रप्रभृतीनि पाणिनिमुन्यादिनामानीव स्थान-जनक-जननीसम्बन्धबोधकानि सन्तीत्यवगम्यते।

कृष्णद्वैपायनस्य मातुर् नामानि च सत्यवती, वासवी, दाशेयी, योजनगन्धा, गन्धकालिका, काली, कृष्णा, मत्स्या, मत्स्यगन्धा, शालङ्कायनजेति सन्ति। प्रायेणैतानि सर्वाणि नामानि अस्माभिर् वेदभाषानिघण्टौ (कौण्डिन्न्यायनकोशे) भूलोककाण्डे ब्रह्मवर्गे **"मत्स्यगन्धा सत्यवती शालङ्कायनजा तथा। दाशेयी वासवी योजनगन्धा गन्धकालिका"** इति सङ्गृहीतानि सन्ति।

एतस्य कृष्णस्य मुनेर् द्वैपायनस्य जन्मनः कथा महाभारते आदिपर्वणि त्रिषष्टितमेऽध्याये उपरिचराख्याने विस्तरेण प्रतिपादिताऽस्ति। तत्र **"सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी"** इत्यादिकं प्रकरणं विशेषेण द्रष्टव्यम् (श्लो.६८-९०)। सङ्क्षिप्तं तदाख्यानमादिपर्वण्येव पञ्चोत्तरशततमेऽध्याये **"धर्मयुक्तस्य धर्मार्थं पितुरासीत् तरीर् मम"** इत्यादिभिः श्लोकैः (श्लो.६-१६) प्रतिपादितमस्ति। एतदाख्यानमादिपर्वण्येव षष्टितमाऽध्यायारम्भेऽपि सूचितमस्ति। द्वैपायनव्यासजन्मकथा पद्मपुराणे सृष्टिखण्डे (१।३७-३९), ब्रह्माण्डपुराणे (३।१०।५४-७४), भागवते (९।२२।२०-२३), मत्स्यपुराणे (१४।१३-१६), वायुपुराणे (१।१।३४-४१, २।११।५८-६७) च सूचिताऽस्ति। देवीभागवतस्य द्वितीयस्कन्धे प्रथमद्वितीयाध्याययोरेषा कथा विस्तरेणैव प्रतिपादिताऽस्ति। तथैव शिवपुराणे पञ्चम्यामुमासंहितायां चतुश्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये चैषा कथा वर्णिताऽस्ति।

कृष्णद्वैपायनः खलु एतस्य वर्तमानस्य ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे प्रथमे दिवसे श्वेतवाराहकल्पे सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितम्यां चतुर्युग्यां द्वापरयुगस्याऽन्तिमे समये कलिद्वापरयोः सन्धौ जात इत्युच्यते इति, इदानीं च यदुकुलजकृष्णस्वर्गारोहणतो गणनीयानां कलियुगाब्दानां षट्षष्ट्यधिकपञ्चसहस्रतमोऽब्दः (५०६६) प्रवर्तते इति भारतवर्षीयपरम्परानुसारम् इतः पूर्वमीषदधिकपञ्चसहस्रवर्षमिते काले कृष्णो द्वैपायनो जात इत्युच्यते।

यत् तु के चन **"स होवाच व्यासः पाराशर्यः"** इति तैत्तिरीयारण्यके (१।९।३), **"विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय, व्यासः पाराशर्यो जैमिनये"** इति सामविधानब्राह्मणे (३।९।८), **"व्यासः पुरोवाच"** इति गोपथब्राह्मणे (१।१।२९) च वेद-पुराणसंहितासम्पादकस्य ब्रह्ममीमांसासूत्रकारस्य महाभारतकारस्य च पाराशर्यस्य कृष्णद्वैपायनस्य व्यासस्य उल्लेखो वर्तते इति वदन्ति, तत् तु वैदिकधर्ममीमांसासिद्धान्ते **"परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्"** (जै.ध.मी.सू. १।१।३१) इत्यत्र वेदे लौकिकेतिहाससिद्धपुरुषनाम्नामुपादानस्य निराकृतत्वाद् वैदिक-सनातन-वर्णाश्रम-धर्मानुयायिभ्यो विद्वद्भ्यो न रोचते। बौधायनगृह्यसूत्रे (३।९।५), भारद्वाजगृह्यसूत्रे (३।१०) बौधायनधर्मसूत्रे (२।९।१४) चोपलभ्यमानाः व्यासस्योल्लेखास्तु एतस्यैव कृष्णद्वैपायनव्यासस्याऽपि स्वीकर्तुं शक्याः स्युः।

एष कृष्णद्वैपायन एतस्या वर्तमानायाश्चतुर्युग्या व्यासोऽस्तीति स्वीक्रियते (कूर्म. १।५२।१-११, ब्रह्माण्ड.पूर्वभागे ३५।११६-१२५, लिङ्ग.१।२४।११-१।२५।१२५, वायु.१।२३।१०७-२०७, विष्णु.३।३।१०-१९, देवीभाग.१।३।२५-३३, शिव.३।४।२-३।५।४३, ७।२।८।४३-४८)। एतेन कृष्णद्वैपायनेन व्यासेन एतस्याश्चतुर्युग्या द्वापरयुगस्यान्ते ब्रह्मसम्प्रदायाऽऽगतं वेदम् ऋग्-यजुस्-सामा-ऽथर्ववेद-रूपेण चतुर्षु विभागेषु विभज्य ऋग्वेदादिसंहिताः सम्पादिता इति च स्वीक्रियते। तथैवैतेन कृष्णद्वैपायनेनैव व्यासेन अष्टादश महापुराणसंहिता अपि सम्पादिता मन्यन्ते। इदानीमुपलभ्यमानासु अग्निपुराणादिमहापुराणसंहितासु कासु चन संहितासु नानाविधाः प्रक्षेपाः सन्तीति दानसागरकारवल्लालसेन-जगन्मोहनकारलक्ष्मणाचार्य-मित्रमिश्र-बलदेवोपाध्याय-बदरीनाथशुक्लादयः प्राचीना अर्वाचीनाश्च विवेचकाः स्वीकुर्वन्त्येव, तथाऽपि मूलरूपेण अष्टादश महापुराणसंहिताः कृष्णद्वैपायनेन व्यासेनैव सम्पादिता मन्यन्ते। महाभारतमपि कृष्णद्वैपायनेन व्यासेनैव कृतमिति **"कृष्णद्वैपायनं व्यासम्"** इत्यादिकात् श्लोकादपि (शान्ति. ३४६।१२, विष्णु.३।४।५, पद्म.सृष्टि.१।४३-४४) अवगम्यते एव।

इदानीमुपलभ्यमानं शङ्करभगवत्पादादिभिर् व्याख्यातं ब्रह्ममीमांसासूत्रमपि वेदव्यासेनैव विरचितमिति प्रायेण सर्वेषां भारतवर्षीयाणां विदुषां मतमस्ति। अत एव भामतीकारो मङ्गलपाठे **"ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे। ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः"** इति वदति स्म। सर्वज्ञात्ममुनिश्च सूत्रकारं कृष्णद्वैपायनं व्यासमेव स्वीकृत्य भाष्यकार-शङ्करनमस्कारात् पूर्वं व्यासं **"वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः। रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर् नः"**(१।६) इति प्रार्थयते स्म। इदानीमपि सम्प्रदायानुसरणवादिनः शाङ्करा वेदव्यासमेव ब्रह्ममीमांसासूत्रकारं स्वीकृत्य **"नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथाऽस्य शिष्यम्। श्रीशङ्कराचार्यमथाऽस्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्। तं तोटकं वार्त्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि"** इति मङ्गलपाठं कुर्वते। असद्वादादिमतानामपि बीजरूपेणाऽनादित्वाद् वर्तमाने काले उपलभ्यमाने ब्रह्ममीमांसासूत्रे साङ्ख्य-वैशेषिक-बौद्ध-जैन-पाञ्चरात्रिकादिमतनिराकरणानां दर्शनादपि एतस्य ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थस्याऽऽर्वाचीनत्वं नाऽऽस्थातुमुचितमिति विद्वांसः प्रतिपादयन्ति। **"ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर् विनिश्चितैः"** (गीता.१३।३) इति महाभारतान्तर्गत-गीतावचनमपि एतदेव ब्रह्ममीमांसासूत्रं परामृशतीति विवेचका मन्यन्ते। अष्टाध्याय्यां **"पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः"** (४।३।११०) इति सूत्रे पाणिनिना स्मृतं भिक्षुसूत्रमपि एतदेव ब्रह्ममीमांसासूत्रमिति सम्भावयन्ति विद्वांसः।

पातञ्जलयोगसूत्रस्य व्यासभाष्यं तु नैतेन कृष्णद्वैपायनव्यासेन कृतमिति विवेचकसत्तमाः कथयन्ति।

अत्र कृष्णद्वैपायनो बादरायणश्च एक एव पुरुषो वा द्वौ भिन्नौ पुरुषाविति किञ्चिद विचारणीयमस्ति। तत्र के चन पाश्चात्त्या भारतवर्षीयाश्च विचारका बादरायणं कृष्णद्वैपायनाद भिन्नं मन्यन्ते। ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्ये शङ्करः खलु **"स्मृतेश्च"** (१।२।६) इत्यादिषु सूत्रेषु स्मृतिप्रमाणत्वेन महाभारतस्य विशेषतो गीतायाः वचनानामपि ब्रह्ममीमांसासूत्रकारेण

परामृष्टत्वं प्रतिपादयतीति, तेनैव पुरुषेण प्रतिपादितेऽर्थे तस्यैव पुरुषस्योक्तेः प्रमाणीकरणं नोचितं भवतीति च शङ्करेण ब्रह्ममीमांसासूत्रकारस्य बादरायणस्य महाभारतकारात् कृष्णद्वैपायनाद् भेद आस्थितोऽवगम्यते, बादरायणस्य कृष्णद्वैपायनोक्त्युपजीवित्वं चाऽऽस्थितमवगम्यते इति ते विद्वांसो मन्यन्ते। महाभारते चित्रशालासंस्करणे कृष्णद्वैपायनस्य कृष्ण इति (१।१।६०), द्वैपायन इति (१।१।१७), कृष्णद्वैपायन इति (१।१।१०), पाराशर्य इति (१।६३।८४), पराशरात्मज इति (१।१।५५), सत्यवतीसुत इति (१।१।५४), वासवेय इति (१।१।५९), वेदव्यास इति (१।१।७६), व्यास इति (१।१।२१), कन्यापुत्र इति (१।१०५।१४) कानीनगर्भ इति (१२।३४९।५०-५१) चोल्लेखेषूपलभ्यमानेषु बादरायण इति वा वादरायण इति वोल्लेखस्तु तत्र कुत्राऽपि नोपलभ्यते इति च बादरायणस्य कृष्णद्वैपायनाद् भेदस्य कल्पना नाऽसमञ्जसेति वक्तुं शक्यं प्रतीयते।

अत्रेदं तु विचारणीयम्। शङ्करभगवत्पादाऽनुल्लिखितवचनकेऽपि इदानीं लोके प्रचलिते वैष्णवानां प्रियत्वेन प्रसिद्धे विष्णुभागवते तु पुराणानां वक्तुः सूतस्य गुरोः पुराणसंहिताकारस्य व्यासस्य **"यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान्** *बादरायणः*। **अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः॥ वेत्थ त्वं सौम्य तत् सर्वं तत्त्वतस् तदनुग्रहात्। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ तत्रतत्राऽञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद् विनिश्चितम्। पुंसामेकान्ततः श्रेयस् तन् नः शंसितुमर्हसि"** (१।१।७-९) इत्यत्र बादरायण इत्युल्लेखः कृतो दृश्यते। तथैव **"हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः। मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ"** (९।२२।२२-२३) इत्यत्र, **"क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर् मात्रोक्तो** *बादरायणः*। **धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाऽप्यजीजनत्"** (९।२२।२५) इत्यत्र च भागवते शुकपिता धृतराष्ट्रादिजनको व्यासो बादरायण इत्युल्लिखितो दृश्यते। तथैव **"पुराणसंहितामेतामृषिर् नारायणोऽव्ययः। नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः॥ स वै मह्यं महाराज भगवान्** *बादरायणः*। **इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम्"** (१२।४।४१,४२) इत्यत्र भागवते कृष्णद्वैपायने व्यासे एव बादरायणशब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। भागवते विदुरो बादरायणवीर्यज उक्तोऽस्ति (३।५।१९)। बादरायणपुत्रत्वादेव शुकः खलु **"एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा। प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः"** (१।१९।४०) इत्यादिषु स्थलेषु (६।४।३, ६।१४।८, ६।१८।२२, ८।१।३३, ८।२४।४, १०।१२।४४, १०।८०।५, १२।६।८) भागवते **"बादरायणिः"** इत्युक्तो दृश्यते।

बादरायणनाम्नो निर्वचनं ध्वनयन् भागवतकारस् **"तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीखण्डमण्डिते। आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्"** (१।७।३) इति वदति। मत्स्यपुराणेऽपि **"कन्या भूत्वा च लोकान् स्वान् पुनराप्स्यसि दुर्लभान्। पराशरस्य वीर्येण पुत्रमेकमवाप्स्यसि॥ द्वीपे तु बदरीप्राये बादरायणमच्युतम्। स वेदमेकं बहुधा विभजिष्यति ते सुतः"** (१४।१५,१६) इत्युक्त्वा बादरायणनाम्नो निर्वचनं सूचितमवगम्यते। एवं च बदरीषण्डमण्डिते देशे ब्रह्मनद्याः सरस्वत्या नद्यास् तटे स्थिते आश्रमे (भाग.१।७।१-३) निवासात्, बदरीप्राये गङ्गायमुनासङ्गमसमीपस्थे द्वीपे जातत्वाद् वा (मत्स्य.१४।१५-१६) कृष्णद्वैपायनो बादरायण इत्युच्यते स्मेत्यवगम्यते। एवं च बदरीणामिदं बादरं क्षेत्रम्, बादरम् अयनं यस्य स बादरायण इति बादरायणनाम्नो निर्वचनमवगन्तव्यम्। बादरायण-

शब्दस्यैतन् निर्वचनं वा(बा)दरायणशब्दे वाचस्पत्यकोशेऽपि (पृ.४८७७) प्रदर्शितमस्ति। अथवा बदरः वसिष्ठस् तस्य गोत्राऽपत्यं बादरायण इति नडादिफकाऽन्वाख्यानं कल्प्यम्। यथा तथा वाऽस्तु, भागवत-मत्स्यपुराणादिप्रामाण्यादपि कृष्णद्वैपायन-बादरायणनाम्नोः समानपुरुषपरत्वं तु अवगम्यत एव। अमरकोशब्रह्मवर्गषट्त्रिंशश्लोकमध्यस्थक्षेपके **"व्यासो द्वैपायनः पाराशर्यः सत्यवतीसुतः"** इत्यत्र, वैजयन्त्याम् **"व्यासः सत्यवतीसुतः"** (१।१।३१) इत्यादौ च बादरायणनाम्नोऽसङ्ग्रहेऽपि त्रिकाण्डशेषकोषे तु **"कृष्णद्वैपायनो वेदव्यासः स्यात् सत्यभारतः। पाराशरिः सात्यवतो माठरो बादरायणः"** (२।७।१९-२०) इत्यत्र तस्य सङ्ग्रहो दृश्यत एव। तथैवाऽभिधानचिन्तामणौ (३।५११), कोषकल्पतरौ ब्रह्मवर्गे (श्लो.१०६) च दृश्यते।

यत् तु सामविधानब्राह्मणे **"विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय, व्यासः पाराशर्यो जैमिनये, जैमिनिः पौष्पिञ्ज्याय, पौष्पिञ्ज्यः पाराशर्यायणाय, पाराशर्यायणो बादरायणाय"** {३।९।८ (३)} इत्युल्लेखात् पाराशर्यव्यास-बादरायणयोर् भेदः कैश्चिद् उच्यते तत् तु वेदे लौकिकपुरुषोल्लेखस्याऽस्वीकार्यत्वाद् वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्माऽनुयायिभ्यो विद्वद्भ्यो न रोचते।

एतस्यां स्थितौ च यत् कैश्चित् पाश्चात्त्यैस् तदनुसारिभिः कैश्चन भारतवर्षीयैर् इतिहासलेखकैश्च बादरायणस्याऽर्वाचीनत्वं प्रकल्पितम्, यच्च बादरायणस्य कालस्य विषये निष्प्रमाणकम् उच्चावचं जल्पनं कृतम्, तत् सर्वं महाकल्प-कल्प-मन्वन्तर-चतुर्युगी-युगव्यवस्थाबद्धस्य पुराणेतिहासप्रसिद्धस्य भारतवर्षीयेतिहासवर्णनस्य विरुद्धमिति सर्वथाऽवधीरणीयमवसीयते। उपलभ्यमानं ब्रह्ममीमांसासूत्रम् उपलभ्यमानमेव जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रमुपजीवति वा ततः प्राचीनं किञ्चद् धर्ममीमांसासूत्रमुपजीवतीति च विद्वद्भिर् विमृश्यम्। उपलभ्यमाने ब्रह्ममीमांसासूत्रे धर्ममीमांसासूत्रकारस्य जैमिनेरुल्लेखाः प्राप्यन्ते, उपलभ्यमाने धर्ममीमांसासूत्रे ब्रह्ममीमांसासूत्रकारस्य बादरायणस्योल्लेखाश्च प्राप्यन्ते इत्यपि बुधैर् न विस्मरणीयम्। जैमिनि-बादरायण-सम्बन्धविषये सङ्क्षेपशारीरके सर्वज्ञात्ममुनिना कृत उल्लेखोऽपि (२।४९) विचारणीयः। एवञ्च जैमिनि-बादरायणयोः समानकालभवत्वमास्थेयम्।

"स्मृतेश्च" (१।२।६) इत्यादिषु सूत्रेषु शङ्करभगवत्पादेन यद् व्याख्यानं कृतं तदपि विवेचनीयमेवाऽवगन्तव्यम्। एतस्मिन् विषये प्रस्तुतायां वृत्तौ उक्तस्य सूत्रस्य व्याख्यानेऽस्माकं टिप्पणी द्रष्टव्या। पूर्वोक्तमपि (पृ.४१-४२) स्मर्तव्यम्।

एवं च कृष्णद्वैपायन-बादरायणपदयोः समानपुरुषविषयत्वमवधार्यैवाऽस्माभिर् वेदभाषानिघण्टौ (कौण्डिन्न्यायनकोषे) भूलोककाण्डे ब्रह्मवर्गे **"व्यासो द्वैपायनः पाराशर्यः सत्यवतीसुतः। कृष्णद्वैपायनः कानीनमुनिर् बादरायणः"** इति कृष्णद्वैपायन-नामानि सङ्कलितानि।

९. **उपवर्षः–** जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रस्य बादरायणीयब्रह्ममीमांसासूत्रस्य च वृत्त्योः कर्तृत्वेन विद्वद्भिः स्मर्यमाणोऽयमाचार्यः **"वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः"** इति

(१।३।२८), **"अत एव भगवतोपवर्षेण प्रथमतन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः"** इति (३।३।५३) च शङ्करभगवत्पादेन महताऽऽदरभरेणोल्लिखितोऽस्ति। हलभृतिरिति कृतकोटिरिति च द्वे नामान्तरे अस्यैवेति त्रिकाण्डशेषकोषकारेण पुरुषोत्तमदेवेनोक्तमस्ति। शबरस्वामिनाऽपि जैमिनीयधर्ममीमांसाभाष्ये (१।१।५) समुल्लिखितस्याऽस्याऽऽचार्यस्य स्थितेः कालो वैक्रमाब्दानां प्रथमं शतकमिति केचिद् वदन्ति। **"अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः"** इति काव्यमीमांसायां (दशमाध्यायान्ते) वदन् राजशेखरस्तु उपवर्षः पाणिनितोऽपि प्राचीन इति मन्यते इत्यवगम्यते।

१०. **बोधायनः**– कृतकोटिनामिकायाः कस्याश्चनेदानीमनुपलभ्यमानाया ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तेः कर्ता कश्चन बोधायनो नाम वृत्तिकारो यामुन-रामानुजादिभिरुल्लिखितोऽस्ति। आर्यसमाजसंस्थापको दयानन्दमहाशयोऽपि शशशृङ्गायमाणामपि बोधायनकृतां कृतकोटिनाम्नीं ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तिं प्रामाणिकीमुद्घोषयति स्म सत्यार्थप्रकाशे। यामुनादिभिर् वेदान्तशास्त्राचार्यत्वेनोल्लिखितानां **कपर्दि-गुहदेव-भर्तृमित्र-भारुचीनामिवाऽस्य** ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तिकारत्वेन यामुनादिभिरुक्तस्य बोधायनस्याऽपि कोऽपि ग्रन्थ इदानीं नोपलभ्यते।

११. **भर्तृप्रपञ्चः**– एष खलु अतिप्राचीनो वेदान्तशास्त्राचार्योऽस्ति। एतेनाऽऽचार्येण माद्ध्यन्दिनीय-वाजसनेयीशावास्योपनिषदः माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-बृहदारण्यकोपनिषदश्च विस्तृता व्याख्या कृताऽभूदिति विवेचकाः कथयन्ति। भर्तृप्रपञ्चः खलु बृहदारण्यकभाष्यवार्तिककारेण सुरेश्वरेण च **"भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानमेवमेतद् यथोदितम्। इतोऽन्यत्राऽपि तद्भाष्यं गमयेदेवमेव तु"** (१।४।११६५) इत्यत्र, **"भर्तृप्रपञ्चभाष्यस्य प्रचारोऽयं प्रदर्शितः। श्रुत्यक्षरानुसारेण तथाऽनुभववर्त्मना"** (१।४।११९८) इत्यत्र च नाम गृहीत्वोल्लिखितोऽस्ति। शङ्करकृतबृहदारण्यकव्याख्यायां स्थितानां शङ्करेण निराकृतानां व्याख्यान्तराणां भर्तृप्रपञ्चकृतव्याख्यात्वेन स्पष्टीकरणम् आनन्दगिरिणा बहुत्र कृतं दृश्यते। एतेन आनन्दगिरेः समये वैक्रमाब्दानां पञ्चदशे शतकेऽपि भर्तृप्रपञ्चस्य भाष्यमुपलभ्यते स्मेति गम्यत इति विवेचका वदन्ति। इदानीं तु भर्तृप्रपञ्चग्रन्थो नोपलभ्यते। भर्तृप्रपञ्चेन निर्विशेषब्रह्मात्माद्वैतपरतया विवर्तवादानुकूलतयैव चोपनिषदो व्याख्या कृताऽवगम्यते। तथापि भर्तृप्रपञ्चस्य काश्चन प्रक्रियाः शङ्करप्रक्रियातो भिन्ना इति ताः शङ्करेण निराकृता अवगम्यन्ते। भर्तृप्रपञ्चो ज्ञानकर्मसमुच्चयं मोक्षसाधनं मन्यते स्मेत्यवगम्यते। एतस्य सिद्धान्तस्य खण्डनं शङ्करेण कृतमस्ति। किन्तु मुख्यो वैदिकः सिद्धान्तस्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयो मोक्षसाधनं भवतीत्येवाऽस्ति। अत्र आत्मज्ञानवता पुरुषेण वेदनियोगानुसारं नियोगसिद्धये क्रियमाणेन नित्यकर्मणा सह आत्मज्ञानस्य युगपदस्तित्वमेव कर्मणो ज्ञानदार्ढ्यसहकारित्वमेव च ज्ञानकर्मसमुच्चयो वैदिकानामभिमत इत्यवगन्तव्यम्। एष एव सिद्धान्तः शङ्करात् प्राचीनैः सुन्दरपाण्ड्य-ब्रह्मनन्दि-द्रविडाचार्य-कुमारिलभट्ट-मण्डनमिश्रादिभिः श्रुति-स्मृत्यनुसारं सम्यक् प्रतिपादित इत्यवगम्यते। आत्मज्ञानवतः कर्म नैव सम्भवतीति शङ्करभणितिस् तु **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच् छतं समाः"** इत्यादिभिर् वचनैः प्रतिपादितस्य वैदिक-

नित्यकर्मसिद्धान्तस्य प्रतिकूलाऽवगम्यते। गृहस्थाश्रममेव मुख्यं वैदिकमाश्रमम् ऐकाश्रम्यवादमेव च मुख्यामाश्रमव्यवस्थां प्रतिपादयतां **"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य"** (गौतमधर्मसूत्रे १।३।३५), **"अथापि प्रजापतेर् वचनम्– त्रयीं विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम्। य एतानि कुर्वते तैरित् सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत् प्रशंसन्"** (आप.ध.सू.२।९।४।८, बौधायनध.सू.२।११।३७) इत्यादिकं वदतां वैदिकानां धर्मसूत्रकाराणाम्, **"कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः"** (३।४।४८) इति **"स्तुतयेऽनुमतिर् वा"** (३।४।१४) इति च वदतो ब्रह्ममीमांसासूत्रकारस्य च उक्तविधो ज्ञानकर्मसमुच्चय एव मुख्यतया मोक्षसाधनमिति सिद्धान्तोऽवगम्यत इति च विशेषेण स्मर्तव्यमत्र। **"इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै"** (मनु.१२।८९,९०) इति मनुस्मृतिवचनम्, **"न्यायागतधनस् तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः। श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते"** (याज्ञ.३।२०५) इति याज्ञवल्क्यस्मृतिवचनं चाऽप्यस्मिन्नेव पक्षेऽनुकूलम्। एवञ्च शङ्करस्य गृहस्थान् प्रति **"अपूता हि ते"** इति कथनम् (छान्दोग्योपनिषद्विवरणे ५।१०।१-२), **"अविद्वत्कामिकर्तव्यतां ह्यवोचाम सर्वकर्मणाम्"** इति कथनम् (बृहदारण्यकवृत्तौ ४।५।१५), **"हिंसारागद्वेषादिबाहुल्याद् बहुक्लिष्टकर्मविमिश्रिता इतरे इत्यतः पारिव्राज्यं मुमुक्षूणां प्रशंसन्ति"** इति कथनम् (बृहदारण्यकवृत्तौ ४।५।१५), **"एवं साङ्ख्ययोगशास्त्रेषु च सन्न्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न उच्यते"** इति कथनम् (बृहदारण्यकवृत्तौ (४।५।१५), **"अधिष्ठानादिपञ्चहेतुकसर्वकर्मसन्न्यासिनाम् आत्मैकत्वाकर्तृत्वज्ञानवतां परस्यां ज्ञाननिष्ठायां वर्तमानानां भगवत्तत्त्वविदाम् अनिष्टादिकर्मफलत्रयं *परमहंसपरिव्राजकानामेव* लब्धभगवत्स्वरूपात्मैकत्वशरणानां न भवति, भवत्येवान्येषामज्ञानां कर्मिणा*मसन्न्यासिना*मित्येष गीताशास्त्रोक्तस्य कर्तव्याकर्तव्यार्थस्य विभागः"** इति कथनम्, (गीताविवरणे उपसंहारे १८।६६) **"तच्च (ब्रह्मसंस्थत्वम्) त्रयाणामाश्रमाणां न सम्भवति"** इति कथनं च (ब्र.मी.सू.३।४।२०) मूलवैदिकमोक्षसाधनसिद्धान्तस्याऽऽश्रमधर्मस्य च प्रतिकूलमेव दृश्यते। अत्र मोक्षसाधनज्ञानकर्मसमुच्चयवादे कर्मशब्देन वेदविहितानां यथायथं नियोगिभिः सेव्यानां नित्यानां नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रम-गृहस्थाश्रम-वानप्रस्थाश्रम-सन्न्यासाश्रमकर्मणां यथार्हं ग्रहणमभिप्रेतमित्यवगन्तव्यम्।

१२. **सुन्दरपाण्ड्यः**– शङ्करभगवत्पादेन यस्य ग्रन्थाद् **"गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे"** इत्यादयस् त्रयः श्लोकाः समन्वयसूत्रभाष्यान्ते उद्धृतास् तस्य ग्रन्थकारस्य नाम सुन्दरपाण्ड्य इत्यस्तीति पञ्चपादिका-प्रबोधपरिशोधिन्यामात्मस्वरूपेणोक्तम्। सुन्दरपाण्ड्यस्योल्लेखोऽमलानन्देन वेदान्तकल्पतरावपि कृतोऽस्ति (३।३।२५)। माधवेन सूतसंहिताव्याख्यायामपि तस्योल्लेखः कृतो दृश्यते (मुक्तिखण्डे ४।१२-१३)। सुन्दरपाण्ड्यः शैवो वेदान्त्यासीत्, स च जैनधर्मं परित्यज्य शैवधर्मे आगत आसीत्, तेन चोलराजकुमारी परिणीताऽऽसीदिति च गोपीनाथकविराजादयः कथयन्ति। एतस्य पूर्णो ग्रन्थस् तु नेदानीमुपलभ्यते। अयमाचार्यो निर्विशेषब्रह्माद्वैतवाद्येवाऽवगम्यते। सुन्दरपाण्ड्यस्य स्थितेः काल ७०७तमस्य वैक्रमाब्दस्य निकटे स्थित इति केचन कथयन्ति।

१३. ब्रह्मनन्दी ब्रह्मदत्तो वा आत्रेयः– अयं वेदान्तशास्त्राचार्यः शङ्करभगवत्पादात् प्राचीनः, सुरेश्वरेण बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकान्ते **"तं वन्देऽत्रिकुलप्रसूतममलं वेधोऽभिधं मद्गुरुम्"** (६।५।२३) इत्ययं स्मृतश्चेति केचन मन्यन्ते। तत्र वेधोऽभिधो ब्रह्माभिधो ब्रह्मनन्दी वा ब्रह्मदत्तो वेति प्रतीयते। आनन्दगिरिस्तु **"वेधोभिधमिति विदधातीति वेधाः परमेश्वरस् तस्याऽभिधा शङ्कराख्या यस्य तं गरीयांसम्"** इति व्याचष्टे। शङ्करभगवत्पादेनाऽपि ब्रह्मनन्दिनश् छान्दोग्योपनिषद्व्याख्यानरूपस्य वाक्यग्रन्थस्य वचनं माण्डूक्यकारिकाया वैतथ्यप्रकरणस्य व्याख्याने (श्लो.३२) समुद्धृतं वदन्ति। अयं सङ्क्षेपशारीरकेऽपि अत्रिवंश्यो मुनिरिति वाक्यकार इति च (३।२१८,२२०) समुल्लिखितोऽस्तीति वदन्ति। ब्रह्मनन्दी वाचस्पतिनाऽपि **"योनिश्च हि गीयते"** (ब्र.मी.सू.१।४।२७) इति सूत्रस्य भाष्यस्य व्याख्याने स्मृत इति वेदान्तकल्पतरुवचनादवगम्यते। अयं च निर्विशेषब्रह्मवाद्येवेति तद्वाक्येभ्योऽनेकेषु ग्रन्थेषूद्धृतेभ्योऽवगम्यते। **टङ्क** इत्यप्यस्यैवाऽऽचार्यस्य नामान्तरमिति केचन मन्यन्ते।

१४. द्रविडाचार्यः– ब्रह्मनन्दिकृतस्य छान्दोग्योपनिषत्सङ्क्षिप्तव्याख्यानात्मकवार्तिकरूपस्य छान्दोग्योपनिषद्वाक्यग्रन्थस्य भाष्यं कश्चन द्रविडाचार्योऽकार्षीदिति वेदान्तिनिकाये प्रसिद्धिरस्ति। शङ्करभगवत्पादेन स्थानेस्थाने सम्प्रदायविदित्युक्त आचार्योऽयमेवेति वाचस्पतिमिश्रसर्वज्ञात्माऽऽनन्दगिरिप्रभृतयो मन्यन्ते। यस्य सुन्दरपाण्ड्यस्य त्रयः श्लोकाः समन्वयसूत्रभाष्यान्ते शङ्करभगवत्पादेनोद्धृताः स खलु सुन्दरपाण्ड्योऽयमेव द्रविडाचार्य इति केचित् प्रतिपादयन्ति। अन्ये तु सुन्दरपाण्ड्यमन्यमेव मन्यन्ते।

१५. मण्डनः– अयमाचार्यः शङ्करेण वादे विजितः सन् शङ्करस्य शिष्यत्वं स्वीकृत्य सन्न्यासं गृहीत्वा शङ्करकृतभाष्यवार्त्तिकमररचदिति शङ्करदिग्विजयकाव्यकारः प्रसिद्धधर्मशास्त्रनिबन्धकाराद् माधवाचार्याद् भिन्नः कश्चन अर्वाचीनो माधवो वदति। किन्त्वयं विषय इदानीं विवेचकैर् न स्वीक्रियते। कुप्पुस्वामिशास्त्रिणा ब्रह्मसिद्धिभूमिकायां मण्डनमिश्रस्य स्थितेः कालः प्रायेण वैक्रमाब्दानामष्टमस्य शतकस्य पूर्वोऽर्ध इति (क्रै.६१५-६९५) प्रतिपादितमस्ति। शङ्करस्य स्थितेः कालस्तु वैक्रमाब्दानां नवमस्य शतकस्योत्तरोऽर्ध इति (८४५-८७७) पाण्डुरङ्ग-वामन-काणेप्रभृतिभिः प्रतिपादितमस्ति। अतो मण्डनमिश्रस्य शङ्करेण वादे विजितत्वं शङ्करशिष्यत्वं च स्वीकर्तुं नैव युज्यत इति कुप्पुस्वामिप्रभृतयो मन्यन्ते।

"श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते" इति ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यवाक्यस्य (४।१।१५) व्याख्याने भामतीकारेण तत्रत्यभामतीवाक्यस्य व्याख्याने वेदान्तकल्पतरुकारेण च मण्डनमिश्रमतस्य शङ्करेण निराकृतत्वमुक्तमस्ति। सर्वज्ञात्ममुनिना मण्डनमिश्रमत-शङ्करमतयोः स्फुटो भेदः **"तद् (मण्डनवचः) ध्यन्यथा प्रस्थितम्"** इत्यन्तेन पद्येन (२।१७४) प्रतिपादितोऽस्ति। **"अन्ये तु पण्डितम्मन्याः सम्प्रदायानुसारतः। विज्ञायेति वचः श्रौतमिदं व्याचक्षतेऽन्यथा"** इति बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकश्लोके (४।४।३९६) सुरेश्वरेण शङ्करव्याख्यानाद् मण्डनमिश्रव्याख्यानस्य भिन्नत्वं प्रदर्शितमिति आनन्दगिरिणोक्तमस्ति। एवं च मण्डनमिश्रस्य शङ्करात् प्राचीनत्वं वाचस्पतिमिश्र-सर्वज्ञात्ममुनि-वेदान्तकल्पतरुकारामलानन्दा-ऽऽनन्दगिरिप्रभृतिभिश्च स्वीकृतमेवाऽवगम्यते।

मण्डनमिश्रेण प्रणीता ग्रन्थाश्च मीमांसानुक्रमणिका, भावनाविवेकः, विधिविवेकः, स्फोटसिद्धिः, विभ्रमविवेकः, ब्रह्मसिद्धिश्चेति षट् प्रसिद्धाः। तत्रान्तिमौ द्वौ ग्रन्थौ अध्यात्मविषयकौ। तत्र विभ्रमविवेके **"आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा। परीक्षकाणां विभ्रान्तौ विवादात् सा विविच्यते"** इति प्रतिज्ञां कृत्वा तदनुसारमेव विवेचनं कृतमस्ति। ब्रह्मसिद्धौ च **"आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम्। असर्वं सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम्"** इति ग्रन्थारम्भं कृत्वा ब्रह्मकाण्ड-तर्ककाण्ड-नियोगकाण्ड-सिद्धिकाण्डैः ब्रह्मजीवा-ऽविद्या-मोक्षसाधन-प्रसङ्ख्यान-मोक्षादयो विषयाः प्रतिपादिताः सन्ति। अयं च **भर्तृप्रपञ्च-सुन्दरपाण्ड्य-ब्रह्मनन्दि-द्रविडाचार्यादि**व्याख्यात-मूलवैदिकसिद्धान्तानुयायी न तु शङ्करानुयायी। तथाऽपि शङ्करानुयायिनिकायेऽपि एतं प्रति उच्चैः समादरो दृश्यते। ब्रह्मसिद्धिग्रन्थः शङ्करस्य कृतेऽपि प्रकरणग्रन्थनिर्माणे प्रेरकोऽवगम्यते। नैष्कर्म्यसिद्धीष्टसिद्धिवेदान्तकौमुदी-वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावल्यादयो ग्रन्थास्तु पद्यगद्यमयीं ब्रह्मसिद्धिशैलीमनुकृत्यैव रचिता दृश्यन्ते। वाचस्पतिमिश्रो भामत्यां बहुषु स्थलेषु शङ्कराभिप्रायमुपेक्ष्य मण्डनमिश्राभिप्रायं प्रामाणिकतया प्रतिपादयतीति केचन शङ्करान्धभक्ताः **"वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यार्थाऽनभिज्ञः...."** इत्यपि वदन्ति (प्रकटार्थविवरणे ३।४।४७)। मधुसूदनेन तु अद्वैतसिद्धौ अन्ते **"सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात्। अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत"** इत्युक्त्वा ब्रह्मसिद्धिं प्रति समादरः प्रकटितोऽस्ति। वाचस्पति-चित्सुख-विद्यासागरादिभिर् ब्रह्मसिद्धिर् व्याख्यातेत्यवगम्यते। केन चन शङ्खपाणिना कृता ब्रह्मसिद्धिव्याख्या तु ब्रह्मसिद्धिपरिशिष्टरूपेण मद्रासनगरे मुद्रितोपलभ्यते (१९३७ क्रै.)।

१६. गौडपादः– गौडपादो गौडदेशज इति नैष्कर्म्यसिद्धेः **"एवं गौडैर् द्राविडैर् नः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः"** इति (४।४४) कथनात् प्रतीयते। तस्य कालस्तु निश्चयेन न ज्ञायते। शङ्करस्य गुरोर् गोविन्दस्याऽयं गुरुरिति शङ्करपरमगुरुरयमिति वेदान्तिनिकाये प्रसिद्धिरस्ति। अस्य मुख्यो ग्रन्थस्तु माण्डूक्यकारिकाख्य एव। साङ्ख्यकारिकाया गौडपादभाष्यमप्यस्यैव कृतिरिति केचित् कथयन्ति, अन्ये तु माण्डूक्यकारिकाकाराद् गौडपादाद् भिन्न एव साङ्ख्यकारिकाव्याख्याकारो गौडपाद इति मन्यन्ते। केन चन गौडपादेन कृतम् उत्तरगीताभाष्यमपि उपलभ्यते। इयमुत्तरगीता च महाभारतस्यैवांश इति कथयन्ति, किन्तु केष्वपि प्राचीनेषु महाभारतकोशेषु इयं गीता नोपलभ्यते। अयं हि गौडपादः अजातवादस्य प्रतिपादकोऽस्ति। अस्य **"न निरोधो न चोत्पत्तिर् न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर् न वा मुक्त इत्येषा परमार्थता"** (२।३२) इति कारिका विशेषेण मननीयाऽस्ति। गौडपादीयाया माण्डूक्यकारिकाया व्याख्यानं शङ्करेण कृतमस्ति। शाङ्करसिद्धान्ता मूलरूपेण सर्वेऽपि गौडपादकारिकायामेवाऽऽगताः सन्ति। अतः शङ्करस्य सिद्धान्ते काऽपि समुल्लेख्या नवीनता नास्तीति वक्तुं शक्यते। अतश्च शङ्करे द्वैतवादिभिः आरोप्यमाणं प्रच्छन्नबौद्धत्वमनुपपन्नमेव विज्ञायते, तस्य सर्वथा गौडपादानुयायित्वात्।

१७. गोविन्दपादः– गौडापादशिष्यः शङ्करगुरुर् गोविन्दपादो नर्मदातटे कुत्रचिन् निवसति स्मेति वदन्ति। एतस्य अध्यात्मविद्याग्रन्थस्तु कोऽपि नोपलभ्यते। एष

रससिद्धदेहो योगी आसीदिति शाङ्कराः कथयन्ति। कस्य चन गोविन्दपादस्य कृतित्वेन रसहृदयतन्त्रं नाम ग्रन्थस्तु श्रूयते च। सर्वदर्शनसङ्ग्रहे माधवेनाऽस्य ग्रन्थस्योल्लेखः कृतोऽस्ति, अस्य ग्रन्थस्य वचनमप्युद्धृतमस्ति।

१८. शङ्करः– एतस्येतिवृत्तस्य विषये बहुभिर् जनैर् लिखितमस्ति। तत्र शङ्करचरितप्रतिपादकाः शङ्करविजय-शङ्करविजयविलास-शङ्कराभ्युदय-शङ्करदिग्विजय-शङ्करदिग्विजयसार-पुण्यश्लोकमञ्जरी-गुरुरत्नमाला-पुण्यश्लोकमञ्जरीपरिशिष्ट–गुरुरत्नमाला-सुषमा–शङ्कराचार्यचरित–गुरुवंशकाव्य–शिवरहस्यादयो ग्रन्थाः प्रसिद्धाः, विविधैर् जनैश् चर्चिताश् च सन्ति। कृष्णस्वाम्यय्यर-गोपीनाथराव-वेङ्कटराम-गोपीनाथकविराज-राजेन्द्रनाथघोष–हरिमङ्गलमिश्र–शरच्चन्द्रशास्त्रि–सूर्यनारायणशास्त्रि–परमानन्दस्वामि-बलदेवोपाध्यायादिभिश्च शङ्करविषये ग्रन्थाः कृताः सन्ति। तथापि शङ्करस्येतिवृत्तस्य विषयेऽद्यापि अस्पष्टतैव वर्तते। तथाऽपि लोके प्रसृतां प्रसिद्धिमनुरुध्याऽत्र किञ्चिल् लिख्यते।

शङ्करस्य जन्म कामकोटिपीठमते कल्यब्दानां यौधिष्ठिराब्दानां वा षड्विंशे शतके (२५९३तमे वर्षे) अभूदिति कथ्यते। द्वारकामठमते कल्यब्दानां सप्तविंशे शतके (२६३१तमे वर्षे) शङ्करस्य जन्माऽभूदित्युच्यते। केरलोत्पत्तिग्रन्थे कल्यब्दानां षट्त्रिंशे शतके (३५०१तमे वर्षे) शङ्करस्य जन्माऽभूदिति वर्ण्यते। किन्तु शङ्करकृतब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्ये वैक्रमाब्दानां षष्ठे शतके वर्तमानस्य बौद्धस्य दिङ्नागस्य, सप्तमे शतके वर्तमानस्य बौद्धस्य धर्मकीर्तेः, गुणमतेश्च मतानां खण्डितत्वात्, धर्मकीर्तेः **"अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति-भेदवानिव लक्ष्यते"** इति श्लोकस्य नैष्कर्म्यसिद्धिकारेण शङ्करशिष्येण सुरेश्वरेणाऽपि प्रमाणत्वेनोद्धृतायाम् उपदेशसाहस्र्यां शङ्करेण धृतत्वात् (१८।१४२), सुरेश्वरेण शङ्करसाक्षाच्छिष्यत्वेनोच्यमानेन धर्मकीर्तेर् नाम्नो बृहदारण्यकभाष्यवार्तिके **"त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद् धर्मकीर्तिना। प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेताऽसौ न संशयः"** इति श्लोके (४।३।७५३) गृहीतत्वाच् च शङ्करो धर्मकीर्तेः पश्चाज् जात इति निश्चीयते, ततश्च शङ्करजन्मकालविषये काञ्चीकामकोटिपीठमतस्य, द्वारकामठमतस्य, केरलोत्पत्तिग्रन्थमतस्य चाऽविश्वसनीयत्वं स्फुटीभवतीति इतिहासविचारका वदन्ति। राजेन्द्रनाथघोषबलदेवोपाध्यायादयः केचन तु १५६०तमे शकान्ताब्दे रचिते दर्शनप्रकाशाख्ये महानुभावसम्प्रदायग्रन्थे कस्माच् चन शङ्करपद्धतिनामकात् प्राचीनाद् ग्रन्थाद् उद्धृतम् **"युग्म-पयोधि-रसा-मितशाके रौद्रकवत्सर ऊर्जकमासे। वासर इज्य उताचलमाने कृष्णतिथौ दिवसे शुभयोगे। शङ्करलोकमगान् निजदेहं हेमगिरौ प्रविहाय हठेन"** इति वचनं दृष्ट्वा ६४२तमे शकान्ताब्दे शङ्करस्य लोकान्तरगमनं स्वीकुर्वाणा ६१०तमे शकान्ताब्दे शङ्करस्य जन्माऽभूदिति मन्यन्ते। एतन्मते शङ्करस्य जन्म ७४५तमे वैक्रमेऽब्दे (६८८तमे क्रैस्ताब्दे) अभूदिति मन्तव्यम्। किन्त्वत्रोक्तवचने स्थितस्य **"युग्मपयोधिरसामितशाके"** इत्यस्यांशस्य रसाशब्देन रसानां ग्रहणेनाऽर्थस्य स्वीकरणमसङ्गतं प्रतीयते, स्त्रीलिङ्गस्य रसाशब्दस्य पृथिव्यां प्रसिद्धतरत्वाद् रसेषु प्रयोगस्य त्वन्यत्र सर्वथाऽदृष्टत्वात्, रसातलपरत्वेऽपि तस्य षट्सङ्ख्यासङ्केतत्वस्याऽनुपपद्यमानत्वाच् च। शङ्करलोकमगादिति च कस्याऽपि शिवलोकगमनं

प्रतिपाद्यते न तु शङ्करस्य लोकान्तरगमनमिति प्रतीयते इति च तद् वचनं राजेन्द्रनाथघोषादि-सम्मतेऽर्थेऽप्रमापकमेवाऽवगम्यते। यच् च बलदेवोपाध्यायेन श्रीशङ्कराचार्यनामके लोक-भाषामये ग्रन्थे शृङ्गिगिरिगुरुपरम्परासंवादप्रदर्शनेन तस्य राजेन्द्रनाथघोषमतस्य समर्थनं कर्तुमीहितं तदप्यनुपपन्नमेव दृश्यते। तत्र शृङ्गिगिरिमठगुरुपरम्परायां चतुर्दशे वैक्रमेऽब्दे शङ्करस्य जन्म प्रतिपादितम्, एवं च चालुक्यवंशजस्य प्रथमस्य विक्रमादित्यस्य ६७०तमे क्रैस्ताब्दे सिंहासनमारूढस्य शासनस्य चतुर्दशे वर्षे ६८४तमे क्रैस्ताब्दे (७४१तमे वैक्रमे-ऽब्दे) शङ्करस्य जन्माऽभूदिति लोकमान्येन गाङ्गाधरिणा तिलकान्वयजेन बालेनाऽपि समर्थितेन मतेन निश्चीयते इति हि तस्य भणितिः। किन्तु घोषमते ६८८तमे क्रैस्ताब्दे (७४५तमे वैक्रमेऽब्दे) शङ्करजन्म, शृङ्गिगिरिगुरुपरम्परासम्मते मते ६८४तमे क्रैस्ताब्दे (७४१तमे वैक्रमेऽब्दे) शङ्करजन्मेति नाऽनयोर् मतयोः संवादो दृश्यते। निश्चितकालोल्लेख-विषयं चतुर्णां वर्षाणामन्तरं महदेवाऽन्तरं मन्तव्यम्। एतेन परम्पराद्वयसंवादमूलकं बलमप-ह्रियते। एवं च शृङ्गिगिरिमठगुरुपरम्परामतेन राजेन्द्रनाथघोषमतस्य समर्थनं कर्तुमशक्यमेव भाति।

अत एव पाश्चात्त्या भारतवर्षीयाश्च भूयांसो विद्वांसस् तु कृष्णब्रह्मानन्दकृतस्य शङ्करविजयस्य—

निधिनागेशवह्न्यब्दे (३८८९) विभवे शङ्करोदयः।
कलौ तु शालिवाहस्य स-खेन्दुशतसप्तके (७१०)॥
कल्यब्दे भूदृगङ्काग्निसम्मिते (३९२१) शङ्करो गुरुः।
शालिवाहशके त्वक्षिसिन्धुसप्तमिते (७४२)ऽभ्यगात्॥

इति वचनम्, नीलकण्ठभट्टकृतशङ्करमन्दारसौरभस्य—

प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्यामेकादशाधिकशतोनचतुस्सहस्र्याम्।
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते राधे सिते शिवगुरोर् गृहिणी दशम्याम्॥

इति वचनम्, बिल्वग्रामे प्राध्यापक-काशीनाथ-बापू-पाठकमहाशयेन प्राप्ते पत्रत्रयात्मके एकस्मिन् पुस्तके स्थितत्वेनोक्तं कस्य चन विदुषः—

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः॥
अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥
कलौ तु चन्द्रनेत्राङ्कवह्न्यब्दे (३९२१) प्राविशद् गुहाम्।
वैशाखे पूर्णिमायां तु शङ्करः शिवतामगात्॥

इति वचनम्, शङ्कराभ्युदयग्रन्थवचनम्, शङ्करगिरिकृताचार्यस्तोत्रवचनम्, कम्बोडियाराजस्य इन्द्रवर्मणो गुरोः शिवसोमस्य वचनम्, अन्या उपपत्तीश्च विचार्य शङ्करस्य जन्म ३८८९तमे कल्यब्दे (७१०तमे शकान्ताब्दे, ८४५तमे वैक्रमाब्दे, ७८८तमे क्रैस्ताब्दे) अभूदिति स्वीकुर्वन्ति।

बलदेवोपाध्यायस्तु जैन-जिनसेनेन हरिवंशस्य ७८३तमे क्रैस्ताब्दे रचितत्वात्, तेन स्वग्रन्थेषु विद्यानन्दस्योल्लिखितत्वात्, विद्यानन्देन अष्टसाहस्र्यां सुरेश्वरकृतस्य बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकस्य वचनानामुद्धृतत्वात्, शङ्करस्य च सुरेश्वरगुरुत्वात् जिनसेन-ग्रन्थेभ्यो विद्यानन्दग्रन्थः प्राचीनः, विद्यानन्दग्रन्थात् सुरेश्वरग्रन्थः प्राचीनः, सुरेश्वरग्रन्थात् शङ्करग्रन्थः प्राचीन इति जिनसेनकालात् ७८३तमात् क्रैस्ताब्दात् शङ्करकालो भूयसैव कालेन प्राचीनः स्वीकर्तव्यो न त्वर्वाचीन इति शङ्करजन्म शाङ्करपद्धतिग्रन्थवचनानुसारम् ६८८तमे क्रैस्ताब्दे स्वीकर्तव्यम्, न तु शङ्करविजयादिग्रन्थानुसारम् ७८८तमे क्रैस्ताब्दे इति मन्यते। किन्त्वेतन् मतं जैनग्रन्थ-ग्रन्थकारादिकालानां सूक्ष्मेक्षिकया सम्यक् परीक्षणे कृते ततोऽस्य मतस्य स्वीकर्तुं शक्यत्वे निश्चिते एव स्वीकर्तव्यं न सहसा, उपर्युक्तानां भूयसां वचनानां विरोधादिति भाति। चिन्तामणिमहोदयोऽपि शङ्करजन्मनः समयः ६५५-तमक्रैस्ताब्द-६८७तमक्रैस्ताब्दयोर् मध्ये कुत्रचित् सम्भाव्यत इति मद्रासनगरे १९२९तमे क्रैस्ताब्दे प्रकाशिते प्राच्यानुसन्धानपत्रे शङ्करस्य काल इति निबन्धे प्रतिपादयति स्मेति तु स्मर्तव्यमत्र।

शङ्करस्य जन्मस्थानं भारतवर्षस्य दक्षिणे भागे वर्तमाने केरलप्रदेशे एर्नाकुलम् इत्युच्यमाने जनपदे आलुवायप्रभागे वर्तमानः कालडि-ग्रामोऽस्तीतीदानीं प्रायः सर्वे स्वीकुर्वन्ति। यद्यपि आनन्दगिरिकृतत्वेन प्रचारिते अनन्तगिरिकृतत्वेन ज्ञायमाने शङ्करविजये द्रविडदेशस्य चिदम्बरम् इत्युच्यमाने स्थाने शङ्करस्य जन्माऽभूदिति कथितमस्ति, तथापि शङ्करविजयविलास-माधवीयशङ्करदिग्विजयादिषूल्लिखितत्वात्, शङ्कराम्बादाहस्थल-चिह्नोपलम्भात्, आधुनिकेन पुरातत्त्वाऽनुसन्धानेन च समर्थितत्वाच् चाऽपि केरलप्रदेशस्थः अङ्गमालिनामकस्य बाष्पगन्त्रीतेष्ठीयनकस्य समीपे पूर्णायाः पेरियार् इत्युच्यमानाया नद्यास् तटे वर्तमानः कालडिग्राम एव शङ्करजन्मस्थलमिति निश्चिन्वन्तीदानीं विचारकाः। अज्ञानान्धकारे निमग्नस्यैतस्य शङ्करजन्मस्थलस्याऽन्वेषणे च १९१०तमे क्रैस्ताब्दे (१९६७तमे वैक्रमाब्दे) सच्चिदानन्दशिवाऽभिनवनृसिंहभारत्याख्येन शृङ्गिगिरिशाङ्करमठस्य त्रयस्त्रिंशेनाऽधीशेन महान् प्रयत्नः प्रारब्ध इति वदन्ति। १९८४तमे क्रैस्ताब्दे तु एतत् स्थानं विकसितं शृङ्गिगिरिशाङ्करमठसम्बद्ध-मन्दिर-पाठशाला-छात्रशिक्षकातिथिनिवासशाला-शासकभवनादिसहितं सुबद्धघट्टनदीशोभितं चैतेन निबन्धकारेण दृष्टमासीत्। तदा काञ्चीशाङ्करमठ-सम्बद्धम् एकं शङ्करविमानमण्डपं छात्रशिक्षकावासभवनादिकं च तत्समीप एव दृष्टमभूत्।

शङ्करः केरलदेशे प्रसिद्धानां वेदाध्यायिनां नम्पूतिरि-(नम्बूदरि)-ब्राह्मणानाम् अत्रिगोत्रके काप्पिल्लिकुले वेदादिशास्त्रपारदृश्वनो विद्याधिराजशर्मणः पौत्रतया शिवगुरोः पालूरवंशजायाः सतीशिरोमणिभूताया आर्याम्बायाश्च पुत्रतया जातोऽभूदिति ऐतिह्यविदो वदन्ति। के चन शङ्करस्य पितृकुलं "पालूर इल्लम्" इति प्रसिद्धम्, मातृकुलं च "पजुरपन्नै इल्लम्" इति प्रसिद्धमासीदिति वदन्ति। बदरीनाथस्य पूजने पशुपतिनाथस्य पूजने च शङ्करेण स्थापितानां नम्पूतिरिब्राह्मणानामेवाऽधिकारस्य परम्पराऽपि शङ्करस्य केरलस्थ-नम्पूतिरिब्राह्मणकुले जन्मनि प्रमाणमिति केचिद् वदन्ति। किन्तु बदरीनाथस्य पूजने प्राचीने काले के ब्राह्मणा अधिकृताः, इदानीं के ब्राह्मणा अधिकृता मन्यन्त इति त्वयं

ग्रन्थकारो न जानीते; पशुपतिनाथस्य पूजने त्विदानीं कार्णाटा एवाऽधिकृता दृश्यन्ते। एते च कार्णाटा गोकर्णक्षेत्राभिजनाः पाशुपतव्रतधारिकुलजाः शैवधर्मविशेषानुयायिनः सन्तीति आगममीमांसाग्रन्थे व्रजवल्लभद्विवेदमहोदयः कथयति।

शङ्करस्याऽध्ययनादिकार्याणां विषये च—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

इति पद्यं प्रसिद्धं वर्तते।

शङ्करकृतग्रन्थेषु दशानामुपनिषदां वृत्तयः (भाष्याणि), भगवद्गीताया व्याख्या (भाष्यम्), ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य शारीरकमीमांसाभाष्यनामकं भाष्यम् इति मुख्या ग्रन्थाः सन्ति। एतेषु ग्रन्थेषु परवादनिराकरणपूर्वकं निर्विशेषब्रह्मात्माद्वैतं शङ्करेण प्रतिपादितमस्ति। तत्र च केनोपनिषदः पदभाष्यमेव शङ्करेण कृतं वाक्यभाष्यं तु नेति परीक्षका मन्यन्ते। माण्डूक्यभाष्ये शङ्करग्रन्थेष्वन्यत्राऽदृश्यमानस्य पद्यात्मकमङ्गलपाठस्य दर्शनात् तत्र मङ्गल-पद्ये वृत्तेऽपि कस्याश्चन विसंस्थुलताया उपलभ्यमानत्वाच् च माण्डूक्यभाष्यस्य शङ्करकृतत्वे परीक्षकाः संशेरते। श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यादीनां विषयेऽपि विवेचकानां मतिः संशया-त्मिकैवाऽवगम्यते। नैष्कर्म्यसिद्धेर् व्याख्याता कर्णाटकप्रदेशस्थहोलेनरसिपुरवास्तव्यः सच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती तु बृहदारण्यकभाष्ये (१।३।२२, १।५।१३, ४।४।३) ब्रह्ममीमांसासूत्र-भाष्ये (३।१।१, २।४।७) च प्राणानामानन्त्यस्य विषये विगानस्य दर्शनाद् ब्रह्ममीमांसासूत्र-भाष्यकार-बृहदारण्यकभाष्यकारयोरपि भेदं सम्भावयति। तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यस्य बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यस्य च शैल्याम्, ईशावास्योपनिषद्भाष्यादीनां शैलीतो भेदस्य दर्शनात् तैत्तिरीयोपनिषद्-बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यकारस्य ईशावास्योपनिषदाद्यन्योपनि-षद्भाष्यकाराद् भेदं च स एव सम्भावयति। सुरेश्वरस्य तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये बृहदारण्य-कोपनिषद्भाष्ये एव च वार्तिकग्रन्थस्य रचनामुपलभ्याऽपि स तयोर् भाष्ययोः कर्तारम् अन्योपनिषद्भाष्याणां कर्तुः ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्यस्य कर्तुश्च भिन्नं सम्भावयति। एतस्मिन् विषयेऽधिकं जिज्ञासुभिस् तस्याऽऽङ्लभाषामयी नैष्कर्म्यसिद्धिभूमिका द्रष्टव्या।

शङ्करकृतित्वेन विविधेषु सङ्ग्रहेषु सङ्गृहीतेषु परश्शतेषु प्रकरणग्रन्थेषु अपरोक्षानु-भूतिः, आत्मबोधः, उपदेशसाहस्री, पञ्चीकरणम्, प्रबोधसुधाकरः, वाक्यवृत्तिः, लघुवाक्य-वृत्तिः, विवेकचूडामणिः, शतश्लोकी चेति ग्रन्था गहनानाम् उपनिषद्-गीता-ब्रह्ममीमांसा-सूत्रग्रन्थानामध्ययनेऽशक्तानां जनानामुपकाराय सरलया शैल्या ब्रह्मात्मज्ञानस्य तेभ्यो दानाय शङ्करभगवत्पादेन कृता अवगम्यन्ते इति जनाः कथयन्ति। अन्ये तु प्रकरणग्रन्थाः शङ्करकृतत्वेनोच्यमाना अपि अर्वाचीनैर् विभिन्नैः शाङ्करमठाधीशैः स्वेस्वे काले कृताः स्युरिति ते मन्यन्ते।

शङ्करकृतत्वेन प्रसिद्धेषु परश्शतेषु स्तोत्रेषु च आनन्दलहरी, गोविन्दाष्टकम्, चर्पटपञ्जरिका, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्, दशश्लोकी, द्वादशपञ्जरिका, मनीषापञ्चकम्,

विष्णुषट्पदी, शिवभुजङ्गप्रयातस्तोत्रम्, सोपानपञ्चकम् (उपदेशपञ्चकम्), हरिमीडेस्तोत्रं चेति स्तोत्राणि लोकसङ्ग्रहाय शङ्करेण कृतानि, स्वयं च प्रयुक्तानि; अन्यानि स्तोत्राणि तु अर्वाचीनैर् विभिन्नैः शाङ्करमठाधीशैः स्वेस्वे काले कृतानीति विवेचका जना मन्यन्ते।

शङ्करेण वेदानधिकारिलोकोपकाराय तान्त्रिकी पूजापद्धतिरप्युपदिष्टा, लोकसङ्ग्रहाय सा स्वयमपि अनुसृता, सौन्दर्यलहरी-प्रपञ्चसारतन्त्रादयस् तान्त्रिकग्रन्थाश्च विरचिता इति च शाङ्करव्यवस्थानुयायिनः पण्डिता वदन्ति।

शङ्करस्य मुख्याः शिष्याश्च पद्मपादः (सनन्दनः), सुरेश्वरः (विश्वरूपः), हस्तामलकः (पृथ्वीधरः), तोटकः (गिरिशर्मा) इति चत्वार उच्यन्ते।

कलियुगस्येतः पूर्वं प्रायः पञ्चसु सहस्रेषु वर्षेषु प्रारम्भात् प्रभृत्येव चार्वाक-हैरण्यगर्भ-वैष्णव-शैव-शाक्त-सौर-गाणपत्य-कौमार-जैन-बौद्धादिमतानां प्रचारस्य क्रमेण वृद्ध्या बाहुल्याच् च वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मः क्रमेण शिथिलीभवन् विरल-विरलतरीभवँश् चाऽऽसीत्। सूर्यवंशजेक्ष्वाकुराजवंशे कलौ सुमित्रस्य राज्ञोऽन्तेऽस्तङ् गते, चन्द्रवंशजपौरवराजवंशे च कलौ क्षेमकस्य राज्ञोऽन्तेऽस्तं प्राप्ते, बार्हद्रथानाम्, प्रद्योतवंशजानाम्, शिशुनागवंशजानां च भारतवर्षीयाणां प्रमुखाणां राज्ञां समये वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्माऽऽचरणे क्रमेणाऽपचीयमाने सति शिशुनागवंशजस्य राज्ञो महानन्दिनः शूद्रायां भार्यायां जातस्य शासकस्य सर्वक्षत्रान्तकस्य महापद्मस्य समये वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मे महति सङ्कटे समापतिते (द्र.– वायुपु.२।३७।३२५) विष्णुगुप्तेन कौटल्येन द्विजोत्तमेन शस्त्रशास्त्रविद्यापारदृश्वना स्वशिष्यं मौर्यवंशजं चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषिच्य वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मोद्धारे कृते; ततः पुनः कालक्रमेण मौर्येषु प्रमत्तेषु जैनेषु बौद्धेषु च बलवत्सु जातेषु शुङ्गवंशजेन द्विजोत्तमेन पुष्यमित्रेण सेनान्या मौर्यवंशजं बृहद्रथं राजानं हत्त्वा स्वयं राज्यं प्रशास्य द्विरश्वमेधेनेष्ट्वा वैदिकधर्मस्योत्थाने कृतेऽपि कालेनोत्थापितानां पातितानां च शुङ्गवंशजानाम्, कण्ववंशजानाम्, आन्ध्रवंशजानाम्, गुप्तवंशजानां च राज्ञां समयेषु पर्यायेण जातेषु वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मस्योत्थानेषु पतनेषु च सत्स्वपि हर्षवर्धनसमये विशेषतः पुना राजाश्रयस्य लाभेन जाताद् बौद्धानामुदयाद् वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मो म्लानतां गच्छन्नासीत्। एतादृशे व्यतिकरे तस्य वैदिकधर्मस्य पुनरुज्जीवने सुदृढीकरणे प्रचारणे च आस्तिकशिरोमणिभिः कुमारिलभट्टपादैर् जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्र-शाबरभाष्य-व्याख्यानरूपाणां चार्वाक-जैन-बौद्धादिनास्तिकवाद-निराकरणपराणां श्लोकवार्तिकादीनां ग्रन्थानां प्रणयनेन प्रचारणेन च वैदिककर्मकाण्डपक्षस्य समर्थनेन सबलीकरणेन प्रचारणेन च वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मस्य संरक्षणे पूर्वं यथा महत् कार्यं कृतं तथैव शङ्करभगवत्पादेनाऽपि स्वसमये उपनिषद्व्याख्यान-गीताव्याख्यान-ब्रह्ममीमांसासूत्रव्याख्यानग्रन्थानाम् अन्येषां महत्त्वपूर्णानां प्रकरणग्रन्थ-स्तोत्रग्रन्थादीनां ग्रन्थानां च प्रणयनेन प्रचारणेन च वैदिकज्ञानकाण्डपक्षस्य समर्थनेन सबलीकरणेन प्रचारणेन च वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मस्य संरक्षणे महत् कार्यं कृतमिति वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मानुयायिनो जना मन्यन्ते।

"जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणो विष्णुर् भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मण-

त्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वासुदेवांशेन कृष्णः किल सम्बभूव, *ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मस्* तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्" इति गीताव्याख्योपोद्घाते वदन्, ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्ये च **"इदानीमिव कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्"** (१।३।३३) इति वदन्, **"यो नाऽस्ति ब्रह्मेति मन्यते स सर्वस्यैव** *सन्मार्गस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्या*ऽश्रद्दधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यते ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात् तस्य अतो नास्तिकः **सोऽसन्नसाधुरुच्यते लोके,** तद्विपरीतः सन् **योऽस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद स** *तद्ब्रह्मप्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादि-व्यवस्थालक्षणं* श्रद्दधानतया यथावत् प्रतिपद्यते यस्मात् ततस् **तस्मात् सन्तं साधुमार्गस्थमेनं विदुः साधवः"** इति तैत्तिरीयोपनिषद्व्याख्याने (२।६) वदँश् च शङ्करभगवत्पादो वैदिक-सनातनवर्णाश्रमधर्मस्य संरक्षणे व्यवस्थापने प्रचारणे च सन्नद्ध इवैव प्रतीयते च। तथापि द्विजातिस्त्रीणां वेदाध्ययनाधिकारस्य विषये, आश्रम-बाध-विकल्प-समुच्चय-व्यवस्था-विषये, वैदिकगृहस्थाश्रममाहात्म्यविषये, वैदिकयज्ञतत्त्वविषये, वैदिकमोक्षसाधनविषये च उपनिषद्-गीता-ब्रह्ममीमांसासूत्रव्याख्यानेषु आगतानि शङ्करस्य कानिचन प्रतिपादनानि वैदिकमूलशास्त्रविधानाऽननुकूलानीति तानि भृशं विमृश्यान्येव दृश्यन्ते।

शङ्करस्य माहात्म्यं वर्णयन्तः केचन जनाः शङ्करभगवत्पादेन भारतवर्षस्य चतुर्षु कोणेषु चतुरो मठान् स्थापयित्वा तेषु स्वशिष्यान् सन्यासिनो मठाधीशान् प्रतिष्ठाप्य तेषां कर्तव्यं निर्दिश्य गुरुशिष्यपरम्परया मठधर्मपरम्परां पालयितुमाज्ञाप्य च वैदिकसनातन-वर्णाश्रमसदाचारसंरक्षणस्य सुदृढा व्यवस्था कृता, तेनैव भारतवर्षस्य अद्याऽपि एकता बलीयसी जायमानाऽस्तीति च वदन्ति। किन्त्वेतन् मठस्थापनकार्यं सन्यासिनां कृते आचार्यदीक्षादीनां विधानं च वैदिकमूलप्रवाहबाह्यानां विविध-हैरण्यगर्भ-वैष्णव-शैव-शाक्त-सौर-गाणपत्य-कौमारादिमतानुयायिनां सन्यासिनां ग्राह्यत्वेऽपि मुख्यानां स्वशाखा-श्रुतिसूत्राद्यनुयायिनां वैदिकानां सन्यासिनां कृते तु सर्वथा वेद-स्मृति-पुराणशास्त्रप्रतिकूल-त्वादस्वीकार्यमेवाऽवसीयते इति कथमेतस्य वेदादिविरुद्धस्य केरलदेशप्रसिद्ध-पुरातन-क्रैस्तचर्चस्थापनानुकरणरूपतया प्रतीयमानस्य सन्यासि-मठस्थापनादिकार्यस्य वैदिकैर् ब्राह्मणादिभिर् माहात्म्यं स्वीकर्तुं शक्यत इति वैदिकैर् विद्वद्भिर् भृशं परिचिन्तनीयोऽयं विषयोऽवसीयते। स्वस्वमठप्रतिष्ठाविशेषवर्धनार्थं शाङ्करमठविमर्शादिग्रन्थोक्तप्रकारेण परस्परं कलहायमानानाम्, तन्त्रमूलाया लिङ्गपूजायाः शक्तिपूजायाश्च माहात्म्यं ख्यापयताम्, धार्मिकमाध्यात्मिकं च चरित्रं गौणीकृत्य राजनीतिकं चरित्रं प्राधान्येनाऽवलम्बितवताम्, केवलां भक्तिं केवलं ज्ञानं वाऽधिकृत्य धनिकादिस्वार्थपूरणमनोविनोदनादिप्रयोजनाय प्रवचनादिकं कुर्वताम्, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त-वैदिकसनातनवर्णाश्रमधर्मव्यवस्थायाः सुदृढी-करणे तूदासीनानाम्, जैनबौद्धसाधुतुल्यानाम्, स्वानुसृतमार्गप्रातिकूल्यान् मुख्यवैदिक-वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था-विधायिशास्त्रचर्चातो बिभ्यताम् इदानीन्तनानां शाङ्करमठाधीशानां दशनामिमठविशेषाधीशानां च कार्यमपि वैदिकैर् ब्राह्मणादिभिर् विद्वद्भिः परिचिन्तनीय-मेव दृश्यते। अतश्च सन्यासि-मठस्थापनादिकार्यस्य मूलवेदशास्त्रदृष्ट्या सम्यग् विवेचनं

ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्यकारेण शङ्करेण मठस्थापनादिकं कार्यं कृतं न वेति परीक्षणं च वैदिकैः विद्वद्भिः कार्यमेवेत्यवसीयते।

१९. **पद्मपादः (सनन्दनो विष्णुशर्मा वा)** – अयं शङ्करस्य प्रथमः शिष्य उच्यते। अस्य प्रथमं नाम सनन्दन इत्यासीदिति के चित् विष्णुशर्मेत्यासीदित्यन्ये वदन्ति। अयं भारतवर्षदक्षिणभागस्थ-चोलदेशवासी आसीत् किल। अस्य पिता तत्राऽहोबलक्षेत्रे निवसति स्म किल। अस्य पितुर् नाम माधव इत्यासीत्, एतस्य कुलं नरसिंहोपासकमासीत्, अयमपि नरसिंहोपासक आसीत्, अत एव कदाचिद् उग्रभैरवनामके कस्मिँश् चित् कापालिके स्वस्य सिद्ध्यै बलिरूपेणोपहर्तुमेकान्ते शङ्करस्य शिरश्छेत्तुं प्रवृत्ते तत्राऽकस्मादुपस्थितः पद्मपादो नरसिंहावेशवशात् तस्य कापालिकस्यैव झटित्यन्तं चकार किलेति च शङ्करविजयकाव्यकारा वदन्ति। कदाचिद् गुरोराह्वाने गुरुसमीपं गन्तुं त्वरया गभीरां वेगवतीं चाऽलकनन्दां पद्भ्यामेव तरीतुं प्रवृत्तस्याऽस्य पादन्यासानां स्थलेषु अलकनन्दाजले तत्काले पद्मानि उद्भूतानि किल, तेषु पद्मेषु पादन्यासान् कुर्वन्नयमलकनन्दां तीर्त्वा गुरोः समीपं जगाम किल; ततः प्रभृति गुरुणाऽस्य नाम पद्मपाद इति कृतं किलेति च शङ्करभक्ता वर्णयन्ति। ऋग्वेदाध्यायी काश्यपगोत्रो द्राविडब्राह्मणः पद्मपादो भारतवर्षस्य पूर्वभागे जगन्नाथपुर्यां स्थापिते गोवर्धनमठे शङ्करेण मठाधीशतायां नियुक्त आसीदिति च केचिद् वदन्ति; आश्रमपदधारिणोऽरण्यपदधारिणश्च दशनामिनः सन्न्यासिनः पद्मपादशिष्यपरम्परया सम्बद्धाः सन्तीति च विवेचका वदन्ति। अन्ये तु पृथ्वीधरं (हस्तामलक) गोवर्धनमठस्य प्रथमं मठाधीशं प्रतिपादयन्ति। गोवर्धनमठानुयायिनः सन्न्यासिनः अरण्यपदेन वनपदेन च व्यवह्रियन्ते इति तद्विदो वदन्ति। पद्मपादकृता पञ्चपादिका नाम ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यटीका प्रसिद्धाऽस्ति। सा चेदानीं चतुस्सूत्र्यन्तभागस्यैवोपलभ्यते। तत्राऽध्यासः, ब्रह्मविचारस्य कर्तव्यता, ब्रह्मलक्षणम्, ब्रह्मणि प्रमाणम्, ब्रह्मणि सर्वासामुपनिषदां समन्वय इति वेदान्तशास्त्रस्य मुख्याः पञ्च विषयाः प्रतिपादिता इत्ययं ग्रन्थः पञ्चपादिकेत्युच्यते इति बहवः कथयन्ति, चतुस्सूत्र्यन्तामेव च पञ्चपादिकां मन्यन्ते। पञ्चपादिकासम्पादकः पोलकम् सु.श्रीरामशास्त्री तु पञ्चपादिकामन्यथैव व्याचष्टे, सम्पूर्णस्यैव ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यस्य पञ्चपादिकां टीकां पद्मपादेन कृतां प्रतिपादयति। पद्मपादस्य कर्मविवेचनपरा विज्ञानदीपिका, प्रपञ्चसारविवरणम्, पञ्चाक्षरीभाष्यम्, आत्मानात्मविवेकः, लघुवार्तिकटीका चेत्यन्येऽपि ग्रन्थाश्चर्चिताः सन्ति। तत्र विज्ञानदीपिका नेपालदेशस्य ग्रन्थागारे सुरक्षिताऽवगम्यते। पञ्चपादिकायाः प्रकाशात्मकृतं विवरणम्, आत्मस्वरूपकृता प्रबोधपरिशोधिनी व्याख्या, विज्ञानात्मकृता तात्पर्यार्थद्योतिनी व्याख्या चोपलभ्यन्ते।

२०. **सुरेश्वरः (विश्वरूपः)** – अस्य पूर्वाश्रमे नाम मण्डनमिश्र इत्यासीदिति शङ्करदिग्विजयकारादयो वदन्ति। किन्तु सुरेश्वरेण नैष्कर्म्यसिद्धौ बृहदारण्यकभाष्यवार्तिके च मण्डनमिश्रकृत-ब्रह्मसिद्धिग्रन्थस्थ-मतानाम् आक्षेपपूर्वकमुपहासपूर्वकं च खण्डितत्वात् सर्वज्ञात्ममुनिनाऽपि सङ्क्षेपशारीरके मण्डनमिश्रमतेऽनादरस्य प्रकटितत्वात् (२।१७४), प्रकाशात्मयतिनाऽपि पञ्चपादिकाविवरणे मण्डनमतस्य खण्डितत्वात् सुरेश्वरमतस्य तु

मण्डितत्वात्, आनन्दबोधेन न्यायमकरन्देऽपि ब्रह्मसिद्धिकारस्य मण्डनस्य सुरेश्वरस्य च भेदेनोल्लिखितत्वात्, आनन्दानुभवाख्येन वेदान्तशास्त्रप्रकरणग्रन्थकारेण न्यायरत्न-दीपावल्याख्ये ग्रन्थे सुरेश्वरविश्वरूपयोरैक्यस्य मण्डनस्य ततो भिन्नत्वस्याऽस्थितत्वात् (पृ.३१८, ३१७), क्रैस्ताब्दानामष्टादशे शतके रचिते गुरुवंशकाव्येऽपि विश्वरूपसुरेश्वरयो-रैक्यस्य मण्डनस्य ततो भिन्नत्वस्य चोल्लेखात्, कालक्रमविचारणेऽपि मण्डनस्य शङ्करात् प्राचीनत्वात्, मण्डनस्य भर्तृप्रपञ्चादि–प्राचीनतर–वेदान्तशास्त्राचार्याऽनुयायित्वात् शङ्करानुयायित्वाभावाच् चाऽद्यत्वे कुप्पुस्वामिशास्त्रिप्रभृतयो विवेचका मण्डनमिश्र-सुरेश्वरयोरैक्यं न स्वीकुर्वते। विश्वरूप-सुरेश्वरयोस्तु ऐक्यमातिष्ठन्ते। एकस्यैवाचार्यस्य गृहस्थाश्रमे विश्वरूप इति नामाऽऽसीत्, सन्न्यासाश्रमे तु सुरेश्वर इति नामाऽऽसीदिति ते वदन्ति। तथा च माधवः पराशरस्मृतिव्याख्याने बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकाद् उद्धृतम् **"आम्रे फलार्थमित्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर् वचः। फलभाक्त्वं समाचष्टे नित्यानामपि कर्मणाम्"** इति वचनं (द्र.-बृ.उ.भा.वा.१।१।९७) **"वार्तिके विश्वरूपाचार्य उदाजहार"** इत्युक्त्वा प्रस्तौति (प्रथमे भागे पृ.५१-५२) च। तथैव विद्यारण्योऽपि विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे द्वे वार्तिकवचने विश्वरूपकृतत्वेनोल्लिखति (अच्युतग्रन्थमालासंस्करणे, पृ.१७३, ३१९)। सप्तसूत्रसन्न्यासपद्धतावपि चतुर्षु शङ्करशिष्येषु स्वरूपाचार्यः, पद्माचार्यः, त्रोटकः, पृथ्वीधरश्चोल्लिखिताः सन्तीति, रामतीर्थोऽपि मानसोल्लासे सुरेश्वरस्य नामान्तरं विश्वरूप इत्यस्तीति वदतीति च विश्वरूपपरिचये धर्मशास्त्रेतिहासग्रन्थे पाण्डुरङ्ग-वामन-काणे-महाशयोऽपि ब्रवीति। शङ्करदिग्विजयकारोऽपि सुरेश्वरस्य विश्वरूप इति नामान्तरं स्वीकरोत्येव (३।४२)। गृहस्थाश्रमे वर्तमानेन विश्वरूपेण कृतो याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्या-रूपो बालक्रीडानामको मिताक्षराकारादीनामप्युपजीव्यो ग्रन्थः सुप्रसिद्धो वर्तते। विश्वरूप-कृतित्वेनाऽन्येऽपि केचन धर्मशास्त्रनिबन्धग्रन्थाः स्थानेस्थाने उल्लिखिता दृश्यन्ते। किन्तु ते बालक्रीडाकारस्यैव विश्वरूपस्येति निश्चयो नास्ति। सन्न्यासाश्रमं सुरेश्वराख्यां च प्राप्तेन तेन कृता ग्रन्थास् तु तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिकम्, बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकम्, पञ्चीकरणवार्तिकम्, मानसोल्लासाख्या दक्षिणामूर्त्यष्टकस्तोत्रव्याख्या, नैष्कर्म्यसिद्धिश्च सन्तीति विवेचका मन्यन्ते। सुरेश्वरः तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिके प्रथमेऽनुवाके **"मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया। इति मीमांसकम्मन्यैः कर्मोक्तं मोक्षसाधनम्। प्रत्याख्यायाऽऽत्मविज्ञानं तत्र न्यायेन निर्णयः"** (श्लो.९, १०) इत्यत्र श्लोकवार्तिकसम्बन्धाक्षेपपरिहारप्रकरणस्थं कुमारिलभट्टवचन-मुद्धृत्य कुमारिलभट्टं मीमांसकम्मन्य इत्युक्त्वाऽधिक्षिपतीति सुरेश्वरः साक्षात् परम्परया वाऽपि केनाऽपि प्रकारेण कुमारिलभट्टशिष्यो न सम्भाव्यत इति गोपीनाथकविराज आह स्म (अच्युत, पृ.४१)। तथापि केचन तु विश्वरूपं कुमारिलभट्टशिष्यं मन्यन्ते। विश्वरूपस्य सुरेश्वराचार्याऽभिन्नत्वे तु एतदपि अनुपपन्नमेव प्रतीयते। काण्ववाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद-शाखाध्यायी अविगतगोत्रो गौडकान्यकुब्जब्राह्मणः सुरेश्वरः भारतवर्षस्य दक्षिणे भागे कर्णाटप्रदेशे कडूरमण्डले तुङ्गभद्रातटे शृङ्गिगिरौ सर्वप्रथमं स्थापिते शाङ्करमठे शङ्करेण प्रथममठाधीशतायां नियुक्त आसीदिति केचिद् वदन्ति। अन्ये तु पृथ्वीधरं (हस्तामलक)

शृङ्गिगिरिमठस्य प्रथमं मठाधीशं प्रतिपादयन्ति। शृङ्गिगिरिमठस्य मठाधीशसूच्यां शृङ्गिगिरिमठे, द्वारकामठस्य मठाधीशसूच्यां द्वारकामठे च सुरेश्वरस्य प्रथममठाधीशत्वं प्रदर्शितं वर्तते। शृङ्गिगिरि-मठानुयायिनः सन्न्यासिनः सरस्वतीपदेन, भारतीपदेन, पुरिपदेन च व्यवह्रियन्ते इति तद्विदो वदन्ति।

२१. हस्तामलकः (पृथ्वीधरः) – अस्य पितुर् नाम प्रभाकर इत्यासीदिति केचिद् वदन्ति; अन्ये दिवाकर इत्यासीदिति भणन्ति। एष शृङ्गिगिरिसमीपस्थ-मरुगिरिविषयवासी भूर्भुवर्गोत्रो द्राविडकार्णाटब्राह्मण आसीत्, एष (जलमज्जनमृतबालशरीरे प्रविष्टो मुनिः) बालब्रह्मज्ञानी सर्वाङ्गसुन्दरोऽपि मूकबधिरजडवच् चेष्टमान आसीत्, त्रयोदशवर्षवयस्क एष पितुः कृते सर्वथाऽनुपयोगीति शङ्कराद् ज्ञात्वा पित्रा शङ्कराय समर्पितोऽभूत्, एतस्य ग्रन्थरचनादौ रुचिर् नाऽऽसीत्, स्वकृतवेदान्तशास्त्रार्थस्याऽनुभवानुकूलताऽस्ति नवेति स्वकृतशास्त्रार्थस्य पृथ्वीधरानुभवसंवादविसंवादाभ्यां शङ्करेण परीक्षा क्रियते स्म, शङ्करकृतप्रश्नानामुत्तराय एतेन कृतेभ्यः पद्येभ्य एतस्य ब्रह्मज्ञानं हस्तामलकज्ञानमिवाऽनुभवात्मकमस्तीति ज्ञात्वा शङ्करेणाऽस्य हस्तामलक इति नाम कृतम् इत्यादिका वार्ता शङ्करचरितवर्णनपरकाव्यकारैर् जनैः प्रतिपाद्यते। एतेन कृतं चतुर्दशभिः पद्यैर् युतं हस्तामलकस्तोत्रं वेदान्तिनिकाये प्रसिद्धमस्ति। तत् स्तोत्रं बलदेवकृते लोकभाषामये श्रीशङ्कराचार्य इति ग्रन्थे (पृ.१८२) मुद्रितमुपलभ्यते। तस्य हस्तामलकस्तोत्रस्य व्याख्या शङ्करभगवत्पादैनैव कृताऽस्तीति च शङ्करभक्ताः प्रतिपादयन्ति। एष भारतवर्षस्य पश्चिमभागे सौराष्ट्रदेशे स्थितायां द्वारकायां गोमतीतीरे स्थापिते शाङ्करमठे प्रथममठाधीशतायां शङ्करेण नियुक्त आसीदिति केचिद् वदन्ति। अन्ये तु पृथ्वीधरं शृङ्गिगिरिमठस्य प्रथमं मठाधीशं कथयन्ति। द्वारकामठानुयायिनः सन्न्यासिनस् तीर्थपदेन आश्रमपदेन च व्यवह्रियन्ते इति तद्विदो वदन्ति।

२२. तोटकः (गिरिशर्मा, आनन्दगिरिशर्मा वा) – अयं गिरिशर्मनामा शङ्करस्य चतुर्थः प्रधानशिष्यः शृङ्गिगिरिमठे एव शङ्करसमीपमागत इति अयं शौनक्यथर्ववेदशाखाध्यायी भार्गवगोत्रः कश्चन द्राविडकार्णाटब्राह्मणबालोऽवगम्यते। शाङ्करभाष्यादिटीकाकार आनन्दज्ञानापराभिध आनन्दगिरिस् त्वन्य एवाऽर्वाचीनः पुरुषोऽस्ति। शङ्करस्य चतुर्थः प्रधानशिष्यो गिरिशर्मा खलु प्रथमं गुरोः परमो भक्तो भक्तिवशाद् दासतुल्यतया गुरोः सेवकोऽपि मन्दबुद्धिरव्युत्पन्नः पद्मपादादिभिरधिक्षिप्यमाणश्चाऽऽसीत्, पश्चाद् गुरुकृपया प्रतिभां ज्ञानं चाऽलब्ध, ततस् तोटकवृत्ते पद्यानि रचयित्वा गुरुमस्तावीत्, गुरोराज्ञया तत्कालमेव तोटकवृत्तात्मकपद्यमयं श्रुतिसारसमुद्धरणं नाम प्रकरणग्रन्थं कृत्वा सतीर्थ्यांश्चाऽशिश्रवत्, ततो गुरुरस्य तोटक इति नामाऽकार्षीदिति शङ्करचरितवर्णनात्मककाव्यकाराः शङ्करभक्ता भणन्ति। पद्यानाम् ऊनाशीत्युत्तरेण शतेन सन्दृब्धमन्वर्थनामकं श्रुतिसारसमुद्धरणमद्यत्वेऽप्युपलभ्यते च। सच्चिदानन्दयोगीन्द्रकृत-तत्त्वदीपिकाख्यव्याख्यासमेतमेतच् श्रुतिसारसमुद्धरणं केवलानन्दसरस्वतीसम्पादितम् आनन्दाश्रममुद्रणालये पुण्यपत्तने मुद्रितमप्युपलभ्यते (१९३६ क्रै.)। तत्रैव तोटककृतं श्रीशङ्करदेशिकाष्टकमपि मुद्रितमस्ति, यस्याष्टकस्याऽऽदिमं पद्यमिदम्– **"विदिताखिलशास्त्रसुधाजलधे महितोपनिषत्कथितार्थ-**

निधे। हृदये कलये विमलं चरणं भव शङ्कर देशिक मे शरणम्" इति। श्रुतिसारसमुद्धरणस्य "भगवन्नुदधौ मृतिजन्मजले सुखदुःखझषे पतितं व्यथितम्। कृपया शरणाऽऽगतमुद्धर मामनुशाध्युपसन्नमनन्यगतिम्" इति चतुर्थं पद्यं च वेदान्तविद्यार्थिमुखेषु प्रायेण नरीनृत्यते। अयं तोटको भारतवर्षान्तर्गते बदरिकाश्रमक्षेत्रे स्थापिते ज्योतिर्मठाख्ये जोसिमठ इति लोके प्रसिद्धे शाङ्करमठे प्रथममठाधीशत्वे शङ्करेण नियुक्त आसीदिति सर्वेऽपि मठस्थापनाकृत्य-विमर्शकाः शङ्करभक्ता ऐकमत्येन कथयन्ति। ज्योतिर्मठानुयायिनः सन्न्यासिनो गिरिपदेन पर्वतपदेन सागरपदेन च व्यवह्रियन्ते इति शाङ्कर-मठव्यवस्थाविदः कथयन्ति।

२३. **वाचस्पतिः**– अयमाचार्यो मिथिलाभिजन इति विवेचका मन्यन्ते। अयं नृगनामकस्य राज्ञो विषये निवसति स्मेति अस्यैव भामत्यन्ते **"तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः"** इत्युल्लेखादवगम्यते। नान्यदेवकालात् प्राचीने मिथिला-प्रदेशस्येतिहासे निखिल एव मगधेतिहासेन वङ्गेतिहासेन च निगिलिते नृगस्य नृपस्य स्थितिरप्यन्धकारे एवाऽस्ति। अस्य स्थितेः कालश्च अष्टानवत्युत्तराष्टशततमवैक्रमाब्दासन्नः काल इति अस्यैव **"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्क-वसुवत्सरे (८९८)"** इति लेखाद् ज्ञायते। अयं चोल्लेखो वैक्रमाब्दस्यैवाऽस्तीति वाचस्पतेर् न्यायवार्तिकतात्पर्यग्रन्थस्य व्याख्यात्रा उदयनेन स्वकृतायां लक्षणावल्यां **"तर्काम्बराङ्कप्रमि-तेष्वतीतेषु (९०६) शकान्ततः। वर्षेषूदयनश् चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्"** इति कृतात् स्वकृतिरचनाकालस्योल्लेखाद् बुध्यते। वाचस्पतिमिश्रेण कृता ग्रन्थाश्च तार्किकदर्शने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूचीनिबन्धश्च; साङ्ख्ये साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी; योगे व्यास-भाष्यव्याख्या तत्त्ववैशारदी; धर्ममीमांसायां तत्त्वबिन्दुः (बहुवारं मुद्रितो वाक्यवाक्यार्थ-सम्बन्धविचारपरो ग्रन्थः, यस्माद् ग्रन्थाच् चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकायामभिहि-तान्वयवादप्रतिपादने बह्व्यः पङ्क्तयो गृहीता दृश्यन्ते), विधिविवेकटीका न्यायकणिका च (मुद्रिता); ब्रह्ममीमांसायां मण्डनमिश्रकृतब्रह्मसिद्धिव्याख्या ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा (अद्यत्वे त्वनुपलभ्यमाना), ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्या भामती चेति सन्ति। तत्र ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा भामत्यन्ते उल्लिखिताऽस्ति। तत्र वाचस्पतिरद्वैतवाद्यपि सन् मुख्यतया मण्डन-मिश्रानुयायित्वाद् ब्रह्मसिद्धिग्रन्थप्रभावितत्वाच्च ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्यायां भामत्यां स्थानेस्थाने शाङ्करभाष्याशयं परित्यज्य ब्रह्मसिद्ध्याशयमनुसरति, शाङ्करभाष्यस्य न्यूनतां त्रुटिं वाऽपि दर्शयति च; तस्माच् शाङ्करभाष्यस्य मुख्यमाशयं बोद्धुं तु तैत्तिरीयो-पनिषद्भाष्यवार्तिक–बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक–नैष्कर्म्यसिद्धि–रूपाः सुरेश्वरग्रन्था विशेषतोऽनुशीलनीया इति नैष्कर्म्यसिद्धेर् व्याख्याता सच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती प्रतिपादयति। वाचस्पतिः स्थानेस्थाने पद्मपादकृतां शाङ्करभाष्यव्याख्यां निराकरोतीति अमलानन्दोऽपि प्रतिपादयति। भामत्यां वैश्वानराधिकरणे पञ्चपादिकापक्षोऽनूद्य निरस्तोऽस्ति, दहराधिकरणे-ऽपि भामत्यां पञ्चपादिकापक्षो निराकृतो दृश्यते। पाण्डुरङ्ग-वामन-काणेमहाशयस्तु मैथिल-धर्मशास्त्रनिबन्धकारं तरुणवाचस्पतिमिश्रं भ्रमाद् दर्शनशास्त्रटीकाकारं वृद्धवाचस्पति-मिश्रमेव मन्यमानो धर्मशास्त्रेतिहासग्रन्थे प्रथमे खण्डे वाचस्पतिमिश्रपरिचये (९८) **'वाचस्पतिर् धर्मशास्त्रनिबन्धकार एव न, अपि तु दार्शनिकोऽप्यासीत्, तेन हि दर्शन-**

सम्बद्धा भामत्यादिकाः प्रौढा ग्रन्था अपि रचिताः' इति वदति स्म। भवति हि गच्छतः क्वाऽपि स्खलनमपि।

२४. विमुक्तात्मा– अव्ययात्मभगवत्पूज्यपादशिष्यस्याऽस्य वेदान्तप्रकरण-ग्रन्थकारस्य देशो विशेषेण ज्ञातो नास्ति। किन्त्वेतस्य ग्रन्थः क्रैस्ताब्दानामेकादशे शतके भारतवर्षस्य दक्षिणभागेऽपि प्रसिद्ध आसीदिति वैष्णव-रामानुजगुरोर् यामुनस्य लेखादवगम्यते, द्वादशे शतके भारतवर्षस्योत्तरभागे कश्मीरदेशे चाऽस्य ख्यातिरासीदिति श्रीकण्ठ-चरितस्याऽन्ते मङ्खकेन इष्टसिद्धिव्याख्याकारस्य रम्यदेवस्य तदानीन्तनविद्वत्सु गणितत्वा-दवगम्यत इति हिरियान्नामहोदय इष्टसिद्धेराङ्लभाषामय्यां भूमिकायां प्रतिपादयति। इष्टसिद्धौ भट्टभास्करमतस्य खण्डितत्वाद् इष्टसिद्धेर् यामुनेनोल्लिखितत्वाच् च इष्टसिद्धि-कारस्य विमुक्तात्मनो जीवनकालः क्रैस्ताब्दानां नवमस्य शतकस्योत्तरार्धस्य एकादश-शतकस्य पूर्वार्धस्य च मध्ये क्वचिदासीदित्यवगम्यत इति च तत्रैव स एव प्रतिपादयति। सङ्क्षेपशारीरके पञ्चप्रक्रियायां च सर्वज्ञात्ममुनिना इष्टसिद्धेः परामृष्टत्वाद् विमुक्तात्मा सर्वज्ञात्मतः प्राचीन इति सर्वज्ञात्ममुनिकृतप्रमाणलक्षणभूमिकायामीश्वरन्-नम्पूतिरिपादः कथयति। विमुक्तात्मना रचित इष्टसिद्धिनामको ग्रन्थ उपलभ्यते। इष्टसिद्धौ अष्टौ अध्यायाः सन्ति। सिद्धान्तानां प्रतिपादनं कारिकाभिः कृतं विद्यते। तेषां व्याख्यानमुपपादनं च गद्येन कृतमस्ति। एष ग्रन्थो मण्डनमिश्रस्य ब्रह्मसिद्धेः सुरेश्वरस्य नैष्कर्म्यसिद्धेश्च प्रतिपादनशैली-मनुहरति। तत्राऽष्टसु अध्यायेषु क्रमशः १५६, ११९, ११६, २१, ७६, २७, ६२, २८ कारिकाः सन्ति। तत्र दृग्दृश्यभेदनिरासः, भेदादीनां दुर्निरूपत्वम्, आनन्दपदार्थः, प्रपञ्चस्याऽनिर्वच-नीयत्वम्, शब्दाद्वैतखण्डनम् इत्यादयो वेदान्तशास्त्रस्य महत्त्वपूर्णाः सुबहवो विषया निरू-पिताः सन्ति। अयं ग्रन्थोऽद्वैतवेदान्ते प्राचीनकाल एव सुप्रसिद्धः प्रामाणिकग्रन्थत्वेन मूल-ग्रन्थत्वेन च परिगृहीतोऽवगम्यते। एतस्य ग्रन्थस्य मधुसूदनमस्करिणाऽद्वैतसिद्धौ **"सिद्धीना-मिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात्। अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत"** इति स्वकालात् चिरपूर्वकाले जातत्वेनोल्लेखः कृतोऽस्ति। एतस्य ग्रन्थस्य रम्यदेवकृता टीका ज्ञानोत्तम-कृता टीका च प्रसिद्धा। ज्ञानोत्तमकृतटीकामुख्यांशसङ्ग्रहरूपपरिशिष्टसहिता इष्टसिद्धिः (सविवरणा) गायकवाडप्राच्यग्रन्थमालायां वडोदायां मुद्रिताऽस्ति (१९३३ क्रै.)।

२५. सर्वज्ञात्मा– शङ्करस्य साक्षाच् शिष्यः सुरेश्वरः, सुरेश्वरस्य साक्षाच् शिष्यः सर्वज्ञात्मेति एतावत्कालपर्यन्तं प्रायो वेदान्तशास्त्रेतिहासविचारका मन्यन्ते स्म। तत्र च सर्वज्ञात्ममुनेः **"यदीयसम्पर्कमवाप्य केवलं वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तयः। जगत्सु ते तारित-शिष्यपङ्क्तयो जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः"** (सं.शा.१।८) इति पद्ये आगतस्य देवेश्वरपदस्य **"आत्मनाम गुरोर् नाम नामाऽतिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः"** इति धर्मशास्त्रव्यवस्थां विचार्य मधुसूदनसरस्वती-रामतीर्थाभ्यां सुरेश्वरार्थकतया नयनं मुख्यं कारणं स्थितमवगम्यते। गुरुनामग्रहणे एतादृशो व्यवहारः पूर्वाचार्याणां दृश्यते च **"मुमुक्षुसार्थवाहस्य *भवनामभृतो* यतेः। शिष्यश् चकार तद्भक्त्या सुरेशाख्यो महार्थवित्"** (तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिके १०।९१) इत्यादौ। काञ्चीशाङ्करमठप्रकाशितायाः सदाशिव

ब्रह्मेन्द्रकृतत्वेनोक्ताया गुरुरत्नमालाया आत्मबोधेन्द्रसरस्वतीकृतत्वेनोक्तायां सुषमाख्यायां टीकायां तु **"ताम्रपर्णीतटनिवासिनो वर्धमानस्य पुत्रो माधवः सप्तवर्षवया एव पितरि वादे शङ्करेण विजिते दिनत्रयं शङ्करेण सह वादं कृत्वाऽन्ते शङ्करेण विजितः सन् सन्न्यासमैच्छत्, शङ्करेणैव सन्न्यासे दीक्षितः सन् सर्वज्ञात्मनाम्ना व्यपदिष्टश्च स काञ्चीमठ-कार्यं सुरेश्वरेण सह अष्टाविंशतिं वर्षाणि, सुरेश्वरे ब्रह्मणि लीने चैकल एव द्वाचत्वारिंशतं वर्षाणि निरवाक्षीत्"** इति प्रतिपादितमवगम्यते। किन्तु काञ्चीशाङ्करमठेन प्रचारिताः शाङ्कर-सम्प्रदायेतिहासग्रन्था विश्वसनीया न सन्तीति अन्ये वदन्ति। तथा चोक्तविधं सर्वज्ञेतिवृत्तं सर्वमसङ्गतमिति सर्वज्ञात्मकृत-प्रमाणलक्षणाख्यग्रन्थसम्पादक ईश्वरन्-नम्पूतिरिपादः स्वकीयायामाङ्लभाषामय्यां भूमिकायां (१९८७ क्रै.) प्रतिपादयति। श्रेष्ठानन्दाख्ययति-शिष्यो देवानन्दयतिः, देवानन्दयतिशिष्यो देवेश्वरयतिः, देवेश्वरयतिशिष्यश्च सर्वज्ञात्मा वर्तते, प्रमाणलक्षणग्रन्थे सर्वज्ञात्मा सुरेश्वरस्य निरुपपदेन नाम्ना निर्देशं करोति, अतः सर्वज्ञात्मा सुरेश्वरस्य साक्षात् परम्परया वाऽपि शिष्यो नास्त्येव; सर्वज्ञात्मसमयश्च मनुकुलादित्यसमयः, स च १०२७तमक्रैस्ताब्दासन्न इति; सर्वज्ञात्मा च केरलदेशजः, त्रिचुरस्थशाङ्करमठसम्बद्धः, तिरुवनन्तपुरस्थपद्मनाभस्य पुष्पाञ्जलिभिः समर्चकत्वेनाऽपि कदाचिन् नियत आसीत्; तस्य निरुवनन्तपुरस्थपद्मनाभसम्बन्धश्च सङ्क्षेपशारीरकान्ते स्थिताभ्यां तस्यैव पद्याभ्यां सूच्यते, स्पष्टीकृतश्च स सम्बन्धः सङ्क्षेपशारीरकव्याख्यायामन्वयार्थप्रकाशिकायां रामतीर्थेन चेति नम्पूतिरिमहाशयस्य भणितिरस्ति। सर्वज्ञात्मस्थितिकालनिर्णयविषये च विमुक्तात्म-कृताया इष्टसिद्धेः सर्वज्ञात्मकृते सङ्क्षेपशारीरके सर्वज्ञात्मकृतायां पञ्चप्रक्रियायां च मद्रासविश्वविद्यालयसंस्कृतविभागपत्रिकायां (४) प्रकाशितायाम् (१९४६ क्रै.) परामृष्टत्वाद् विमुक्तात्मनश्च ८३० तमक्रैस्तवर्षानन्तरभवत्वात् सर्वज्ञात्मा शङ्करस्य सुरेश्वरस्य चाऽपि सहभावी भवितुं नाऽर्हतीति च तस्य भणितिरस्ति। सर्वज्ञात्मकृता ग्रन्थाश्च सङ्क्षेपशारीरकम्, प्रमाणलक्षणम्, पञ्चप्रक्रिया चेति त्रयोऽवगम्यन्ते। तत्र सङ्क्षेपशारीरकं पद्यबद्धं चतुर्षु अध्यायेषु विभक्तं ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यसारप्रतिपादनपरं सूत्रभाष्यार्थोपपादनपरं गुरुशिष्यसंवादरूपेण प्रणीतं महत्त्वपूर्णं प्रकरणमस्ति। सङ्क्षेपशारीरकव्याख्याग्रन्थाश्च नृसिंहाश्रमकृता तत्त्वबोधिनी, पुरुषोत्तमदीक्षितकृता सुबोधिनी, राघवानन्दकृता विद्यामृत-वर्षिणी, विश्वदेवकृतः सिद्धान्तदीपः, रामतीर्थकृताऽन्वयप्रकाशिका, मधुसूदनसरस्वतीकृतः सारसङ्ग्रहः, वेदानन्दकृता सङ्क्षेपशारीरकसम्बन्धोक्तिश्चेति श्रूयन्ते। तत्र रामतीर्थकृता-ऽन्वयप्रकाशिका, मधुसूदनकृतः सारसङ्ग्रहश्च मुद्रितावप्युपलभ्येते। सर्वज्ञात्मकृतं मुद्रितं प्रमाणलक्षणं तु जैमिनीय-धर्ममीमांसासम्मतानां षण्णां प्रमाणानां प्रतिपादकमस्ति। पञ्च-प्रक्रिया चाऽद्वैतवेदान्तोपदेशसारप्रतिपादनपराऽस्ति।

२६. **प्रकाशात्मा**– अनन्यानुभवशिष्येण प्रकाशात्मना पञ्चपादिकाविवरणे भट्ट-भास्करमतस्य खण्डितत्वाद् आनन्दबोधभट्टारकेण न्यायमकरन्दे पञ्चपादिकाविवरणमत-स्योल्लिखितत्वाच् च प्रकाशात्मनः स्थितेः कालः क्रैस्ताब्दानामेकादशं शतकमिति इति-हासविचारका वदन्ति। प्रकाशात्मना पञ्चपादिकाविवरणं न्यायसङ्ग्रहनामकं ब्रह्ममीमांसा-

सूत्रशाङ्करभाष्यविवरणं शाब्दनिर्णयश्चेति त्रयो ग्रन्थाः कृताः सन्ति। तत्र पञ्चपादिका-विवरणं त्वतिप्रसिद्धम्। शाङ्करवेदान्ते विवरणप्रस्थानं भामतीप्रस्थानं चेति प्रस्थानद्वयं प्रसिद्धमस्ति। तत्राऽपि जीवस्वरूपादिषु महत्त्वपूर्णेषु विषयेषु विवरणप्रस्थानं वेदान्तिनां विशेषेण प्रियम्। पञ्चपादिकाविवरणस्य चित्सुखमुनिना तात्पर्यदीपिकाख्या व्याख्या कृताऽस्ति। अखण्डानन्दमुनिना तत्त्वदीपनं नाम व्याख्यानमपि कृतमस्ति। नृसिंहाश्रमेण भावप्रकाशिकाख्या व्याख्या कृताऽस्ति। स्वपूर्वजग्रन्थकारैः भाष्य-पञ्चपादिका-पञ्चपादिका-विवरणादिभिः प्रतिपादितानामद्वैतवेदान्तप्रमेयाणां सङ्ग्रहं कृत्वा विद्यारण्यमुनिना स्वतन्त्रो विवरणप्रमेयसङ्ग्रहो नाम ग्रन्थोऽपि कृतोऽस्ति। अयं ग्रन्थो वेदान्ताचार्यपरीक्षायां निर्धारितो-ऽप्यस्ति। प्रसिद्धो धर्मराजाध्वरीन्द्रकृतो वेदान्तपरिभाषाख्यो ग्रन्थोऽपि भूम्ना विवरणप्रस्था-नानुसार्येवाऽस्ति। विंशत्युत्तरैः श्लोकानां सप्तभिः शतैर् युते शाब्दनिर्णये च प्रकाशात्मना आत्मनः शाब्दप्रत्यक्षस्य विवेचना कृताऽस्ति। अयमपि ग्रन्थोऽनन्तशयननगरे १९१७तमे क्रैस्ताब्दे मुद्रित उपलभ्यते। गोपीनाथकविराजेनोल्लिखितो न्यायसंहग्रस्तु मुद्रितो नोपलभ्यते।

२७. **श्रीहर्षः–** अयं कान्यकुब्जराजं विजयचन्द्रमाश्रितः पण्डितोऽस्ति। कान्य-कुब्जप्रदेशश्चेदानीं भारतस्योत्तरप्रदेशेऽन्तर्भूतोऽस्ति। अतोऽस्य देशः कान्यकुब्जाख्य इति समयश्च वैक्रमाब्दानां त्रयोदशं शतकमिति निश्चितमस्ति। अनेन राज्ञो विजयचन्द्रस्य प्रशंसायां विजयप्रशस्तिर् नाम ग्रन्थोऽपि कृतोऽस्ति। अस्य पितुर् नाम हीर इति मातुर् नाम च मामल्ल-देवीति एतस्यैव नैषधीयचरित-काव्यसर्गान्तपद्येभ्योऽवगम्यते। हीरोदयनवादकिंवदन्ती त्वविश्वसनीया दृश्यते, तयोः काले महतोऽन्तरस्याऽवगम्यमानत्वात्। श्रीहर्षकृता ग्रन्थास् तु खण्डनखण्डखाद्यम्, ईश्वराभिसन्धिः, नैषधीयचरितम्, नवसाहसाङ्कचम्पूः, गौडोर्वीशकुल-प्रशस्तिः, विजयप्रशस्तिः, छिन्दप्रशस्तिः, अर्णववर्णनम् इति सन्ति। स्थैर्यविचारप्रकरणम्, शिवशक्तिसिद्धिश्चेति द्वौ ग्रन्थौ तु एतत्कृतित्वेन कैश्चिदुल्लिखितावपि विगीतौ दृश्येते। एतदीयेषु ग्रन्थेषु खण्डनखण्डखाद्यम् नैषधीयचरितं चेति द्वौ ग्रन्थौ त्वतीव प्रसिद्धौ। तत्र खण्डनखण्डखाद्ये खादीनां पदार्थानां निर्वचनीयतायाः सर्वप्रमाणप्रमेयलक्षणखण्डनेन खण्डनं कृत्वा वेदान्तिसम्मतो जगदनिर्वचनीयतावादः सम्यक् समर्थितोऽस्ति, आत्मनः स्वतःसिद्धत्वं च प्रतिपादितमस्ति। एतस्य ग्रन्थस्याऽद्वैतवेदान्ते महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति। यथा वेदान्तिनिकाये उपनिषद्-गीता-ब्रह्ममीमांसासूत्राणि लघुप्रस्थानत्रयीशब्देन व्यवह्रियन्ते तथैव खण्डनखण्डखाद्य-चित्सुखीया-ऽद्वैतसिद्धयोऽपि बृहत्प्रस्थानत्रयीशब्देन व्यवह्रियन्ते। एतेन खण्डनखण्डखाद्यग्रन्थस्य वेदान्तिनिकाये कियद् गौरवमिति स्फुटं भवति। खण्डन-खण्डखाद्यस्य व्याख्याश्च बह्व्यः सन्ति। तत्र चित्सुख-विद्यासागर-वर्धमान-शङ्करमिश्र-रघुनाथशिरोमणि–पद्मनाभ–प्रगल्भमिश्र–भवनाथतर्कालङ्कार–शङ्करचैतन्यभारती–सूर्य-नारायणशुक्लादिभिः कृताष् टीकाः पूर्णरूपेणाऽपूर्णरूपेण वाऽपि मुद्रिता अपि सन्ति। ईश्वराभिसन्धेः खण्डनखण्डखाद्येऽप्युल्लेखोऽस्ति। नैषधीयचरितगौरवविषये च **"तावद् भा भारवेर् भाति यावन् माघस्य नोदयः। उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः"** इति सूक्तिः प्रसिद्धा वर्तते।

२८. रामाद्वयः– अद्वयाश्रमशिष्येण रामाद्वयेन वेदान्तकौमुदी नाम ग्रन्थः कृतोऽस्ति। एतस्मिन् ग्रन्थे चत्वारोऽध्यायाः सन्ति। अयं ग्रन्थः प्रायेण पञ्चपादिकाविवरणोपजीवी दृश्यते। सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहेऽपि कौमुदीकारमतस्योल्लेख उपलभ्यते।

२९. आनन्दबोधः– अनेन ग्रन्थकारेण पञ्चपादिकाविवरणकारस्य प्रकाशात्मनः शाब्दनिर्णयग्रन्थस्य दीपिकाख्या व्याख्या कृतेति, अनेन कृतस्य न्यायमकरन्दग्रन्थस्य चित्सुखमुनिना व्याख्या कृतेति चाऽयं प्रकाशात्म-चित्सुखयोर् जीवनकालयोर् मध्ये वैक्रमाब्दानां त्रयोदशे शतके जीवन्नासीदिति गम्यत इति वदन्ति। अस्य गुरोर् नाम आत्मवास इत्यासीदिति एतस्यैव शाब्दनिर्णयव्याख्यान्तस्थात् **"नमो निखिलवेदान्तकमलाकरभानवे। आत्मवासाऽभिधानाय गुरवे गुणवेश्मने"** इति श्लोकादवगम्यते। अनेन कृतो न्यायमकरन्दग्रन्थो लघुरप्यतीव महत्त्वपूर्णोऽस्ति। तत्र हि अनेन **"निबन्धपुष्पजालानि समालोड्य प्रयत्नतः। सन्न्यायमकरन्दानां सङ्ग्रहः क्रियते मया"** इति प्रतिज्ञातमस्ति। चित्सुखेन स्वकीयायां प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकायां स्वकृतव्याख्यासहित-न्यायमकरन्दस्यांशाः स्थाने-स्थानेऽविकलतया समावेशिताश्चाऽवलोक्यन्ते। एतेनैव न्यायमकरन्दगौरवं स्फुटं भवति। अनेन प्रमाणमालाख्यो ग्रन्थोऽपि कृतोऽस्ति। न्यायमकरन्द-प्रमाणमाला-न्यायदीपावल्यः चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमालायां मुद्रिता अपि सन्ति (१९०१ क्रै.)।

३०. आनन्दानुभवः– आनन्दानुभवेन न्यायरत्नदीपावल्यां न्यायमकरन्दकारमतस्य निरस्तत्वात्, चित्सुखेन प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकायां स्वतःप्रामाण्यवादादिषु प्रकरणेषु न्यायरत्नदीपावलीकार-प्रयुक्तस्याऽनुमानप्रयोगस्योल्लिखितत्वाच् चाऽऽनन्दानुभवमहोदयः खलु न्यायमकरन्दकारकाल-तत्त्वप्रदीपिकाकारकालयोर् मध्ये जीवन्नासीदिति गम्यते। आनन्दानुभवेन पदार्थतत्त्वनिर्णयः इष्टसिद्धिविवरणं चेति द्वावन्यौ ग्रन्थावपि विरचितावगम्येते। इष्टसिद्धिविवरणस्योल्लेखो न्यायरत्नदीपावल्यामेव कृतोऽस्ति। सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे अप्पय्यदीक्षितेन **"पदार्थतत्त्वनिर्णयकारा आहुः"** इत्युक्त्वा एतदीयं मतमुल्लिखितमस्ति। न्यायरत्नदीपावल्यां चत्वारोऽध्ययाः सन्ति। तत्र वेदप्रामाण्य-ब्रह्मकारणत्वाऽऽत्मस्वप्रकाशत्वादिकं प्रथमेऽध्याये, प्रपञ्चमिथ्यात्वोपपादनादिकं द्वितीयेऽध्याये, तृतीयेऽध्याये शाब्दाऽऽपरोक्ष्यादिकम्, सन्न्यासनिरूपणादिकम्, तत्पदार्थनिरूपणादिकं च; चतुर्थेऽध्याये च मोक्षस्वरूपविचारादिकं च प्रतिपादितं दृश्यते। न्यायरत्नदीपावली मद्रास-सम्प्रशासन-प्राच्यग्रन्थमालायां मुद्रितोपलभ्यते (१९६१ क्रै.)। तत्र आनन्दज्ञानकृता वेदान्तविवेकाख्या व्याख्या च मुद्रिताऽस्ति।

३१. अद्वैतानन्दबोधेन्द्रः– कौण्डिन्यगोत्रोत्पन्नोऽयं बुधः क्रैस्ताब्दानां द्वादशस्य शतकस्य मध्ये जीवन्नासीदिति केचन वदन्ति। तदनुसारमेव बहुभिर् लिखितमपि दृश्यते। किन्त्वस्याऽयं कालः प्रामाणिको नाऽवगम्यते। स्वयम्प्रकाशानन्दगुरुर् अयमत्यन्तमर्वाचीन इत्यन्ये मन्यन्ते। अनेन ब्रह्मविद्याभरणं नाम भाष्यव्याख्यानं कृतं दृश्यते। तच् च कुम्भकोण-नगरे अद्वैतमञ्जरी-ग्रन्थमालायां प्रकाशितमस्ति। तस्योल्लेखो वेदान्तनयभूषणेऽस्ति (पृ.७२, १२५,१७०)। शान्तिविवरणम्, गुरुप्रदीपिका चेति द्वावन्यौ ग्रन्थावपि अनेन कृताविति वदन्ति। तत्र गुरुप्रदीपिकाख्यग्रन्थस्य प्रामाण्यं तु विगीतं भृशं परीक्षणीयं च दृश्यते।

३२. अमलानन्दः– दाक्षिणात्यदेवगिरिस्थयादवराजवंशजे जैत्रदेवसुते कृष्णे भ्रात्रा महादेवेन सह क्षितिं पाति सति वैक्रमाब्दानां चतुर्दशे शतके वर्तमानोऽनुभवानन्द-शिष्योऽमलानन्दो ब्रह्ममीमांसासूत्राधिकरणव्याख्यारूपं पद्यबद्धं शास्त्रदर्पणम्, पञ्चपादिका-दर्पणम्, भामतीव्याख्यानं वेदान्तकल्पतरुं च रचयामास। तत्र शास्त्रदर्पणो वेदान्तकल्प-तरुश्च मुद्रितौ। पञ्चपादिकादर्पणस्तु मुद्रितो न दृश्यते। कृष्ण-महादेवयोरुल्लेखः वेदान्त-कल्पतरोः प्रारम्भे समाप्तौ च कृतोऽस्ति।

३३. चित्सुखः– गौडेश्वराचार्यज्ञानोत्तमशिष्यश् चित्सुखः स्वकृत-प्रत्यक्तत्त्व-प्रदीपिकायां वैक्रमाब्दानां त्रयोदशे शतके स्थितं श्रीहर्षमिश्रमुल्लिखति, खण्डनखण्ड-खाद्यस्य व्याख्यां करोति, आनन्दबोधभट्टारककृतस्य न्यायमकरन्दस्याऽपि व्याख्यां करोति, वैक्रमाब्दानां पञ्चदशे शतके जीवता माधवेन सर्वदर्शनसङ्ग्रहे शाङ्करदर्शनप्रकरणे सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्यस्य प्रतिपादने **"तथा चाऽचकथच् चित्सुखाचार्यः"** इति चित्सुख उल्लिखित इति चित्सुखस्य कालो वैक्रमाब्दानां चतुर्दशं शतकमित्यवगम्यते। चित्सुखेन रचिता ग्रन्थाश् च मण्डनमिश्रकृतब्रह्मसिद्धिव्याख्या अभिप्रायप्रकाशिका, ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्य-व्याख्या भावदीपिका, पञ्चपादिका-विवरणव्याख्या तात्पर्यदीपिका, अधिकरणसङ्गतिः, अधिकरणमणिमञ्जरी, नैष्कर्म्यसिद्धिव्याख्या भावतत्त्वप्रकाशिका, खण्डनखण्डखाद्य-व्याख्या खण्डनभावदीपिका, न्यायमकरन्दव्याख्या चेत्यादयोऽवगम्यन्ते। चित्सुखस्य प्रसिद्धतमो ग्रन्थस् तु प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाऽस्ति। एषा लाघवाय तत्त्वप्रदीपिकेति चित्सुखीति च व्यवह्रियते लोके। एषा वेदान्तबृहत्प्रस्थानत्रयीमध्ये च गण्यते। एतस्यां चत्वारः परिच्छेदाः सन्ति। तेषु वेदान्तस्य कतिपये मुख्या विषया निरूपिताः सन्ति। तत्र चित्सुखः विस्तरेण तर्कपूर्णरूपेण च पूर्वपक्षमुपस्थाप्य सर्वेषामेव पूर्वपक्ष-तर्काणां सम्यङ् निराकरणं कृत्वा विशदरूपेणोत्तरपक्षं प्रतिपादयति। प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाया नयनप्रसादिनी नाम व्याख्या च महत्त्वपूर्णा प्रसिद्धा मुद्रिता चाऽस्ति।

३४. अनुभूतिस्वरूपः (प्रकटार्थकारः)– एतेन ग्रन्थकारेण माण्डूक्यकारिका-शाङ्करभाष्यस्य टीका कृतास्तीति गोपीनाथकविराजो ब्रवीति। आनन्दबोधभट्टारककृतायाः प्रमाणरत्नमालायाश्चाऽनेन व्याख्याकृताऽवगम्यते। अनुभूतिस्वरूपेण ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्कर-भाष्यस्य प्रकटार्थविवरणं नाम व्याख्यानमपि कृतमस्ति। एतद् विवरणं मुद्रितमप्युलभ्यते (१९३५, १९३९ क्रै.)। एतस्योल्लेख आनन्दगिरिणा मुण्डकवृत्तिव्याख्याने (पृ.३२), कठोपनिषद्वृत्तिव्याख्याने (पृ.१२४), तैत्तिरीयोपनिषद्वृत्तिव्याख्याने (पृ.३१), केनोपनि-षद्वृत्तिव्याख्याने (पृ.२३) च कृतः। प्रकटार्थकृतो मतं सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहेऽप्पय्यदीक्षितेना-ऽप्युल्लिखितमस्ति। भाष्यरत्नप्रभाकारेण च (पृ.४३१) एतस्योल्लेखः कृतोऽस्ति। एतस्य **"वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यार्थानभिज्ञः समन्वयसूत्रे श्रवणादिविधिं निराचचक्षे, अत्र तु तद्विधिमूरीचक्रे, अहो बताऽस्य पाण्डित्यम्, श्रवणादीनां च सन्न्यासाश्रमधर्मत्वात् तद्विधिं निराकुर्वन् सन्न्यासाश्रमायैव द्वेष्टि, विध्यभावे च अथशब्देन साधनचतुष्टय-सम्पन्नाधिकारिसूत्रणं चाऽनुपपन्नम्। तस्माद् वाचस्पति-प्रलापमुपेक्ष्य यावत्साक्षात्कारं**

श्रवणादि विधितोऽनुष्ठेयम्" इति कथनम् (३।४।४७) उल्लेख्यमस्ति। सारस्वतव्याकरण-प्रक्रियाकारः कश्चिदनुभूतिस्वरूपो वैयाकरणनिकाये प्रसिद्धोऽस्ति।

३५. आनन्दज्ञानः (आनन्दगिरिः) – शुद्धानन्दशिष्यो गुर्जरदेशाभिजनो जनार्दना-परनामधेय आनन्दगिरिरिति प्रसिद्ध आनन्दज्ञानो वैक्रमाब्दानां चतुर्दशे शतके जीवन् आसीदितीहासविचारका वदन्ति। जीवानन्दविद्यासागरप्रकाशितानुपपद्यमानेतिवृत्त-वर्णनपर-शङ्करविजयकारो भ्रमवशात् कैश्चिच् छाङ्करभाष्यव्याख्याकारा-ऽऽनन्दगिर्यभिन्न-तया गृह्यमाणोऽनन्तानन्दगिरिस्त्वन्य एवाऽर्वाचीनः पुरुष इति विवेचका वदन्ति। आनन्द-गिरिणा च शङ्करकृतानां सर्वासामुपनिषद्वृत्तीनां व्याख्यानं कृतमस्ति। तथैव शङ्करकृतायाः गीतावृत्तेः, शङ्करकृतस्य ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्यस्य च तेन व्याख्या विहिताऽस्ति। शङ्कर-कृतानाम् उपदेशसाहस्री-वाक्यवृत्ति-पञ्चीकरणादीनां प्रकरणग्रन्थानामपि व्याख्यास् तेन कृताः सन्ति। सुरेश्वरकृतस्य तैत्तिरीयोपनिषद्वृत्तिवार्तिकस्य बृहदारण्यकोपनिषद्वृत्ति-वार्तिकस्य च तेन व्याख्या कृताऽस्ति। आनन्दगिरिणा तत्त्वालोकः तर्कसङ्ग्रहश्चेति द्वौ स्वतन्त्रौ ग्रन्थावपि कृतौ स्तः। तत्र तत्त्वालोके वेदान्तसिद्धान्तानां प्रतिपादनम्, तर्कसङ्ग्रहे वैशेषिकसम्मतपदार्थानां खण्डनखण्डखाद्यशैल्या खण्डनं कृतमस्ति।आनन्दगिरिणा शाङ्कर-भाष्यगतानां पदानां वाक्यानां चाऽर्थाः सरलया रीत्या प्रतिपादिताः सन्ति। ब्रह्ममीमांसासूत्र-शाङ्करभाष्यव्याख्याकारो भाष्यरत्नप्रभाकारो गोविन्दानन्दो ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्य-व्याख्याने बहुषु स्थलेषु आनन्दगिरिकृतं श्रीमच्छारीरकभाष्यन्यायनिर्णयमनुहरतीत्यव-गन्तव्यम्। आनन्दगिरिः स्वकाले वैक्रमाब्दानां चतुर्दशे शतके द्वारकास्थिते शाङ्करमठे मठाधीश आसीदिति चेतिहासविचारकाः कथयन्ति।

३६. विद्यातीर्थः– विद्यातीर्थो भारतीतीर्थस्य विद्यारण्यस्य च विद्यागुरुरवगम्यते। तत्र भारतीतीर्थेन वैयासकन्यायमालायाम् **"प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्। वैयासकन्यायमाला श्लोकैः सङ्गृह्यते स्फुटम्"** इति विद्यातीर्थस्य स्मरणं कृतमस्ति। तथैव विद्यारण्येन विवरणप्रमेयसङ्ग्रहेऽन्ते **"यद् विद्यातीर्थगुरवे शुश्रूषाऽन्या न रोचते तस्मात्। अस्त्वेषा भक्तियुता श्रीविद्यातीर्थपादयोः सेवा"** इत्यत्र विद्यातीर्थस्य स्मरणं कृतमस्ति। पञ्चदशीटीकाकारेण रामकृष्णेनाऽपि स्वग्रन्थमङ्गलपाठे विद्यातीर्थस्य स्मरणं कृतमस्ति। विद्यातीर्थस्य ग्रन्थस्तु कोऽपि नोपलभ्यते। विद्यातीर्थः शृङ्गगिरिशाङ्करमठे मठाधीश आसीदिति मठेतिहासविचारका वदन्ति।

३७. भारतीतीर्थः– अयं ग्रन्थकारो माधवापराख्यस्य विद्यारण्यस्य रामकृष्णस्य च गुरुरस्ति। अस्य स्मरणं माधवेन जैमिनीयन्यायमालामङ्गलश्लोके कृतमस्ति। रामकृष्णेन च पञ्चदशीव्याख्यारम्भेऽस्य स्मरणं कृतमस्ति। अनेन वैयासकन्यायमाला नाम ब्रह्ममीमांसा-सूत्राऽधिकरणार्थसङ्ग्रहरूपः श्लोकबद्धो ग्रन्थः कृतोऽस्ति। अस्या वैयासकन्यायमालाया गद्येन विवरणमपि कृतमस्ति। वैयासकन्यायमाला आनन्दाश्रममुद्रणालये मुद्रितोपलभ्यते। भारतीतीर्थः स्वकाले वैक्रमाब्दानां चतुर्दशे शतके शृङ्गिगिरिशाङ्करमठे मठाधीश आसीदिति तन्मठेतिहासलेखका वदन्ति।

३८. **शङ्करानन्दः**– विद्यारण्येन पञ्चदशीप्रारम्भे विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे च विद्यागुरुत्वेन स्मृतः शङ्करानन्दो वैक्रमाब्दानां चतुर्दशे शतके जीवन्नासीदित्यवगम्यते। एतस्य गुरुः आनन्दात्मसरस्वती आसीत्। एतेन अष्टोत्तरशतसङ्ख्यानां प्रसिद्धानामुपनिषदां दीपिकाख्या व्याख्या कृताऽस्ति। भगवद्गीताया अपि तात्पर्यबोधिनी व्याख्या कृतोपलभ्यते। इयं गीताव्याख्या शङ्करानन्दीति लोके प्रसिद्धाऽस्ति। ब्रह्ममीमांसासूत्रस्याऽपि अतिसङ्क्षिप्ता दीपिकाख्या वृत्तिरनेन कृताऽस्ति। एतेन कृतासु उपनिषदादिव्याख्यासु स्थानेस्थाने शाङ्करभाष्यादपि विशिष्टत्वं दृश्यते। अनेनोपनिषदां सारं सङ्गृह्य आत्मपुराणमिति स्वतन्त्रो ग्रन्थोऽपि कृतोऽस्ति। वार्षिकेषु चतुर्षु मासेषु एकत्र स्थिताः सन्तः सन्न्यासिन एतस्याऽऽत्मपुराणस्य प्रवचनं श्रवणं चाऽद्यत्वे प्रायेण कुर्वन्तीति श्रूयते।

३९. **विद्यारण्यः**– अस्य गुरवो विद्यातीर्थ-भारतीतीर्थ-शङ्करानन्दा आसन्; पिता मायण आसीत्; माता श्रीमती आसीत्; भ्रातरौ सायण-भोगनाथावास्ताम्। अयं बुधो गृहस्थाश्रमे माधवाचार्य इति प्रसिद्ध आसीत्, अयं भारद्वाजकुलोत्पन्नो बौधायनसूत्रानुयायी कृष्णयजुर्वेदाध्यायी आसीत्। स एव भारतवर्षदक्षिणभागस्थिते कर्णाटकप्रदेशे वैक्रमाब्दानां पञ्चदशे शतके वैदिकविद्याधर्मरक्षणेन विशेषतो वैदिक-सनातन-वर्णाश्रमधर्मानुयायिनां कल्याणस्य सम्पादनाय विजयनगरराज्यं स्थापयित्वा तत्र वीरवुक्कमभ्यषिचत्, स्वयं च प्रधानमन्त्री भूत्वा कार्यभारमवाक्षीत्, राष्ट्रस्योन्नतिमप्यकार्षीत्, वेदविद्याया उन्नयने च प्रभूतं कार्यमकार्षीत्, तस्यैव व्यवस्थया तस्याऽनुजो भ्राता सायणो बहूनां वैदिकानां पण्डितानां साहाय्येन ऋग्वेदादीनां चतुर्णामेव वेदानां मन्त्रसंहितानां ब्राह्मणग्रन्थानां च व्याख्यामकार्षीत्; माधवः स्वयं च माधवीयधातुवृत्ति-सविस्तरजैमिनीयन्यायमाला-पराशरमाधवीय-कालमाधव-सर्वदर्शनसङ्ग्रहादीन् ग्रन्थान् प्राणैषीत्; सन्न्यासाश्रमं गतः स एव विद्यारण्यनाम्ना प्रसिद्धोऽभूत्, सन्न्यासाश्रमे वर्तमानश्च स विवरणप्रमेयसङ्ग्रह-पञ्चदशी-जीवन्मुक्तिविवेका-ऽनुभूतिप्रकाश-बृहदारण्यकवार्तिकसारादीन् ग्रन्थानररचत्; तदा स शृङ्गिगिरिस्थशाङ्करमठस्य मठाधीशोऽपि भूत्वा तस्य मठस्य समृद्धिं सुव्यवस्थां चाऽकार्षीदिति चेतिहासविचारका भणन्ति। स्कन्दपुराणसूतसंहिताया व्याख्याता माधवमन्त्री तु माधवाचार्यस्यैव काले जीवन्नपि माधवाचार्याद् गोत्रेण पितृनाम्ना मातृनाम्ना गुरुनाम्ना च भिन्नत्वेन ज्ञायमानोऽन्य एव पुरुषोऽस्तीति वदन्ति। शङ्करदिग्विजयकारो माधवोऽपि आत्मानं नवकालिदासं ब्रुवाणो राजचूडामणिदीक्षितस्य शङ्कराभ्युदयाख्याद् ग्रन्थात पञ्चविंशतिं पद्यानि गृहीत्वाऽविकलतया तानि स्वग्रन्थे समावेशयन्, इतिहासविरुद्धानि बहूनि वस्तूनि प्रलपन्, बाण-दण्डि-मयूर-खण्डनकार-भट्टभास्करोदयनैः सह शङ्करस्य वादकथां वर्णयँश् चाऽन्य एवाऽर्वाचीनोऽविवेकी पुरुषो माधवभट्टोऽवगम्यत इति विवेचकाः प्रतिपादयन्ति।

४०. **अखण्डानन्दः**– अनेन ग्रन्थकारेण प्रकाशात्मकृतस्य पञ्चपादिकाविवरणस्य तत्त्वदीपनं नाम व्याख्यानं कृतमस्ति। तत्राऽनेन विद्यारण्यस्य विवरणप्रमेयसङ्ग्रहस्योल्लेखः कृतोऽस्ति। नृसिंहाश्रमकृतायां विवरणभावप्रकाशिकायां तत्त्वदीपनमुल्लिखितमस्ति। तत्त्वदीपनस्य मतं सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहेऽप्युल्लिखितं दृश्यते। अखण्डानन्देन भामत्या ऋजु-

प्रकाशिकाख्या व्याख्या रचिताऽस्ति। अखण्डानन्दस्य मुक्तिसोपानम्, अद्वैतरत्नकोशश्चेति द्वावन्यौ स्वतन्त्रग्रन्थावपि स्तः।

४१. प्रकाशानन्दः– एतेन वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली नाम ग्रन्थः कृतोऽस्ति। अयं ग्रन्थो दृष्टिसृष्टिवादं स्वीकरोति। एतस्य ग्रन्थस्य अप्पय्यदीक्षितेन सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे उल्लेखः कृतोऽस्ति।

४२. प्रत्यक्स्वरूपः– वैक्रमाब्दानां षोडशे शतके जीवता प्रत्यक्स्वरूपेण चित्सुखमुनिकृतायाः प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाया अतीव महत्त्वपूर्णा नयनप्रसादिनीति व्यपदिष्टा व्याख्या कृताऽस्ति।

४३. नृसिंहाश्रमः– रेवातटनिवासी जगन्नाथाश्रमशिष्यो वैक्रमाब्दानां षोडशे शतके जीवन्नयं बुधः अद्वैतदीपिका-भेदधिक्कार-वेदान्ततत्त्वविवेकादीन् द्वादश ग्रन्थान् रचयामास किल। पूर्वोक्तास् त्रयो ग्रन्था मुद्रिता अपि सन्ति। नृसिंहाश्रमकृता पञ्चपादिका-विवरणव्याख्या भावप्रकाशिकाऽपि मद्रास-सम्प्रशासन-प्राच्यग्रन्थमालायां मुद्रितायां पञ्च-पादिकायां समाविष्टाऽस्ति। सङ्क्षेपशारीरकव्याख्या तत्त्वबोधिनी च तेषु द्वादशसु ग्रन्थेष्वस्ति।

४४. अप्पय्यः– द्रविडदेशे काञ्जीवरक्षेत्रे अडपप्पलग्रामे वैक्रमाब्दानां सप्तदशे शतके जीवन् चिरजीवि-रङ्गराजाध्वरिसुतो नानाशास्त्रविशेषज्ञोऽप्पय्यदीक्षितो नानाशास्त्र-सम्बद्धान् परश्शतान् ग्रन्थान् रचयामास किल। अद्वैतसिद्धौ परिमलकारस्याऽप्पय्यदीक्षित-स्योल्लिखितत्वाद् अप्पय्यो मधुसूदनात् प्राचीन इति सिद्धान्तबिन्दुप्रास्ताविके त्र्यम्बकराम-शास्त्री भट्टो वदति (पृ.११), अच्युतपत्रिकायाम् (तृतीयवर्षे चतुर्थाङ्के) प्रकाशितायां भाष्यरत्नप्रभानुवादभूमिकायां गोपीनाथकविराजोऽपि तथैव वदति (पृ.११५), योगीन्द्रानन्द-सम्पादिते सङ्क्षेपशारीरके संलग्नायां वेदान्ततत्त्वसमीक्षायां गङ्गेश्वरानन्दोऽपि तथैव ब्रवीति (पृ.२४), श्रीशङ्कराचार्यनामके ग्रन्थे द्वितीये संस्करणे बलदेवोपाध्यायोऽपि तथैव भणति (पृ.२८५), शाङ्करवेदान्तेतिहासनामके ग्रन्थे हरप्रकाशोऽपि तथैव कथयति (पृ.७७), परन्तु एतेषां मध्ये केनाऽपि अद्वैतसिद्धौ तस्योल्लेखस्य स्थलं तु न निर्दिष्टम्, अस्माकं दृष्टिपथे तु तत् स्थलं नैवाऽऽगतम्, अन्वेषकैः स्वयमन्वेष्टव्यम्। तत्राऽप्पय्यदीक्षितो वेदान्तशास्त्रे ब्रह्ममीमांसासूत्रप्रथमाध्यायाधिकरणविवेचनात्मकं ग्रन्थं न्यायरक्षामणिम्, अमलानन्दकृत-वेदान्तकल्पतरुव्याख्यारूपं कल्पतरूपरिमलम्, प्राचीनैः अद्वैतवेदान्ताचार्यैः वेदान्तशास्त्रा-न्तर्गतेषु विविधेषु महत्त्वपूर्णेषु विषयेषु कृतानां व्याख्याभेदानां सङ्ग्रहेण युक्तं सिद्धान्तलेश-सङ्ग्रहं चाऽरचत्। सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहस्य अच्युतकृष्णानन्दकृता व्याख्या प्रसिद्धाऽस्ति। सिद्धान्तलेशसारसङ्ग्रहरूपा पद्यबद्धा गङ्गाधरेन्द्रकृता वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जरी च मुद्रितोपलभ्यते। अप्पय्यदीक्षितोऽद्वैतवादी सन्नपि शैवसम्प्रदायानुरागी च दृश्यते। तेन शैवसम्प्रदायानुसारिणो ब्रह्ममीमांसासूत्रश्रीकण्ठभाष्यस्य शिवार्कमणिदीपिकाख्या व्याख्या च कृताऽस्ति। तेन शैवसिद्धान्ते शिवतत्त्वविवेकः, शिवकर्णामृतम्, शिवाद्वैतनिर्णयः, शिवार्चनचन्द्रिका, शिवध्यानपद्धतिश्चेत्यादयो ग्रन्थाश्च कृताः सन्ति। तेन धर्ममीमांसाशास्त्रे विधिरसायनम्, उपक्रमपराक्रम इत्यादयो ग्रन्थाः, अलङ्कारशास्त्रे च कुवलयानन्दः, चित्रमीमांसा चेत्यादयो ग्रन्थाश्च कृताः सन्ति।

४५. **नारायणाश्रमः**– नृसिंहाश्रमशिष्योऽयं बुधः अद्वैतदीपिकाविवरणम्, भेदधिक्कारसत्क्रियाम्, नारायणाश्रमीयम्, अद्वैतसिद्धान्तसारसङ्ग्रहं च प्रणिनाय किल। अद्वैतसिद्धान्तसारसङ्ग्रहो लघुरपि प्रौढ उपयोगी च ग्रन्थो दृश्यते।

४६. **सदानन्दः**– वैक्रमाब्दानां सप्तदशस्य शतकस्य प्रारम्भे जीवन् अद्वयानन्दशिष्योऽयं बुधः सरलया भाषया सुव्यवस्थितरूपेण वेदान्तशास्त्रस्य सारं सङ्गृह्य वेदान्तसाराख्यं ग्रन्थं रचयामास। सरलत्वात् संक्षिप्तत्वात् वेदान्तशास्त्रसाररूपत्वाच् चाऽतीव लोकप्रियस्याऽस्य ग्रन्थस्य बहुभिर् विद्वद्भिर् व्याख्याश्च कृताः सन्ति। तत्र १५१०तमे शकान्ताब्दे (१५८८तमे क्रैस्ताब्दे, १६४५तमे वैक्रमाब्दे, ४६५४तमे कलियुगाब्दे) नरहरिणा (नृसिंहसरस्वत्या) कृता सुबोधिनी नाम टीका सदानन्दस्य जीवनकालस्य ज्ञाने सदानन्दग्रन्थार्थस्य ज्ञाने च भृशमुपकारिणी वर्तते। मीमांसान्यायप्रकाशकारेण आपदेवेन च वेदान्तसारस्य बालबोधिनी टीका कृताऽस्ति। वेदान्तसारस्य रामतीर्थकृता विद्वन्मनोरञ्जनी टीका चाऽनेकवारं मुद्रिताऽस्ति। शङ्करदिग्विजयकारः सदानन्दः, नारायणतीर्थब्रह्मानन्दसरस्वत्योः शिष्योऽद्वैतब्रह्मसिद्धिकारः काश्मीरकः सदानन्दश्च वेदान्तसारकारात् सदानन्दादन्यौ एव पुरुषौ अवगम्येते।

४७. **धर्मराजः**– अयं नृसिंहाश्रमप्रशिष्यो वेङ्कटनाथशिष्यो वैक्रमाब्दानां सप्तदशे शतके जीवन् दाक्षिणात्यो द्विजोत्तमो वेदान्तशास्त्रसम्मत-प्रमाणप्रमेयनिरूपणपरां वेदान्तपरिभाषां रचयामास। एतस्य ग्रन्थस्य विषये **"वेदान्ततत्त्वविज्ञाने मान्या पञ्चदशी यथा। वेदान्तपरिभाषा च तथा मूलार्थबोधने"** इति नवीनानां विदुषामुक्तिः प्रसिद्धाऽस्ति। वेदान्तपरिभाषा विवरणप्रस्थानानुयायिनी वर्तते। वेदान्तपरिभाषायाः व्याख्या ग्रन्थकर्तुः पुत्रेण रामकृष्णाध्वरीन्द्रेण कृता शिखामणिः प्रसिद्धाऽस्ति। पेद्ददीक्षितादिकृता अन्या अपि वेदान्तपरिभाषाटीकाः सन्ति। आनन्दझामहोदयेनाऽपि वेदान्तपरिभाषाया व्याख्या कृताऽस्ति। धर्मराजाध्वरीन्द्रेण गङ्गेशोपाध्यायकृतस्य नव्यन्यायग्रन्थस्य तत्त्वचिन्तामणेरन्यासां दशानां टीकानां विभञ्जनी तर्कचूडामणिर् नाम टीकाऽपि कृतेति वेदान्तपरिभाषाप्रारम्भे धर्मराजाध्वरीन्द्रेणैवोल्लिखितमस्ति।

४८. **मधुसूदनः**– मधुसूदनेन भामतीकार-कल्पतरुकाराभ्यां सह परिमलकारस्याऽपि उल्लिखितत्वादयमप्पय्यदीक्षितादर्वाचीन इति, अयं वैक्रमाब्दानां सप्तदशस्य शतकस्याऽन्ते जीवन्नासीदिति चेतिहासविचारकाः कथयन्ति। वङ्गदेशस्य फरीदपुरमण्डलस्य कोटालिपाडाग्रामे प्रमोदनपुरन्दरनामकस्य द्विजस्य तृतीयपुत्रत्वेन जातो हरिरामतर्कवागीशस्य विश्वेश्वराश्रमस्य च शिष्योऽयं बुधः अद्वैतवेदान्तशास्त्रे बहून् ग्रन्थान् रचयामास किल। तत्र अद्वैतसिद्धिः प्रसिद्धतमा शाङ्करवेदान्ताचार्यपरीक्षायां निर्धारिता चाऽस्ति। सेयमद्वैतसिद्धिरद्वैतवेदान्तबृहत्त्रय्यां गण्यते। एतस्याऽन्ये ग्रन्थाश्च दशश्लोकीव्याख्या सिद्धान्तबिन्दुः, सङ्क्षेपशारीरकव्याख्या सारसङ्ग्रहाख्या, श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्या गूढार्थदीपिका, शिवमहिम्नस्तोत्रटीका, प्रस्थानभेदः, अद्वैतरत्नरक्षणम्, भक्तिरसायनम् इत्यादिकाः सन्ति। अयं भक्तेर् ज्ञानस्य चाऽपूर्वः साधको दृश्यते।

४९. ब्रह्मानन्दः– वङ्गदेशजो नारायणतीर्थस्य शिष्यो वैक्रमाब्दानामष्टादशे शतके जीवन्नयं बुधो ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तिं वेदान्तसूत्रमुक्तावलीम्, ईशावास्यरहस्यम्, अद्वैतसिद्धेर् व्याख्यां गुरुचन्द्रिकाम्, लघुचन्द्रिकां (गौडब्रह्मानन्दीं) च, दशश्लोकीव्याख्यायाः सिद्धान्तबिन्दोर् व्याख्यां न्यायरत्नावलीं चाऽपि रचयामास। अद्वैतसिद्धिकारेण खण्डितस्य व्यासतीर्थकृतस्य माध्वमतग्रन्थस्य न्यायामृतस्य मण्डनाय कृताया न्यायामृततरङ्गिण्याः लघुचन्द्रिकायां सम्यक् खण्डनं कृत्वाऽनेनाऽद्वैतसिद्धिसिद्धान्तस्य सम्यङ् मण्डनं कृतमस्ति।

५०. रामतीर्थः– कृष्णतीर्थशिष्योऽयं बुधः सङ्क्षेपशारीरकस्याऽन्वयार्थप्रकाशिकाख्यां व्याख्याम्, वेदान्तसारस्य विद्वन्मनोरञ्जनीं टीकाम्, मैत्रायण्युपनिषदो वृत्तिं चाऽकार्षीत्।

५१. गोविन्दानन्दः– काशीनिवासी गोपालसरस्वतीशिष्यो वैक्रमाब्दानामष्टादशे शतके जीवन्नयं बुधो भूम्नाऽऽनन्दगिरिकृतं शारीरकभाष्यन्यायनिर्णयमनुहरन् ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्यां भाष्यरत्नप्रभाख्यामररचत्।

५२. बालकृष्णानन्दः– अभिनवद्रविडाचार्य इत्युपचर्यमाणो व्याकरणे नागेशस्य शिष्यो वेदान्ते गौडब्रह्मानन्दस्य शिष्योऽयं बुधः शारीरकमीमांसाभाष्यवार्तिकं प्रणिनाय किल।

५३. रामानन्दः(रामकिङ्करः)– गोविन्दानन्दशिष्योऽयं बुधो भूम्ना भाष्यरत्नप्रभामुपजीवन् ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तिं ब्रह्मामृतवर्षिणीं रचयामास। अनेन विवरणप्रमेयसङ्ग्रहस्याऽपि सारं सङ्गृह्य विवरणोपन्यास इति ग्रन्थोऽपि कृतोऽस्ति।

५४. रङ्गनाथः– अयमपि बुधो ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तिं रचयामास। तत्राऽनेनोक्तं हि– **"विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर् नृसिंहाश्रमसूक्तिभिः। सन्दृब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर् भाष्यानुसारिणी"** इति। अनेन अदृश्यत्वाधिकरणे (भूतयोनित्वाधिकरणे) ब्रह्ममीमांसासूत्रे (१।२।६) शाङ्करभाष्ये (१।२।२३) स्थितं **"प्रकरणात्"** इति पदं स्वतन्त्रसूत्रत्वेन स्वीकृत्य **"प्रकरणाच् च"** इत्यधिकं सूत्रं स्वीकृतमस्ति। एवञ्चास्य मते अदृश्यत्वाधिकरणे चत्वारि सूत्राणि भवन्ति। सम्पूर्णे ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थे च ५५६ सूत्राण्यस्य मते भवन्ति।

५५. स्वयम्प्रकाशानन्दः–अद्वैतानन्दशिष्योऽयं बुधो धर्ममीमांसाग्रन्थरूपशास्त्रदीपिकाशैलीमनुहरन् अधिकरणप्रथमसूत्रं लिखित्वाऽधिकरणार्थमात्रं प्रतिपादयन् वेदान्तनयभूषणं नाम ग्रन्थं प्रणिनाय किल। मुद्रितश्चायं रामकृष्णप्रपन्नसम्पादितो ग्रन्थ इदानीम्।

५६. महादेवः– वैक्रमाब्दानामूनविंशे शतके जीवन्नयं बुधस् तत्त्वानुसन्धानं नाम अद्वैतवेदान्तप्रकरणग्रन्थं रचयामास। स च ग्रन्थो वाराणस्यां मुद्रितोऽप्यस्ति (१९०६ क्रै.)। ग्रन्थकारेणैवाऽस्य ग्रन्थस्य अद्वैतचिन्ताकौस्तुभनामकं विवरणमपि कृतमस्ति। अद्वैतवेदान्तस्य सरलतया बोधाय साधारणानां जनानां कृते उपकारक एवाऽयं ग्रन्थोऽवलोक्यते।

५७. सदाशिवेन्द्रः– अयं बुधो ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तिं ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिकां रचयामास। तत्र वृत्तौ भाष्यरत्नप्रभायाः प्रचुरः प्रभावोऽवलोक्यते। अनेन द्वादशानामुपनिषदां व्याख्या अपि कृता अवगम्यन्ते। तथैवाऽऽत्मविलासादयोऽन्येऽप्यस्य ग्रन्थाः श्रूयन्ते।

५८. आयन्नः– वेङ्कटेशशिष्यो वैक्रमाब्दानामूनविंशे शतके वर्तमानोऽयं बुधो व्यासतात्पर्यनिर्णयाख्यं ग्रन्थं रचयामास। तत्राऽयं ब्रह्ममीमांसासूत्रोक्तमतस्य खण्डनं कर्तुं प्रवृत्तैः साङ्ख्यैः धर्ममीमांसकैः पातञ्जलैः वैशेषिकैः तार्किकैः पाशुपतैश्च ब्रह्ममीमांसासूत्रस्याऽद्वैतप्रतिपादकत्वं स्वीकृत्य तस्य खण्डिततत्वादपि ब्रह्ममीमांसासूत्रस्याऽद्वैतप्रतिपादकत्वमेव प्राचीनात् कालात् प्रभृति स्वीक्रियमाणं स्फुटं भवतीति वक्ति। एतादृशा अन्येऽपि नवीनास् तर्कास् तत्र दृश्यन्ते किल।

प्रस्तूयमानाया वृत्तेर् वैशिष्ट्यम्

ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यस्याऽनुगामिन्यो ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तयो बह्व्यः सन्ति। तत्र कासु चन वृत्तिषु केवलं सूत्रार्थाः प्रतिपादिताः, अधिकरणानि सम्यक् न प्रदर्शितानि। यथा शङ्करानन्दकृता दीपिका, अन्नम्भट्टकृता मिताक्षरा, हरिदीक्षितकृता सुबोधिनी, ब्रह्मानन्दकृता वेदान्तसूत्रमुक्तावली, रामकिङ्करकृता ब्रह्मामृतवर्षिणी, सदाशिवेन्द्रकृता ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका, बालगङ्गाधरतिलककृता ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तिश्चेति। अन्यासु कासु चन वृत्तिषु केवलमधिकरणानि प्रदर्शितानि न सर्वेषां सूत्राणामर्थाः प्रतिपादिताः। यथा अनन्यानुभवकृता शारीरकन्यायमणिमाला, प्रकाशात्मकृतः शारीरकमीमांसान्यायसङ्ग्रहः, अमलानन्दकृतः शास्त्रदर्पणः, विद्यातीर्थकृता वैयासकन्यायमाला, स्वयम्प्रकाशानन्दकृतं वेदान्तनयभूषणं चेति। अन्या अपि प्राचीना नवीनाश्च वृत्तयः स्थिता अवगम्यन्ते। तथापि कस्यामपि वृत्तौ सर्वेषां सूत्राणामर्थानां स्फुटतया प्रतिपादनम्, सर्वेषामधिकरणानां पञ्चानामेवाङ्गानां सम्यक् प्रदर्शनं चेत्युभयं तु कृतं नाऽवलोक्यते। प्रस्तूयमानायां वृत्तौ तु तदुभयं सम्यक् कृतमस्ति।

सूत्रार्थानां प्रतिपादने प्रस्तूयमानायां वृत्तौ सूत्रस्थानां पदानाम्, पूर्वसूत्रस्थपदानुवृत्तेः, पूर्वसूत्रोक्तार्थपरामर्शस्य, अध्याहार्यपदस्य, वाक्यरचनायाः, सङ्गतेश्च सम्यग् विचारं कृत्वा सरलतया स्फुटतया च सूत्रार्थाः प्रतिपादिताः सन्ति। एवं च क्वचित्-क्वचित् तु विरलेषु सूत्रेषु शाङ्करभाष्यरीतितः शङ्करानन्दरीतेः, अन्नम्भट्टरीतेः, ब्रह्मानन्दरीतेश्च अनुसरणीयतरतामवलोक्य तासां मध्ये कस्याश्चिदनुसरणमपि कृतमस्ति। अन्यादृश्योऽपि काश्चन टिप्पण्यः कृताः सन्ति। यथा **"अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः"** (२।१।२३) इत्यत्र ब्रह्मानन्दरीतिरनुकृता। **"महद्दीर्घवद् वा"** (२।२।११) इत्यादिके सूत्रे रामानुजव्याख्याया युक्ततरत्वमुल्लिखितम्। **"विप्रतिषेधाच्च"** (२।२।४५) इत्यत्र तर्कपादसङ्गत्यननुकूलोऽर्थः परित्यक्तुमर्ह इत्युक्तम्। **"आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्, अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात्"** (३।३।१६,१७) इत्यत्र ब्रह्मानन्दरीतिरनुसृता। **"हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्"** (३।३।२६) इत्यादिके सूत्रे च ब्रह्मानन्दरीतिमेवाऽनुसृत्य वर्णकान्तरमुपेक्षितम्। **"इयदामननात्"** (३।३।३४) इति सूत्रेऽपि ब्रह्मानन्दरीतिरनुसृता। **"भूम्नः क्रतुवज् ज्यायस्त्वम्"** (३।३।५७)

इति सूत्रे वाचस्पतिव्याख्यानं ब्रह्मानन्दव्याख्यानं च विचार्याऽर्थः प्रतिपादितः। **"अपि च स्मर्यते, विशेषानुग्रहश्च"** (३।३।३७,३८) इत्यत्राऽपि ब्रह्मानन्दरीतिर् विशेषेण विचारिता। तथैव **"मौनवदितरेषामप्युपदेशात्"** (३।४।४९) इति सूत्रेऽपि ब्रह्मानन्दरीतिः शोभनतरेत्यनुसृता। **"एवं मुक्तिफलानियमः"** (३।४।५२) इत्यादिके सूत्रे च ब्रह्मानन्दवृत्तिं रत्नप्रभां च विशेषेणाऽनुशील्यार्थः प्रतिपादितः। **"अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः"** (४।१।१७) इति सूत्रे स्वविचारेणाऽपि नूतनोऽप्यर्थो योजितोऽस्ति। **"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते"** (४।१।१९) इति सूत्रे वैयासकन्यायमाला-मिताक्षरा-वेदान्तसूत्रमुक्तावलयो विशेषेण विचार्याऽनुसृताः। प्रतिषेधाधिकरणे (४।२।१२-१४) बालगङ्गाधरतिलकव्याख्याऽपि शोभनेति स्वीकृता।

"तत् तु समन्वयात्" (१।१।४) इति सूत्रे तत्पदेन ब्रह्म गृहीत्वा भाष्यकारादिभिर् व्याख्यानं कृतमस्ति। अस्माभिस्तु तत्पदेन अव्यवहितपूर्वसूत्रस्थं शास्त्रयोनित्वं गृहीत्वा व्याख्यानं कृतमस्ति। अर्थे भेदस्याऽभावेऽपि सूत्रस्थपदव्याख्यारीतेर् विषये प्रस्तूयमानाया वृत्तेर् वैशिष्ट्यस्य सूचकमेतद् व्याख्यानं विद्वद्भिर् विवेचनीयम्।

"स्मृतेश्च" (१।२।६) इत्यादिषु सूत्रेषु स्मृतिशब्देन किं ग्राह्यमिति विषये विशेषतो विचारोऽपि प्रस्तूयमानायां वृत्तौ कृतोऽस्ति।

"अपि च सप्त" (३।१।१५), **"तुल्यं तु दर्शनम्"** (३।४।९), **"सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्"** (३।४।३४), **"न चाऽधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात्"** (३।४।४१), **"कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः"** (३।४।४८), **"स्मृतेश्च"** (४।३।११), **"अप्रतीकालम्बनान् नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात् तत्क्रतुश्च"** (४।३।१५), **"अविभागेन दृष्टत्वात्"** (४।४।४), **"द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः"** (४।४।१२) इत्यादिषु सूत्रेषु श्रुति-स्मृति-पुराणेभ्यो बहूनि विशिष्टानि वचनानि उद्धृत्य प्रस्तूयमानायां वृत्तौ सूत्रार्था विशदतररूपेण प्रतिपादिताः सन्ति।

प्रतीकध्यायिनां लोकान्तरगमनस्य विषये रत्नप्रभाकारस्य टिप्पणी (४।३।१५) प्रस्तूयमानायां वृत्तौ पर्यालोचिताऽस्ति।

भामती-वेदान्तकल्पतरु-कल्पतरुपरिमलयुक्ते भाष्यरत्नप्रभा-भामती-शारीरकभाष्यन्यायनिर्णययुक्ते च शाङ्करभाष्यसंस्करणेऽपि स्थलनिर्देशेन रहितानां बहूनां श्रुति-स्मृति-पुराण-महाभारतादिवचनानां भूयसा प्रयासेन विविधैरुपायैरुपकरणैश्च स्थलानि अन्विष्य यथासम्भवं मूलग्रन्थांश्च विलोक्य परीक्ष्य स्थलानि निर्दिष्टानि सन्ति। एतेन तत्-तत्प्रकरणानां सम्यग् विचारे सौविध्यं वर्धेत। तथापि एकद्वानां **"स होवाचाऽधीहि भोः"** (३।२।१७), **"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा"** (३।२।१८) इत्यादिकानां वचनानां तु मूलस्थलं नोपलब्धमस्ति। एतादृशानां वचनानामाकरो लुप्ता का चन वेदशाखा वा अनन्तपारं स्मृति-पुराणादिवाङ्मयं वा भवेत्। प्रस्तूयमानवृत्तिकारस्य माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्ल-यजुर्वेदशाखाध्यायित्वात् प्रस्तूयमानायां वृत्तौ बृहदारण्यकोपनिषदो वचनानां स्थलनिर्देशे मुख्यतया माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद-शतपथ-ब्राह्मण-काण्डा-ऽध्याय-

ब्राह्मण-कण्डिकासङ्ख्याभिः स्थलनिर्देशः कृतोऽस्ति। तत्र माध्यन्दिनीयवाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखागतसाम्प्रदायिकोच्चारणानुसारमेव यमव्यञ्जनद्वित्वादिकं च मुद्रापितमस्ति। माध्यन्दिनीयबृहदारण्यकोपनिषदो व्याख्यानं च वासुदेवभगवत्कृतं शतपथब्राह्मणस्य खेमराजश्रीकृष्णदाससंस्करणे पञ्चमे भागे, द्विवेदगङ्गकृतं च शतपथब्राह्मणस्य वेबरसंस्करणे मुद्रितमुपलभ्यते। प्रसिद्धं शङ्करभगवत्पादकृतव्याख्यानं तु काण्ववाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखाया बृहदारण्यकोपनिषदो वर्तते इति न विस्मर्तव्यम्।

प्रस्तूयमानया वृत्त्या सह सूत्राणां हिन्द्यां सरलः परिस्फुटोऽर्थश्च प्रतिपादितोऽस्ति। यद्यपि ब्रह्ममीमांसासूत्राध्ययनं परम्पराप्राप्तशास्त्रसम्मताध्ययनव्यवस्थानुसारं स्वाध्यायाऽध्ययनविध्यनुसारं वेदवेदाङ्गाध्ययनं कृतवद्भिर् द्विजातिभिरेव कार्यम्, तथापि लोके इदानीम् अनधीतवेदवेदाङ्गकैरपि द्विजातिभिरन्यैश्च परीक्षार्थिप्रभृतिभिर् ब्रह्ममीमांसासूत्रस्याऽधीयमानत्वात् तेषां सौकर्याय हिन्द्यामपि सूत्रार्थाः प्रतिपादिता इत्यवगन्तव्यम्। यद्यपि उदयवीरशास्त्रिणा हरिकृष्णदासगोयन्दकामहाशयेन च हिन्द्यां ब्रह्ममीमांसासूत्रार्था वर्णितास् तथापि ते शङ्करव्याख्यातवेदान्तसिद्धान्तप्रतिकूलाः सुसङ्गतिरहिताश्चेति तयोः सूत्रार्थेभ्योऽत्र हिन्द्यां प्रस्तुतानां सूत्रार्थानां महद् वैशिष्ट्यमस्तीति विद्वद्भिराकलनीयम्।

भारतवर्षीयाणामन्येषां दर्शनानां च परिचये प्राप्ते वेदान्तदर्शनस्य ज्ञानं सुदृढं भवतीति विचार्य प्रस्तूयमानया वृत्त्या सह प्रस्ताविकारूपेण दर्शनशास्त्रपरिचयोऽप्यत्र सङ्क्षेपेण प्रस्तुतोऽस्ति।

ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थस्य सङ्क्षिप्ते परिचये प्राप्ते तदवगाहनं सुकरतरं स्यादिति विचार्य प्रस्ताविकायां ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थस्य परिचयः, ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थाधारभूता वैदिकग्रन्थाः, ब्रह्ममीमांसासूत्र-ग्रन्थाऽध्ययनाऽधिकारिविचारः, ब्रह्ममीमांसासूत्र-ग्रन्थस्य भाष्याणि, ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्यानानि, ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्याऽनुसारिण्यः काश्चन ब्रह्ममीमांसासूत्रवृत्तयः इति प्रकरणानि च समावेशितानि।

प्रस्तूयमानया वृत्त्या सह प्रस्ताविकायां वेदान्तशास्त्रग्रन्थकाराणां परिचयोऽपि सङ्क्षेपेण प्रस्तुतोऽस्ति। तत्र बादरायणमुनिविषये विशेषेण विचारोऽपि कृतोऽस्ति। तत्र कृष्णद्वैपायन-बादरायणशब्दयोः समानपुरुषविषयत्वं प्रतिपादितमस्ति। बादरायणस्य कालः कलिद्वापरयोः सन्धिरिति विचारोऽपि प्रस्तुतोऽस्ति। माध्यन्दिनीयशाखोपनिषदोर् व्याख्यातुराचार्य-भर्तृप्रपञ्चस्य परिचये तद्व्याख्यात-वैदिकज्ञानकर्मसमुच्चयवादस्य स्पष्टीकरणं शङ्करकृतस्य तत्खण्डनस्य सङ्क्षेपेण समीक्षणं च कृतमस्ति। ब्रह्मनन्दिनो द्रविडाचार्यस्य च परिचयेऽपि विशेषतः स्पष्टतामानेतुं प्रयासः कृतोऽस्ति। मण्डनमिश्रस्य परिचये मण्डनमिश्रस्य शङ्करात् प्राचीनत्वं प्रतिपादितम्, अर्वाचीनेन विविधानां भ्रमाणां प्रचारकेण शङ्करदिग्विजयग्रन्थ-कारेण माधवेन प्रचारितस्य मण्डनमिश्र-सुरेश्वरयोरैक्यस्य समीक्षणं च कृतं वर्तते, मण्डन-मिश्रस्य स्फुटं परिचयमुपस्थाप्य तत्र भवतो महत्त्वं च स्फुटीकृतमस्ति। मण्डनमिश्रस्य मुख्यस्य ग्रन्थस्य ब्रह्मसिद्धेः परिचयोऽपि दत्तोऽस्ति। गौडपादपरिचये शङ्करनिन्दकैः कृतस्य

शङ्करे प्रच्छन्नबौद्धत्वस्याऽऽरोपस्याऽऽधारभूता विषया गौडपादेनैव माण्डूक्यकारिकायामेव प्रतिपादिता इति च स्फुटीकृतमस्ति। शङ्करभगवत्पादपरिचये शङ्करकालस्य निरूपणे, शङ्करकृतग्रन्थानां निरूपणे, शङ्करस्य मठस्थापकतायाः, शैवशाक्ततन्त्रानुयायितायाश्च विवेचने चाऽवधानं दत्तं वर्तते। गीताव्याख्याकारस्य ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्यकारस्य तैत्तिरीयोपनिषद्वृत्तिकारस्य च शङ्करस्य वर्णाश्रमधर्मविषयकस्य विचारस्य विशेषतो विचारोऽपि कृतोऽस्ति। पद्मपादादीनां परिचयेऽपि विशेषतः स्फुटतामानेतुं प्रयासः कृतोऽस्ति। वाचस्पतिपरिचये तस्य मण्डनमिश्रानुयायित्वमपि चर्चितमस्ति। विमुक्तात्मपरिचये इष्टसिद्धेः सङ्क्षिप्तः परिचयोऽपि समावेशितोऽस्ति। सर्वज्ञात्ममुनेः परिचयेऽपि काऽपि नवीनता समुल्लसति। ब्रह्ममीमांसासूत्रशाङ्करभाष्य-प्रकटार्थविवरणकारस्य अनुभूतिस्वरूपस्य परिचये तत्कृतं वाचस्पतिभणितिविशेषविवेचनं च प्रदर्शितमस्ति। एवं च वेदान्तशास्त्रग्रन्थकाराणां परिचयानां प्रतिपादनेऽपि अत्र बहु वैशिष्ट्यं वर्तते इत्यवगन्तव्यम्।

प्रस्तूयमानया वृत्त्या युक्तेऽस्मिन् संस्करणे पाठकानां गवेषकाणां च सौकर्याय विस्तृता विषयानुक्रमणिका, पृथग् ब्रह्ममीमांसासूत्रमूलमात्रपाठः ब्रह्ममीमांसासूत्रपदानुक्रमणिका, वृत्त्युद्धृतग्रन्थान्तरवाक्यानुक्रमणिका च समाविष्टाः सन्ति।

वृत्तेः सफलताया आशा

बादरायणीय-ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थस्येयं विविधाङ्गोपबृंहिता वृत्तिर् लोके प्रचरन्ती विदुषां प्रमोदाय छात्राणामन्येषां च जिज्ञासूनामुपकाराय च भूत्वा सफला भवेदित्याशां कुर्वाणो विरमति—

वेदवेदाङ्गोपाङ्गस्मृतिपुराणादिशास्त्रवशवँवदः
शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः

वैदिक-शैशिर-तपश्शुक्लपञ्चम्याम्,
सवँवत्सराख्ये पञ्चाब्दकवैदिकयुगप्रथमवर्षे,
वैदिकपञ्चाब्दकयुगानुसारिणि षष्ठे आहिर्बुध्न्ये युगे,
नन्दने वैदिकयुगानुसारिणि चान्द्रे षड्विंशे वत्सरे,
५०६६तमे कलियुगाब्दे,
२०५७तमे वैक्रमवत्सरे, सौरसायनमकरमासे।

स्वाद्ध्यायशाला, १६८, सरस्वतीमार्गसंलग्न-शिवभक्तमार्गः,
लाजिम्पाट्, काष्ठमण्डपमहानगरम्-२,
नेपालदेशः, ☎ (००-९७७-१-)४४३३२२७।

ब्रह्ममीमांसासूत्र-मूलपाठः

अथ प्रथमोऽध्यायः

(समन्वयाध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः

१. जिज्ञासाधिकरणम्

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥१॥

२. जन्माद्यधिकरणम्

२. जन्माद्यस्य यतः॥२॥

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

३. शास्त्रयोनित्वात्॥३॥

४. समन्वयाधिकरणम्

४. तत् तु समन्वयात्॥४॥

५. ईक्षत्यधिकरणम्

५. ईक्षतेर् नाऽशब्दम्॥५॥

६. गौणश् चेन् नाऽऽत्मशब्दात्॥६॥

७. तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्॥७॥

८. हेयत्वाऽवचनाच्च॥८॥

९. स्वाऽप्ययात्॥९॥

१०. गतिसामान्यात्॥१०॥

११. श्रुतत्वाच्च॥११॥

६. आनन्दमयाधिकरणम्

१२. आनन्दमयोऽभ्यासात्॥१२॥

१३. विकारशब्दान् नेति चेन् न प्राचुर्यात्

१४. तद्धेतुव्यपदेशाच्च॥१४॥

१५. मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते॥१५॥

१६. नेतरोऽनुपपत्तेः॥१६॥

१७. भेदव्यपदेशाच्च॥१७॥

१८. कामाच्च नाऽनुमानापेक्षा॥१८॥

१९. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।१९॥

७. अन्तरधिकरणम्

२०. अन्तस् तद्धर्मोपदेशात्॥२०॥

२१. भेदव्यपदेशाच्चाऽन्यः॥२१॥

८. आकाशाधिकरणम्

२२. आकाशस् तल्लिङ्गात्॥२२॥

९. प्राणाधिकरणम्

२३. अत एव प्राणः॥२३॥

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरणम्

२४. ज्योतिश् चरणाऽभिधानात्॥२४॥

२५. छन्दोभिधानान् नेति चेन्न तथा चेतो-ऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम्॥२५॥

२६. भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्॥२६॥

२७. उपदेशभेदान् नेति चेन् नोभयस्मिन्-नप्यविरोधात्॥२७॥

११. प्रतर्दनाऽधिकरणम्

२८. प्राणस् तथाऽनुगमात्॥२८॥

२९. न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्म-सम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्॥२९॥

३०. शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।३०।

३१. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान् नेति चेन् नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्॥३१॥

अथ द्वितीयः पादः

१२. (१) सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरणम्

३२. सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्॥१॥

३३. विवक्षितगुणोपपत्तेश्च॥२॥

३४. अनुपपत्तेस् तु न शारीरः॥३॥

३५. कर्म-कर्तृ-व्यपदेशाच्च॥४॥

३६. शब्दविशेषात्॥५॥

३७. स्मृतेश्च॥६।

३८. अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन् न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च।७।

३९. सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्।८।

१३. (२) अत्त्रधिकरणम्

४०. अत्ता चराचरग्रहणात्॥९॥

४१. प्रकरणाच्च॥१०॥

१४. (३) गुहाप्रविष्टाधिकरणम्

४२. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्।

४३. विशेषणाच्च॥१२॥

१५. (४) अन्तराधिकरणम्

४४. अन्तर उपपत्तेः॥१३॥

४५. स्थानादिव्यपदेशाच्च॥१४॥

४६. सुखविशिष्टाभिधानादेव च॥१५॥

४७. श्रुतोपनिषत्क-गत्यभिधानाच्च॥१६॥

४८. अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः॥१७॥

१६. (५) अन्तर्याम्यधिकरणम्

४९. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्म-
व्यपदेशात्॥१८॥

५०. न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्॥१९॥

५१. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते।

१७. (६) अदृश्यत्वाधिकरणम्

५२. अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः॥२१॥

५३. विशेषण-भेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ।

५४. रूपोपन्यासाच्च॥२३॥

१८. (७) वैश्वानराधिकरणम्

५५. वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्।२४।

५६. स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति॥२५॥

५७. शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति
चेन्न, तथा-दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्;
पुरुषमपि चैनमधीयते॥२६॥

५८. अत एव न देवता भूतञ्च॥२७॥

५९. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः॥२८॥

६०. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः॥२९॥

६१. अनुस्मृतेर् बादरिः॥३०॥

६२. सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति।

६३. आमनन्ति चैनमस्मिन्॥३२॥

अथ तृतीयः पादः

१९. (१) द्युभ्वाद्यधिकरणम्

६४. द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥१॥

६५. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्॥२॥

६६. नाऽनुमानमतच्छब्दात्॥३॥

६७. प्राणभृच्च॥४॥

६८. भेदव्यपदेशात्॥५॥

६९. प्रकरणात्॥६॥

७०. स्थित्यदनाभ्याञ्च॥७॥

२०. (२) भूमाधिकरणम्

७१. भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्॥८॥

७२. धर्मोपपत्तेश्च॥९॥

२१. (३) अक्षराधिकरणम्

७३. अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥१०॥

७४. सा च प्रशासनात्॥११॥

७५. अन्यभावव्यावृत्तेश्च॥१२॥

२२. (४) ईक्षतिकर्माधिकरणम्

७६. ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः॥१३॥

२३. (५) दहराधिकरणम्

७७. दहर उत्तरेभ्यः॥१४॥

७८. गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च।

७९. धृतेश्च महिम्नोऽस्याऽस्मिन्नुपलब्धेः।

८०. प्रसिद्धेश्च॥१७॥

८१. इतरपरामर्शात् स इति चेन्नाऽसम्भवात्।

८२. उत्तराच् चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु॥१९॥

८३. अन्यार्थश्च परामर्शः॥२०॥

८४. अल्पश्रुतेरिति चेत् तदुक्तम्॥२१॥

२४. (६) अनुकृत्यधिकरणम्

८५. अनुकृतेस्तस्य च॥२२॥

८६. अपि च स्मर्यते॥२३॥

२५. (७) प्रमिताऽधिकरणम्

८७. शब्दादेव प्रमितः॥२४॥

८८. हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्।२५।

२६. (८) देवताधिकरणम्

८९. तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्॥२६।

९०. विरोधः कर्मणीति चेन्नाऽनेकप्रति-पत्तेर् दर्शनात्॥२७॥

९१. शब्द इति चेन्नाऽतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥२८॥

९२. अत एव च नित्यत्वम्॥२९॥

९३. समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्य-विरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च॥३०॥

९४. मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः।

९५. ज्योतिषि भावाच्च॥३२॥

९६. भावं तु बादरायणोऽस्ति हि॥३३॥

२७. (९) अपशूद्राधिकरणम्

९७. शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि॥३४॥

९८. क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्॥३५॥

९९. संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च।

१००. तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः॥३७॥

१०१. श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च।

२८. (१०) कम्पनाधिकरणम्

१०२. कम्पनात्॥३९॥

२९. (११) ज्योतिरधिकरणम्

१०३. ज्योतिर् दर्शनात्॥४०॥

३०. (१२) अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्

१०४. आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ४१

३१. (१३) सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम्

१०५. सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर् भेदेन॥४२॥

१०६. पत्यादिशब्देभ्यः॥४३॥

अथ चतुर्थः पादः

३२. (१) आनुमानिकाधिकरणम्

१०७. आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन् न शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेर् दर्शयति च॥१॥

१०८. सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्॥२॥

१०९. तदधीनत्वादर्थवत्॥३॥

११०. ज्ञेयत्वावचनाच्च॥४॥

१११. वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्॥५।

११२. त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च॥६॥

११३. महद्वच्च॥७॥

३३. (२) चमसाधिकरणम्

११४. चमसवदविशेषात्॥८॥

११५. ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके।

११६. कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः।

३४. (३) सङ्ख्योपसङ्ग्रहाधिकरणम्

११७. न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावा-दतिरेकाच्च॥११॥

११८. प्राणादयो वाक्यशेषात्॥१२॥

११९. ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने॥१३॥

३५. (४) कारणत्वाधिकरणम्

१२०. कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथा-व्यपदिष्टोक्तेः॥१४॥

१२१. समाकर्षात्॥१५॥

३६. (५) बालाक्यधिकरणम्

१२२. जगद्वाचित्वात्॥१६॥

१२३. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान् नेति चेत् तद् व्याख्यातम्॥१७॥

१२४. अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्याना-भ्यामपि चैवमेके॥१८॥

३७. (६) वाक्यान्वयाधिकरणम्

१२५. वाक्यान्वयात्॥१९॥

१२६. प्रतिज्ञासिद्धेर् लिङ्गमाश्मरथ्यः॥२०॥
१२७. उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः।
१२८. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥२२॥

३८. (७) प्रकृत्यधिकरणम्

१२९. प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।२३।
१३०. अभिध्योपदेशाच्च॥२४॥
१३१. साक्षाच्चोभयाम्नानात्॥२५॥
१३२. आत्मकृतेः परिणामात्॥२६॥
१३३. योनिश्च हि गीयते॥२७॥

३९. (८) सर्वव्याख्यानाधिकरणम्

१३४. एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः २८

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(अविरोधाऽध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः

४०. (१) स्मृत्यधिकरणम्

१३५. स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन् नाऽन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।१।
१३६. इतरेषां चाऽनुपलब्धेः॥२॥

४१. (२) योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

१३७. एतेन योगः प्रत्युक्तः॥३॥

४२. (३) विलक्षणत्वाधिकरणम्

१३८. न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥४॥
१३९. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषाऽनुगतिभ्याम्॥५॥
१४०. दृश्यते तु॥६॥
१४१. असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्।७।
१४२. अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥
१४३. न तु दृष्टान्तभावात्॥९॥
१४४. स्वपक्षदोषाच्च॥१०॥
१४५. तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः॥११॥

४३. (४) शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्

१४६. एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः।

४४. (५) भोक्त्रापत्त्यधिकरणम्

१४७. भोक्त्रापत्तेरविभागश् चेत् स्याल् लोकवत्॥१३॥

४५. (६) आरम्भणाधिकरणम्

१४८. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः॥१४।
१४९. भावे चोपलब्धेः॥१५॥
१५०. सत्त्वाच्चाऽवरस्य॥१६॥
१५१. असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्॥१७॥
१५२. युक्तेः शब्दान्तराच्च॥१८॥
१५३. पटवच्च॥१९॥
१५४. यथा च प्राणादि॥२०॥

४६. (७) इतरव्यपदेशाधिकरणम्

१५५. इतरव्यपदेशाद् धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥२१॥
१५६. अधिकं तु भेदनिर्देशात्॥२२॥
१५७. अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥२३॥

४७. (८) उपसंहारदर्शनाधिकरणम्

१५८. उपसंहारदर्शनान् नेति चेन् न क्षीरवद् धि॥२४॥
१५९. देवादिवदपि लोके॥२५॥

४८. (९) कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्

१६०. कृत्स्नप्रसक्तिर् निरवयवत्वशब्दकोपो वा॥२६॥
१६१. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्॥२७॥
१६२. आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि॥२८॥
१६३. स्वपक्षदोषाच्च॥२९॥

४९. (१०) सर्वोपेताऽधिकरणम्

१६४. सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥३०॥

१६५. विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम्।३१॥

५०. (११) प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्

१६६. न प्रयोजनवत्त्वात्॥३२॥

१६७. लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्॥३३॥

५१. (१२) वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम्

१६८. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति॥३४॥

१६९. न कर्माऽविभागादिति चेन् नाऽनादित्वात्॥३५॥

१७०. उपपद्यते चाऽप्युपलभ्यते च॥३६॥

५२. (१३) सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम्

१७१. सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥३७॥

अथ द्वितीयः पादः

५३. (१) रचनानुपपत्त्यधिकरणम्

१७२. रचनानुपपत्तेश्च नाऽनुमानम्॥१॥

१७३. प्रवृत्तेश्च॥२॥

१७४. पयोम्बुवच् चेत् तत्राऽपि॥३॥

१७५. व्यतिरेकाऽनवस्थितेश्चाऽनपेक्षत्वात्।

१७६. अन्यत्राऽभावाच् च न तृणादिवत्।५।

१७७. अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्॥६॥

१७८. पुरुषाऽश्मवदिति चेत् तथाऽपि॥७॥

१७९. अङ्गित्वाऽनुपपत्तेश्च॥८॥

१८०. अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्।

१८१. विप्रतिषेधाच् चाऽसमञ्जसम्॥१०॥

५४. (२) महद्दीर्घाधिकरणम्

१८२. महद्दीर्घवद् वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥११॥

५५. (३) परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम्

१८३. उभयथाऽपि न कर्माऽतस्तदभावः।१२।

१८४. समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः॥१३॥

१८५. नित्यमेव च भावात्॥१४॥

१८६. रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्।१५।

१८७. उभयथा च दोषात्॥१६॥

१८८. अपरिग्रहाच्चाऽत्यन्तमनपेक्षा॥१७॥

५६. (४) समुदायाधिकरणम्

१८९. समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः।

१९०. इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्॥१९॥

१९१. उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्॥२०॥

१९२. असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा।

१९३. प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्॥२२।

१९४. उभयथा च दोषात्॥२३॥

१९५. आकाशे चाऽविशेषात्॥२४॥

१९६. अनुस्मृतेश्च॥२५॥

१९७. नाऽसतोऽदृष्टत्वात्॥२६॥

१९८. उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः॥२७॥

५७. (५) अभावाधिकरणम्

१९९. नाऽभाव उपलब्धेः॥२८॥

२००. वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्॥२९॥

२०१. न भावोऽनुपलब्धेः॥३०॥

२०२. क्षणिकत्वाच्च॥३१॥

२०३. सर्वथाऽनुपपत्तेश्च॥३२॥

५८. (६) एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम्

२०४. नैकस्मिन्नसम्भवात्॥३३॥

२०५. एवं चाऽऽत्माऽकार्त्स्न्यम्॥३४॥

२०६. न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः।

२०७. अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः॥३६॥

५९. (७) पत्यधिकरणम्

२०८. पत्युरसामञ्जस्यात्॥३७॥

२०९. सम्बन्धाऽनुपपत्तेश्च॥३८॥

२१०. अधिष्ठानानुपपत्तेश्च॥३९।

२११. करणवच् चेन् न भोगादिभ्यः॥४०॥

२१२. अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा॥४१॥

६०. (८) उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम्

२१३. उत्पत्त्यसम्भवात्॥४२॥

२१४. न च कर्तुः करणम्॥४३॥

२१५. विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः।४४।

२१६. विप्रतिषेधाच् च॥४५॥

अथ तृतीयः पादः

६१. (१) वियदधिकरणम्

२१७. न वियदश्रुतेः॥१॥

२१८. अस्ति तु॥२॥

२१९. गौण्यसम्भवात्॥३॥

२२०. शब्दाच् च॥४॥

२२१. स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्॥५॥

२२२. प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः।६।

२२३. यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्॥७॥

६२. (२) मातरिश्वाधिकरणम्

२२४. एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥८॥

६३. (३) असम्भवाधिकरणम्

२२५. असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः॥९॥

६४. (४) तेजोऽधिकरणम्

२२६. तेजोऽतस्तथा ह्याह॥१०॥

६५. (५) अबधिकरणम्

२२७. आपः॥११॥

६६. (६) पृथिव्यधिकरणम्

२२८. पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः।१२।

६७. (७) तदभिध्यानाधिकरणम्

२२९. तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः १३

६८. (८) विपर्ययाधिकरणम्

२३०. विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च।

६९. (९) अन्तराविज्ञानाधिकरणम्

२३१. अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन् नाऽविशेषात्॥१५॥

७०. (१०) चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम्

२३२. चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस् तद्भावभावित्वात्।१६।

७१. (११) आत्माधिकरणम्

२३३. नाऽऽत्माऽश्रुतेर् नित्यत्वाच् च ताभ्यः।

७२. (१२) ज्ञाऽधिकरणम्

२३४. ज्ञोऽत एव॥१८॥

७३. (१३) उत्क्रान्त्यधिकरणम्

२३५. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्॥१९॥

२३६. स्वात्मना चोत्तरयोः॥२०॥

२३७. नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन् नेतराधिकारात्॥२१॥

२३८. स्वशब्दोन्मानाभ्यां च॥२२॥

२३९. अविरोधश् चन्दनवत्॥२३॥

२४०. अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन् नाऽभ्युपगमाद् धृदि हि॥२४॥

२४१. गुणाद् वा लोकवत्॥२५॥

२४२. व्यतिरेको गन्धवत्॥२६॥

२४३. तथा च दर्शयति॥२७॥

२४४. पृथगुपदेशात्॥२८॥

२४५. तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्॥२९॥

२४६. यावदात्मभावित्वाच् च न दोषस् तद्दर्शनात्॥३०॥

२४७. पुंस्त्वादिवत् त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्॥३१॥

२४८. नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्य-तरनियमो वाऽन्यथा॥३२।

७४. (१४) कर्त्रधिकरणम्

२४९. कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्॥३३॥

२५०. विहारोपदेशात्॥३४॥

२५१. उपादानात्॥३५॥

२५२. व्यपदेशाच्च क्रियायान् न चेन् निर्देशविपर्ययः॥३६॥

२५३. उपलब्धिवदनियमः॥३७॥

२५४. शक्तिविपर्ययात्॥३८॥

२५५. समाध्यभावाच्च॥३९॥

७५. (१५) तक्षाधिकरणम्

२५६. यथा च तक्षोभयथा॥४०॥

७६. (१६) परायत्ताधिकरणम्

२५७. परात् तु तच्छ्रुतेः॥४१॥

२५८. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा-ऽवैयर्थ्यादिभ्यः॥४२॥

७७. (१७) अंशाधिकरणम्

२५९. अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चाऽपि दाशकितवादित्वमधीयत एके॥४३॥

२६०. मन्त्रवर्णाच्च॥४४॥

२६१. अपि च स्मर्यते॥४५॥

२६२. प्रकाशादिवन् नैवं परः॥४६॥

२६३. स्मरन्ति च॥४७॥

२६४. अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज् ज्योतिरादिवत्॥४८॥

२६५. असन्ततेश्चाऽव्यतिकरः॥४९॥

२६६. आभास एव च॥५०॥

२६७. अदृष्टानियमात्॥५१॥

२६८. अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्॥५२॥

२६९. प्रदेशादिति चेन्नाऽन्तर्भावात्॥५३॥

अथ चतुर्थः पादः

७८. (१) प्राणोत्पत्त्यधिकरणम्

२७०. तथा प्राणाः॥१॥

२७१. गौण्यसम्भवात्॥२॥

२७२. तत्प्राक्श्रुतेश्च॥३॥

२७३. तत्पूर्वकत्वाद् वाचः॥४॥

७९. (२) सप्तगत्यधिकरणम्

२७४. सप्त गतेर् विशेषितत्वाच्च॥५॥

२७५. हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्॥६॥

८०. (३) प्राणाणुत्वाधिकरणम्

२७६. अणवश्च॥७॥

८१. (४) श्रेष्ठाधिकरणम्

२७७. श्रेष्ठश्च॥८॥

८२. (५) वायुक्रियाधिकरणम्

२७८. न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्॥९॥

२७९. चक्षुरादिवत् तु तत्-सहशिष्ट्यादिभ्यः।

२८०. अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति॥११॥

२८१. पञ्चवृत्तिर् मनोवद् व्यपदिश्यते।१२॥

८३. (६) श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम्

२८२. अणुश्च॥१३॥

८४. (७) ज्योतिराद्यधिकरणम्

२८३. ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्।१४।

२८४. प्राणवता शब्दात्॥१५॥

२८५. तस्य च नित्यत्वात्॥१६॥

८५. (८) इन्द्रियाधिकरणम्

२८६. त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्॥१७॥

२८७. भेदश्रुतेः॥१८॥

२८८. वैलक्षण्याच्च॥१९॥

८६. (९) सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम्

२८९. सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्॥२०॥

२९०. मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२१।

२९१. वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

(साधनाऽध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः

८७. (१) तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्

२९२. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

२९३. त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात् ॥२॥

२९४. प्राणगतेश्च ॥३॥

२९५. अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

२९६. प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

२९७. अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

२९८. भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॥७॥

८९. (२) कृतात्ययाधिकरणम्

२९९. कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८॥

३००. चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

३०१. आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् १०

३०२. सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

८९. (३) अनिष्टादिकार्यधिकरणम्

३०३. अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२।

३०४. संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

३०५. स्मरन्ति च ॥१४॥

३०६. अपि च सप्त ॥१५॥

३०७. तत्राऽपि च तद्व्यापारादविरोधः ।१६।

३०८. विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७।

३०९. न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

३१०. स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

३११. दर्शनाच्च ॥२०॥

३१२. तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१।

९०. (४) साभाव्यापत्त्यधिकरणम्

३१३. साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

९१. (५) नातिचिराधिकरणम्

३१४. नाऽतिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

९२. (६) अन्याधिष्ठिताऽधिकरणम्

३१५. अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ।२४।

३१६. अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

३१७. रेतस्सिग्योगोऽथ ॥२६॥

३१८. योनेः शरीरम् ॥२७॥

अथ द्वितीयः पादः

९३. (१) सन्ध्याऽधिकरणम्

३१९. सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

३२०. निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

३२१. मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

३२२. सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः।

३२३. पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥

३२४. देहयोगाद् वा सोऽपि ॥६॥

९४. (२) तदभावाऽधिकरणम्

३२५. तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।७।

३२६. अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

९५. (३) कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम्

३२७. स एव तु कर्मा-ऽनुस्मृति-शब्द-विधिभ्यः ॥९॥

९६. (४) मुग्धाधिकरणम्

३२८. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्॥१०॥

९७. (५) उभयलिङ्गाधिकरणम्

३२९. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि॥११॥

३३०. न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्

३३१. अपि चैवमेके॥१३॥

३३२. अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्॥१४॥

३३३. प्रकाशवच्चाऽवैयर्थ्यात्॥१५॥

३३४. आह च तन्मात्रम्॥१६॥

३३५. दर्शयति चाऽथो अपि स्मर्यते॥१७॥

३३६. अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्॥१८॥

३३७. अम्बुवदग्रहणात् तु न तथात्वम्॥१९।

३३८. वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय-सामञ्जस्यादेवम्॥२०॥

३३९. दर्शनाच्च॥२१॥

९८. (६) प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम्

३४०. प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः॥२२॥

३४१. तदव्यक्तमाह हि॥२३॥

३४२. अपि च संराधने प्रत्यक्षाऽनुमाना-भ्याम्॥२४॥

३४३. प्रकाशादिवच्चाऽवैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्॥२५॥

३४४. अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्॥२६॥

३४५. उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् २७

३४६. प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्॥२८॥

३४७. पूर्ववद् वा॥२९॥

३४८. प्रतिषेधाच्च॥३०॥

९९. (७) पराधिकरणम्

३४९. परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यप-देशेभ्यः॥३१॥

३५०. सामान्यात् तु॥३२॥

३५१. बुद्ध्यर्थः पादवत्॥३३॥

३५२. स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्॥३४॥

३५३. उपपत्तेश्च॥३५॥

३५४. तथाऽन्यप्रतिषेधात्॥३६॥

३५५. अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः।

१००. (८) फलाधिकरणम्

३५६. फलमत उपपत्तेः॥३८॥

३५७. श्रुतत्वाच्च॥३९॥

३५८. धर्मं जैमिनिरत एव॥४०॥

३५९. पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ४१।

अथ तृतीयः पादः

१०१. (१) सर्ववेदान्तप्रत्ययाऽधिकरणम्

३६०. सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्।

३६१. भेदान् नेति चेन् नैकस्यामपि॥२॥

३६२. स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच् च तन्नियमः।

३६३. दर्शयति च॥४॥

१०२. (२) उपसंहाराधिकरणम्

३६४. उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च॥५॥

१०३. (३) अन्यथात्वाधिकरणम्

३६५. अन्यथात्वं शब्दादिति चेन् नाऽविशेषात्॥६॥

३६६. न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्-त्वादिवत्॥७॥

३६७. सञ्ज्ञातश्चेत् तदुक्तमस्ति तु तदपि ८

१०४. (४) व्याप्त्यधिकरणम्

३६८. व्याप्तेश्च समञ्जसम्॥९॥

१०५. (५) सर्वाभेदाऽधिकरणम्

३६९. सर्वाभेदादन्यत्रेमे॥१०॥

१०६. (६) आनन्दाद्यधिकरणम्

३७०. आनन्दादयः प्रधानस्य॥११॥

३७१. प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे॥१२॥

३७२. इतरे त्वर्थसामान्यात्॥१३॥

१०७. (७) आध्यानाधिकरणम्

३७३. आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥१४॥

३७४. आत्मशब्दाच्च॥१५॥

१०८. (८) आत्मगृहीत्यधिकरणम्

३७५. आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥१६॥

३७६. अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात्१७

१०९. (९) कार्याख्यानाऽधिकरणम्

३७७. कार्याख्यानादपूर्वम्॥१८॥

११०. (१०) समानाधिकरण्

३७८. समान एवं चाऽभेदात्॥१९॥

१११. (११) सम्बन्धाधिकरणम्

३७९. सम्बन्धादेवमन्यत्राऽपि॥२०॥

३८०. न वा विशेषात्॥२१॥

३८१. दर्शयति च॥२२॥

११२. (१२) सम्भृत्यधिकरणम्

३८२. सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चाऽतः॥२३॥

११३. (१३) पुरुषविद्याधिकरणम्

३८३. पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥२४॥

११४. (१४) वेधाद्यधिकरणम्

३८४. वेधाद्यर्थभेदात्॥२५॥

११५. (१५) हान्यधिकरणम्

३८५. हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछन्द-स्तुत्युपगानवत् तदुक्तम्॥२६॥

११६. (१६) साम्परायाधिकरणम्

३८६. साम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये॥२७॥

३८७. छन्दत उभयाऽविरोधात्॥२८॥

११७. (१७) गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम्

३८८. गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः।

३८९. उपपन्नस् तल्लक्षणार्थोपलब्धेर् लोकवत्॥३०॥

११८. (१८) अनियमाधिकरणम्

३९०. अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दाऽनुमानाभ्याम्॥३१॥

११९. (१९) यावदधिकाराधिकरणम्

३९१. यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्॥३२॥

१२०. (२०) अक्षरध्यधिकरणम्

३९२. अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम्॥३३॥

१२१. (२१) इयदधिकरणम्

३९३. इयदामननात्॥३४॥

१२२. (२२) अन्तराधिकरणम्

३९४. अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः॥३५॥

३९५. अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन् नोपदेशान्तरवत्॥३६॥

१२३. (२३) व्यतिहाराधिकरणम्

३९६. व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्॥३७।

१२४. (२४) सत्याद्यधिकरणम्

३९७. सैव हि सत्यादयः॥३८॥

१२५. (२५) कामाद्यधिकरणम्

३९८. कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः

१२६. (२६) आदराधिकरणम्

३९९. आदरादलोपः॥४०॥

४००. उपस्थितेऽतस् तद्वचनात्॥४१॥

१२७. (२७) तन्निर्धारणानियमाधिकरणम्

४०१. तन्निर्धारणाऽनियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्॥४२॥

१२८. (२८) प्रदानाधिकरणम्

४०२. प्रदानवदेव तदुक्तम्॥४३॥

१२९. (२९) लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्

४०३. लिङ्गभूयस्त्वात् तद् धि बलीयस् तदपि॥४४॥

४०४. पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत्॥४५॥

४०५. अतिदेशाच्च॥४६॥

४०६. विद्यैव तु निर्धारणात्॥४७॥

४०७. दर्शनाच्च॥४८॥

४०८. श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः॥४९॥

४०९. अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्॥५०॥

४१०. न सामान्यादप्युपलब्धेर् मृत्युवन् न हि लोकापत्तिः॥५१॥

४११. परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः॥५२॥

१३०. (३०) शरीरव्यतिरिक्तात्माधिकरणम् {ऐकात्म्याधिकरणम्}

४१२. एक आत्मनः शरीरे भावात्॥५३॥

४१३. व्यतिरेकस् तद्भावाभावित्वान् न तूपलब्धिवत्॥५४॥

१३१. (३१) अङ्गावबद्धाधिकरणम्

४१४. अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्॥५५॥

४१५. मन्त्रादिवद् वाऽविरोधः॥५६॥

१३२. (३२) भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्

४१६. भूम्नः क्रतुवज् ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति॥५७॥

१३३. (३३) शब्दादिभेदाधिकरणम्

४१७. नाना शब्दादिभेदात्॥५८॥

१३४. (३४) विकल्पाधिकरणम्

४१८. विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्॥५९॥

१३५. (३५) काम्याधिकरणम्

४१९. काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा पूर्वहेत्वभावात्॥६०॥

१३६. (३६) यथाश्रयभावाधिकरणम्

४२०. अङ्गेषु यथाश्रयभावः॥६१॥

४२१. शिष्टेश्च॥६२॥

४२२. समाहारात्॥६३॥

४२३. गुणसाधारण्यश्रुतेश्च॥६४॥

४२४. न वा तत्सहभावाऽश्रुतेः॥६५॥

४२५. दर्शनाच्च॥६६॥

अथ चतुर्थः पादः

१३७. (१) पुरुषार्थाधिकरणम्

४२६. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः॥१॥

४२७. शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्ये-ष्विति जैमिनिः॥२॥

४२८. आचारदर्शनात्॥३॥

४२९. तच्छ्रुतेः॥४॥

४३०. समन्वारम्भणात्॥५॥

४३१. तद्वतो विधानात्॥६॥

४३२. नियमाच्च॥७॥

४३३. अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्॥८॥

४३४. तुल्यं तु दर्शनम्॥९॥

४३५. असार्वत्रिकी॥१०॥

४३६. विभागः शतवत्॥११॥

४३७. अध्ययनमात्रवतः॥१२॥

४३८. नाऽविशेषात्॥१३॥

४३९. स्तुतयेऽनुमतिर् वा॥१४॥

४४०. कामकारेण चैके॥१५॥

४४१. उपमर्दं च॥१६॥

४४२. ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि॥१७॥

१३८. (२) परामर्शाधिकरणम्

४४३. परामर्शं जैमिनिरचोदना चाऽपवदति हि॥१८॥

४४४. अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥१९॥

४४५. विधिर् वा धारणवत्॥२०॥

१३९. (३) स्तुतिमात्राधिकरणम्

४४६. स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन् नाऽपूर्वत्वात्॥२१॥

४४७. भावशब्दाच्च॥२२॥

१४० (४) पारिप्लवाधिकरणम्

४४८. पारिप्लवार्था इति चेन् न विशेषितत्वात्॥२३॥

४४९. तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्॥२४॥

१४१. (५) अग्नीन्धनाद्यधिकरणम्

४५०. अत एव चाऽग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥२५॥

१४२. (६) सर्वापेक्षाधिकरणम्

४५१. सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्॥२६॥

४५२. शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस् तदङ्गतया तेषामवश्याऽनुष्ठेयत्वात्॥२७॥

१४३. (७) सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्

४५३. सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्।

४५४. अबाधाच्च॥२९॥

४५५. अपि च स्मर्यते॥३०॥

४५६. शब्दश्चाऽतोऽकामकारे॥३१॥

१४४. (८) आश्रमकर्माधिकरणम्

४५७. विहितत्वाच् चाऽऽश्रमकर्माऽपि।३२।

४५८. सहकारित्वेन च॥३३॥

४५९. सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्॥३४॥

४६०. अनभिभवं च दर्शयति॥३५॥

१४५. (९.) विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्माधिकरणम्

४६१. अन्तरा चाऽपि तु तद्दृष्टेः॥३६॥

४६२. अपि च स्मर्यते॥३७॥

४६३. विशेषानुग्रहश्च॥३८॥

४६४. अतस् त्वितरज् ज्यायो लिङ्गाच्च।३९।

१४६. (१०) तद्भूताधिकरणम्

४६५. तद्भूतस्य तु नाऽतद्भावो जैमिनेरपि नियमाऽतद्रूपाऽभावेभ्यः॥४०॥

१४७. (११) आधिकारिकाधिकरणम्

४६६. न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात्॥४१॥

४६७. उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम्॥४२॥

१४८. (१२) बहिरधिकरणम्

४६८. बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च।४३।

१४९. (१३) स्वाम्यधिकरणम्

४६९. स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः॥४४॥

४७०. आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस् तस्मै हि परिक्रीयते॥४५॥

४७१. श्रुतेश्च॥४६॥

१५०. (१४) सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम्

४७२. सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥४७॥

४७३. कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः।४८।

४७४. मौनवदितरेषामप्युपदेशात्॥४९॥

१५१. (१५) अनाविष्काराधिकरणम्

४७५. अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्॥५०॥

१५२. (१६) ऐहिकाधिकरणम्

४७६. ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्।

१५३. (१७) मुक्तिफलानियमाधिकरणम्

४७७. एवं मुक्तिफलाऽनियमस् तदवस्थावधृतेस् तदवस्थावधृतेः॥५२॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(फलाऽध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः

१५४. (१) आवृत्त्यधिकरणम्

४७८. आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥१॥

४७९. लिङ्गाच्च॥२॥

१५५. (२) आत्मत्वोपासनाधिकरणम्

४८०. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।३।

१५६. (३) प्रतीकाधिकरणम्

४८१. न प्रतीके न हि सः ॥४॥

१५७. (४) ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम्

४८२. ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

१५८. (५) आदित्यादिमत्यधिकरणम्

४८३. आदित्यादिमतयश् चाङ्ग उपपत्तेः ।६।

१५९. (६) आसीनाऽधिकरणम्

४८४. आसीनः सम्भवात् ॥७॥

४८५. ध्यानाच्च ॥८॥

४८६. अचलत्वं चाऽपेक्ष्य ॥९॥

४८७. स्मरन्ति च ॥१०॥

१६०. (७) एकाग्रताधिकरणम्

४८८. यत्रैकाग्रता तत्राऽविशेषात् ॥११॥

१६१. (८) आप्रायणाऽधिकरणम्

४८९. आ प्रायणात् तत्राऽपि हि दृष्टम् ॥१२।

१६२. (९.) तदधिगमाधिकरणम्

४९०. तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-
विनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

१६३. (१०) इतराऽसंश्लेषाधिकरणम्

४९१. इतरस्याऽप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४।

१६४. (११) अनारब्धकार्याधिकरणम्

४९२. अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः १५

१६५. (१२) अग्निहोत्राद्यधिकरणम्

४९३. अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव
तद्दर्शनात् ॥१६॥

४९४. अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

१६६. (१३) विद्यारहितकर्मवीर्यवत्त्वाधिकरणम्

४९५. यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

१६७. (१४) इतरक्षपणाधिकरणम्

४९६. भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ।१९।

अथ द्वितीयः पादः

१६८. (१) वागधिकरणम्

४९७. वाङ् मनसि दर्शनाच् छब्दाच् च ॥१॥

४९८. अत एव च सर्वाण्यनु ॥२॥

१६९. (२) मनोऽधिकरणम्

४९९. तन् मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

१७०. (३) अध्यक्षाधिकरणम्

५००. सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

५०१. भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥

५०२. नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥६॥

१७१. (४) आसृत्युपक्रमाधिकरणम्

५०३. समाना चाऽऽसृत्युपक्रमादमृतत्वं
चाऽनुपोष्य ॥७॥

१७२. (५) संसारव्यपदेशाधिकरणम्

५०४. तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

५०५. सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

५०६. नोपमर्देनाऽतः ॥१०॥

५०७. अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११॥

१७३. (६) प्रतिषेधाधिकरण्

५०८. प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

५०९. स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

५१०. स्मर्यते च ॥१४॥

१७४. (७) वागादिलयाधिकरणम्
{कलालयाधिकरणं वा}

५११. तानि परे तथा ह्याह ॥१५॥

१७५. (८) अविभागाधिकरणम्

५१२. अविभागो वचनात् ॥१६॥

१७६. (९) तदोकोधिकरणम्

५१३. तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो
विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृति-
योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया

१७७. (१०) रश्म्यधिकरणम्

५१४. रश्म्यनुसारी ॥१८॥

५१५. निशि नेति चेन् न सम्बन्धस्य
यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च ।१९।

१७८. (११) दक्षिणायनाधिकरणम्

५१६. अतश्चाऽयनेऽपि दक्षिणे ॥२०॥

५१७. योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ।२१।

अथ तृतीयः पादः

१७९. (१) अर्चिराद्यधिकरणम्

५१८. अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥१॥

१८०. (२) वाय्वधिकरणम्

५१९. वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

१८१. (३) तडिदधिकरणम्

५२०. तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥३॥

१८२. (४) आतिवाहिकाधिकरणम्

५२१. आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४॥

५२२. उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ॥५॥

५२३. वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥६॥

१८३. (५) कार्याधिकरणम्

५२४. कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥७॥

५२५. विशेषितत्वाच्च ॥८॥

५२६. सामीप्यात् तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

५२७. कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहाऽतः परमभिधानात् ॥१०॥

५२८. स्मृतेश्च ॥११॥

५२९. परं जैमिनिर् मुख्यत्वात् ॥१२॥

५३०. दर्शनाच्च ॥१३॥

५३१. न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥१४॥

१८४. (६) अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्

५३२. अप्रतीकालम्बनान् नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात् तत्क्रतुश्च।

५३३. विशेषं च दर्शयति ॥१६॥

अथ चतुर्थः पादः

१८५. (१) सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्

५३४. सम्पद्याऽविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥१॥

५३५. मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

५३६. आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

१८६. (२) अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम्

५३७. अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

१८७. (३) ब्राह्माधिकरणम्

५३८. ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

५३९. चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

५४०. एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

१८८. (४) सङ्कल्पाधिकरणम्

५४१. सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥८॥

५४२. अत एव चाऽनन्याधिपतिः ॥९॥

१८९. (५) अभावाधिकरणम्

५४३. अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥१०॥

५४४. भा॒ं जैमिनिर् विकल्पामननात् ॥११।

५४५. द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः।

५४६. तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

५४७. भावे जाग्रद्वत् ॥१४॥

१९०. (६) प्रदीपाधिकरणम्

५४८. प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति।१५।

५४९. स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

१९१. (७) जगद्व्यापाराधिकरणम्

५५०. जगद्व्यापारावर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥१७॥

५५१. प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

५५२. विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह॥

५५३. दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

५५४. भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥२१॥

५५५. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

वेदव्यास-बादरायणमुनिविरचितं

ब्रह्ममीमांसासूत्रम्[1]

अथ प्रथमोऽध्यायः

(समन्वयाध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः[2]

(स्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयपरः)

१. जिज्ञासाधिकरणम्[3] (सू.१)

वेदान्तार्थनिर्णये लोकस्याऽक्षमतां विलोक्य कारुणिको भगवान् सूत्रकारो बादरायणो मुनिर् वेदान्तार्थनिर्णयन्यायान् प्रदिदर्शयिषुस् सूत्रस्थाभ्यामथातश्-शब्दाभ्यां वेदान्तार्थब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्याऽवश्यारम्भणीयतां सूचयन्नाह—

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १।१।१॥ इति।

"वेदꣳ समाप्य स्नायात्" (पारस्करगृ.२।६।१) इत्यादिकस्वाध्यायाध्ययन-विधिप्रयुक्ततया स्वशाखावेदस्य सरहस्यस्य साङ्गस्याऽध्ययने कृते तत्र **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** (ऐ.५।३), **"अयमात्त्वँमा ब्ब्रह्म्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१९, का.वा.बृह.२।५।१९), **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तै.२।१।१), **"तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७, ६।९।४, ६।१०।३, ६।११।३, ६।१२।३, ६।१३।३, ६।१४।३, ६।१५।३, ६।१६।३) **"अयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२) इत्यादिषु वाक्येषु किमपि स्वशाखा-

---

१. शास्त्रे ब्रह्मविचाराख्येऽध्यायाश् चत्वार एषु च।
समन्वयोऽविरोधश् च साधनं च फलं क्रमात्॥

२. प्रथमाध्यायप्रथमपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गकानामुपहितब्रह्मपराणां श्रुतिवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपाद्यते।

३. अस्याऽधिकरणस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गभूताधिकार्यादिसमर्पकत्वेन समन्वयाद्यखिलविचारोपोद्घातत्वा-दादावस्याऽधिकरणस्य सङ्गतिः। श्रवणविधिविषयवेदान्तवाक्यैः स्वार्थनिर्णयायैतदधिकरणस्याऽपेक्षित-त्वात् श्रुतिसङ्गतिः। विशेषतो ब्रह्मपरवाक्यतात्पर्यनिर्णायकन्यायसूचकत्वाद् ब्रह्मविचारात्मकशास्त्रे-णाऽस्याधिकरणस्य सङ्गतिः, स्वाध्यायविधिन्यायेन शास्त्रान्तर्गतत्वं च। अधिकार्यादिश्रुतीनां स्वार्थे समन्वयस्य सूचनादध्यायसङ्गतिः, 'तत् त्वमसि' इत्यादिश्रुतीनां सर्वात्मत्वादिस्पष्टब्रह्मलिङ्गानां विषयादौ समन्वयस्य सूचनात् पादसङ्गतिः। एवमेवाऽन्येष्वपि अधिकरणेषु सङ्गतयो ज्ञेयाः।

गतं वाक्यम् अधीतवतः, आत्मानं च "अहं मरिष्ये" "अहं दुःखी" "अहं सुखी" "अहमज्ञः" "अहमशक्तः" "अहम् भिन्नोऽन्ये पुरुषाश्च भिन्नाः, अन्यानि वस्तूनि अपि भिन्नानि" इत्यादिभ्योऽनुभवेभ्योऽनित्यमशुद्धमबुद्धमशक्तिकं परिच्छिन्नं बद्धञ्चोपलभमानस्य वेदान्तानामभ्युदयार्थजपमात्रार्थकत्वेऽपि तत्र स्वाध्यायविधिं चरितार्थं मन्यमानस्य पुरुषस्य वेदान्तार्थे सन्देहो भवति किमापाततो बुध्यमानोऽर्थ एव श्रुतीनामर्थो वा कश्चनाऽन्यो लाक्षणिकोऽर्थो वा, तात्पर्यान्तरमेव वेति; वस्तुतः कीदृशोऽयमात्मा भवेत्, कीदृशो वा मोक्षो भवेत्, सुखमयो वा दुःखरहितसुखमयो वा सुखदुःखरहितो वा, कथं वा स उपलभ्यः स्यात् कर्मणा वा ज्ञानकर्मसमुच्चयेन वा ज्ञानेनैव वेति च। एवं सन्दिहानोऽपि पुरुषः प्रथमं रागवशादेतद्विचारमुपेक्ष्य स्त्रीपुत्रधनलोकैषणाभिः प्रेर्यमाणो लोके प्रवर्तते। यदा तु पुरुषः पूर्वजन्मैतज्-जन्मार्जितपुण्यवशात् सत्सङ्गतिं सद्गुरुं वोपलभ्य तदुद्बोधनात् स्वयमेव वा किञ्चिदुद्बुद्धः संसारे आत्यन्तिकं सुखमनुपलभमानो नित्यानित्यवस्तुविवेकं कर्तुं प्रारभते, अहम्बुद्धिं च वस्तुतत्त्वाऽज्ञानमूलां निश्चिनोति, इहामुत्रार्थफलभोगविरागम् प्राप्नोति, शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानषट्करूपां साधनसम्पदमादत्ते, संसारबन्धनान् मुक्तो भवितुं चेच्छति, उक्तविधसन्देहाक्रान्तश्च भवति **अथ** तेन पुरुषेण कर्मफलस्य क्षयशीलतायाः **"तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते"** (छा.८।१।६) इत्यादिश्रुतिभिः लौकिकन्यायेन च ज्ञातत्वाद्, ब्रह्मज्ञानफलस्य परमपुरुषार्थतायाश्च **"तमेव विदित्त्वाऽतिमृत्युमेति"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।१८), **"तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्त्वमनुपश्श्यतः"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।७) **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"** (तै.२।१) इत्यादिभिः श्रुतिभिः प्रतिपादितत्वादाप्तानां मुखाच्छ्रुतत्वाच्चेत्यतः कारणाच् श्रुतिवाक्येषु प्रतिपाद्यत्वेन प्रतीयमानस्य आप्तमुखाच्छ्रुतस्य वा **ब्रह्मा**त्मनः सामान्यतो ज्ञातस्यापि विशेषतो ज्ञानाय **जिज्ञासा** कर्तव्या। जिज्ञासायां कर्तव्यताया अनन्वयाज् जिज्ञासापदेन मीमांसा लक्ष्यते। मीमांसा नाम विचारः। ब्रह्मविचारस्य कर्तव्यतायाः प्रतिपादनाद् ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तवाक्यविचारस्य कर्तव्यताऽपि प्रतिपादिता भवति।

श्रवणविध्यभाववादिनस्तु 'साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य ब्रह्मजिज्ञासा भवतीति सूत्रार्थं प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञानस्येष्यमाणतया प्रयोजनत्वम्, ब्रह्मणश्च विषयत्वम्, इष्यमाणं ज्ञानं न विचारं विनेति विचारस्य कर्तव्यता आर्थिकी' इति वदन्ति।

श्रौतेनोपरतिपदेन न सन्न्यासाश्रमस्य ग्रहणं किन्तु दुश्चरिताद् अर्थ-कामासक्तितो वा निवृत्तेरेव ग्रहणं कर्तव्यं ब्रह्मविचारे वेदान्तवाक्यविचारे वाऽपि सर्वेषामाश्रमिणां त्रैवर्णिकानां विधुरादीनां चाऽधिकारात्।

वेदान्तविचारशास्त्रस्याऽस्य वेदान्तफलादिभिरेव फलादिमत्त्वम्[1]। वेदान्तानां फलञ्च **"तमेव विदित्त्वाऽतिमृत्त्युमेति"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।१८), **"तरति शोकमात्मवित्"** (छा.७।१।३), **"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"** (मुण्डको.३।२।९) इत्यादिश्रुतीनां दर्शनात् स्वस्वरूपाविर्भावरूपा मुक्तिरेवेत्यवगम्यते। अधिकारी च **"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन"** (मुण्डको.१।२।१२) इत्यादिश्रुतीनां दर्शनाद् विवेकादिमान् यथाविधानकृतवेदान्ताध्ययनो जनः। विषयश्च **"अयमात्त्मा ब्ब्रह्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१९, का.वा.बृह.२।५।१९), **"तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७) इत्यादिश्रुतीनां दर्शनात् प्रत्यगात्मब्रह्मैक्यमेवेत्यवगम्यते। सम्बन्धश्च विषयस्य वेदान्तैः सह शक्यप्रतिपाद्यतारूपः, फलस्याऽधिकारिणा सह प्राप्यतारूपः। तदिदं सर्वं वेदान्तविचारस्य कर्तव्यतायाः प्रतिपादनेन सूचितमेव। तत्राऽथशब्देनाऽधिकारी, जिज्ञासापदेन च ज्ञानस्येच्छाविषयतायाः प्रतिपादनेन ज्ञानाऽभिन्नस्य ब्रह्मणः फलत्वम्, ब्रह्मणो विचारस्य विधानात् प्रत्यगात्मब्रह्मणोरैक्ये एव तस्य विचारस्य सम्भवाद् प्रत्यगात्माऽभिन्नाऽनिर्ज्ञात-ब्रह्मरूप-विषयोऽपि सूचितः। ब्रह्मज्ञानाय विचारस्य विधानादेव विषयस्य वेदान्तैस् सह शक्यप्रतिपाद्यतारूपः, ब्रह्मरूपज्ञानाभिन्नस्य मोक्षस्य फलस्याधिकारिणा सह प्राप्यतारूपः सम्बन्धश्च दर्शित एव। प्राप्य इव प्राप्यः, नित्यप्राप्तस्यैवाऽज्ञानेनाऽप्राप्तत्वेनाऽभिमतस्यैव प्राप्तेः।

हिन्दी– वेदाध्ययन के विधि से नियुक्त होकर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को यथाशक्ति शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन छ अङ्गों के साथ पढने पर उस में उपनिषद् भी पढकर जो त्रैवर्णिक व्यक्ति उपनिषद् के अर्थ में सन्देह में पड जाता है और जब उस में नित्याऽनित्यवस्तुविवेक, ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलों में वैराग्य, शमन्दमादि-सेवन-शीलता और मोक्ष की इच्छा उदित होते हैं तब कर्मफलों के क्षयशील होने से उस व्यक्ति को उपनिषदर्थरूप ब्रह्म की जिज्ञासा (=मीमांसा=विचार) करना चाहिए।

अथ जिज्ञासाधिकरणस्वरूपम्[2]

विषयः– "तद् विजिज्ञासस्व" (तै.३।१,२,३,४,५), "आत्त्मा वाऽअरे द्द्रष्टव्व्यः श्रोतव्व्यो मन्तव्व्यो निदिद्ध्यासितव्व्यः" (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६; का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६), "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा.८।७।१) इत्याद्याः श्रुतयः।

---

१. फलाधिकारिविषयसम्बन्धानामबोधने। प्रवृत्तिर् न भवेच् शास्त्रे तस्मादेतच् चतुष्टयम्।। विना विषय-सम्बन्धौ तथैवार्थाधिकारिणौ। अनाख्येयो भवेद् ग्रन्थस् तस्मादेतच् चतुष्टयम्।।

२. विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस् तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः।।
केचित् तु–
विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस् तथोत्तरम्। प्रयोजनं सङ्गतिश्च प्राज्चोऽधिकरणं विदुः।। इति।

विशयः (सन्देहः) – एताः श्रुतयो वेदान्तवाक्यैर् ब्रह्ममीमांसा कर्तव्येति प्रतिपादयन्ति न वा ?

पूर्वपक्षः– वेदान्तेषु प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणस् स्वात्मनोऽभिन्नत्वात्, स्वात्मनश्च सर्वैर् ज्ञातत्वात्, ज्ञाते विषये च सन्देह-विपर्यय-विपरीतज्ञानानामसम्भवात्, ज्ञानमात्रेण च कस्यापि फलस्याऽलभ्यत्वात्, वेदार्थविचारस्य धर्ममीमांसयैव गतार्थत्वाद् धर्ममीमांसाऽतिरिक्त-ब्रह्ममीमांसायां प्रवृत्तयेऽधिकारिण एवाऽभावात्, ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वेऽविचार्यत्वादप्रसिद्धत्वे च विचारयितुमशक्यत्वाच्च ब्रह्मणो विचारो नैव करणीय इति एताः श्रुतयो ब्रह्ममीमांसा कर्तव्येति नैव प्रतिपादयन्तीति।

उत्तरम्– आत्मनो ज्ञातत्वेऽपि वेदान्तप्रतिपाद्य-नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वरूपस्य तस्य लौकिकैर् याज्ञिकादिभिः परीक्षकैश् चाऽज्ञातत्वात् तत्स्वरूपे सन्देह-विपर्यय-विपरीत-ज्ञानानां दर्शनात्, ज्ञानेनैव सर्वानर्थनिवृत्तेः **"तमेव बिदित्त्वाऽतिमृत्त्युमेति नाऽन्न्यः पन्था बिद्यतेऽयनाय"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।१८, श्वेता.३।८, ६।१५) इत्यादिभिः श्रुतिभिः प्रतिपादितत्वात्, लोकेऽपि रज्जुसर्पादिभ्रममूलकभीतिपलायनादे रज्जुतत्त्व-ज्ञानेनैव निवृत्तेर् दर्शनात्, भव्यधर्मविषयिकयाऽभ्युदयफलिकया धर्ममीमांसया भूतब्रह्म-विषयिकाया निश्श्रेयसफलिकाया ब्रह्ममीमांसाया अगतार्थत्वात्, नित्याऽनित्यवस्तु-विवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग-शमदमादिसाधनसम्पन्-मुमुक्षुत्ववतामधिकारिणां चोपलम्भात्, ब्रह्मणः सामान्यतया प्रसिद्धत्वेऽपि तत्स्वरूपविषये विप्रतिपत्तीनां दर्शनाद्, ब्रह्मात्मनो मीमांसायाः कर्तुं शक्यत्वादावश्यकत्वाच्च वेदान्तेषु आत्माभिन्नत्वेना-ऽऽपाततो बुध्यमानस्य ब्रह्मणो वेदान्तवाक्यैर् मीमांसा कर्तव्येति **"तद् विजिज्ञासस्व"** इत्यादयः श्रुतयो वेदान्तवाक्यैर् ब्रह्ममीमांसा कर्तव्येति प्रतिपादयन्तीति।

निर्णयः– **"तद् विजिज्ञासस्व"** इत्यादयः श्रुतयो वेदान्तवाक्यैर् ब्रह्मणो मीमांर.. कार्येति प्रतिपादयन्त्येव। तस्माद् वेदान्ततात्पर्यनिर्णय-प्रदर्शनाय ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं प्रारम्भणीय-मेवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. "तद् विजिज्ञासस्व" इत्या-दिका हि श्रुतयः खलु।
श्रूयन्ते वेदशाखासु ह्यनेकासु विशेषतः ॥१॥

२. एता ब्रह्मविचारस्य प्राहुः कर्तव्यतां न वा।
३. ज्ञातत्वादफलत्वाच्चाऽधिकारिविरहात् तथा ॥२॥
गतार्थत्वादशक्यत्वाद् ब्रह्मणो न विचार्यता।
तस्माद् ब्रह्मविचारस्य नाऽऽहुः कर्तव्यतामिमाः ॥३॥

४-५. श्रुत्युक्तविधब्रह्मात्मज्ञानाभावेन संशयात्।
फलादिकोपपत्तेश्च मीमांस्यं ब्रह्म वेदतः ॥४॥
तस्मादिमाश्च श्रुतयः तद्विचारस्य कार्यताम्।
प्राहुराश्रित्यैव चैताः शास्त्रमेतत् प्रवर्तते ॥५॥

२. जन्माद्यधिकरणम् (सू.२)

वेदान्तेषु आत्माभिन्नत्वेनाऽऽपाततो बुध्यमानं ब्रह्म मीमांस्यमिति पूर्वसूत्रे प्रोक्तम्, तत्र च प्रथमतो ब्रह्मणः स्वरूपमेव मीमांस्यम्, तदनन्तरमेव तस्य प्रत्यगात्मसम्बन्धादिकं तदङ्गभूतप्रमाणादिकं चेति हृदि निधाय यन् मीमांस्यत्वेन प्रतिज्ञातं ब्रह्म तत् किंस्वरूपमित्याकाङ्क्षां शमयन् भगवान् सूत्रकार आह–

२. जन्माद्यस्य यतः ।१।१।२॥ इति।

अस्य नामरूपाभ्यां व्याकृतस्याऽचिन्त्यरचनारूपस्य जगतो यतः कारणाज् जन्म-स्थिति-प्रलया भवन्ति तद् ब्रह्मेति सूत्रार्थः। ब्रह्मणो जगत् प्रति अभिन्न-निमित्तोपादनकारणत्वं प्रतिपादयितुं त्रितयग्रहणम्। किंस्वरूपं ब्रह्मेत्याकाङ्क्षां शमयितुमस्य सूत्रस्य पठितत्वात् "तद् ब्रह्म" इति वाक्यशेषः सूत्रेयः। अस्य जगतो जन्मादि ब्रह्मण एव भवतीति लौकिकबुद्ध्या ज्ञातुं न शक्यत इति नेदं सूत्रं जन्मादिलिङ्गकं ब्रह्मानुमानं प्रतिपादयति। किन्तु **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म"** (तै.३।१) इति श्रुतेस्तात्पर्यमेव प्रदर्शयति। एतया श्रुत्या च ब्रह्मणो विशेषेण मीमांस्यत्वं प्रदर्शयितुं तस्योपलक्षणं प्रदर्श्याऽस्तित्वसम्भावना प्रदर्शिता, सैव चाऽनेनाऽपि सूत्रेणाऽनूदिता। तत्र श्रुतौ किं तर्हि तादृशं ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायाम् **"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त आनन्देन जातानि जीवन्त्यानन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"** (तै.३।६) इत्यादिना ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं प्रतिपादितम्। तत् स्वरूपलक्षणमपि अनेन सूत्रेण यतश्शब्दार्थविशेषजिज्ञासा-तन्निर्णयसूचनेन सङ्गृहीतम्।

हिन्दी – इस जगत् का जिस से जन्म, जिस में स्थिति और जिस में लय होता है वह तत्त्व ब्रह्म है।

अथ जन्माद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" (तै.३।१) इत्यादिषु श्रुतिषु श्रूयमाणं जिज्ञास्य-मीमांस्य-ब्रह्मलक्षणम्।

विशयः– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिषु श्रुतिषु ब्रह्मणो लक्षणमिति श्रूयमाणं वस्तु वस्तुतो जिज्ञास्यब्रह्मणो लक्षणं भवितुमर्हति न वा ? इति।

पूर्वपक्षः– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिषु श्रुतिषु श्रूयमाणानां जगज्जन्मादीनां जगन्निष्ठत्वाद् ब्रह्मणा सह तेषां सम्बन्धस्याऽभावात्, जगत उपादानत्वे सति कर्तृत्वस्य च कर्तुरिवोपादानत्वे दृष्टान्तस्याऽभावात्, कर्तृत्वमात्रस्य लक्षणत्वे उपादानान्तरसत्त्वापत्तेः, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै.३।६) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.२।१) इत्यादिषु श्रुतिषु श्रूयमाणानाम् आनन्द-सत्य-

ज्ञाना-ऽनन्त्यादीनाञ्चाऽप्रसिद्धत्वाद्, लक्षणस्य च प्रसिद्धेरावश्यकत्वाद् उक्तश्रुत्यादिषु श्रूयमाणानां जगज्जन्मादीनामानन्द-सत्य-ज्ञाना-ऽनन्त्यादीनाञ्च मीमांस्यब्रह्मलक्षणत्वं नैव भवितुमर्हतीति।

उत्तरम्– स्वतन्त्रानुमानहेतुतया जगज्जन्मादीनां ब्रह्मज्ञापकताया असम्भवेऽपि अपौरुषेयतया पुरुषदोषशून्यया श्रुत्या ब्रह्मोपलक्षकत्वेन प्रोक्तत्वाद्, अतीन्द्रियेषु अर्थेषु चाऽऽगमस्यैव शरणीकरणीयत्वात् तेषां ब्रह्मोपलक्षणत्वं भवितुमर्हति। कारणाभावे जगज्जन्मादयो न स्युरिति तर्कश्च श्रुत्यर्थमुपोद्बलयति। निर्दोषतया श्रुत्योक्तं निमित्तोपादानोभयकारणत्वमप्येकस्य सुखादिकारणदृष्टान्तेन सम्भावयितुं शक्यमेव। यथा रज्ज्वज्ञानसहितरज्जूपादाना हि धारा रज्ज्वां सत्यामस्ति रज्ज्वामेव च लीयत एवमेवाऽविद्यासहितब्रह्मोपादानं जगज् जायते, ब्रह्मण्येवास्ति, तत्रैव च लीयत इति च बोद्धुं शक्यम्। एवञ्च यद् रजतमित्यभात् सा शुक्तिरिति यथाऽज्ञानकल्पितं रजतं शुक्तेर् लक्षणं तथैव यज्जगत्कारणमित्यज्ञानावस्थायां कल्पितं तद् ब्रह्मेति ब्रह्मण उपलक्षणम् (तटस्थलक्षणम्) बोध्यम्। अखण्डार्थबोधकतयाऽप्रसिद्धान्यपि आनन्द-सत्यादीनि लौकिकीमेवाऽऽनन्द-सत्यादिप्रसिद्धिमुपजीव्याऽखण्डं ब्रह्म लक्षयन्तीति तेषामपि ब्रह्मलक्षणत्वं भवत्येवेति।

निर्णयः– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिषु श्रुतिषु ब्रह्मणो लक्षणत्वेन श्रूयमाणं वस्तु मीमांस्यस्य ब्रह्मणो लक्षणं भवितुमर्हति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतौ यतो वा इमानी-त्यादिकायां तथैव च।
सत्यमित्यादिकायां च श्रूयते ब्रह्मलक्षणम्॥१॥
२. तद् वस्तुतो विचार्यस्य ब्रह्मणो लक्षणं न वा?
३. जन्मादेरन्यनिष्ठत्वादुपादानापृथक्तया॥२॥
कर्तुः कुत्राऽप्यदृष्टत्वात् सत्यादेरप्रसिद्धितः।
उभयं तन् न भवति मीमांस्यब्रह्मलक्षणम्॥३॥
४-५. निर्दोषवेदोक्तत्वाच्च तर्कसम्भावितत्वतः।
जगज्जन्मादिकं स्याद् धि ब्रह्मणस्तूपलक्षणम्॥४॥
सत्यमित्यादिकं लोकप्रसिद्धिमुपजीव्य हि।
ब्रह्माऽखण्डं लक्षयति तस्मात् तदपि लक्षणम्॥५॥

---

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् (सू.३)

ननु अचेतनं साङ्ख्यस्मृतिप्रसिद्धमनुमानगम्यं प्रधानमेव जगज्जन्मादिहेतुत्वेन **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"** (तै.३।१) इत्यादिकायां श्रुतौ प्रतिपाद्यते न तद्भिन्नं जगत्कारणं किञ्चनाऽन्यद् ब्रह्माभिधम्, तस्मात् कथं जन्माद्यस्य यत इति ब्रह्मलक्षणं स्यादित्याऽऽशङ्कां निवर्तयन्नाह भगवान् सूत्रकारः –

३. शास्त्रयोनित्वात् १।१।३ ॥ इति।

"अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-ऽथर्वाङ्गिरसः" (मा.वा.शत.१४।५।४।१०, १४।७।३।११; का.वा.बृह.२।४।१०) इत्यादिकायां श्रुतौ जगज्जन्मादिकारणगतत्वेनैव श्रूयमाणात् शास्त्रयोनित्वाज् जगज्जन्मादिकारणं सर्वज्ञं ब्रह्मैव, न प्रधानम्, तस्मिन्नचेतने सर्वज्ञगुणान्वितस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य शास्त्रस्य योनिताया असम्भवादिति सूत्रार्थः। एतेन नित्यस्य वेदस्य न ब्रह्मणो जन्मेति न जगज्जन्मकारणं ब्रह्मेति शङ्काऽपि अर्थात् समाहिता भवति।

अथवा जगज्जन्मादिकारणत्वस्य शास्त्रप्रमाणकत्वाद् वेदशास्त्र-प्रतिपादितस्वरूपं ब्रह्मैव जगज्जन्मादिकारणं नानुमानिकं प्रधानादिकमिति सूत्रार्थः। जगज्जन्मादिकारणस्य शास्त्रैकगम्यत्वं च **"तन्त्वौपनिषदम् पुरुषम् पृच्छामि"** (मा.वा.शत.१४।६।९।२८, का.वा.बृह.३।९।२६) इति श्रुतिः, **"नाऽवेदविन् मनुते तम् बृहन्तम्"** (तै.ब्रा.३।१२।९।७, शाट्यायनीयो.४) इति श्रुतिश्चाऽऽह हि। **"यतो वा इमानि"** (तै.३।१) इत्यादिका श्रुतिश्च न लौकिकेनैवाऽनुमानेन ब्रह्मणो ज्ञेयतां प्रतिपादयति, किन्तु श्रौतविचारसरणिमेव प्रवर्तयतीति बोध्यम्। एवञ्च शास्त्रयोनित्वस्याऽत्र स्फुटतया कथनेन पूर्वसूत्रे श्रुतेः केवलानुमानिक-ब्रह्मलक्षणपरत्वं प्रदर्शितमिति भ्रमस्य सम्भावनाऽपि परिहृता। वस्तुतस्तु द्वितीयोऽर्थ एव सूत्रकाराऽभिप्रेतोऽवगम्यते उत्तरसूत्रार्थसङ्गतिविशेषलाभात्।

हिन्दी – जगत् के जन्मादि में किसी तत्त्व के कारणत्व का ज्ञान वेदशास्त्रमूलक ही होने से वेदशास्त्र में जिस और जैसे तत्त्व को जगत् के जन्मादि में कारण बताया गया है वही ब्रह्म है।

अथ प्रथमवर्णकानुसारिशास्त्रयोनित्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-ऽथर्वाङ्गिरसः" (मा.वा.शत.१४।५।४।१०, १४।७।३।११; का.वा.बृह.२।४।१०) इत्यादिश्रुतिवाक्यम्।

विशयः– एतद् वाक्यं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं प्रतिपादयति न वेति।

पूर्वपक्षः– ऋग्वेदादेर् ब्रह्मकर्तृकत्वे "वाचा विरूप नित्यया" (ऋ.८।७५।६) इति श्रुत्याः, "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" इति स्मृत्याश्च व्याकोपः, पौरुषेयत्वापातादप्रामाण्यञ्च वेदानां स्यादिति न ब्रह्म ऋग्वेदादेः कर्तृ। एवञ्च ब्रह्मण ऋग्वेदादिरचनापेक्षितज्ञानवत्ताया अपि अकल्पनाद् ब्रह्म न सर्वज्ञम्; तस्मादेतद् "अस्य महतो भूतस्य" इत्यादिकं वाक्यं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं नैव प्रतिपादयतीति।

उत्तरम्– सर्वार्थप्रकाशनशक्तियुतस्य वेदस्योपादानतया ब्रह्म सर्वज्ञम्; तथापि लौकिकः पुरुषो यथा मानान्तरेणार्थं ज्ञात्वा तदुपादाय मनसा कञ्चनार्थं प्रकल्प्य च काव्यादिकं

रचयति तथा ब्रह्म वेदान् न रचयति, किन्तु केवलं पूर्वपूर्वकल्पसिद्धान् वेदान् कल्पादावाविर्भावयतीति न वेदानां पौरुषेयतापत्तिः। प्रवाहनित्यता-विवक्षयैव वेदनित्यतावादि-श्रुतिस्मृतिव्याकोपपरिहारः। तस्मादिदम् **"अस्य महतो भूतस्य"** इत्यादिकं वाक्यं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं प्रतिपादयतीति।

निर्णयः– **"अस्य महतो भूतस्य"** इत्यादिकं वाक्यं सर्वार्थप्रकाशन-शक्तिमद्वेदप्रकाशकत्वाक्षिप्तं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं प्रतिपादयत्येवेति।

तत्राऽऽद्यमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रूयते ह्यस्य महतो भूतस्स्येत्यादिकश्रुतौ।
ब्रह्मतो जन्म वेदानां निश्श्वासनयतः खलु ॥१॥
२. तदेषा बोधयेद् ब्रह्म-सर्वज्ञत्वं न वा श्रुतिः।
३. वेदानां ब्रह्मकर्तृत्वे पौरुषेयतया भवेत् ॥२॥
अप्रामाण्यं नित्यतोक्तिश्रुतिव्याकोप एव च।
तस्मान् न वेदकर्तृत्वं सर्वज्ञत्वं च ब्रह्मणः ॥३॥
४-५. अपूर्वरचनानुक्तेश् श्रुतेर् नो पौरुषेयता।
प्रवाहनित्यतोक्तौ च वेदस्मृतिसमन्वयः ॥४॥
तस्माद् वेदाद्युपादानं ब्रह्म सर्वज्ञमप्यतः।
श्रुतिः प्रकाशयत्येषा ब्रह्मसर्वज्ञतामपि ॥५॥

अथ द्वितीयवर्णकानुसारिशास्त्रयोनित्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"तन् त्वौपनिषदम् पुरुषम् पृच्छामि"** (मा.वा.शत.१४।६।९।२८, का.वा.बृह. ३।९।२६) इत्यादिका श्रुतिः।

विशयः– एषा श्रुतिर् जगत्कारणे ब्रह्मणि वेदा एव प्रमाणमिति प्रतिपदयति न वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणो घटवत् सिद्धवस्तुत्वेन मानान्तरस्याऽपि विषयताया औचित्यात्, कार्यरूपलिङ्गेनाऽपि ब्रह्मणो ज्ञानस्य सम्भवाच् चैषा श्रुतिर् ब्रह्मणि वेदा एव प्रमाणमिति नैव प्रतिपादयेदिति।

उत्तरम्– इन्द्रियाणां स्वभावतो रूपादिविषयकत्वाद् ब्रह्मणश्च रूपादिरहितत्वान् न प्रत्यक्षविषयता, लिङ्गतोऽपि श्रुत्युक्तविधाऽद्वैतब्रह्मणो ज्ञातुमशक्यत्वान् नापि अनुमानविषयता ब्रह्मणः। अतोऽद्वैते ब्रह्मणि श्रुतिरेव प्रमाणमिति एषा श्रुतिर् मीमांस्ये ब्रह्मणि श्रुतिरेव प्रमाणमिति प्रतिपादयतीति।

निर्णयः– **"तन् त्वौपनिषदम् पुरुषम् पृच्छामि"** इत्यादिका श्रुतिर् ब्रह्मणि श्रुतिरेव प्रमाणमिति प्रतिपादयत्येवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतिस् तन्त्वौपनिषदमित्याद्या श्रूयते खलु।
२. सैषा ब्रह्मणि वेदो हि मानमित्याह वा न वा॥१॥
३. ब्रह्मणस् सिद्धवस्तुत्वादनुमेयतया च न।
४-५. सिद्धत्वेऽप्यस्य रूपादिरहितत्वात् तदाह हि॥२॥

---

४. समन्वयाधिकरणम् (सू.४)

ननु **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"** (जै.ध.मी.सू.१।२।१) इति शास्त्रविदो वदन्तीति वेदरूपस्य शास्त्रस्य क्रियापरत्वम्, वेदशास्त्ररूपाणां वेदान्तानाञ्च यज्ञकर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनद्वारा यज्ञक्रियाविधिशेषत्वमेवेति, वेदशास्त्रस्य क्रियार्थत्वाद् वेदशास्त्ररूपाणां वेदान्तानामपि उपासनक्रियाकर्मभूतब्रह्मस्वरूपप्रकाशनपरतया क्रियापरत्वमेवेति वा कथमनन्यक्रियाशेषभूततयाऽभ्युदयविलक्षणमोक्षाख्यफलवत्तया च मीमांसान्तरारम्भकप्रयोजकतयाऽभिप्रेतं सिद्धं ब्रह्म वेदशास्त्रप्रमाणकं स्यादित्याशङ्कायां भगवान् सूत्रकार आह-

४. तत् तु समन्वयात्।१।१।४॥ इति।

तच् शास्त्रयोनित्वं नाम वेदान्तप्रमाणकत्वं तु यज्ञक्रियाविध्यशेषस्याऽभ्युदयविलक्षणमोक्षफलार्थकतया मीमांसान्तरारम्भप्रयोजकस्य मीमांस्यतयोपक्षिप्तस्य सिद्धस्य ब्रह्मणः सर्वासूपनिषत्सु मुख्यवाक्यपदानां तत्रैवं तात्पर्येण समनुगतत्वाद् अवान्तरवाक्यानाञ्च मुख्यवाक्यार्थ एव तात्पर्येण समन्वयात् सिद्धमित्यर्थः।

तत् शास्त्रयोनित्वं नाम वेदान्तप्रमाणकत्वं तूपासन-ज्ञानादि-प्रतिपत्तिविशेषविध्यशेषस्याऽभ्युदयविलक्षणमोक्षफलार्थतया मीमांसान्तरारम्भप्रयोजकस्य मीमांस्यतयोपक्षिप्तस्य सिद्धस्य निर्विशेषस्याऽऽत्माभिन्नस्य ब्रह्मणः सर्वासूपनिषत्सु मुख्यवाक्यपदानां तत्रैव तात्पर्येण समनुगतत्वाद् अवान्तरवाक्यानाञ्च मुख्यवाक्यार्थ एव तात्पर्येण समन्वयात् सिद्धमिति च सूत्रार्थः।

एवञ्च जन्माद्यस्य यत इति ब्रह्मलक्षणं श्रुतितात्पर्यानुरूपब्रह्मपरमिति चिद्रूपब्रह्मपरमेव नाऽचेतनप्रधानपरमिति तात्पर्यम्।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्यादिकं वचनं तु कर्मकाण्डमात्रविषयकम्।

वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयश्च मतान्तरनिराकरणपूर्वकमीक्षत्यधिकरणादिषु समन्वयाध्यायाऽधिकरणेषु प्रपञ्चेन प्रदर्शयिष्यति सूत्रकारः।

हिन्दी – ब्रह्म के ज्ञान का वेदशास्त्रमूलकत्व तो सभी उपनिषदों के मुख्य वाक्यों के पदों का उसी ब्रह्मज्ञान में समन्वय होने से और अवान्तर वाक्यों का भी मुख्य वाक्यों के अर्थ में ही तात्पर्य से समन्वय होने से अवगत होता है।

अथ प्रथमवर्णकानुसारिसमन्वयाधिरणस्वरूपम्

विषयः– **"तद् विष्णोः परम् पदम्"** (ऋ.१।२२।२०, कठो.१।३।९) **"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"** (ऐ.१।१), **"अनेजदेकम्"** (ईशावास्यो.४) **"तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके"** (ईशा.५), **"अन्यत्र धर्माद्"** (कठो.१।२।१४), **"ओमित्येतद्"** (कठो.१।२।१५), **"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"** (कठो.१।२।१८) **"अशब्दमस्पर्शम्"** (कठो.१।३।१५), **"नेह नानाऽस्ति किञ्चन"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२१, का.वा.बृह. ४।४।१९, कठो.२।१।११), **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तै.२।१), **"श्रोत्रस्य श्रोत्रम्"** (केनो.१।२), **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** (छा.६।२।१), **"यत् तदद्रेश्यम्"** (मुण्डको.१।१।६), **"ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्"** (मुण्डको.२।२।११) **"अयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२), इत्याद्याः श्रुतयः।

विशयः– एताः श्रुतयो यज्ञकमपिक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनपराः उत यज्ञक्रियाविध्य-शेष-सिद्ध-ब्रह्मप्रतिपादनपराः ? इति।

पूर्वपक्षः– हेयोपादेयतया रहितस्य सिद्धवस्तुनो ब्रह्मणः प्रतिपादने निष्प्रयोजनताप्रसङ्गाद् निष्प्रयोजनत्वे च तासामप्रमाणतापत्तेर् यज्ञकमपिक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनपरा एताः श्रुतयो मन्तव्या इति वेदान्ता अपि अन्यवेदभागा इव सर्वथा क्रियाविधिपरा एवेति।

उत्तरम्– हेयोपादेयतया रहितादपि ब्रह्मात्मज्ञानाद् निखिलानर्थनिवृत्तेः परमप्रयोजनस्य सिद्धेः, तादृशब्रह्मज्ञानपरत्वेऽपि प्रामाण्यस्य फलवदज्ञाताबाधितार्थज्ञापकतामूलकत्वाद् वेदान्तानाम् प्रामाण्यस्याक्षतेः, वेदान्तेषु स्थितानां महावाक्यानां निर्विशेषेऽक्रियाशेषे ब्रह्मणि पदानां समन्वयाद् अवान्तरवाक्यानामपि तात्पर्येण महावाक्यैः समन्वयात्, प्रकरणानाञ्च षड्भिरेव तात्पर्यनिर्णयलिङ्गैर्[1] निर्विशेषब्रह्मपरताया निर्णयाद् वेदान्ता यज्ञक्रियाविध्यशेष-निर्विशेषब्रह्मपरा इति।

निर्णयः– वेदान्तश्रुतयो यज्ञक्रियाविध्यशेषनिर्विशेषब्रह्मपरा एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. तद् विष्णोः परमं पदमनेजदेकमित्यपि।
नेह नानाऽस्ति किञ्चन श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यपि॥१॥
सदेव सोम्य यत् तद-द्रेश्यमित्यादिकास् तथा।
सन्ति हि श्रुतयो नाना-शाखास्था बहवः खलु॥२॥
२. एता हि श्रुतयो यज्ञक्रियाकर्त्रादिबोधिकाः।
निर्विशेषाऽनन्यशेषब्रह्मात्मबोधिका उत॥३॥
३. आम्नायस्य क्रियार्थत्वमक्रियार्थस्य ब्रह्मणः।
उपादेयतया हेयतयाऽपि रहितस्य च॥४॥

---

१. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

उपदेशो निरर्थश्च तस्माद् यज्ञक्रियाविधेः।
शेषरूपं हि ब्रह्माऽऽहुरेताश्च श्रुतयः खलु ॥५॥
४-५. हेयतोपादेयताभ्यां रहितस्य हि ब्रह्मणः।
ज्ञानादेवाऽखिलानर्थनिवृत्तेः प्रतिपादनात् ॥६॥
महावाक्यपदानां च तादृशे ब्रह्मणि स्फुटम्।
समन्वयात् षड्भिरेव लिङ्गैः प्रकरणस्य च ॥७॥
तात्पर्यस्याऽपि तत्रैव निश्चयादक्रियाङ्गकम्।
निर्विशेषं हि ब्रह्माऽऽहुर् वेदान्ता इति निर्णयः ॥८॥

अथ द्वितीयवर्णकानुसारिसमन्वयाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"तद् विष्णोः परमं पदम्"** (ऋ.१।२२।२०, कठो.१।३।९) **"आत्मा वा इदमेक एव"** (ऐ.१।१) **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** (छा.६।२।१), **"ब्रह्मैवेदम्"** (मुण्डको. २।२।१) **"अयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२), इत्याद्याः श्रुतयः।

विशयः– एताः श्रुतयः प्रतिपत्तिविशेषरूपज्ञानोपास्त्यन्यतरविधिविषयं ब्रह्म बोधयन्ति किं स्वतन्त्रमिति।

पूर्वपक्षः– प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरकर्मावबोधनमेव वेदशास्त्रप्रयोजनमिति वेदरूपा वेदान्तश्रुतयोऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरपरा एव, अन्यथा तासां शास्त्रत्वमेव न स्यात्; सिद्धे शब्दशक्तिग्रहणस्याऽसम्भवाद् वेदान्तश्रुतीनां प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरकर्मपरत्वाभावे तासां ब्रह्मणि शक्तिग्रहोऽपि नैव स्यात्। तस्माद् वेदान्तश्रुतयः प्रतिपत्तिविशेषरूपज्ञानोपास्त्यन्यतरविधिशेषं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति न विध्यविषयमिति।

उत्तरम्– प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरकर्मावबोधकत्वं कर्मकाण्डरूपवेदभागगतानां वाक्यानामेव लक्षणम्, न ज्ञानकाण्डरूपवेदभागगतानां वाक्यानाम्; हितशासनादेव च शास्त्रत्वम्, तच्च सर्वानर्थ-निवर्तकविध्यशेषनिर्विशेषब्रह्मबोधनेनैव वेदान्तानामुपपन्नम्; 'ब्राह्मण पुत्रस्तेऽजनिष्ट' 'पण्डित कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्ष-चिन्तादिलिङ्गैः सिद्धेऽर्थेऽपि शक्तिग्रहश्च भवति, विधिशेषत्वेन यदि ब्रह्मोपदिश्येत तदा क्रियाफलस्याऽनित्यत्वाद् ब्रह्मज्ञानसाध्यो मोक्षोऽप्यनित्यः स्यात्, आत्मनो विकार्यत्वादीनामभावाच्चाऽऽत्मनि क्रियाया असम्भव एव, तस्मान्न वेदान्तश्रुतयः प्रतिपत्तिक्रियाविशेषरूपज्ञानोपास्त्यन्यतरविधिशेषं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, किन्तु अनन्यशेषं निर्विशेषं ब्रह्मैव प्रतिपादयन्तीति।

निर्णयः– वेदान्तश्रुतयः क्रियाविध्यशेषं निर्विशेषं ब्रह्मैव तात्पर्येण प्रकाशयन्तीति[1]।

---

१. यद्यपि वेदान्तश्रुतिषु चाऽभ्युदयार्था नामोपासनादयः, कर्मसमृद्ध्यर्था उद्गीथोपासनादयः, क्रममुक्त्यर्था दहरोपासनादय इति काश्चनोपासना अपि विहिताः सन्ति, तच्छेषभूतं विवक्षितोपाधिसम्बन्धं सगुणं ब्रह्म च प्रतिपादितमस्ति, तथापि तत्प्रतिपादकस्य भागस्य मानसक्रियाप्रतिपादकत्वेन ज्ञानप्रतिपादकभागेन सदृशत्वाद्, त्यागपरैरपि प्रयोक्तुं शक्यत्वाद्, क्रममुक्त्यर्थोपासनानामपि ज्ञान एव महातात्पर्यस्याऽवगमनीयत्वाच्च तत्प्रतिपादकभागोऽपि वेदान्तेषु पठितः, मुख्यवेदान्तस्तु निर्विशेषब्रह्मज्ञानपरो भाग एवेति, एतदधिकरणञ्च तादृशमुख्यवेदान्तपरमिति च बोध्यम्।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. तद् विष्णोः परमं पद-मात्मा वा इदमित्यपि।
सदेव सोम्येदमिति ब्रह्मैवेदमितीति च॥१॥
अयमात्मेत्यादिका च श्रुतयो बहवः खलु।
सन्ति हि प्रथितास् तत्तच्छाखावेदशिरस्सु च॥२॥

२. एता हि श्रुतयः प्राहुः प्रतिपत्तिविधेरिह।
शेषं ब्रह्म स्वतन्त्रं वा क्वाऽऽसां तात्पर्यकं भवेत्॥३॥

३. प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा बोधयच् शास्त्रमर्थवत्।
अत एव विधेः शेषं ब्रह्माऽऽहुः श्रुतयः खलु॥४॥

४-५. पुरुषार्थोपदेशाद् धि सफलं शास्त्रमुच्यते।
अक्रियाविधिशेषस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः॥५॥
ज्ञानादेवाऽखिलाऽनर्थनिवृत्तेस् तस्य शंसनात्।
वेदान्तास् सफलास् तस्मात् तत्परा इति निर्णयः॥६॥

---

५. ईक्षत्यधिकरणम् (सू.५-११)

जन्माद्यस्य यत इति लक्षणस्य प्रधानपरत्वस्याऽऽशङ्कायां शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रेण तस्य सर्वज्ञपरत्वस्य व्याख्यानेन, उक्तलक्षणस्य ब्रह्मणोऽनुमानाऽवेद्यत्वस्य श्रुत्येकप्रमाणकत्वस्य च प्रतिपादनेन च प्रधानपरत्वं प्रत्याख्यातम्, जगत्कारणत्वेन लक्षिते चिद्रूपे बह्मणि सर्वेषां वेदान्तानां समन्वयस्य प्रतिपादनेन च ब्रह्मणश् चिद्रूपत्वं श्रुतिरूपशास्त्रप्रमाणकत्वञ्च तत् तु समन्वयादिति सूत्रेण स्थिरीकृतम्। तत्राऽपरिणामिनो नित्यस्य ब्रह्मणः कथं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं वा स्यात् प्रधानस्य तु औपचारिकं तद् भवितुमर्हति, तस्मात् सृष्ट्यादिप्रतिपादकेषु वेदान्तवाक्येषु जगज्जन्मादिकारणत्वेन प्रधानमेवाऽनुमानविषयतया दिदर्शयिषितं न ब्रह्मेति कथं ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयः सम्भवति, प्रधान एव वेदान्तानां समन्वयः सम्भवति इति साङ्ख्यः पुनः प्रत्यवतिष्ठते। तत्राऽऽह—

५. ईक्षतेर् नाऽशब्दम् १।१।५॥ इति।

जगत्कारणप्रदर्शनपरेषु **"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"** (छा.६।२।१) इत्यादिषु वेदान्तवाक्येषु लिलक्षयिषितस्य ब्रह्मणः **"तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति तत् तेजोऽसृजत"** (छा.६।२।३) इत्यादिनेक्षणादेर् ज्ञानस्य प्रति-

पादनाद् उक्तं जगज्जन्मादिकारणं खलु अशब्दं केवलमानुमानिकं प्रधानं नेत्यर्थः। साङ्ख्यानुमितप्रधानात् सर्वथा विलक्षणमेव जगत्कारणं ब्रह्मेति भावः। तस्मादचेतने प्रधाने वेदान्तानां समन्वयो नास्ति, किन्तु ब्रह्मण्येवास्तीति तात्पर्यम्। यद्यपि पाणिनीयव्याकरणवार्त्तिककारेण धातुनिर्देशे स्तिप्प्रत्ययः प्रतिपादितस्तथापि ईक्षणरूपधात्वर्थनिर्देश एवात्र ईक्षतिशब्दो मुनिना बादरायणेन प्रयुक्तोऽवगन्तव्यः।

हिन्दी – जगत् के कारण के प्रतिपादन में प्रवृत्त "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि वेदान्तवाक्यों में बताए जा रहे ब्रह्म के "तदैक्षत" इत्यादि वचन में ईक्षणरूप ज्ञान का उल्लेख होने से उक्त जगज्जन्मादिकारण वेदशब्द से अप्रतिपादित केवल अनुमानगम्य अचेतन प्रधान नहीं है।

६. गौणश् चेन् नाऽऽत्मशब्दात् १।१।६॥

"तत् तेज ऐक्षत" (छा.६।२।३) **"ता आप ऐक्षन्त"** (छा.६।२।४) इत्यादौ तेजोऽप्प्रभृतिष्विव सच्छब्दवाच्येऽचेतने प्रधान एव ईक्षतिर् गौणरूपेण प्रयुक्तः स्यादिति चेत्, सच्छब्दवाच्ये प्रकृते जगत्कारणे **"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य"** (छा.६।३।२) इत्यत्र **"स आत्मा तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७) इत्यादौ चाऽऽत्मशब्दस्य प्रयोगात्, जडे प्रधाने आत्मत्वस्याऽसम्भवाद् न तथा स्वीकर्तुं शक्यते इत्यर्थः। सच्छब्देन चेतनस्य ब्रह्मणो ग्रहण एव तस्य जीवविषय आत्मशब्द उपपद्यते; अचेतनस्य प्रधानस्य ग्रहणे तु तस्य कथं चेतनो जीव आत्मा स्यादिति तस्य जीवविषय आत्मशब्दो नोपपद्यते। तस्मादात्मशब्दादीक्षितृत्वं न गौणम्। ईक्षितृत्वस्याऽगौणत्वाच्च **"सदेव सोम्येदमग्र आसीद्"** इत्यादिना प्रदिदर्शयिषितं जगत्कारणम् ब्रह्म न प्रधानसदृशमचेतनम्, किन्तु चेतनमेवेति नास्त्येव प्रधाने वेदान्तानां समन्वयः किन्तु ब्रह्मण्येवास्तीति तात्पर्यम्।

हिन्दी – "तत् तेज ऐक्षत" "ता आप ऐक्षन्त" इत्यादि वाक्यों में जैसे तेज प्रभृति में गौण रूप से ईक्षण का उल्लेख हुआ है वैसे ही सत्शब्द से प्रतिपादित प्रधान के सम्बन्ध में भी ईक्षण गौण ही है, यदि कोई ऐसा कहे तो वह ठीक नहीं है, क्यों कि जिस सत् का ईक्षण बताया गया है उस का "अनेन जीवेनाऽऽत्मना" इत्यादि वाक्य में जीव आत्मा कहा गया है। जड प्रधान का चेतन जीव आत्मा नहीं हो सकता है। अतः जगत् का कारण ईक्षण करने वाला चेतन आत्मतत्त्व है, अचेतन प्रधान नहीं।

७. तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् १।१।७॥

सर्वार्थकारि-भृत्यादौ 'ममाऽऽत्मा भद्रसेनः' इत्यादिरूपेणाऽऽत्मशब्दस्याऽपि गौणतया प्रयोगस्य दर्शनाद् **"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य"** (छा.६।३।२) इत्यादावपि आत्मशब्दो गौणः स्यादिति चेत्, **"स आत्मा"** (छा.६।८।७) इति सदणिमानमादाय **"तत् त्वमसि श्वेतकेतो"** (छा.६।८।७) इति मोक्षणीयस्य श्वेतकेतो

सदणिमनिष्ठामुपदिश्य तन्निष्ठस्य च **"तस्य तावदेव चिरं यावन् न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"** (छा.६।१४।२) इति मोक्षस्योपदेशात् न तथाऽत्राऽऽत्मशब्दस्य गौणतया प्रयोगः स्वीकर्तुं शक्यते इत्यर्थः। न च चेतनस्य पुरुषस्याऽचेतनं प्रधानं गौणात्मानमात्मतया प्रतिपद्यमानस्य मोक्ष उपपद्यते, तस्मान्नाऽयमात्मशब्दो गौणः किन्तु मुख्य एव। मुख्यस्य चाऽऽत्मशब्दस्य प्रधाने प्रयोगस्याऽनुपपत्तेर् जगत्कारणत्वेन लिलक्षयिषितं ब्रह्म न प्रधानरूपमित्यर्थः।

अथवा जगत्कारणभूतसन्निष्ठस्य पुरुषस्य मुक्तेरुपदेशाद् अचेतनप्रधाननिष्ठस्य चेतनस्य च मुक्तेरनुपपत्तेर् जगत्कारणत्वेन प्रोक्तं ब्रह्म न प्रधानरूपमिति सूत्रार्थः।

हिन्दी – जिस सत् को आत्मा कहा गया है उस में अभिन्न रूप में रहने वाले का मोक्ष "तस्य तावदेव चिरं यावन् न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इस वाक्य में प्रतिपादित हुआ है, अतः सत् में आत्मशब्द का प्रयोग गौण नहीं माना जा सकता है।

८. हेयत्वाऽवचनाच्च १।१।८॥

अनात्मभूतस्य प्रधानस्य हेयताया अप्रतिपादनाच्च प्रधानं नाऽऽत्मशब्दवाच्यमित्यर्थः। यद्यनात्मभूतं प्रधानमेव **"स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो"** (छा.६।८।७) इत्यत्र स्थूलारुन्धतीन्यायेन गौण्या वृत्त्याऽऽत्मशब्देन प्रतिपादितमभविष्यत् तर्हि तन्निष्ठताम् परिहर्तुं शास्त्रं तस्य हेयतामवक्ष्यत्। न च ब्रवीति। तस्मान् न प्रधान आत्मशब्दप्रयोगः।

हेयत्वस्य वचनेऽपि प्रधान-पुरुष-द्वैतस्य श्रुत्यनुमतत्वे कारणभूतस्यैकस्य विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञा हीयेत; प्रधानज्ञानेन तद्विकारत्वेनाभिमतस्य भोग्यवर्गस्य ज्ञानेऽपि तदविकारस्य पुरुषस्याऽज्ञानात्। तस्माच्च न प्रधान आत्मशब्दप्रयोग इति च चपदेन प्रतिपाद्यते।

हिन्दी – अनात्मरूप प्रधान में स्थूलारुन्धतीन्याय से यदि आत्मशब्द का प्रयोग किया गया होता तो उस की हेयता भी प्रतिपादित होती, किन्तु वहाँ प्रधान की हेयता प्रतिपादित नहीं है, अतः आत्मशब्द का प्रधान में प्रयोग नहीं है।

९. स्वाऽप्ययात् १।१।९॥

"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति" (छा.६।८।१) इति श्रुत्या चेतनस्य पुरुषस्य प्रकृते सच्छब्दप्रतिपादिते स्वात्मभूते वस्तुनि अप्ययस्य (लयस्य) प्रतिपादितत्वात्, चेतनस्य पुरुषस्याऽचेतने प्रधाने लयस्याऽसम्भवाद्, अचेतनस्य प्रधानस्य चेतनपुरुषस्वात्मतायाश्चाऽसम्भ-

वात् सच्छब्दवाच्यं वस्तु चेतनं ब्रह्मैव नाऽचेतनं प्रधानमित्यर्थः। तस्मात् सदेवेत्यादावुक्तं सद्रूपं ब्रह्म न प्रधानमिति न प्रधाने वेदान्तानां समन्वय इति तात्पर्यम्।

हिन्दी – "यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम" इत्यादि श्रुति में चेतन पुरुष का प्रकृत सत्‌शब्द से प्रतिपादित स्वात्मभूत वस्तु में लय प्रतिपादित होने से, चेतन पुरुष का अचेतन प्रधान में लय असम्भव होने से और अचेतन प्रधान का चेतन पुरुष का स्वात्मा होना भी अनुपपन्न होने से सत्‌शब्द से प्रतिपादित जगत् का कारण तत्त्व चेतन ब्रह्म ही है, अचेतन प्रधान नहीं है। अतः अचेतन प्रधान में वेदान्तवाक्यों का समन्वय नहीं है, चेतन ब्रह्म में ही समन्वय है।

१०. गतिसामान्यात् १।१।१०॥

"एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते" (कौषी.३।३) **"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"** (तै.२।१), **"अस्म्मादात्त्मनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि व्व्युच्चरन्ति"** (मा.वा.शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०), **"आत्मन एवेदं सर्वम्"** (छा.७।२६।१), **"आत्मन एष प्राणो जायते"** (प्रश्नो.३।३) इत्यादीनां नानाशाखास्थानां वेदान्तवाक्यानां चेतनात्मकारणत्वे गतेः (=प्रवृत्तेः) समानत्वाच्च जगत्कारणं चेतनं ब्रह्म न जडं प्रधानमित्यर्थः।

हिन्दी – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन सभी वेदों के शाखा के उपनिषदों के वाक्यों का चेतन आत्मा के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में समान प्रकार की प्रवृत्ति होने से जगत् का कारण चेतन ब्रह्म ही है, अचेतन प्रधान नहीं।

११. श्रुतत्वाच्च १।१।११॥

"स कारणं करणाधिपाधिपः" इति श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि (श्वेता.६।९) करणाधिपानां जीवानामधिपस्य परमेश्वरस्य जगत्कारणतायाः साक्षाच् छ्रुतत्वाच्च जगज्जन्मादिकारणं नाऽशब्दं केवलमानुमानिकं प्रधानम्, किन्तु जीवाधिपादिरूपं चेतनं ब्रह्मैवेत्यर्थः। तस्माद् न प्रधाने वेदान्तानां समन्वयः किन्तु ब्रह्मण्येवेति तात्पर्यम्।

हिन्दी – "स कारणं करणाऽधिपाऽधिपः" इस श्रुति में इन्द्रियों के स्वामी जीवों के भी स्वामी परमेश्वर की जगत्कारणता स्पष्ट रूप में श्रुत होने से भी जगत् के जन्मादि के कारण के रूप में प्रतिपादित ब्रह्मरूप तत्त्व चेतन तत्त्व है, अचेतन और श्रुतियों में अप्रतिपादित प्रधान तत्त्व नहीं है, यह बात अवगत होती है। अतः वेदान्तवाक्यों का चेतन ब्रह्म में समन्वय है, अचेतन प्रधान में नहीं, यह तात्पर्य है।

अथेक्षत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" (छा.६।२।१), "तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति तत् तेजोऽसृजत" (छा.६।२।३) इत्याद्या सृष्टिप्रतिपादिका छान्दोग्यश्रुतिः।

विशयः– एषा श्रुतिर् जगत्कारणत्वेनाऽचेतनं प्रधानं प्रतिपादयति न वेति।

पूर्वपक्षः– संहतस्य जगतः कारणं क्रियाशक्तियुतमनेकात्मकं संहतं प्रधानमेव भवितुमर्हति न निष्क्रियमेकं चिद्रूपं ब्रह्म, तस्माद् वेदान्तानां सृष्टिवाक्येषु जगत्कारणत्वेन प्रतिपादितं वस्तु प्रधानमेव, न ब्रह्म। सर्वशक्तिमत्वञ्च स्वविकारविषयं प्रधानस्याऽपि स्यात्, सर्वज्ञत्वमपि ज्ञानस्य सत्त्वमूलकत्वात् सत्त्वोत्कर्षवतः प्रधानस्याऽऽस्थातुं शक्यम्, जगत्कारणस्येक्षितृत्वं श्रूयमाणञ्च **"तत् तेज ऐक्षत"** (छा.६।२।३) इत्यादाविव गौणं भवितुमर्हति, जगत्कारणस्यात्मशब्देन परामर्शोऽपि **"ममाऽऽत्मा भद्रसेनः"** इत्यादाविव गौण एव स्यात्, पुरुषज्ञापनाय प्रवृत्तमपि शास्त्रं स्थूलारुन्धतीन्यायेन प्रथमं जगत्कारणं प्रधानं प्रतिपाद्य तद्द्वारा पुरुषं ज्ञापयेत्। तस्मात् सदेवेत्यादिका श्रुतिर् जगत्कारणत्वेन प्रधानं प्रतिपादयति, न ब्रह्मेति।

उत्तरम्– असाक्षिकायाः सत्त्ववृत्तेर् ज्ञानवाच्यताया अभावेन ईक्षणस्य श्रूयमाणस्य प्रधानेऽनुपपद्यमानत्वात्, ईक्षणस्य गौणत्वे कथञ्चित् स्वीकृतेऽपि जगत्कारणस्य बोद्धव्यपुरुषात्मतायाः श्रुत्या प्रतिपादितत्वादचेतनस्य प्रधानस्य च पुरुषात्मताया असम्भवात्, आत्मशब्दस्य गौणत्वे स्वीकृते तु तादृशगौणात्मनिष्ठस्य मुक्तेरुपदेशस्य श्रुतिकृतस्याऽनुपपत्तेः, जगत्कारणस्य हेयतायाः तत्सन्निहितपुरुषस्योपादेयतायाश्चाऽप्रतिपादितत्वात् स्थूलारुन्धतीन्यायस्याऽनवतारात्, हेयताया उक्तावपि प्रधानपुरुषद्वैते स्वीकृत उपक्रमे प्रतिज्ञातस्य एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य हानेः प्रसङ्गात्, श्रुत्या जगत्कारणे स्वात्मभूते पुरुषलयस्य प्रतिपादितत्वादचेतने प्रधाने च चेतनस्य पुरुषस्य स्वात्मत्वस्य लयस्य चाऽसम्भवात्, सृष्टिविषयकाणां सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां चेतनात्मकारणवादे समानगतिकत्वात्, सर्वज्ञस्य परमात्मनो जगत्कारणतायाः स्पष्टतया श्रुत्या प्रतिपादितत्वाच्च सदेवेत्यादिका श्रुतिर् जगत्कारणत्वेन प्रधानं नैव प्रतिपादयति, किन्तु ब्रह्मैव प्रतिपादयतीति।

निर्णयः– सदेवेत्यादिका श्रुतिर् जगत्कारणत्वेन प्रधानं नैव प्रतिपादयति, ब्रह्मैव प्रतिपादयतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सदेव सोम्येत्याद्या हि च्छन्दोगानां श्रुतिः खलु।
आख्याति जगतः किञ्चिदेकमेव हि कारणम्॥१॥
२. तत् स्याज् जडं प्रधानं वा सर्वज्ञं ब्रह्म वा ननु।
३. ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तं प्रधानं खलु कारणम्॥२॥
तस्येक्षणं श्रूयमाणं गौणमात्मत्वमेव च।
४-५. ईक्षितृत्वं कारणस्य श्रूयते तदचेतने॥३॥
प्रधाने नास्त्यतोऽश्रौतं प्रधानं न हि कारणम्।
आत्मत्वस्य च तन्निष्ठमोक्षस्याऽऽत्मलयस्य च॥४॥
अचेतनेऽसम्भवाच्चाऽचेतनं तन् न कारणम्।
मायया ब्रह्म च ज्ञान-क्रियाशक्तियुतं ततः॥५॥

कारणत्वे चेतनस्य सृष्टिवाक्यमतैक्यतः।
स्पष्टश्रुतेरपि जगत्कारणं ब्रह्म निश्चितम्॥६॥
तस्मात् समन्वयो नास्ति वेदान्तानां प्रधानके।
अतः स्थितश्च श्रुतीनां ब्रह्मण्येव समन्वयः॥७॥

---

६. आनन्दमयाधिकरणम् (सू.१२-१९)

"जन्माद्यस्य यतः" इति प्रतिज्ञातस्य मीमांस्य-ब्रह्मलक्षणस्योपपादने शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रेण जगत्कारणस्य ब्रह्मणश् चेतनत्वं श्रुत्यनुसारमेव मीमांस्यत्वं च प्रतिपादितम्। ब्रह्मणः श्रुत्यनुसारमेव मीमांस्यत्वं च तत् तु समन्वयादिति सूत्रेण सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वय इति प्रतिपादनेन सम्यङ् निर्धारितम्। श्रुतावपि प्रधानमेव जगत्कारणं प्रतिपादितमिति नास्ति श्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वय इत्याक्षेपश्च जगत्कारणवादिनीनां श्रुतीनां प्रधाने समन्वयो नास्तीति प्रदर्शनेन ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिना निराकृतः। अथाऽपि विविधशङ्कासमाधानेन, उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषु विविधोपाधिद्वारेणोक्तं ब्रह्म वस्तुत एकमेवेत्यभिप्रायेण वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वय एवाऽध्यायशेषेण प्रपञ्च्यते। क्रममुक्त्यर्थोपासनप्रकरणानामपि महातात्पर्यस्य निर्विशेषब्रह्मज्ञान एव स्थितत्वस्य फलाध्यायेन प्रदर्शयिष्यमाणतयाऽत्राऽध्यायेऽनुक्तत्वेऽपि सगुणपरतया निर्गुणपरतयाऽपि वा सर्वथा चिद्रूपब्रह्मपरत्वेन श्रुतीनां चेतनकारणताप्रतिपादन एव गतिसामान्यं न तु साङ्ख्याद्यभिमताऽनुमानिकप्रधानादिकारणताप्रतिपादन इति चाऽध्यायशेषेण प्रदर्श्यते।

तत्र कथं निर्विशेषे ब्रह्मणि सर्वेषां वेदान्तानां समन्वयः प्रतिज्ञायते? आनन्दमयादिकस्य सगुणस्य ब्रह्मणोऽपि वेदान्तेषु प्रतिपादनादित्याशङ्कायाम् उपाधिद्वारोपदेशे प्रवृत्तानामपि वेदान्तवाक्यानां निर्गुणज्ञेयब्रह्मप्रतिपादकता भवतीति प्रदर्शकमानन्दमयाधिकरणं ज्ञेयम्।

अत्र च यद्यपि एकदेशिनो मायावादिन एवाऽद्वैतवेदान्तिनः के चन **'आनन्दमयो** ब्रह्मैव भवितुमर्हति ब्रह्मण्येवाऽऽनन्दशब्दस्याऽ**भ्यासात्'**; 'आनन्दमय इति **विकारवाचिप्रत्ययान्तशब्दाद्** नाऽऽनन्दमयो ब्रह्मेति **चेत् न,** अत्र **प्राचुर्यस्य** मयडर्थत्वात्', **"एष ह्येवाऽऽनन्दयाति"** (तै.२।७) इति श्रुतौ ब्रह्मणस् तस्याऽऽनन्दस्य **हेतुताया व्यपदेशात्** तस्याऽऽनन्दप्रचुरताया आस्थेयत्वात्'; **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तै.२।१) इति **मन्त्रवर्णैः** प्रतिपादितं ब्रह्मैव च **"अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः"** (तै.२।५) इति ब्राह्मणभागे च **गीयते'**, 'आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयमाणायाः **"सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेय"** (तै.२।६) इत्यादिकायाः सृष्टिकर्तृताया **अनुपपत्तेः** परमात्मन **इतरो** जीव आनन्दमय इति न प्रतिपाद्यते', 'आनन्दमयाधिकारे सोऽकामयतेति

कामस्य श्रवणात् तस्य च प्रधानेऽयोगाच् **च नाऽनुमान**विषयस्य प्रधानस्याऽत्राऽपेक्षाऽस्ति', '**अस्मिन्नानन्दमये** ब्रह्मणि प्रतिबुद्धस्याऽ**स्य** जीवस्य **च तेनाऽऽनन्द**मयेनाऽभेदेन **योगं शास्ति** श्रुतिः, तस्मादानन्दमयो न प्रधानं न च जीवः, किन्तु प्रियशिरस्त्वादिगुणवत्तयोपास्यं ब्रह्मैव' इति सूत्रार्थान् प्रतिपादयन्ति; तथापि सूत्राणामेते अर्थाः खलु अन्नरसमयः (तै.२।१) प्राणमयः (तै.२।२), मनोमयः (तै.२।३), विज्ञानमयः (तै.२।४) इति विकारार्थमयट्प्रवाहे आनन्दमय (तै.२।५) इत्यत्रैव प्राचुर्यार्थे मयटः स्वीकर्तुमनुचितत्वात्, मयटः प्राचुर्यार्थकत्वे स्वीकृतेऽपि दुःखलेशसंसर्गस्याऽपि स्वीकार्यत्वस्याऽऽपत्तेः, आनन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दस्याऽभावात्, आनन्दमयस्य प्रियशिरस्त्वादियोगेन सविशेषत्वाद् वाक्यशेषे च **"यतो वाचो निवर्तन्ते"** (तै.२।९) इति निर्विशेषस्यैव ब्रह्मणः श्रुतत्वात्, आनन्दस्यैवोत्तरत्राऽभ्यासात् आनन्दमयस्याभ्यासस्याऽभावाच् च तैत्तिरीयब्रह्मवल्लीश्रुतिप्रकरणस्य प्रतिकूला इति श्रुतिप्रकरणानुकूलतराः श्रुतिसूत्रवर्णप्रत्यासन्नाश्च सूत्रार्था एते भवन्ति—

१२. आनन्दमयोऽभ्यासात् १।१।१२॥

आनन्दमयप्रकरणे **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्, तदेषाऽभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तै.२।१) इत्युपक्रमे **"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो** विदुः" (तै.२।६) इति निगमनवाक्ये च निरुपाधिकस्य ज्ञेयस्य ब्रह्मण एवाऽभ्यासात् तैत्तिरीयकेऽन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं चाऽनुक्रम्य **"तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः"** (तै.२।५) इत्यत्रोक्त आनन्दमयो **"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"** (तै.२।५) इति वाक्ये श्रूयमाणस्य ब्रह्मण उपलक्षकतयोपदिष्टो ब्रह्मपरः, न स्वप्रधानः।

अत्र देवीभागवतस्य **"पञ्चकोशान्तरगते पुच्छब्रह्मस्वरूपिणि। आनन्दकलिके मातः सर्वोपनिषदर्चिते"** इत्यादयः श्लोका अपि स्मरणीयाः (४।१५।१४, द्र.- ७।२७।२, ७।३४।३०-३१; सूतसंहितायां यज्ञवैभवखण्डोपरिभागे ब्रह्मगीतायां च ३।४६)।

यद्यपि जन्मादिसूत्रे ह्याकाङ्क्षावशादध्याहरणीयस्य ब्रह्मपदस्याऽनुवर्तनेन व्याख्येयतया ईक्षतेर् नाऽशब्दमित्याद्यधिकरणसूत्राणि रचयतः, आनन्दमयं सगुणब्रह्मीकृत्य **"प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे"** (ब्रह्ममी.३।३।१२) इति च सूत्रयतोऽस्य सूत्रकारस्याऽऽनन्दमयस्य सगुणोपास्यब्रह्मत्वमभिप्रेतमिव भाति तथापि उपक्रमोपसंहारादिभिरस्य तैत्तिरीयकप्रकरणस्य निर्गुणब्रह्मपरत्वस्य निर्णयाद् आनन्दमयोऽभ्यासादित्यादीनि सूत्राणि लक्षणाश्रयणेन[1] श्रुत्यनुगुणतया

---

१. आनन्दमयो ब्रह्माऽभ्यासादित्यन्वयायाऽऽध्याहृतानुवर्तितस्य ब्रह्मपदस्य 'ब्रह्मपरः' इत्यर्थे लक्षणा बोध्या।

नेयानि, प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरित्यादिकं सूत्रमपि 'यदि कश्चिदानन्दमय उपास्यं ब्रह्मेति ब्रूयात् तदा तेनाऽपि प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मोपासनेषूपसंहारो नेति स्वीकर्तव्यम्' इत्यर्थकत्वेन कृत्वाचिन्तापरतया नेयम्[1]।

हिन्दी – तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय प्रकरण में "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि उपक्रम में और "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्" इत्यादि निगमन वाक्य में भी निरुपाधिक ज्ञेय ब्रह्म का ही अभ्यास होने से तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयों को बताकर "तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इस वाक्य में बताया गया आनन्दमय "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस वाक्य में श्रूयमाण ब्रह्म के उपलक्षक के रूप में उपदिष्ट और ब्रह्मपरक है, (स्वप्रधान नहीं है)।

१३. विकारशब्दान् नेति चेन्न प्राचुर्यात् १।१।१३॥

"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" (तै.२।५) इत्यत्र ब्रह्मसमानाधिकरणतयाऽवयवरूपविकारवाचिनः पुच्छशब्दस्य श्रवणात् तत्राऽवयवत्वेनैव ब्रह्म कल्पितं न प्राधान्येनोपलिलक्षयिषितमिति चेत्, न, पूर्वत्राऽन्नमयादीनां शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेषु सत्सु तत्प्रकरणेऽवयवाऽवयविभावकल्पनेन कृतस्य वर्णनस्य प्राचुर्यात् तदनुरोधेनाऽऽनन्दमयस्याऽपि अवयवावयविभावकल्पनेन वर्णनादानन्दमयाधारभूतस्य स्वप्रधानस्य ब्रह्मणोऽपि आनन्दमयप्रतिष्ठाभूतपुच्छरूपेणाम्नानं बोध्यम्; तथा कृते सति प्राचुर्यानुरोधपालनेन प्रक्रमभङ्गकृतवैरस्यस्य निरसनस्य पुच्छपदेनाऽऽधारस्य लक्षणेन विवक्षितार्थप्रतिपादनस्य च शक्यत्वात्।

हिन्दी – "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस वाक्य में ब्रह्मशब्द के समानाधिकरण के रूप में अवयवरूप विकार को बताने वाला पुच्छशब्द श्रुत होने से उस वाक्य में अवयव के रूप में ही ब्रह्म कल्पित हुआ है, स्वप्रधानरूप में ब्रह्म प्रतिपादित नहीं है, ऐसा कोई समझता है तो वह ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व अन्नमयादि में शिर आदि पुच्छान्त अवयवों का उपदेश होने से उस प्रकरण में अवयवाऽवयविभाव की कल्पना से किये गए वर्णन का प्राचुर्य होने से उसी के अनुरोध से आनन्दमय का भी अवयवाऽवयविभाव की कल्पना करके उपदेश किया गया है और पुच्छ पद से आधार को लक्षित कर के आनन्दमय का आधार ब्रह्म को मुख्य रूप में प्रतिपादित किया गया है।

१४. तद्-धेतु-व्यपदेशाच्च १।१।१४॥

तस्याऽऽनन्दमयस्य हेतुत्वेन ब्रह्मण उपदेशाच् चाऽऽनन्दमयो ब्रह्मपरो न स्वप्रधानः। तस्मिन् हि प्रकरणे सर्वस्य हि विकारजातस्य साऽऽनन्दमयस्य कारणं ब्रह्मेत्युपदिश्यते **"इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च"** (तै.२।६) इति। न चैवं कारण-

---

१. उपास्यब्रह्मप्रतिपादकवाक्यतात्पर्यनिरूपणपरेऽस्मिन् प्रथमाध्यायप्रथमपादपश्चाद्भाग आदावानन्दमयाधिकरणं निबध्नतश्चाऽस्य सूत्रकारस्यैतस्य तैत्तिरीयश्रुतिप्रकरणस्योपास्याऽऽनन्दमयब्रह्मप्रातिपादकताऽभिमतेव भाति, तथापि उपक्रमोपसंहाराभ्यां निर्गुणब्रह्मनिष्ठतया ज्ञायमानस्य प्रकरणस्याऽन्यथा कर्तुमनुचितत्वात् पादसङ्गतिमूलिकाया अस्याः प्रतीतेरपि बाध एव स्वीकरणीय इतिं विवेक्तव्यम्।

त्वेन व्यपदिष्टं ब्रह्म स्वविकारस्याऽऽनन्दमयस्य मुख्ययैव वृत्त्याऽवयवत्वेन विवक्षितमिति वक्तुं शक्यते। तस्मान्नाऽत्र ब्रह्मणोऽवयवत्वेन प्रतिपादनं मुख्यम्, किन्तु लाक्षणिकमेव। एवं चोपलक्षणीयनिरुपाधिकब्रह्मपरो ह्यानन्दमयो न स्वप्रधान इति तात्पर्यम्।

हिन्दी – उस आनन्दमय के हेतु के रूप में ब्रह्म का "इदं सर्वमसृजत" इस वाक्य में उपदेश होने से भी आनन्दमय ब्रह्म के उपलक्षक के रूप में उपदिष्ट होने की और स्वप्रधान नहोने की बात अवगत होती है।

१५. मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते १।१।१५॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.२।१) इत्यस्मिन् मन्त्रे यत् प्रकृतं ब्रह्म तदेव तन्मन्त्रव्याख्यानपरेण ब्राह्मणेनाऽपि विविधैः प्रकारैरुपगीयते। अत उपाधिद्वारा ब्रह्म प्रतिपादयितुं प्रवृत्तं ब्राह्मणमानन्दमयेनोपाधिना ब्रह्मैव मुख्यतयोपलक्षयतीति बोध्यम्। ब्राह्मणे आनन्दमयस्य स्वप्रधानत्वे स्वीकृते तु मन्त्रेण ब्रह्मणः स्वप्रधान-त्वेन प्रतिपादनं ब्राह्मणेन तु आनन्दमयस्य जीवात्मनः स्वप्रधानत्वेन प्रतिपादनम् इति मन्त्रब्राह्मणयोर् व्याख्येय-व्याख्यानयोरेकवाक्यता न स्यात्। तच्चाऽनुपपन्न-मेवेति ब्राह्मणेनाऽपि मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्म प्रतिपादितमिति स्वीकर्तव्यमेव।

हिन्दी – "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस मन्त्र में जो प्रकृत ब्रह्म है वही उस मन्त्र के व्याख्यान में प्रवृत्त ब्राह्मण में भी उपगीत है। अतः मन्त्र में ब्रह्म का प्रतिपादन होने से ब्राह्मण में भी, आनन्दमयरूप जीव का नहीं, ब्रह्म का ही प्रतिपादन माना जाना चाहिए।

१६. नेतरोऽनुपपत्तेः १।१।१६॥

एतस्मिन् प्रकरणे **"सोऽकामयत। बहु स्याम् प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च।"** (तै.२।६) इति श्रुतौ श्रूयमाणस्य प्रकृतस्य ब्रह्मणः शरीराद्युत्पत्तेः प्रागभिध्यानस्य, सृज्यमानानां च विकाराणां स्वाव्यतिरेकस्य, सर्वविकारसर्जनस्य च विज्ञानात्मनि अनुपपत्तेः प्रियशिरस्त्वादिना विज्ञानात्मतया निश्चीयमान आनन्दमयः स्वप्रधानतया नैतत्-प्रकरणप्रतिपाद्य इति गम्यते। सांव्यावहारिकं विज्ञानात्म-परमात्मनोर् भेदमादायेदं सूत्रं प्रवृत्तम्, न पारमार्थिकं भेदम्, एवं च विज्ञानात्मन एव मायाकल्पितो-पाधिसम्बन्धविधूननेनैव ब्रह्मत्वस्योपदेष्टुं शक्यत्वाच्च नास्त्येव सङ्ख्यावत्त्वा-भिमानभरनिपीडनवितथीभूतमानुषजन्मभिर् निगमावलम्बनवैमुख्यसुलभस्खलनैः साङ्ख्यैः परिकल्पितायाऽसिद्धभेदाभिमानिने पुरुषाय वेदान्तेषु स्वस्तीति ज्ञेयम्।

हिन्दी – इस प्रकरण में "सोऽकामयत" इत्यादि श्रुति में श्रुत शरीरादि की उत्पत्ति से पहले ही हुए ब्रह्म के अभिध्यान की, सृज्यमान विकारों के स्रष्टा से अव्यतिरेक की और सम्पूर्ण जगत्

के सर्जन की भी विज्ञानात्मा (जीव) में अनुपपत्ति होने से प्रियशिरस्त्वादि लक्षण से विज्ञानात्मा के रूप में ज्ञायमान आनन्दमय तैत्तिरीयोपनिषद् के सम्बद्ध प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं हो सकता है।

१७. भेदव्यपदेशाच्च १।१।१७॥

एतस्मिन् प्रकरणे **"रसो वै सः। रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"** (तै.२।७) इति विज्ञानात्मपरमात्मनोर् लब्धृ-लब्धव्यरूपेण भेदेन व्यपदेशात्, उपक्रमादिभिस् तात्पर्यलिङ्गैः प्रकरणस्याऽस्य ब्रह्मणि तात्पर्यस्य निश्चयाद् विज्ञानात्मतया सर्वलोकविदित आनन्दमयोऽत्र स्वप्रधानतया प्रकरणप्रतिपाद्यो भवितुं नार्हतीत्यर्थः। इदमपि सूत्रं सांव्यावहारिकमेव विज्ञानात्म-परमात्म-भेदमादाय प्रवृत्तम्।

हिन्दी – तैत्तिरीयोपनिषद् के इस प्रकरण में "रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इस वाक्य से विज्ञानात्मा और परमात्मा का उपलब्धा और उपलभ्य के रूप में भेद प्रतिपादित होने से और उपक्रमादि तात्पर्यलिङ्गों से इस प्रकरण का ब्रह्म में तात्पर्य निश्चित होने से भी विज्ञानात्मा के रूप में सर्वलोकविदित आनन्दमय इस प्रकरण में मुख्य प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता है।

१८. कामाच्च नाऽनुमानापेक्षा १।१।१८॥

एतस्मिन् प्रकरणे निरूपणीयस्य वस्तुनः **"सोऽकामयत"** (तै.२।६) इत्यत्र कामयितृत्वस्य श्रूयमाणत्वाद् नाऽनुमानविषयस्य साङ्ख्यपरिकल्पितस्याऽचेतनस्य प्रधानस्याऽऽनन्दमयोपलक्षणीयत्वेन कारणत्वेन वाऽप्यपेक्षाऽस्ति।

हिन्दी – तैत्तिरीयोपनिषद् के इस प्रकरण में निरूपणीय तत्त्व का "सोऽकामयत" इस वाक्य में कामना करने वाले के रूप में उल्लेख होने से अनुमान के विषय साङ्ख्यपरिकल्पित अचेतन प्रधान की आनन्दमयोपलक्षणीय मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व के रूप में अथवा जगत् के कारण के रूप में भी कोई अपेक्षा नहीं मानी जा सकती है।

१९. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति १।१।१९॥

अस्मिन् प्रकृते आत्मनि प्रतिबुद्धस्याऽस्य जीवस्य पूर्णतया तद्भावापत्तिं **"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदर[1]मन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।"** (तै.२।७) इति श्रुतिः शास्ति। एतच्च प्रकृतस्याऽऽत्मनो जीवत्वेन प्रधानत्वेन सगुणब्रह्मत्वेनाऽपि ग्रहणे नैवोपपद्यते, जीवस्य सगुणब्रह्मणाऽपि सर्वथैक्यस्याऽसम्भवात्। तस्मान् निर्गुणं ब्रह्मैवाऽत्र प्राकरणिकतया प्रतिपादितमिति निश्चीयते।

हिन्दी – इस प्रकृत ब्रह्म में प्रतिबुद्ध इस जीव का पूर्णतया उस ब्रह्म में एकीभाव होने की बात को "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये" इत्यादि श्रुति बताती है। यह बात प्रकृत प्रतिपाद्य मुख्य तत्त्व को जीव के रूप में वा प्रधान के रूप में वा सगुणब्रह्म के रूप में लेने पर भी उपपन्न नहीं होती है,

---

१. उदरम्=अल्पम् (अपि)। (उत्=अपि, अरम्=अल्पम्)।

क्योंकि इन में से किसी में भी प्रतिबुद्ध जीव का पूर्णतया एकीभाव नहीं हो सकता है। अतः इस प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही निश्चित होता है।

अथाद्वैतवेदान्तैकदेशिवृत्तिकाराभिमतानन्दमयाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" (तै.२।५) इति श्रुतिः।

विशयः– अत्राऽऽनन्दमयो जीवो वा प्रधानं वोपास्यं ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात्, प्रियाद्यवयवयोगात्, शारीरत्वश्रवणात्, विकारार्थकमयट्प्रत्ययश्रवणाच् चाऽऽनन्दमयो न ब्रह्म, किन्तु प्रियशिरस्त्वादिगुणविशेषवत्तया ध्येयो जीव एवेति।

उत्तरम्– परस्मिन्नात्मन्येवाऽऽनन्दशब्दस्याऽभ्यासात्, स्थूलारुन्धती-न्यायेनाऽन्येषामुपदेशेऽपि आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात्, प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्, प्रकृतस्यात्मन आनन्दहेतुत्वेन प्रतिपादितत्वादानन्दमयताया उपपत्तेः, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति मन्त्रे प्रतिपादितस्यैव ब्रह्मणो ब्राह्मणेऽपि आनन्दमयशब्देन प्रतिपादितत्वात्, जीवस्य स्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तेः, जीवानन्दमययोर् लब्धृ-लब्धव्यतया भेदेनोपदेशात्, प्रकृत आनन्दमये प्रतिबुद्धस्य जीवस्य तदैक्यस्य प्रतिपादितत्वाच् चाऽऽनन्दमयः सगुणमुपास्यं ब्रह्मेति।

निर्णयः– आनन्दमय उपास्यम् ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आत्माऽऽनन्दमयः कश्चिच् छ्रूयते तैत्तिरीयके।
२. स आनन्दमयो जीवो भवेद् वा ब्रह्म वा भवेत्॥१॥
३. तस्याऽमुख्यात्मप्रवाहे पाठादवयवोक्तितः।
विकारशब्दाच् शारीरात्मत्वोक्तेर् जीव एव सः॥२॥
४. आनन्दशब्दाभ्यासाच् चोऽपक्रमाद्यैश्च लिङ्गकैः।
मयस्य प्राचुर्यार्थत्वान् मन्त्रब्राह्मणसङ्गतेः॥३॥
तत्रोद्बुद्धस्य तद्योगात् स ब्रह्मैव भवेदिति।
५. आनन्दमय एषोऽत्र ध्येयं ब्रह्मेति निर्णयः॥४॥

अथ भाष्यकार-शङ्करभगवत्पादाभिमतमानन्दमयाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" (तै.२।५) इति श्रुतिः।

विशयः– अत्राऽऽनन्दमयः स्वप्रधानतयोपदिष्ट उत निर्गुणब्रह्मोपलक्षकतयेति।

पूर्वपक्षः– आनन्दमयादान्तरस्याऽन्यस्याऽनुपदेशात्, निर्गुणस्य ब्रह्मणोऽपि उपास्य-सगुणब्रह्मरूपस्याऽऽनन्दमयस्यैवाऽवयवत्वेन **"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा"** (तै.२।५) इति कीर्तनात्, निर्गुणस्य ब्रह्मणोऽत्र प्रकरणे प्रधानत्वे तस्याऽऽनन्दमयपुच्छतया प्रतिपादनस्याऽनौचित्यात्,

आनन्दमयादान्तरस्याऽन्यस्योपसङ्क्रमितव्यस्याऽनुपदेशात्, आनन्दमय-सन्निधौ "सोऽकामयत" (तै.२।६) इत्यादिनाऽऽनन्दमयस्य स्रष्टृत्वस्य प्रतिपादनादानन्दमयशब्देन विज्ञानात्मेश्वरयोरुभयोरेव प्रतिपादितताया निश्चयादानन्दमयं सगुणं ब्रह्माऽत्रोपास्यतया स्वप्रधानत्वेनोपदिष्टमिति।

उत्तरम्– ब्रह्मण आनन्दमयादान्तरत्वस्यार्थाद् गम्यत्वात्, आनन्दमयस्याऽभ्यासस्याऽभावात्, किन्त्वानन्दस्यैवाऽभ्यासात्, अवयवावयविभावकल्पनया कृतस्य पाठस्य प्राचुर्यात् तदनुरोधेन ब्रह्मणोऽपि पुच्छतयोपदेशेऽपि प्रतिष्ठापदसमभिव्याहारेणाऽऽनन्दमयस्यापि कारणत्वेन ब्रह्मणो निर्देशात्, आनन्दमयोपसङ्क्रमणनिर्देशेनैवाऽर्थादानन्दमयाधारभूतब्रह्मप्राप्तेर् निर्दिष्टत्वात्, मन्त्रब्राह्मणयोरेकवाक्यताया आवश्यकत्वान् मन्त्रे निर्गुणस्य ब्रह्मण उपक्रान्तत्वादानन्दमयस्याऽपि तदुपलक्षकतयैव नेयत्वात्, सृष्ट्याद्यनुपपत्तेरानन्दमयस्य विज्ञानात्मपरताया अप्यनास्थेयत्वात्, अस्मिन्नानन्दमयोपलक्षिते प्रतिबुद्धस्य जीवस्य ब्रह्मात्मतायाः प्रतिपादितत्वाद्, जीवस्य चोपाधिविमुक्तावपि निर्गुणेन ब्रह्मणैव सर्वथैक्यस्य सम्भवाच् चाऽऽनन्दमयो ब्रह्मपरः (ब्रह्मोपलक्षकः) एव न स्वप्रधान इति।

निर्णयः– आनन्दमयो ब्रह्मपरः (ब्रह्मोपलक्षकः) एव न स्वप्रधान इति। (एवञ्च साङ्ख्याऽभिमतविज्ञानात्मपरत्वं प्रधानकारणतापरत्वं चाऽस्य प्रकरणस्य नास्तीत्यपि अर्थात् निर्णयो भवति। 'नेतरोऽनुपपत्तेः', 'कामाच्च नाऽनुमानापेक्षा' इति सूत्राभ्यां सूचित एवाऽयं निर्णयोऽपि।)

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आत्माऽऽनन्दमयो विज्ञा-नमयादान्तरः श्रुतः।
तदङ्गेषु ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यपि च श्रुतम्॥१॥

२. तत्राऽऽनन्दमयस् स्वप्र-धानो वा ब्रह्मलक्षकः?

३. कस्याऽप्यनुक्तेरानन्दमयादान्तरकस्य तु॥२॥
ब्रह्मणोऽप्याऽऽनन्दमयपुच्छत्वेनैव कीर्तनात्।
एकीकृत्येश्वरं प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽत्रोपदेशनात्॥३॥
उपास्य आनन्दमयस् स्वतन्त्रो नाऽन्यलक्षकः।

४. आनन्दमयतोऽर्थाद्ध्याऽऽन्तरत्वं ब्रह्मणः स्फुटम्॥४॥
पुच्छत्वेनोपदेशेऽप्याधारत्वं ब्रह्मणोऽक्षतम्।
उपक्रमोपसंहारादिना प्रकरणस्य च॥५॥
निर्गुणब्रह्मपरताऽतिस्पष्टैव प्रतीयते।
मन्त्रब्राह्मणवाक्यार्थैक्यायाऽऽनन्दमयो ह्यतः॥६॥
आस्थेयो निर्गुणब्रह्मोपलक्षकतया स्थितः।

५. तदानन्दमयो ब्रह्मपरो न स्वप्रधानकः॥७॥

---

७. अन्तरधिकरणम् (सू.२०-२१)

ननु जीवात्मा-ऽऽकाश-प्राणादि-प्रतिपादनपराणामपि वेदान्तवाक्यानां सत्त्वात् कथं सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषे ब्रह्मणि समन्वय इति शङ्कायां तादृशवाक्यानामपि उपास्यब्रह्मपरतया प्रथमं सगुणब्रह्मणि समन्वयः, ततश्च तेषां वाक्यानामुपासनविधौ तात्पर्यादुपासनविधिना समन्वयः, एवं चोपासनविधिशेषाणां सगुणब्रह्मवाक्यानामनन्यशेषनिर्गुणब्रह्मवाक्यविरोधेन गुणानां तात्त्विकत्वे तात्पर्याभावस्य निश्चयात्, क्रममुक्त्यर्थोपासनाविधीनाञ्च निर्विशेषे ब्रह्मण्येव परमतात्पर्यस्य सत्त्वात् सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषे ब्रह्मणि परमतात्पर्येण समन्वयो भवत्येवेति समाधानं हृदयस्थं व्यञ्जयन्, उपाधिद्वारोपदिष्टत्वेऽपि अविवक्षितोपाधिसम्बन्धे निर्विशेषे ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां तात्पर्यं भवतीति प्रदर्शयितुं पूर्वस्मिन्नानन्दमयाधिकरणे प्रोक्ते, विवक्षितोपाधिसम्बन्धे सगुणे ब्रह्मण्यपि उपासनविधिशेषाणां केषाञ्चिद् वेदान्तवाक्यानां प्राथमिकः समन्वयो भवतीति प्रदर्शयन्, श्रुतीनां चेतनकारणताप्रतिपादन एव गतिसामान्यं न तु साङ्ख्याद्यभिमताऽऽनुमानिक-प्रधानादि-कारणता-प्रतिपादन इति प्रपञ्चयँश्चाऽऽह भगवान् सूत्रकारः —

२०. अन्तस् तद्धर्मोपदेशात् ११।२०॥ इति।

सर्वपाप्मापगम-ऋक्सामाद्यात्मकत्व-सर्वगानगेयत्व-सर्वलोक-सर्वमानुष-कामनिरङ्कुशेशितृत्वादीनामीश्वररूपब्रह्मधर्माणां तत्र प्रकरणे उपदेशात् **"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते"** (छा.१।६।६) इति, **"अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते"** (छा.१।७।५) इति च योऽन्तःपुरुषः श्रूयते स उपास्यतयोपाधिसम्बन्धेन प्रतिपादितमीश्वररूपं ब्रह्माऽस्ति।

हिन्दी – प्रतिपाद्य पुरुष में सम्पूर्ण पापों से रहितत्व, ऋक्सामादि रूपत्व, सम्पूर्ण सामों में गेयत्व, सम्पूर्ण लोकों का और सम्पूर्ण मानुष कामों का निरङ्कुश ईशितृत्व इत्यादि ईश्वररूप ब्रह्म के धर्मों की सत्ता का उपदेश होने से "अथ य एषोऽन्तरादित्ये पुरुषो दृश्यते" इत्यादि श्रुति में प्रतिपादित अन्तःपुरुष उपास्य ईश्वररूप ब्रह्म ही है।

२१. भेदव्यपदेशाच्चाऽन्यः ११।२१॥

"यऽआत्तँमानमन्तरो यमयति" (मा.वा.शत.१४।६।७।३०) इत्यन्तर्यामिणो जीवात्मभ्यो भेदेन व्यपदेशात् सर्वान्तर्यामीश्वररूपब्रह्मणो जीवोऽन्योऽस्तीत्यवगम्यते। अत ईश्वररूपं ब्रह्मैवाऽत्रोपास्यतयोक्तं न तु जीव इति तात्पर्यम्।

हिन्दी – "य आत्तँमानमन्तरो यमयति" इस श्रुति में अन्तर्यामी परमेश्वर रूप ब्रह्म को जीवात्मा से भिन्न रूप में प्रतिपादित किये जाने से भी परमेश्वर से जीवात्मा भिन्न अवगत होता है। अतः अन्तःपुरुष उपास्य ईश्वररूप ब्रह्म ही है, यह बात विदित होती है।

अथाऽन्तरधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर् हिरण्यकेश आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः" (छा.१।६।६) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– उक्तश्रुतौ श्रूयमाणः पुरुषो जीवो वा ब्रह्म वा ?

पूर्वपक्षः– रूपवत्त्वात्, आधारवत्त्वश्रवणात्, ऐश्वर्यस्य सीमितत्वाच् चाऽयं कश्चन विद्याकर्मातिशयात् प्राप्तोत्कर्षो जीवो न ब्रह्म तस्य रूपादिरहितत्वादिति।

उत्तरम्– एतस्य पुरुषस्य सर्वपाप्मापगम-ऋक्सामाद्यात्मकत्व-सर्वगानगेयत्व-लोक-काम-विषयकनिरङ्कुशेशितृत्वानां धर्माणां प्रतिपादितत्वादेतेषां धर्माणाञ्च जीवेऽनुपपन्नत्वाद् ब्रह्मण्येवोपपन्नत्वात्, जीवभिन्नस्य ब्रह्मणोऽपि सर्वान्तर्यामित्वेन सर्वत्र सन्निहितत्वात्, रूपवत्त्वादीनां चोपास्यतयोपदिष्टे ब्रह्मणि उपपन्नत्वादुपास्यतया ब्रह्मैवाऽत्र प्रतिपादितमिति।

निर्णयः– अन्तःपुरुष उपास्यतयोपदिष्टं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. एषोऽन्तरादित्य इत्यादिश्रुतौ कोऽपि पूरुषः।
२. स प्राप्तैश्वर्यको जीवोऽथवा ब्रह्म भवेन् ननु ॥१॥
३. रूपवत्त्वात् तथाऽधारवत्त्वादैश्वर्यसीमतः।
स प्राप्तोत्कर्षको जीवो भवेत् कश्चिन् न ब्रह्म तु ॥२॥
४-५. सर्वपाप्मोदितत्वाच् चेश्वरधर्मश्रुतेस्तथा।
उपास्ये रूपवत्त्वादेरुचितत्वाच्च ब्रह्म सः ॥३॥

---

८. आकाशाधिकरणम् (सू.२२)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्मवाक्याऽव्याघातं चेतनब्रह्मकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां गतिसामान्यमेव च प्रपञ्चयन्नाह–

२२. आकाशस् तल्लिङ्गात् १।१।२२॥

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्" (छा.१।९।१) इत्यादौ वाक्यशेषे तस्यैव ब्रह्मणो लिङ्गानां सर्वभूतोत्पत्तिकारणत्व-सर्वभूतलयस्थानत्व-सर्वज्यायस्त्व-सर्वभूतस्थित्याधारत्वरूपपरायणत्वाऽनन्तत्वानां श्रवणात् **"अस्य लोकस्य का गतिरित्यकाश इति होवाच"** (छा.१।९।१) इत्यत्र आकाशो ब्रह्म न भूताकाशः।

हिन्दी– वाक्यशेष में उसी ब्रह्म के सर्वभूतोत्पत्तिकारणत्व, सर्वभूतलयस्थानत्व, सर्वज्यायस्त्व, अनन्तत्व इत्यादि लिङ्गों का उल्लेख होने से "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच" इस छान्दोग्यवाक्य में श्रुत आकाश ब्रह्म ही है भूताकाश नहीं।

अथाकाशाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच"** (छा.१।९।१) इत्यादिकमाकाशदृष्ट्योद्गीथस्योपासनस्य विधायकं वाक्यम्।

विशयः– तत्राऽऽकाशो भूताकाश एव वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– आकाशशब्दस्य भूताकाशे प्रसिद्धत्वात्, ब्रह्मणि गौणत्वेनैव प्रयोगात्, मुख्यग्रहणे सम्भवति गौणग्रहणस्याऽन्याय्यत्वात्, आकाशस्याऽपि वाय्वादिक्रमेणाऽन्यसर्वभूतकारणताया उपपत्तेः, ज्यायस्त्वपरायणत्वयोरपि भूतान्तरापेक्षयोराकाशे सम्भवात्, कारणत्वादेर् ब्रह्मलिङ्गत्वेऽपि लिङ्गाच् छ्रुतेरेव बलीयस्त्वादत्राऽऽकाशो भूताकाश एवेति।

उत्तरम्– वाक्यशेषे सर्वभूतोत्पत्तिकारणत्व-सर्वभूतलयस्थानत्व-सर्वज्यायस्त्व-परायणत्वाऽनन्तत्वानां बहूनां ब्रह्मलिङ्गानां श्रवणात्, आकाशशब्दस्य ब्रह्मण्यपि प्रसिद्धत्वात्, बह्वीनां ब्रह्मलिङ्गश्रुतीनामनुरोधेनाऽऽकाशश्रुतेर् नेयत्वाद् आकाशो ब्रह्मैवेति।

निर्णयः– उक्तश्रुतावाकाशो ब्रह्मैव; अतो ब्रह्मदृष्ट्यैवोद्गीथस्योपासनं न भूताकाशदृष्ट्येति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आकाश इति होवाचेत्युद्गीथाकाशदर्शनम्।
२. तत्राऽऽकाशो भवेद् भूताकाश एवाऽथ ब्रह्म वा ॥१॥
३. भूताकाशः प्रसिद्धेश्च हेतुत्वादेश्च सम्भवात्।
४-५. मुख्यानां सर्वजन्मादिकारणत्वादिलक्ष्मणाम् ॥२॥
ब्रह्मण्येवोपपन्नत्वादाकाशो ब्रह्म नाऽपरः।
तदुद्गीथोपास्तिरत्र ब्रह्मदृष्ट्यैव नाऽन्यथा ॥३॥

---

९. प्राणाधिकरणम् (सू.२३)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्मवाक्याव्याघातं चेतनब्रह्मकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां गतिसामान्यमेव च प्रपञ्चयन्नाह–

२३. अत एव प्राणः १।१।२३॥ इति।

अस्मादेव पूर्वसूत्रोक्तात् तल्लिङ्गाद् हेतोः **"कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच"** (छा.१।११।४,५) इत्यत्राऽपि प्राणो ब्रह्मैव, न वायुविकाररूपः प्राणः। श्रूयते हि तस्य ब्रह्मणो लिङ्गं भूतलयोत्पत्तिस्थानत्वं **"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाऽभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते"** (छा.१।११।५) इति वाक्यशेषे। प्राणमभिसंविशन्ति प्राणमभिलक्ष्य सम्यग् विशन्ति, लीयन्ते इत्यर्थः; प्राणमभ्युज्जिहते प्राणमभिलक्ष्योत्पद्यन्ते इत्यर्थः।

हिन्दी – वाक्यशेष में भूतलयोत्पत्तिस्थानत्वरूप ब्रह्म के लिङ्ग का उपदेश होने से "कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच" इस छान्दोग्यवाक्य में श्रुत प्राण ब्रह्म ही है वायुविकाररूप प्राण नहीं।

अथ प्राणाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच"** (छा.१।११।४,५) इत्यादिकं प्राणदृष्ट्या साम्नः प्रस्तावस्योपासनस्य विधायकं वाक्यम्।

विशयः– अत्र प्राणो वायुविकाररूपः पञ्चवृत्तिः प्राणो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– प्राणशब्दस्य वायुविकारे पञ्चवृत्तिके प्राणे प्रसिद्धत्वात्, मुख्ये प्राणेऽपि भूतानां संवेशनस्योद्गमनस्य च **"यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणन् तर्हि वागप्येति"** (मा.वा.शत.१०।३।३।६) इत्यादौ महाभूतसाररूपाणामिन्द्रियाणां लयोत्पत्योः कथनेन प्रतिपादितत्वात् सामभक्तिविशेषयोरुद्गीथप्रतिहारयोर् देवतयोरन्नादित्ययोरब्रह्मत्वात् सामभक्तिविशेषस्य प्रस्तावस्य देवतायाः प्राणस्याऽपि अब्रह्मताया युक्तत्वाच्च प्राणोऽत्र वायुविकारः पञ्चवृत्तिकः प्राण एव न ब्रह्मेति।

उत्तरम्– स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव लयोत्पत्ती श्रूयेते इह तु **"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि"** (छा.१।११।५) इति श्रुतेः सेन्द्रियाणां सशरीराणाञ्च जीवाविष्टानां भूतानां लयोत्पत्ती विज्ञायेते। तस्मात् स्पष्टेन लिङ्गेन प्राणस्य ब्रह्मत्वेऽवगते सन्निधेरकिञ्चित्करत्वात्, प्राणशब्दस्य वायुविकारभूते प्राणे प्रसिद्धतरत्वेऽपि वाक्यशेषेण बाधितत्वेन तस्य प्राणस्याऽपरिग्राह्यत्वात्, **"प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः"** (छा.६।८।२) **"प्राणस्य प्राणम्"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२१, का.वा.बृह.४।४।१८) इत्यादौ ब्रह्मणि अपि प्राणशब्दस्य प्रसिद्धेश्चाऽत्र प्राणो ब्रह्मैव न वायुविकार इति।

निर्णयः– उक्तश्रुतौ प्राणो ब्रह्मैव, तस्मात् प्रस्तावे ब्रह्मदृष्टिरेव कार्येति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. कतमा सा देवतेति प्राण इत्यादिका श्रुतिः।
छन्दोगानां विधत्ते हि प्रस्तावप्प्राणदर्शनम्॥१॥
२. प्राणो वायुविकारो वा ब्रह्म वाऽत्र भवेन् ननु।
३. प्राणो वायुर् ह्यत्र भूत-सारेन्द्रियलयश्रुतेः॥२॥
अब्रह्मान्नादित्यसान्निध्याच्च शब्दप्रसिद्धितः।
४-५. सर्वभूतलयोत्पत्योर् ब्रह्मण्येव च सम्भवात्॥३॥
स्पष्टैर् लिङ्गैर् निश्चितेऽर्थे तद्विरुद्धार्थकत्वतः।
शब्दमात्रप्रसिद्धेश्चाऽर्थान्तरस्य च सन्निधेः॥४॥
द्वयोर् ह्यकिञ्चित्करत्वात् प्राणो ब्रह्माऽत्र नापरः।
तत् प्रस्तावोपासनञ्च ब्रह्मदृष्ट्यैव नाऽन्यथा॥५॥

१०. ज्योतिश्चरणाधिकरणम् (सू.२४-२७)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्मवाक्याऽव्याघातं चेतनस्यैव ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तवाक्यानां गतिसामान्यमेव च प्रपञ्चयन्नाह भगवान् सूत्रकारः —

२४. ज्योतिश् चरणाऽभिधानात् १।१।२४॥ इति।

"तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" (छा.३।१२।६) इति पूर्ववाक्ये यच् चतुष्पदो ब्रह्मणः त्रिपादमृतं द्युसम्बन्धि रूपं निर्दिष्टं तस्यैव "यदतः परो दिवो ज्योतिर् दीप्यते" इति परामर्शात् **"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर् दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु"** (छा.३।१३।७ इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतं ज्योतिर् ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यम्।

हिन्दी– "तावानस्य महिमा" इत्यादि पूर्व वाक्य में जिस चतुष्पात् ब्रह्मका द्युलोकसम्बन्धी त्रिपात् अमृत रूप निर्दिष्ट था उसी के द्युलोक सम्बन्धी पाद का "यदतः परो दिवो ज्योतिर् दीप्यते" इस छान्दोग्यवाक्य में परामर्श किये जाने से इस वाक्य में श्रुत ज्योति ब्रह्म है भूतज्योति नहीं।

२५. छन्दोभिधानान् नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् १।१।२५॥

ननु **"गायत्री वा इदं सर्वम्"** (छा.३।१२।१) इति गायत्रीमुपक्रम्य **"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाऽभ्यनूक्तन्— तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि"** (छा.३।१२।५,६) इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः; तस्मात् तेन मन्त्रेण गायत्र्याः छन्दसोऽभिधानाद् ब्रह्मणोऽप्रकृतत्वाद् **"यदतः परो दिवो ज्योतिः"** (छा.३।१३।७) इति न ब्रह्मपादपरामर्श इति चेत्, तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणस्य **"गायत्री वा इदं सर्वम्"** (छा.३।१२।१) इति वाक्येन निगदनात् न तथा स्वीकर्तुं युज्यते; तथा हि अन्यत्राऽपि **"एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते"** (ऐ.आ. ३।२।३।१२) इत्यादौ विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनस्य दर्शनं भवति।

हिन्दी– "तावानस्य महिमा" इत्यादि मन्त्र में "गायत्री वा इदं सर्वम्" इत्यादि रूप में उपक्रान्त गायत्री का ही प्रतिपादन होने से और ब्रह्म उपक्रान्त न होने से "यदतः परो दिवो ज्योतिः" इस वाक्य में ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं माना जा सकता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि गायत्री छन्द को द्वार बनाकर तदनुगत ब्रह्म में चित्त को अर्पित करने की बात ही "गायत्री वा इदं सर्वम्" इस वाक्य से बताई गई है; इस प्रकार विकारद्वारा ब्रह्म की उपासना करने की बात "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते" इत्यादि ऐतरेय्यारण्यकादि के वाक्यों में अन्यत्र भी देखी जाती है।

२६. भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश् चैवम् १।१।२६॥

गायत्रीद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणस्याऽत्राऽङ्गीकार एव भूत-पृथिवी-शरीर-हृदयानि निर्दिश्य **"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री"** (छा.३।१२।५) इति भूतादीनां गायत्रीपादत्वेन व्यपदेशस्योपपत्तेश् चाऽत्र ब्रह्म प्रकृतमित्येवं स्वीकर्तव्यम्। ब्रह्मणोऽनाश्रयणे तु अक्षरात्मिकाया गायत्र्या भूतादयः कथं पादाः स्युरिति भूतादिपादव्यपदेशानुपपत्तिरेव स्यात्। एवञ्च पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मैव **"यदतः परो दिवो ज्योतिः"** (छा.३।१३।७) इति वाक्ये परामृश्यते इत्यवगन्तव्यम्।

हिन्दी – गायत्री छन्द को द्वार बनाकर तदनुगत ब्रह्म में चित्त को अर्पित करने की बात को मानने पर ही इस प्रकरण में भूत-पृथिवी-शरीर-हृदय को निर्दिष्ट कर के उन को गायत्री के पादों के रूप में प्रतिपादित करने की बात उपपन्न हो सकने से भी इस प्रकरण में ब्रह्म का ही प्रतिपादन अवगत होता है।

२७. उपदेशभेदान् नेति चेन् नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् १।१।२७॥

"त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" इत्यत्र दिवीति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा, **"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः"** इत्यत्र दिव इति पञ्चम्या तु द्यौर् मर्यादात्वेनोपदिष्टा, तस्मादुपदेशभेदात् तदुपाधिकतयोपदिष्टं वस्त्वपि भिन्नमेव प्रतीयते, अतश्च एक-मेवेति तस्य प्रत्यभिज्ञानं न भवितुमर्हतीति चेत्, यथा लोकेऽपि श्येने वृक्षाग्र-सम्बद्धे सति वृक्षाग्रे श्येन इति वृक्षाग्रात् परतः श्येन इति चोभयथा निर्दिष्टस्यैक-विषयतया प्रत्यभिज्ञानेऽविरोधो भवति तथैव श्रुतौ सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोभय-स्मिन्नपि उपदेशे तयोरुपदेशयोरेकविषयतया प्रत्यभिज्ञानस्याऽविरोधात् न प्रत्य-भिज्ञानाऽनुपपत्तिरित्यर्थः।

हिन्दी – "त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" इस पूर्ववाक्य में "दिवि" इस सप्तम्यन्त पद से द्युलोक आधार के रूप में प्रतिपादित है, "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः" इस उत्तरवाक्य में "दिवः" इस पञ्चम्यन्त पद से द्युलोक अवधि के रूप में प्रतिपादित है, इस प्रकार उपदेश में भेद होने से द्युलोकको उपाधि बनाकर उपदिष्ट तत्त्व भी भिन्न ही प्रतीत होता है, अतः उन दो तत्त्वों का एक रूप में प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्यों कि जैसे लोक में भी वृक्ष के अग्र भाग में बाज पक्षी रहने पर 'वृक्षाग्र में बाज पक्षी है' अथवा 'वृक्षाग्र से उपर बाज पक्षी है' इन दोनों प्रकार के कथनों में उसी एक बाज पक्षी का निर्देश समझने में कोई विरोध नहीं होता है वैसे ही उक्त श्रुति वाक्यों में भी उसी एक ब्रह्म का निर्देश समझने में कोई विरोध नहीं होता है।

अथ ज्योतिश्चरणाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर् दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु" (छा.३।१३।७) इत्यादिकं श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र ज्योतिश्शब्देनाऽऽदित्यादिक ज्योतिरभिधीयते किं वा ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– ज्योतिश्शब्दस्य लोक आदित्यादौ प्रसिद्धेः, द्युमर्यादत्वश्रुतेरादित्यादिज्योतिषोऽपि उपासनार्थं प्रदेशविशेषपरिग्रहस्योपपत्तेः, कौक्षेये ज्योतिषि जडेऽध्यासादेतस्य ज्योतिषोऽपि जडताया युक्तत्वात्, दृष्टश्रुतत्वेनोपासनाया विधानात्, उपासनफलस्याऽल्पस्यैवाऽत्रोक्तत्वात्, गायत्र्या एव प्रकृतत्वात्, ब्रह्मणः प्रकृतत्वेऽपि निर्देशभेदादेकत्वेनाऽप्रत्यभिज्ञानाच्च नाऽत्र ज्योतिर् ब्रह्म, किन्तु प्राकृतं ज्योतिरेवेति।

उत्तरम्– पूर्वस्मिन् वाक्ये यत्र चतुष्पदो ब्रह्मणस् त्रिपादमृतं द्युसम्बन्धि रूपं निर्दिष्टं तदेवाऽत्र वाक्ये द्युसम्बन्धान् निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञानात्, प्रसिद्ध्यन्तरमात्रेण प्रकृतहानस्याऽप्रकृतपरिग्रहस्याऽसम्भवात्, दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि ज्योतिश्शब्दप्रयोगस्य सम्भवात्, सर्वगतस्याऽपि ब्रह्मण उपासनार्थं प्रदेशविशेषपरिग्रहस्याऽविरुद्धत्वात्, परस्याऽपि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकवत्त्ववत् कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वस्याऽप्युपपत्तेः, प्रतीकद्वारयोर् दृष्टश्रुतत्वयोश्चोपपन्नत्वात्, सगुण-सोपाधिक-ब्रह्मोपासनानामुच्चावचफलकताया उचितत्वाद्, गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण ब्रह्मणि चित्तसमाधानस्य कथनाद्, गायत्र्या ब्रह्मप्रतीकत्वेनोपादान एव भूतादिपादव्यपदेशस्योपपत्तेः, निर्देशभेदस्याऽपि अविरोधाचाऽत्र ज्योतिर् ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यमिति।

निर्णयः– अत्र ज्योतिर् ब्रह्मैव। तथा च कौक्षेयज्योतिषो ब्रह्मदृष्ट्योपासनं कर्तव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. छान्दोग्ये यदतः परो दिवो ज्योतिरितिश्रुतिः।
२. तत्राऽऽदित्यादिकं ज्योतिर् ब्रह्म वा ज्योतिरुच्यते ॥१॥
३. प्रसिद्धेरवधेः कुक्षिज्योतिष्यध्यासतस्तथा।
गायत्र्याः प्रकृतत्वेन ब्रह्मणोऽप्रकृतत्वतः ॥२॥
उपासनाफलाल्प्याच् चाऽऽदित्यादिज्योतिरस्ति तत्।
४-५. ध्येयस्य गायत्रीद्वारा ब्रह्मणो हि चतुष्पदः ॥३॥
अमृतं हि त्रिपाद् रूपं यच्छब्देनाऽनुवर्त्यते।
तस्माज् ज्योतिष्ट्वस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वादुपासने ॥४॥
फलभेदस्य चेष्टत्वाज् ज्योतिर् ब्रह्मेति निर्णयः।
तत् कौक्षेयज्योतिषश्च ब्रह्मदृष्ट्या ह्युपासनम् ॥५॥

---

११. प्रतर्दनाऽधिकरणम् (सू. २८-३१)

अथोपाधिद्वारोपदेशपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं चेतनस्यैव ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तवाक्यानां गतिऽसामान्यमेव च प्रपञ्चयन्नाह–

२८. प्राणस् तथाऽनुगमात् ।१।१।२८॥ इति।

"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" (कौषी.३।१) इत्यारब्धायामिन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकायां कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि **"स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व"** (कौषी.३।२) इत्यादौ प्राणः उपक्रमादिवाक्यानां ब्रह्मप्रतिपादनपरतया समनुगतत्वाद् ब्रह्माऽस्तीत्यवगम्यते इत्यर्थः। उपक्रमे मनुष्याय हिततमस्य वरणात्, प्राणविज्ञानस्य सर्वकर्मक्षयहेतुत्वस्य कीर्तनात्, प्राणस्य प्रज्ञात्मतायाः कथनात्, उपसंहारे च **"आनन्दोऽजरोऽमृतः"** (कौषी.३।८) इत्युक्तत्वात् प्रकरणस्य ब्रह्मपरताया निर्णयात् प्रकृतः प्राणो ब्रह्मैवेति निश्चीयते इति भावः।

हिन्दी – कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् की इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका में "स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" इत्यादि वाक्य में श्रुत प्राण उपक्रमादि वाक्यों का ब्रह्मप्रतिपादन में समनुगत होने से ब्रह्म अवगत होता है।

२९. न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।१।१।२९॥

प्रतर्दनं प्रति वक्तुरिन्द्रस्याऽऽत्मनः प्राणत्वेनोपदेशात् प्राणो न ब्रह्म, किन्तु इन्द्रात्मा देवताविशेष इति चेत्, न तथा स्वीकर्तुं युज्यते, यतो हि अस्मिन् प्रकरणे प्रत्यगात्मसम्बन्धस्य बाहुल्यं दृश्यते इत्यर्थः। प्रत्यगात्मद्वारा ब्रह्मोपदेश एवाऽयं न देवतोपदेश इति भावः।

हिन्दी – प्रतर्दन के प्रति उपदेश करने वाले इन्द्र के आत्मा को प्राण कहे जाने से यह प्राण ब्रह्म नहीं माना जा सकता है, किन्तु यह प्राण इन्द्र का आत्मा देवताविशेष अवगत होता है, ऐसी बात नहीं करनी चाहिए; क्यों कि इस प्रकरण में प्रत्यगात्मा के सम्बन्धों का बाहुल्य देखा जाता है। अत एव इस प्रकरण में प्रत्यगात्मा के माध्यम से ब्रह्म का ही उपदेश अवगत होता है, यह तात्पर्य है।

३०. शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।१।१।३०॥

यथा **"तद् धैतत् पश्यन्नृषिर् व्वामदेवः प्रतिपेदेऽहम् मनुरभवꣳ सूर्य्यश्च्च"** (मा.वा.शत. १४।४।२।२२, का.वा.बृह.१।४।१०) इत्युक्तप्रकारेण वामदेवोऽपश्यत् तथा यथाशास्त्रम् 'अहमेव परं ब्रह्म' इति पश्यता इन्द्रेण तु शास्त्रदृष्ट्या **"मामेव विजानीहि"** (कौषी.३।१) इत्युपदेशः कृतोऽस्तीत्यर्थः। अतोऽत्र ब्रह्मोपदेश एव न देवतोपदेश इति भावः। एतत्प्रकरणे त्वाष्ट्रवधादीनामिन्द्रकर्मणामुपन्यासस्तु 'यथैवं क्रूरकर्माणि कृतवतोऽपि ब्रह्मज्ञस्येन्द्रस्य लोमाऽपि न शीयते तथैव योऽन्योऽपि ब्रह्म वेद तस्याऽपि केनाऽपि कर्मणा लोको न हिंस्यते' इति प्रतिपादनाय। उक्तं हि **"स यो मां विजानीयान् नाऽस्य केन च कर्मणा लोको मीयते"** इत्यादि (कौषी.३।१)।

हिन्दी – जैसे आत्मज्ञानी वामदेव ऋषि ने 'मैं मनु और सूर्य भी हुआ' ऐसी बात कही वैसे ही आर्षदर्शनानुसार अपने को 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करने वाले इन्द्र ने शास्त्रदृष्टि से बोलते

हुए प्रतर्दन को 'मुझ को ही पहचानो' ऐसा उपदेश किया है। अतः इस प्रकरण में इन्द्र के आत्मा देवताविशेष का उपदेश नहीं ब्रह्म का ही उपदेश है, यह भाव है।

३१. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान् नेति चेन् नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् १।१।३१॥

वागादिभिः करणैर् व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य लिङ्गस्य **"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्"** (कौषी.३।८) इत्यादौ स्पष्टतया श्रवणात्, शरीरधारणरूपस्य प्राणसंवादादौ प्रसिद्धस्य मुख्यप्राणलिङ्गस्य च **"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति"** (कौषी.३।३) इत्यत्र श्रवणादिह जीवो वा प्राणो वोभौ वा प्रतीयेतां न ब्रह्मेति चेत्, न तथा स्वीकर्तुं युज्यते, तथा सति अस्मिन् प्रकरणे जीवोपासनम्, मुख्यप्राणोपासनम्, ब्रह्मोपासनम् इति उपासनानां त्रयं त्रैविध्यं वा स्यात्, न चोपक्रमोपसंहाराभ्यामेकवाक्यतया ग्राह्ये प्रकरणे तत् सम्भवति; तस्मान् न जीवोपासनादीनि त्रीण्युपासनान्यत्र प्रकरणे स्वीकार्याणि, अन्यत्राऽपि ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि **प्रवृत्तेराश्रितत्वाद्** इहाऽपि **तेषां** हिततमोपन्यासादिकानां ब्रह्मलिङ्गानां **योगात्**, श्रूयमाणस्य जीवव्यापारस्य मुख्यप्राणव्यापारस्य च परब्रह्मणि उपचरितुं शक्यत्वाच्च प्राणोऽत्र ब्रह्मैवेत्यर्थः। तस्मात् **"तं मामायुरमृतमित्युपास्व"** (कौषी.३।२) इत्यत्रोपास्वेतिपदश्रवणादेवाऽत्र प्रकरण उपासनाविधिर् न स्वीकर्तव्यः, किन्तु प्राकरणिकं ब्रह्मैव प्राणशब्देनोक्तमिति बोध्यमिति तात्पर्यम्।

हिन्दी – इस प्रकरण में **"वक्तारं विद्यात्"** यह जीव का लिङ्ग, और **"प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति"** यह प्राणसंवादादि में प्रसिद्ध मुख्य प्राण का लिङ्ग भी पाया जाता है, इस से तो इस प्रकरण में जीव का अथवा मुख्य प्राण का उपदेश अवगत होता है, ब्रह्म का उपदेश तो नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उस पक्ष में उपक्रमादि से एकवाक्यता निश्चित होने वाले इस प्रकरण में अस्वीकार्य जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना इन तीनों उपासनाओं के विधान को स्वीकृत करने की आपत्ति आ जाने से, अन्यत्र भी ब्रह्मलिङ्ग देखे जाने पर प्राणशब्द का ब्रह्मवाचकरूप में प्रयोग स्वीकृत होने से, और इस प्रकरण में भी हिततमोपन्यासादि ब्रह्मलिङ्गों का योग होने से "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" इस वाक्य में श्रुत प्राण ज्ञेय ब्रह्म ही है।

अथ प्रतर्दनाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" (कौषी.३।२) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र प्राणो मुख्यप्राणो वा देवतात्मा वा जीवो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– वायुविकारविशेषे प्राणशब्दस्य प्रसिद्धेः प्राणोऽत्र मुख्यः प्राण एव स्यात्, अथवा **"मामेव विजानीहि"** (कौषी.३।१) **"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा"** (कौषी.३।२) इति वक्तु-

रिन्द्रस्याऽऽत्मत्वेनोपदेशात् प्राण इन्द्रदेवतात्मा स्यात्, **"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्"** (कौषी.३।८) इति जीवस्य लिङ्गात्, **"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति"** (कौषी.३।३) इति प्राणस्य लिङ्गाच्च जीवो वा प्रतीयेत प्राणो वा प्रतीयेत, उभौ वाऽस्मिन् प्रकरणे प्रतीयेतां न तु ब्रह्म प्रतीयेतेति।

उत्तरम्– इन्द्रस्य मनुष्याय हिततममुपदेष्टुं प्रवृत्तत्वात्, उपदिष्टप्राणात्मज्ञस्य सर्वकर्मक्षयस्य प्रतिपादनात्, प्रज्ञात्मताया ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यमानत्वात्, **"आनन्दोऽजरोऽमृतः"** (कौषी.३।८) इत्युपसंहारात्, अस्मिन् प्रकरणे प्रत्यगात्मसम्बन्धस्य बाहुल्येन दर्शनाद् देवतात्मोपदेशस्याऽप्यनुपपद्यमानत्वात्, आत्मानं परमात्मत्वेन यथाशास्त्रं ज्ञात्वोपदेशनात्, जीवमुख्यप्राणयोरपि प्राकरणिकत्वेन परिग्रहे जीव-प्राण-ब्रह्मोपासनानां तिसृणां प्रतिपाद्यतायाः स्वीकर्तव्यत्वेन प्रकरणैकवाक्यताभङ्गप्रसङ्गाच्चाऽत्र प्राणो ब्रह्मैव, न मुख्य प्राणो न वा देवतात्मा, न वा जीव इति।

निर्णयः– इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकायां **"स होवाच प्राणोऽस्मि"** इत्यत्र प्राणो ब्रह्मैव, तथा च ज्ञेयब्रह्मपरमेवेदं प्रकरणमिति च।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामिति कौषीतकिश्रुतिः।
२. तत्र प्राणो मुख्यप्राणो देवो जीवोऽथ ब्रह्म वा ॥१॥
३. मुख्यः प्राणः प्रसिद्धेश्च देहोत्थापनलिङ्गतः।
वक्तुरात्मा वा तथोक्तेर् जीवो वा जीवलिङ्गतः ॥२॥
४-५. उपक्रमोपसंहृत्योर् ब्रह्मतात्पर्यवत्तया।
प्रज्ञात्मत्वादिलिङ्गानां ब्रह्मण्येवोपपत्तितः ॥३॥
परे जीवादिलिङ्गानामुपचारेण वर्णनात्।
अनौपचारिकत्वे चोपासनाभेददोषतः ॥४॥
शास्त्रदृष्ट्योपदेशाच्च प्राणो ब्रह्मेति निर्णयः।
तथा चाऽत्र ज्ञेयब्रह्म-निरूपणमिति स्थितम् ॥५॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ प्रथमे श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽध्याये प्रथमः
स्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयप्रदर्शनपरः
पादः समाप्तः॥

अथ द्वितीयः पादः

(उपास्यब्रह्मपरकाऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयपरः)

१२. (१) सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरणम् (सू.१-८)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्मवाक्यानामव्याघातं चेतनस्यैव ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां गतिसामान्यमेव च प्रपञ्चयन्नाह भगवान् सूत्रकारः —

३२. सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् १।२।१॥ इति।

छान्दोग्यादिषु शाण्डिल्यविद्यायां **"स क्रतुं कुर्वीत"** (छा.३।१४।१) इत्याद्युपासनविधानं कृत्वा **"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा"** (छा.३।१४।२, द्र.–मा.वा.शत.१०।६।३।२) इत्यादिनोपास्यतयोपदिष्ट आत्मा सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मशब्दवाच्यतया प्रसिद्धस्य जगत्कारणस्यैव **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** (छा.३।१४।१) इत्याद्युपक्रमे ब्रह्मशब्दालम्बनतया श्रुतस्य मनोमयत्वादिधर्मैर् विशिष्टस्योपास्यत्वेनोपदेशाद् ब्रह्माऽस्ति न जीवः। उपक्रमे शमविधिविवक्षया निर्दिष्टस्याऽपि ब्रह्मणः सन्निहितत्वान् मनोमयादिवाक्यप्रतिपाद्यतया ग्रहणम्, जीवस्य तु सन्निधेः स्वशब्देनोपादानस्य चाऽभावादग्रहणम्। एवं च न प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्।

हिन्दी– सभी वेदान्तों में (उपनिषदों में) ब्रह्मशब्दवाच्य तत्त्व के रूप में प्रसिद्ध जगत्कारण का ही "मनोमयः प्राणशरीरः" इत्यादि छान्दोग्यवाक्य में उपदेश किये जाने से उक्त वाक्य में प्रतिपादित आत्मा ब्रह्म (परमात्मा) है, जीवात्मा नहीं।

३३. विवक्षितगुणोपपत्तेश्च १।२।२॥

उपासनायामुपादेयत्वेनाऽभिमतानां सत्यसङ्कल्पत्वादीनां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः, जीवगुणानां मनोमयत्वादीनामपि ब्रह्मणः सर्वात्मत्वाद् ब्रह्मगुणत्वस्याऽप्युपपत्तेश्च गुणोपाधिकमुपास्यं ब्रह्मैवाऽत्र प्रतिपादितं ज्ञेयमित्यर्थः।

हिन्दी– उपासना में उपादेय सत्यसङ्कल्पत्वादि गुणों का तथा जीवगुण के रूप में प्रसिद्ध मनोमयत्वादि गुणों का भी परमात्मा में ही उपपत्ति होने से भी इस प्रकरण में गुणोपाधिक उपास्य ब्रह्म ही प्रतिपादित है।

३४. अनुपपत्तेस् तु न शारीरः १।२।३॥

उपासनायामुपादेयत्वेनाऽभिहितानां सत्यसङ्कल्पत्वाऽऽकाशात्मत्वादीनां गुणानां जीवेऽनुपपत्तेः शरीरपरिच्छिन्नो जीवोऽत्र प्रकरण उपास्यतया प्रतिपादितो नास्तीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – इस प्रकरण में उपासना में उपादेय रूप में प्रतिपादित सत्यसङ्कल्पत्वादि गुणों का शारीर आत्मा (जीव) में उपपत्ति न होने से इस प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य शारीर आत्मा (जीव) नहीं हो सकता है।

३५. कर्म-कर्तृ-व्यपदेशाच्च १।२।४॥

"एतमितः प्रेत्याऽभिसम्भवितास्मि" (छा.३।१४।४, द्र.-मा.वा.शत.१०।६।३।२) इति उपासकस्य शारीरस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वेन व्यपदेशात्, उपास्यस्य मनोमयत्वादि-गुणकस्याऽऽत्मनः कर्मत्वेन व्यपदेशात्, सत्यां गतावेकस्य कर्म-कर्तृ-व्यपदेशस्या-ऽनाश्रयणीयत्वाच् च उपास्याद् भिन्नत्वेनोपात्त उपासकः शारीर आत्मा नाऽत्रो-पास्यत्वेन ग्राह्यः। **"एतमितः प्रेत्याऽभिसम्भवितास्मि"** इत्यस्य हि 'अहमस्माल् लोकात् परलोकं गत्वा मनोमयत्वादिविशिष्टं परमात्मानं प्राप्तास्मि' इत्यर्थः।

हिन्दी – इस प्रकरण में "एतमितः प्रेत्याऽभिसम्भविताऽस्मि" अर्थात् 'मैं इस लोक से परलोक में जाकर मनोमयत्वादि विशिष्ट परमात्मा में प्राप्त हूँगा' इस वाक्य में उपासक शारीर आत्मा (जीव) का कर्ता के रूप में और उपास्य मनोमयत्वादि गुणों से युक्त आत्मा का कर्म के रूप में उल्लेख होने से और गत्यन्तर सम्भव होने तक एक ही तत्त्व का युगपत् कर्तृत्व और कर्मत्व मानने में औचित्य न होने से भी इस प्रकरण में उपास्य से भिन्न कर्ता के रूप में उल्लिखित शारीर आत्मा (जीव) उपास्य के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता है।

३६. शब्दविशेषात् १।२।५॥

समानार्थकप्रकरणे श्रुत्यन्तरे **"अयमन्तरात्तँमन्न् पुरुषो हिरण्मयः"** (मा.वा.शत.१०।६।३।२) इति शारीरात्माभिधायकाल् लुप्तसप्तम्यन्ताद् 'अन्त-रात्मन्' इति शब्दाद् विशिष्टस्याऽन्यस्य प्रथमान्तस्य 'पुरुषः' इति शब्दविशेषस्य मनोमयत्वादि-विशिष्टात्मनोऽभिधायकस्य श्रवणाच्च शारीर आत्माऽत्र च्छान्दोग्य-वाक्ये उपास्यत्वेन नैव ग्राह्यः।

हिन्दी – अन्य श्रुति में (माध्यन्दिनीय-वाजसनेयिशाखा में) आए हुए समानार्थक प्रकरण में "अयमन्तरात्तँमन्न् पुरुषो हिरण्मयः" इस वाक्य में शारीर आत्मा का अभिधायक लुप्तसप्तम्यन्त "अन्तरात्मन्" इस शब्द से भिन्न विशिष्ट प्रथमान्त पुरुष-शब्द का मनोमयत्वादिविशिष्ट उपास्य आत्मा के अभिधायक के रूप में प्रयोग देखे जाने से भी शारीर आत्मा (जीव) छान्दोग्य के इस प्रकरण में उपास्य रूप में प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता है।

३७. स्मृतेश्च १।२।६।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रा-रूढानि मायया" (गीता.१८।६१) इत्याद्यायाः स्मृतेश्च परमात्मनो भिन्नतया-ऽवगम्यमानः शारीर आत्मा (जीवः) नाऽत्रोपास्यत्वेनोक्तो मन्तव्यः। वस्तुतोऽत्र स्मृतिशब्देन तत्तद्वेदशाखागतोपासनाप्रयोगप्रतिपादकानाम् उपासनाकल्पसूत्र-

वाक्यानां निर्देशनं ब्रह्ममीमांसासूत्रकृता कृतमिति सम्भाव्यते; किन्तु तेषामुपासना-कल्पसूत्रग्रन्थानां शङ्करसमयेऽपि दुर्लभत्वाद् (द्र.- प्रस्ताविका, पृ.४१-४२) अत्र शङ्करेण स्मृतिशब्देन स्मृत्यनुकल्परूपमहाभारतवाक्यं गृहीतमित्यवगम्यते।

हिन्दी – स्मृति में भी शारीर आत्मा (जीव) का उपास्य परमात्मा से भिन्न रूप में प्रतिपादन होने से भी शारीर आत्मा (जीव) इस प्रकरण में मुख्य प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता है।

३८. अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन् न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च १।२।७॥

"एष म आत्माऽन्तर्हृदये" (छा.३।१४।३) इत्युक्तत्वेनाऽल्पस्थानकत्वात्, **"अणीयान् व्रीहेर् वा यवाद् वा"** (छा.३।१४।३, द्र.-मा.वा.शत.१०।६।३।२) इति अल्पकत्वेन व्यपदेशाच्चाऽयमुपास्यत्वेनोपदिष्ट आत्मा जीव एव भवितुमर्हति तस्यैवाऽऽराग्रमात्रतायाः श्रुतत्वात्, न तु ब्रह्म तस्य सर्वव्यापकत्वात् परममहत्त्वाच् चेति चेत्, न तथा स्वीकर्तुं युज्यते, हृदयेऽणुत्वादिगुणगणयुक्तत्वेनोपास्यत्वात् सर्वगतस्यापि ब्रह्मण एव हृदयपरिच्छिन्नत्वेनोपदेशोऽयं मन्तव्यः, यथा च सर्वगत-मपि सद् व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽल्पस्थानमणीयश्चेति व्यपदिश्यते तद्वच्चा-ऽत्र सर्वगतमपि ब्रह्म अर्भकौकस्त्वाऽणीयस्त्वाभ्यां व्यपदिश्यत इति मन्तव्यम्।

हिन्दी – इस प्रकरण में उपास्य रूप में उपदिष्ट आत्मा का "एष म आत्माऽन्तर्हृदये" इस वाक्य में अल्पस्थानकत्व बताए जाने से और "अणीयान् व्रीहेर् वा यवाद् वा" इत्यादि वाक्य में अल्पपरिमाणकत्व बताए जाने से भी यह शारीर आत्मा (जीव) ही हो सकता है परमात्मा (ब्रह्म) नहीं, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्यों कि जैसे सर्वगत (व्यापक) होने पर भी आकाश सुई के छेद इत्यादि को लेकर अल्पस्थानक और अल्पपरिमाणक कहा जाता है वैसे ही हृदय में अणुत्वादिगुणगणयुक्त रूप में उपास्य होने से सर्वगत (व्यापक) होने पर भी परमात्मा (ब्रह्म) को अल्पस्थानक और अल्पपरिमाणक कहा गया है। अतः इस प्रकरण में उपास्य रूप में प्रतिपादित तत्त्व शारीर आत्मा (जीव) नहीं है, परमात्मा ही है।

३९. सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् १।२।८॥

ननु ब्रह्मण एव हृदयस्थत्वे तस्याऽपि चिद्रूपत्वात् शारीरात्मनोऽवि-शिष्टत्वात् शारीरात्मन इव सुखदुःखादिसम्भोगोऽपि प्राप्तो भवेदिति चेत्, शारी-रात्मब्रह्मणोः कर्तृत्वाऽकर्तृत्व-भोक्तृत्वाऽभोक्तृत्वादिभिर् वैशेष्यात् (=भेदात्) न तथा स्वीकर्तुं युज्यते इत्यर्थः। तस्मात् शारीरात्मनो मिथ्याज्ञाननिमित्तो भोगो भवति न ब्रह्मणः। यदि च सन्निधिमात्रेण वस्तुशक्तिमनपेक्ष्य कार्यसम्बन्धो भवेत् तदाऽऽकाशादीनामपि दह्यमानकाष्ठसन्निधानाद् दाहः स्यात्, न च भवति। तस्माद् हृदयस्थत्वेऽपि ब्रह्मणो न दुःखादिसम्भोगः।

हिन्दी – यदि व्यक्तिविशेष के हृदय में परमात्मा (ब्रह्म) भी रहता है तो चिद्रूप होने से शारीर आत्मा (जीव) से उस का पार्थक्य नहीं होने से शारीर आत्मा (जीव) के समान उस को भी

सुखदुःखों के भोग की प्राप्ति हो जाएगी, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्यों कि शारीर आत्मा में अविद्या-कामादि होने से और परमात्मा (ब्रह्म) में न होने से अविद्या-काम-कर्ममूलक सुख-दुःखादि भोग परमात्मा (ब्रह्म) को प्राप्त नहीं होता है।

अथ सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "(सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत।) अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीत। मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर् वा यवाद् वा" (छा.३।१४।३) इत्यादिश्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र मनोमयत्वादिभिर् धर्मैः शारीर आत्मा हि उपास्यत्वेन प्रतिपाद्यतेऽथवा ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– मनोमयः प्राणशरीर इति जीवलिङ्गात्, हृदयस्थाननिर्देशात्, अणीयस्त्वस्योक्तत्वाच्च जीव एवोपास्यत्वेनोपदिष्टोऽत्रेति।

उत्तरम्– सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मशब्दवाच्यतया प्रसिद्धस्य जगत्कारणस्यैव **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** इत्याद्युपक्रमे ब्रह्मशब्दालम्बनतया श्रुतस्य मनोमयत्वादिधर्मैर् विशिष्टस्योपास्यत्वेनोपदेशात्, सत्यसङ्कल्पत्वादीनां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेर् जीवेऽनुपपत्तेः, जीवस्य तूपासकत्वेन कर्तृत्वेन ब्रह्मणश्चोपास्यत्वेन कर्मत्वेनोपदेशात्, श्रुत्यन्तरे माध्यन्दिनीयके च समानविषयके द्वयोर् जीवब्रह्मणोरुपासकोपास्ययोः पृथक्शब्दाभ्यामुक्तत्वात्, स्मृतावपि तयोर् भेदस्योक्तत्वात्, उपासनार्थं ब्रह्मणोऽपि स्थानविशेषस्थत्वस्याऽणुत्वस्य च वक्तुं शक्यत्वात्, हृद्गतत्वेऽपि साक्षिस्वभावस्याऽभोक्तुर् ब्रह्मणः सम्भोगप्राप्तेरभावाच्च ब्रह्मैवात्र मनोमयत्वादिभिर् गुणैर् युक्त उपास्यत्वेनोक्तो भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– ब्रह्मैवाऽत्र मनोमयत्वादिभिर् धर्मैर् युक्त उपास्यत्वेनोक्त इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतौ मनोमयः प्राणशरीरो ध्येय उच्यते।
२. स जीवो वा ब्रह्म वेति सम्भवत्यपि संशयः॥१॥
३. जीवो मनोमयत्वादेर् जीवलिङ्गत्वतस्तथा।
हृत्स्थानत्वाऽणुत्वयोश्च परब्रह्मण्यसम्भवात्॥२॥
४-५. कारणत्वेन सर्वत्र प्रसिद्धस्यैव ब्रह्मणः।
पूर्ववाक्ये श्रुतत्वेनाऽत्राऽपि सन्निहितस्य च॥३॥
मनोमयत्वादिधर्मैर् युक्तस्योपासने विधेः।
सत्यसङ्कल्पकत्वादेरपि तत्रैव सम्भवात्॥४॥
उपासकोपास्यभेदादुपास्ये खलु ब्रह्मणि।
हृत्स्थानत्वाणुत्वयोरप्युपपत्तेश्च ब्रह्म सः॥५॥

१३. (२) अत्त्रधिकरणम् (सू.९-१०)

अथोपाधिद्वारोपदेशपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं चेतनस्यैव ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तवाक्यानां गतिसामान्यमेव च प्रपञ्चयन्नाह—

४०. अत्ता चराचरग्रहणात् १।२।९॥ इति।

कठवल्लीषु **"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर् यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः"** (१।२।२५) इत्यत्र प्रतीयमानोऽत्ता मृत्यूपसेचनकतोक्त्या चराचरस्याऽद्यतया ग्रहणात्, तादृशस्याऽऽद्यस्य कार्त्स्न्येनाऽत्तृतायाश्च ब्रह्मणोऽन्यत्राऽसम्भवाद् ब्रह्म भवितुमर्हति। अत्र सूत्रे चरं च अचरं चेति विग्रहस्याऽऽश्रयणं चराचरमित्यस्य स्थावरजङ्गममिति स्पष्टीकरणं च **"चरिचलिपतिवदीनामच्याक् चाऽभ्यासस्य"** (६।१।१२) इति पाणिनीयव्याकरणवार्त्तिककारवचनस्याऽननुकूलमित्युपेक्षणीयमवगम्यते।

हिन्दी – कठोपनिषद् के सम्बद्ध प्रकरण में मृत्यु को चटनी बताए जाने से चराचर (जगत्) की भोज्यता अवगत होने से उस प्रकरण में प्रतीयमान अत्ता (खाने वाला) ब्रह्म ही अवगत होता है।

४१. प्रकरणाच्च १।२।१०॥

"तन् दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" (कठो.१।२।१२) इत्यतः प्रभृति आरब्धाद् **"न जायते म्रियते वा विपश्चिद्"** (कठो.१।२।१८) इत्यतः प्रभृति च विशेषेणोपक्रान्ताद् ब्रह्मणः प्रकरणाच्च तदन्तर्गतस्यैतस्यापि वचनस्य ब्रह्मपरत्वमेवेति चाऽत्ता ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी – "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" इत्यादि वाक्य से आरब्ध और "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादि वाक्यों से विशेषतः प्रतिपादित ब्रह्म के प्रकरण से भी उस प्रकरण में अन्तर्भूत "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" इस वाक्य में प्रतीयमान अत्ता ब्रह्म ही अवगत होता है।

अथाऽत्त्रधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर् यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" (कठो.१।२।२५) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्राऽत्ताऽग्निर् वा जीवो वा ब्रह्म वा स्यादिति।

पूर्वपक्षः– **"अग्ँनिरन्नादः"** (मा.वा.शत.१४।४।२।१३, का.वा.बृह.१।४।६) इति प्रसिद्धेः अग्निरत्ता स्यात्, **"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"** (मुण्डको.३।१।१) इति दर्शनाज् जीवो वाऽत्ता स्यात्, **"अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"** (मुण्डको.३।१।१) इति वचनाद् ब्रह्म तु नैवाऽत्ता स्यादिति।

उत्तरम्– मृत्यूपसेचनकत्वस्योक्त्याऽऽद्यस्य चराचरस्य (चलनस्वभावस्य जगतः) प्रतीत्या, ततश्च ब्रह्मणः स्वकृतसृष्ट्युपसंहारस्य बोधात्, ब्रह्मण एव सृष्टप्राणिजातादिसर्वसंहर्तृत्व-स्योपपत्तेः, अस्य वाक्यस्य ब्रह्मप्रकरणस्थत्वाच्चाऽयमत्ता ब्रह्म भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अत्राऽत्ता ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चेत्यादिकाऽस्ति कठश्रुतिः।
२. तत्र प्रतीयमानोऽत्ताऽग्निर् वा जीवोऽथ ब्रह्म वा ॥१॥
३. अग्निरन्नाद इत्यग्निस् स्वाद्वत्तीति श्रुतेः पुनः।
जीवो वा स्यान्न तु ब्रह्म तस्याऽनश्नत्त्वकीर्तनात् ॥२॥
४-५. मृत्यूपसेचनत्वेन चराचरपरिग्रहात्।
तथा प्रकरणाच्चाऽत्ता ब्रह्माऽस्तिस् तूपसंहृतिः ॥३॥

---

१४. (३) गुहाप्रविष्टाधिकरणम् (सू.११-१२)

उपाधिद्वारोपदेशपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं वेदान्तानां चेतनकारणतावादित्वमेव च प्रपञ्चयन्नाह—

४२. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्-दर्शनात् १।२।११॥ इति।

कठवल्लीषु **"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः"** (१।३।१) इत्यत्र गुहां प्रविष्टावात्मानौ लोकेऽपि सङ्ख्याश्रवणे समानस्वभावेष्वेव प्रतीतेर् दर्शनाद् विज्ञानात्म-परमात्मानावेव बोध्यौ। यथाऽस्य गोर् द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते नाऽश्वः पुरुषो वा। तथैवेह ऋतपानेन लिङ्गेन विज्ञानात्मनि निश्चिते तद्-द्वितीयान्वेषणायां तत्समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव परिग्राह्य इति तौ विज्ञानात्म-परमात्मानावेवेत्यर्थः।

हिन्दी– कठोपनिषद् के "ऋतं पिबन्तौ" इत्यादि वचन में जो गुहा में प्रविष्ट दो बताए गए हैं वे लोक में भी समान स्वभाव वालों में ही गणना करने का प्रचलन मुख्य रूप से देखे जाने से विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा (ब्रह्म) ही अवगत होते हैं।

४३. विशेषणाच्च १।२।१२॥

अस्मिन् प्रकरणे **"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु"** (कठो.१।३।३) इति विज्ञानात्मनो गन्तृत्वेन, **"सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्"** (कठो.१।३।९) इति परमात्मनो गन्तव्यत्वेनेति विज्ञानात्म-परमत्मनोरेव विशेषितत्वाच्च विज्ञानात्म-परमात्मानौ हि गुहां प्रविष्टावित्युक्तौ बोध्यौ।

हिन्दी – सम्बद्ध प्रकरण में "आत्मानं रथिनं विद्धि" इस वाक्य में विज्ञानात्मा (जीव) को गन्ता के रूप में और "सोऽध्वनः पारमाप्नोति" इस वाक्य में परमात्मा (ब्रह्म) को गन्तव्य के रूप में विशेषित किए जाने से भी गुहा में प्रविष्ट वे दो विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा (ब्रह्म) ही अवगत होते हैं।

अथ गुहाप्रविष्टाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः" (कठो.१।३।१) इति श्रुति-वाक्यम्।

विशयः– इह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टौ किं विज्ञानात्म-परमात्मानाविति।

पूर्वपक्षः– यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयं गुहा, उभयथाऽपि बुद्धिजीवौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते, सति सम्भवे सर्वगतस्य परमात्मनो विशिष्टस्थानताया अकल्पनीयत्वात्, "सुकृतस्य लोके" इत्युक्तस्य कर्मगोचरानतिक्रमस्य च परमात्मनि अनुपपन्नत्वात्, "छायातपौ" इत्यस्य च चेतनाचेतनयोः परिग्रहे उपपन्नतरत्वाच्च नेह विज्ञानात्म-परमात्मानौ परिग्राह्याविति।

उत्तरम्– ऋतपानेन लिङ्गेन विज्ञानात्मनि निश्चिते तद्द्वितीयस्याऽपि तत्समानस्वभावस्य चेतनस्य परमात्मन एव परिग्राह्यत्वात्, अपिबतोऽपि परमात्मनः पिबत्-त्वेन अतिक्रान्तसुकृतदुष्कृतस्याऽपि च सुकृतलोकवर्तित्वेन च च्छत्रिन्यायेनोपचारेणोक्तत्वात्, वेदान्तेषु परमात्मनो बहुशो गुहाहितत्वेन श्रवणात्, अस्मिन्नेव प्रकरणेऽनुपदमेव विज्ञानात्मनो गन्तृत्वेन परमात्मनो गन्तव्यत्वेनेति तयोरेव विशेषितत्वाच्चाऽत्र गुहां प्रविष्टाविति विज्ञानात्म-परमात्मानौ ग्राह्याविति।

निर्णयः– गुहां प्रविष्टाविति विज्ञानात्म-परमात्मानावेव ग्राह्याविति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ऋतं पिबन्तावित्यादौ श्रूयेते द्वौ गुहां गतौ।
२. तौ बुद्धिजीवौ स्यातां वा जीवात्मपरमात्मकौ ॥१॥
३. शरीरस्य हृदो वाऽपि गुहात्वे तत्-प्रवेशतः।
छायातपनिभत्वांच्च बुद्धिजीवौ हि तौ श्रुतौ ॥२॥
विशिष्टस्थानसम्बन्धात् पुण्यलोकत्वकीर्तनात्।
नैव जीव-परौ तत्राऽनुपपत्तेः परे तयोः ॥३॥
४-५. ऋतपानेन लिङ्गेन विज्ञानात्मनि निश्चिते।
तद्-द्वितीयस्य हि परमात्मताया विनिश्चयात् ॥४॥
छत्रिन्यायेन पानादेः कथनात् परमात्मनि।
गन्तृ-गम्य-विशेषोक्तेः स्यातां जीव-परौ हि तौ ॥५॥
अत्र व्युत्पाद्यते ज्ञेयं ब्रह्म जीवाद् विलक्षणम्।
अतो ब्रह्मण्येव बोध्यो वेदान्तानां समन्वयः ॥६॥

१५. (४) अन्तराधिकरणम् (सू.१३-१७)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्मवाक्यानामव्याघातं वेदान्तानां चेतनकारणतावादित्वमेव च प्रपञ्चयन्नाह—

४४. अन्तर उपपत्तेः १।२।१३॥ इति।

छान्दोग्योपनिषदि उपकोसलविद्यायां **"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति"** (४।१५।१) इति उपदिष्टोऽक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुषः आत्मत्वा-ऽमृतत्वा-ऽभयत्वा-ऽक्षिस्थानत्व-संयद्वामत्वादीनां तत्रोपदिष्टानां गुणानां ब्रह्मणि उपपत्तेः ब्रह्मैवेत्यर्थः। पूर्वस्मिन्नधिकरणे 'आत्मानौ हि' इति विधेयस्य ग्रहणात् तत्राऽननुवृत्तमपि ब्रह्मेति पदमत्र तु विधेयस्याऽऽकाङ्क्षायाः सत्त्वादनुवर्तत एव। संयद्वामः=शोभनगुणैरभिगम्यः=शोभनगुणाधार इत्यर्थः।

हिन्दी – छान्दोग्योपनिषद् में "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि वाक्य में उपदिष्ट चक्षु के भीतर रहने वाला जो पुरुष है, वह उस प्रकरण में बताए गए आत्मत्व, अमृतत्व, अभयत्व इत्यादि पुरुषगुण ब्रह्म में ही उपपन्न होने से ब्रह्म ही अवगत होता है।

४५. स्थानादिव्यपदेशाच्च १।२।१४॥

अन्यत्राऽपि श्रुतिषु सर्वगतस्य नामरूपादिरहितस्याऽपि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं वा पृथिव्यादिस्थानानाम् (मा.वा.शत.१४।६।७।७-३०) उदित्यादीनां नाम्नां हिरण्यश्मश्रुत्वादीनां रूपाणाञ्च (छा.१।६।७,६) व्यपदेशस्य दर्शनादत्राऽपि उपासनार्थं ब्रह्मणोऽक्षिस्थानस्योपदेशादक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुषो ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी – अन्य उपनिषद्वाक्यों में भी सर्वगत और नामरूपादिरहित ब्रह्म के भी ज्ञान के वा उपासना के लिए जैसे स्थान-नाम-रूपों का उपदेश किया गया है वैसे ही इस प्रकरण में भी उपासना के लिए ब्रह्म के अक्षिरूप स्थान का उपदेश होने से यह चक्षु के भीतर रहने वाले पुरुष के रूप में बताया गया तत्त्व ब्रह्म ही अवगत होता है।

४६. सुखविशिष्टाभिधानादेव च १।२।१५॥

उपकोसलविद्योपक्रमे **"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म"** (छा.४।१०।५) इति, **"यद् वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्"** (छा.४।१०।५) इति च यत् सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टं तस्यैवाऽत्राऽभिधानादेव चाऽयमक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुषो ब्रह्मैवेत्यर्थः। सुखविशिष्टब्रह्मोपदेशे **"आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता"** (छा.४।१४।१) इत्युक्तत्वाद्, अक्षिणि अभ्यन्तरं पुरुषमुपदिश्य चाऽऽचार्येणाऽर्चिरादिमार्गगतेरुक्तत्वाच्च प्रकृतस्यैव सुखविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽक्षिस्थानकस्य संयद्वामत्वादिभिर् धर्मैश्च युक्तस्योपासनं तदुपासकस्याऽर्चिरादिमार्गेण गमनञ्चाऽत्र प्रकरणे प्रतिपादितमिति बोध्यम्।

हिन्दी – उपकोसलविद्या के प्रारम्भ में "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य में जिस सुखविशिष्ट ब्रह्म का उपदेश किया गया है यहाँ भी उसी का उपदेश होने से भी वह चक्षु के भीतर रहने वाले पुरुष के रूप में उपदिष्ट तत्त्व ब्रह्म ही अवगत होता है।

४७. श्रुतोपनिषत्क-गत्यभिधानाच्च १।२।१६॥

श्रुतरहस्यात्मज्ञानस्याऽर्चिरादिका देवयानाख्या या गतिः श्रुत्यन्तरेषु स्मृतिषु च प्रसिद्धा, एतदक्ष्यन्तरपुरुषोपासकस्याऽपि **"अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नाऽर्चिषमेवाऽभिसम्भवति"** (छा.४।१५।५) इत्यादिना तस्या एव गतेरभिधानाच्चाऽक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुषो ब्रह्मैवेत्यर्थः। शव्यं शवदाहादि कर्म।

हिन्दी – रहस्यात्मक औपनिषद ज्ञान सुनने वालों की जो अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोकगति अन्यत्र श्रुतियों में बताई गई है इस अक्षि के भीतर रहने वाले पुरुष की उपासना करने वाले की भी वही अर्चिरादि गति बताई जाने से भी वह चक्षु के भीतर रहने वाले पुरुष के रूप में उपदिष्ट तत्त्व ब्रह्म ही अवगत होता है।

४८. अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः १।२।१७॥

छायात्मनो विज्ञानात्मनश्चापि पुरुषस्य अक्षिणि अवस्थितेरनियतत्वात् तयोरमृतत्वादिगुणानामसम्भवाद् देवतात्मन्यपि पुरुषे आत्मत्वामृतत्वादीनामसम्भवाच्चाऽक्षिणि अभ्यन्तर उपदिश्यमानः पुरुषो ब्रह्मणोऽन्यः छायात्मादिकः पुरुषो नेत्यर्थः।

हिन्दी – छायात्मा पुरुष का अथवा विज्ञानात्मा (जीव) का भी अक्षि में रहना नियत न होने से और उन में अमृतत्वादि गुण भी असम्भव होने से तथा देवतात्मा पुरुष में भी अमृतत्वादि गुण असम्भव होने से वह चक्षु के भीतर रहने वाले पुरुष के रूप में उपदिष्ट तत्त्व ब्रह्म से भिन्न छायात्मा पुरुष वा विज्ञानात्मा पुरुष वा देवतात्मा पुरुष नहीं माना जा सकता है।

अथाऽन्तराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति"** (छा.४।१५।१) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्राऽक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुषः छायात्मा वा विज्ञानात्मा वा देवतात्मा वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– **"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते"** (छा.४।१५।१) इति प्रसिद्धवत् कृत्वा दृश्यमानतयोक्तत्वाच् छायात्मन एवाऽक्षिणि दृश्यतायाः प्रसिद्धेश्चाऽयं पुरुषः छायात्मा स्यात्, चक्षुषा रूपं पश्यतो विज्ञानात्मनश्चक्षुषि सन्निहितत्वादात्मशब्दोपादानाच्च विज्ञानात्मा वा स्यात्, **"रश्मिभिर् ब्वा एषोऽस्मिनन् प्रतिष्ठितः"** (मा.वा.शत. १४।८।६।३; का.वा.बृह.५।५।२) इति श्रुतेरादित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहको देवतात्मा स्यात् न तु ब्रह्म स्थानविशेषनिर्देशादिति।

उत्तरम्– अक्षिपुरुषगुणत्वेनोक्तेषु गुणेषु आत्मत्वस्य मुख्यतया परमात्मन्येवोपपत्तेः, अमृतत्वाऽभयत्वयोश्च ब्रह्मण्येवोपपत्तेः, सर्वलेपरहितत्वेनोक्तस्याऽक्षिस्थानस्य च सर्वदोषाऽलिप्तब्रह्म-सम्बन्धिताया एवोपपत्तेः, संयद्वामत्वादिगुणानाञ्च ब्रह्मण्येवोपपत्तेः, उपासनार्थं ब्रह्मणोऽपि स्थान-नाम-रूपव्यपदेशानां श्रुत्यन्तरेष्वपि प्राप्यमाणत्वात्, उपक्रमोपात्तसुखविशिष्टब्रह्मण एवाऽक्षिपुरुषत्वेनाऽभिधानात्, अक्षिपुरुषोपासकस्य च ब्रह्मोपासकगतिप्राप्तेरुपदेशात्, छायात्मनो विज्ञानात्मनश्चाऽपि अक्षिणि अनवस्थितत्वात्, आत्मत्वस्य छायात्मनि देवतात्मनि चाऽसम्भवात्, अमृतत्वाऽभयत्व-संयद्वामत्वादीनाञ्च छायात्मनि विज्ञानात्मनि देवतात्मनि चाऽसम्भवाद् ब्रह्मैवाऽयमक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुषो भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अत्रोक्तोऽक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुषः सुखविशिष्टत्वादिरूपेणोपास्यं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. य एषोऽक्षिणि पुरुष इत्याद्या सामगश्रुतिः।
२. तत्राऽक्षिण्यभ्यन्तरस्तु पुरुषः कतमो भवेत्॥१॥
छायात्मा वाऽथ जीवो वा देवतात्माऽथ ब्रह्म वा।
३. छायात्मा दृश्यतोक्तेः स्याज् जीवो वा सन्निधेर् भवेत्॥२॥
श्रुत्यन्तराद् देवता वा स्थानोक्तेर् ब्रह्म नैव हि।
४-५. अमृतत्वाभयत्वादिगुणानां खलु ब्रह्मणि॥३॥
उपपत्तेरुपास्त्यादौ स्थानादिव्यपदेशतः।
उपक्रान्तस्यैव सुखविशिष्टब्रह्मणोऽक्षिणि॥४॥
उक्तेस् तद्ध्यातुश्च ब्रह्म-ध्यातृवद् धि गतेश् श्रुतेः।
छायात्मनश्च जीवस्याऽक्षिण्यवस्थित्यभावतः॥५॥
तयोर् देवात्मनश्चाऽपि अमृतत्वाद्यभावतः।
पुरुषोऽयम् ब्रह्म ध्येयं सुखवैशिष्ट्यकादियुक्॥६॥

---

१६. (५) अन्तर्याम्यधिकरणम् (सू.१८-२०)

उपाधिद्वारोपदेशनपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं वेदान्तानां चेतनकारणतावादित्वमेव च प्रपञ्चयन्नाह भगवान् सूत्रकारः—

४९. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् १।२।१८॥ इति।

बृहदारण्यकोपनिषदि **"यः पृथिव्यान् तिष्ठन्न् पृथिव्याऽअन्तरो यम् पृथिवी न बेद यस्स्य पृथिवी शरीरय् यः पृथिवीमन्तरो यमयत्त्येष तऽआतत्तँमाऽन्तर्य्याम्म्यमृतः"** (मा.वा.शत.१४।६।७।७, का.वा.बृह.३।७।३) इत्यादावधिदैवादिषु व्यपदेशेषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी तत्र पृथिव्यादिनिखिलविकारजातयमयितृत्वाऽऽत्मत्वाऽमृतत्वाऽदृष्टत्वाऽश्रुतत्वादीनां तस्य परमात्मनो धर्माणां निर्देशाद् ब्रह्माऽस्तीत्यर्थः।

हिन्दी – बृहदारण्यकोपनिषद् में "यः पृथिव्व्यान् तिष्ठन्" इत्यादि वाक्यों में अधिदैवादि प्रतिपादन में श्रुत अन्तर्यामी वहाँ पृथिव्यादि सम्पूर्ण विकारों का नियन्तृत्व, आत्मत्व, अमृतत्व, अदृष्टत्व, अश्रुतत्व इत्यादि परमात्मधर्मों का उल्लेख होने से ब्रह्म है।

५०. न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् १।२।१९॥

अधिदैवादिव्यपदेशे प्रोक्तेषु अदृष्टत्वादिषु केषुचन धर्मेषु साङ्ख्यस्मृति-कल्पिते प्रधानेऽपि उपपद्यमानेषु अपि अचेतने प्रधानेऽनुपपद्यमानानां द्रष्टृत्व-श्रोतृत्व-मन्तृत्व-विज्ञातृत्वादीनां धर्माणां वाक्यशेषेऽभिलापात् साङ्ख्यस्मृति-कल्पितं प्रधानमन्तर्यामी भवितुं न चाऽर्हतीत्यर्थः।

हिन्दी – साङ्ख्य स्मृति में प्रतिपादित अचेतन प्रधान में न रहने वाले द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व, मन्तृत्व, विज्ञातृत्व इत्यादि धर्मों के उल्लेख होने से वह अन्तर्यामी साङ्ख्यप्रतिपादित प्रधान नहीं हो सकता है।

५१. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते १।२।२०॥

न हि परिच्छिन्नः शारीरात्मा जीवः पृथिव्यादिषु अन्तरवस्थातुं पृथिव्या-दिनिखिलविकारजातं नियन्तुं च शक्नोतीति शारीरात्मनि अनुपपद्यमानानां पृथिव्याद्यन्तरवस्थातृत्व-पृथिव्यादिनिखिल-विकारजात-नियन्तृत्वादीनां धर्माणा-मभिलापात् शारीर आत्माऽपि नाऽन्तर्यामी भवितुमर्हति, अपि च माध्यन्दिनीयाः काण्वाश्चोभयेऽपि वाजसनेयिशाखिनो नियन्तुरन्तर्यामिणो भिन्नत्वेन नियम्यत्वेन **"यऽआत्त्मँनि तिष्ठन्"** (मा.वा.शत.१४।६।७।३०) इति, **"यो विज्ञाने तिष्ठन्"** (का.वा.बृह.३।७।२२) इति च शारीरमात्मानं तत्र पठन्ति। तस्मात् शारीरोऽपि नाऽन्तर्यामी किन्तु ब्रह्मैवाऽन्तर्यामीत्यर्थः।

हिन्दी – शारीर आत्मा (जीव) में न रहने वाले पृथिव्याद्यन्तरवस्थातृत्व, पृथिव्यादि-निखिलविकार-नियन्तृत्व इत्यादि धर्मों के उल्लेख होने से उक्त अन्तर्यामी शारीर आत्मा (जीव) भी नहीं हो सकता है। अपि च माध्यन्दिनीयशाखाध्यायी और काण्वशाखाध्यायी दोनों ही वाजसनेयी लोग नियन्ता अन्तर्यामी से भिन्न नियाम्य के रूप में शारीर आत्मा को पढते हैं। अतः वह अन्तर्यामी शारीर आत्मा भी नहीं हो सकता है।

अथाऽन्तर्याम्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यः पृथिव्यान् तिष्ठन्न् पृथिव्याऽअन्तरो यम् पृथिवी न वेद यस्स्य पृथिवी शरीरंय् यः पृथिवीमन्तरो यमयत्त्येष तऽआत्त्माऽन्तर्य्याम्म्यमृतः" (मा.वा.शत.१४।६।७।७, का.वा.बृह.३।७।३) इत्यादिश्रुतिवाक्यम्।

विशयः– तत्र प्रधानं वाऽन्तर्यामी स्यात् पृथिव्याद्यभिमानी देवो वा कश्चिदन्तर्यामी स्यात्, योगसिद्धः कश्चिज् जीवो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– अदृष्टत्वादीनां धर्माणामव्यक्ते प्रधाने सम्यगुपपद्यमानत्वादन्तर्यामी प्रधानं स्यात्, कार्यकरणवत्त्वयोगात् (शरीरेन्द्रियवत्त्वसम्भवात्) कश्चन पृथिव्याद्यभिमानी देवो वाऽन्तर्यामी स्यात्, कार्यकरणवत्त्वयोगादेव कश्चन योगसिद्धो जीवो वाऽन्तर्यामी स्यात्, न तु ब्रह्म, तस्य कार्यकरणरहितत्वेन नियन्तृत्वस्यासम्भवादिति।

उत्तरम्–पृथिव्यादिनिखिल-विकारजात-यमयितृत्वाऽऽत्मत्वाऽमृतत्वाऽदृष्टत्वाऽश्रुतत्वादीनां धर्माणां ब्रह्मण्येवोपपन्नत्वात्, नियन्तव्यानां शरीरैरिन्द्रियैश्चैव ब्रह्मणोऽपि शरीरेन्द्रियवत्त्वेन तस्य नियन्तृत्वस्योपपत्तेर् ब्रह्मैवाऽन्तर्यामी भवितुमर्हति, न प्रधानं तत्र द्रष्टृत्वाद्यभावात्, न वा कश्चन देवः, तस्य परागूपत्वात् (अनात्मत्वात्), न वा जीवः पृथिव्यादिनिखिलविकारजातनियन्तृत्वस्य तत्राऽसम्भवात्, तद्भिन्नत्वेनाऽन्तर्यामिण उपदेशाच्चेति।

निर्णयः– अन्तर्यामी आत्माभिन्नत्वेन ज्ञेयं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यः पृथिव्यामित्यधीता श्रुतिर् वाजसनेयिनाम्।
२. तत्र प्रधानमथवा देव एवाऽपि कश्चन ॥१॥
योगी जीवोऽथवा ब्रह्माऽन्तर्यामीति श्रुतो भवेत्।
३. अदृष्टत्वाद्युक्तितः स्यात् प्रधानं देव एव वा ॥२॥
नियन्तृत्वोपपत्तेर् वा जीवो योगविभूतियुक्।
शरीरेन्द्रियराहित्याद् ब्रह्माऽन्तर्यामि नो भवेत् ॥३॥
४-५. अमृतत्वादिधर्माणां ब्रह्मण्येव च सम्भवात्।
प्रधाने द्रष्टृताऽभावाद् देवेऽनात्मत्वनिश्चयात् ॥४॥
जीवे यन्तृत्वराहित्याद् यम्यत्वस्य च कीर्तनात्।
अन्तर्याम्युपदेश्यात्माभिन्नं ज्ञेयञ्च ब्रह्म हि ॥५॥

---

१७. (६) अदृश्यत्वाधिकरणम् (सू. २१-२३)

उपाधिद्वारोपदेशनपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं वेदान्तानां चेतनकारणतावादित्वमेव च प्रपञ्चयन्नाह–

५२. अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः १।२।२१॥ इति।

आथर्वणिकानां मुण्डकोपनिषदि **"यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"** (१।१।६) इत्यत्रोक्तोऽदृश्यत्वादिगुणयुक्तो भूतयोनिः तत्राऽनुपदमेव भूतयोनिगतत्वेन **"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते"** (१।१।९) इति ब्रह्मधर्माणामुक्तत्वाद् ब्रह्माऽस्तीत्यर्थः।

हिन्दी – अथर्ववेदियों के मुण्डकोपनिषद् में "यत् तदद्रेश्यम्" इस वाक्य में जो अदृश्यत्वादि गुणों से युक्त भूतयोनि तत्त्व बताया गया है वह "यः सर्वज्ञः सर्वविद्" इत्यादि अनन्तरवाक्य में चेतन ब्रह्म के धर्मों की उक्ति होने से ब्रह्म है।

५३. विशेषण-भेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ १।२।२२॥

एतस्याऽदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेः **"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याऽभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः"** (मुण्डको.२।१।१) इति विशेषणाद्, एतस्य विशेषणस्य च शारीरात्मनि अभावात्; **"अक्षरात् परतः परः"** (मुण्डको. २।१।२) इति च प्रपञ्चोपादानादीश्वरशक्तिरूपाद् भूतसूक्ष्मात् साङ्ख्यकल्पित-प्रधानस्थानीयादव्यक्तात् परतो वर्तमानत्वेन ब्रह्मणः अव्यक्ताद् भेदस्य निर्देशाच्च प्रधान-जीवौ नाऽदृश्यत्वादिगुणकभूतयोनिरित्यर्थः।

हिन्दी – इस अदृश्यत्वादिगुणयुक्त भूतयोनि में "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" इत्यादि जीव में अनुपपन्न विशेषण दिए जाने से, और "अक्षरात् परतः परः" इस वाक्य से साङ्ख्यपरिकल्पित प्रधान के स्थानापन्न अव्यक्त से ब्रह्म का भेद बताए जाने से भी उक्त अदृश्यत्वादिगुणयुक्त भूतयोनि जीव अथवा प्रधान नहीं हो सकता है।

५४. रूपोपन्यासाच्च १।२।२३॥

अदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेः **"अग्निर् मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ"** (मुण्डको.२।१।४) इत्यादिना प्रोक्तस्य **"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्"** (मुण्डको.२।१।१०) इति प्रोक्तस्य वा रूपस्योपन्यासात्, एतस्य रूपस्य च प्रधाने तनुमहिम्नि जीवे चाऽप्यभावात् न प्रधानं जीवो वाऽपि अदृश्यत्वादि-गुणको भूतयोनिरित्यर्थः।

हिन्दी – अदृश्यत्वादिगुणयुक्त भूतयोनि का प्रधान में और जीव में अनुपपन्न आकार "अग्निर् मूर्धा" इत्यादि वाक्य से वर्णित हो जाने से भी उक्त अदृश्यत्वादिगुणयुक्त भूतयोनि जीव अथवा प्रधान नहीं हो सकता है।

अथाऽदृश्यत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मुण्डको.१।१।५) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्राऽदृश्यत्वादिगुणकः कः ? प्रधानं वा जीवो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– अदृश्यत्वादिगुणानां प्रधाने सत्त्वात्, **"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च"** (मुण्डको. १।१।७) इत्यादावूर्णनाभिशरीरस्य पुरुषशरीरस्य वाऽचेतनस्यैव दृष्टान्तत्वेनोपादानात्, **"यः सर्वज्ञः सर्वविद्"** (मुण्डको.१।१।९) इत्यस्याक्षरात् परत्वेन भूतयोन्यविषयतया

पुरुषविषयत्वाद् अदृश्यत्वादिगुणकं प्रधानं स्यात्; धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनाज् जीवो वा भूतयोनिः स्यादिति।

उत्तरम्– भूतयोनौ सर्वज्ञत्वादिधर्माणां निर्देशात् तेषां ब्रह्मण्येव सम्भवात्, प्रधाने जीवे चाऽसम्भवात्, परविद्याविषयत्वेनैव भूतयोनेः कीर्तनात्, दिव्याऽमूर्त-पुरुषत्वादिना भूतयोनेः प्रतिपादनात्, जीवस्य तथात्वस्याऽभावात्, प्रधानस्थानीयाव्यक्तात् परतः स्थितत्वेन परमात्मरूपस्य भूतयोनेः प्रतिपादनात्, **"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म"** (मुण्डको.२।१।१०) इत्यादिना भूतयोने रूपस्योपन्यासात् तादृशरूपस्य प्रधाने जीवेऽपि वाऽभावाद् ब्रह्मैव भूतयोनिर् भवितुमर्हति, न प्रधानं जीवो वेति।

निर्णयः– अदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिर् ज्ञेयत्वेनोपदिष्टं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यत् तदद्रेश्यमित्याद्या श्रुतिर् दृष्टा ह्यथर्वणाम्।
२. भूतयोनिः प्रधानं वा तत्र जीवोऽथ ब्रह्म वा ॥१॥
३. अदृश्यत्वादियोगाच्च दृष्टान्ताच्च प्रधानकम्।
धर्माधर्मकृताद् भूतग्रहणाज् जीव एव वा ॥२॥
४-५. तत्रोक्तसर्वज्ञत्वादेर् ब्रह्मण्येव हि सम्भवात्।
परविद्यावेद्यतया भूतयोनेः प्रकीर्तनात् ॥३॥
जीवे दिव्यत्वाद्ययोगात् परत्वेन प्रधानकात्।
भेदेनोक्तेर् भूतयोनिर् ब्रह्मैवेति विनिश्चयः ॥४॥

---

१८. (७) वैश्वानराधिकरणम् (सू.२४-३२)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्म-वाक्यानामव्याघातं वेदान्तानां चेतन-कारणतावादित्वमेव च प्रपञ्चयन्नाह–

५५. वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् १।२।२४॥ इति।

शारीरक-ब्रह्मणोः साधारणस्याऽऽत्मशब्दस्य, जठराग्नि-भूताग्नि-तदभिमानिदेवतानां साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य च प्रयोगेऽपि तयोः शब्दयोर् ब्रह्मपरतारूपाद् विशेषात् **"स सो हैतमेवमग्ँनिं वैश्वानरम् पुरुषविधम् पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद"** (मा.वा.शत.१०।६।१।११), **"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते"** (छा.५।१८।१) इत्यादावुक्तो वैश्वानरो ब्रह्माऽस्तीत्यर्थः। तयोरात्म-वैश्वानरशब्दयोर् ब्रह्मपरतारूपो विशेषश्च **"मूर्धैव सुतेजाः"** (छा.५।१८।२) इत्यादितोऽवगम्यते, ब्रह्मण्येव द्युलोकाद्यवयवकत्वस्योपपत्तेः।

हिन्दी – जीव में और ब्रह्म में साधारणतया प्रयुक्त आत्मशब्द का तथा जठराग्नि में भूताग्नि में और भूताग्न्यभिमानिनी देवता में साधारणतया प्रयुक्त वैश्वानरशब्द का प्रयोग होने पर भी उन शब्दों की ब्रह्मपरता को स्पष्ट करने वाला विशेष "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा" इत्यादि वाक्य से प्रतिपादित होने से छान्दोग्योपनिषद् में "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम्" इत्यादि वाक्य में उपास्य रूप में प्रतिपादित वैश्वानर ब्रह्म है।

५६. स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति १।२।२५॥

"यस्याऽग्निरास्यं द्यौर् मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर् दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः" (महाभारते, शान्तिपर्वणि ४७।६८) इति स्मृतौ प्रतिपाद्यमानं ब्रह्मणो रूपं **"तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः"** (छा.५।१८।२) इत्यादिश्रुतौ वैश्वानरशब्दस्य ब्रह्मपरताया अनुमापकं लिङ्गं स्यादिति च हेतोरत्र प्रकरणे वैश्वानरो ब्रह्मैव। स्मृतिर् हि श्रुतिमनुगच्छतीति स्पष्टेन स्मृत्यर्थेनाऽपि समानविषयकाऽस्पष्टार्थश्रुतेरर्थो निश्चितो भवत्येवेति च ज्ञेयम्।

हिन्दी – "यस्याऽग्निरास्यं द्यौर् मूर्धा" इत्यादि स्मृति में प्रतिपाद्यमान ब्रह्म का रूप "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादि श्रुति में वैश्वानर शब्द की ब्रह्मपरता का अनुमापक लिङ्ग हो सकने से भी उक्त छान्दोग्योपनिषद् के प्रकरण में वैश्वानर ब्रह्म ही अवगत होता है।

५७. शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथा-दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्; पुरुषमपि चैनमधीयते १।२।२६॥

अग्निरूपेऽर्थान्तरे रूढाद् वैश्वानरशब्दात्, **"एषोऽग्ग्निर्व्वैश्वानरः"** (मा.वा.शत.१०।६।१।११) इति वैश्वानरस्याऽग्निना सामानाधिकरण्यात्, **"हृदयं गार्हपत्यः"** (छा.५।१८।२) इत्यादिनाऽग्नित्रयस्य कल्पनात्, **"यद् भक्तं प्रथममागच्छेत् तद् धोमीयम्"** (छा.५।१९।१) इत्यादिना प्राणाहुत्यधिकरणतायाः सङ्कीर्तनात्, **"पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद"** (मा.वा.शत.१०।६।१।११) इति वचनेन वैश्वानरस्य पुरुषान्तःप्रतिष्ठानस्य प्रतिपादितत्वाच्च वैश्वानरो न ब्रह्म, किन्तु जाठरोऽग्निरेवेति चेत्, **"मनो ब्रह्मेत्युपासीत"** (छा.३।१८।१) इत्यादाविव जाठराग्नौ जाठराग्न्युपाधिकतया वा ब्रह्मदृष्टेः करणीयताया अत्रोपदेशात्, केवले जाठरेऽग्नौ **"मूर्धैव सुतेजाः"** (छा.५।१८।२) इत्यादेर् विशेषणस्याऽसम्भवाच्चाऽत्र वैश्वानरो जाठरोऽग्निरिति स्वीकर्तुं न युज्यते इत्यर्थः। अपि चैनं वैश्वानरं वाजसनेयिनो **"स एषोऽग्ग्निर्व्वैश्वानरो सतत् पुरुषः"** (मा.वा.शत.१०।६।१।११) इति पुरुषत्वेनाऽधीयते; तत्र यदि जाठरोऽग्निः परिगृह्येत तदा तस्य पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वमेव स्यात् न पुरुषत्वम्; ब्रह्मणस्तु सर्वात्मत्वात् पुरुषत्वं पुरुषेन्तःप्रतिष्ठितत्वं चोभयमप्युपपद्यते; तस्मादत्र वैश्वानरो ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी – इस प्रकरण में अग्नि में रूढ वैश्वानरशब्द का प्रयोग होने से, वैश्वानरशब्द का अग्निशब्द से सामानाधिकरण्य देखे जाने से, और वैश्वानर का पुरुष में अन्तःप्रतिष्ठितत्व का उल्लेख होने से भी वैश्वानर ब्रह्म नहीं माना जा सकता है, यह जाठराग्नि ही मालूम होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस प्रकरण में जाठराग्नि में अथवा जाठराग्न्युपाधिक रूप में ब्रह्मदृष्टि करने की बात उपदिष्ट होने से और केवल जाठर अग्नि में "मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादि विशेषण असम्भव होने से भी इस प्रकरण में वैश्वानर ब्रह्म ही अवगत होता है। कोई वेदशाखाध्यायी इस वैश्वानर को पुरुष के रूप में भी पढते हैं। अतः इस प्रकरण में वैश्वानर ब्रह्म ही अवगत होता है।

५८. अत एव न देवता भूतञ्च १।२।२७॥

अग्न्यभिमानिदेवताया अपि द्युलोकाद्यकारणतया परमेश्वराधीनैश्वर्यतया च द्युमूर्धत्वादेरसम्भवात्, औष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य भूताग्नेरपि द्युमूर्धत्वादेरसम्भवात्, उभयोरेव पुरुषत्वस्याभावाद्, आत्मशब्दाविषयत्वाच्चाऽग्न्यभिमानिनी देवता भूताग्निश्चाऽत्र वैश्वानरो नैवेत्यर्थः।

हिन्दी – अग्न्यभिमानिनी देवता में और औष्ण्यप्रकाशात्मक भूताग्नि में भी द्युमूर्धकत्वादि उपपन्न न होने से और उन में पुरुषत्व न होने से, आत्मशब्द का प्रयोग भी उन में उपपन्न नहोने से भी इस प्रकरण में वैश्वानर को अग्न्यभिमानिनी देवता वा भूताग्नि भी नहीं माना जा सकता है।

५९. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः १।२।२८॥

जाठराग्निरूपं प्रतीकमुपाधिं वा विनैव साक्षादेव ब्रह्मोपासनस्य परिग्रहेऽपि विरोधस्याऽभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते। वैश्वानरशब्दस्याऽग्निशब्दस्य च यौगिकार्थाश्रयणेन ब्रह्मपरताया व्याख्यातुं शक्यत्वात्, ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन तत्र गार्हपत्यादिकल्पनाया अप्युपपन्नत्वात्, मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु कल्पितम् पुरुषविधत्वमादाय **"पुरुषविधम् पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितवं वेद"** (मा.वा.शत. १०।६।१।११) इति वचनस्याऽपि व्याख्यातुं शक्यत्वादत्र प्रकरणे साक्षाद् ब्रह्मण उपादानेऽपि कोऽपि विरोधो न भवतीति जैमिनेरभिप्रायोऽवसीयते।

हिन्दी – इस प्रकरण में जाठराग्निरूप प्रतीक वा उपाधि को लिए विना साक्षात् ब्रह्म की उपासना मानने पर भी कोई विरोध उपस्थित न होने की बात आचार्य जैमिनि मानते हैं।

६०. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः १।२।२९॥

अस्मिन् प्रकरणे साक्षाद् ब्रह्मोपासनस्य परिग्रहेऽपि विभोरपि ब्रह्मणः प्रादेशमात्रे स्थानविशेषे हि उपासकानां कृते विशेषेणाऽभिव्यक्तेः सर्वत्र स्वीकृतत्वाद् **"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम्"** (छा.५।१८।१) इति श्रुतं प्रादेशमात्रत्वं ब्रह्मणि उपपद्यत एवेति आचार्य आश्मरथ्यो मन्यते।

हिन्दी – व्यापक ब्रह्म का भी उपासकों के लिए प्रादेशमात्र स्थानविशेष में विशिष्ट रूप में अभिव्यक्ति होने की बात सर्वत्र स्वीकृत होने से इस प्रकरण में साक्षात् ब्रह्म की उपासना को लेने पर भी कोई विरोध उपस्थित न होने की बात आचार्य आश्मरथ्य मानते हैं।

६१. अनुस्मृतेर् बादरिः १।२।३०॥

प्रादेशमात्रहृदयस्थेन मनसा ब्रह्मणोऽनुस्मृतिः कर्तव्येति तन्निमित्ता ब्रह्म-विषया प्रादेशमात्रतोक्तिरुपपद्यत एवेति अविरोधम् आचार्यो बादरिर् मन्यते।

हिन्दी – प्रादेशमात्र हृदय में रहने वाले मन से ब्रह्म की अनुस्मृति (उपासना) किए जाने से ब्रह्म में प्रादेशमात्रता की उक्ति उपपन्न होने से उस में कोई विरोध उपस्थित न होने की बात आचार्य बादरि मानते हैं।

६२. सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति १।२।३१॥

त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्य ब्रह्मणोऽवयवानाम् मूर्धप्रभृतिषु चुबुकान्तेषु शरीरावयवेषु आरोपेण भावनया ब्रह्मण्यपि प्रादेशमात्रत्वभावनायाः करणात् ब्रह्मविषया प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति आचार्यो जैमिनिर् मन्यते। तथा हि **"प्रादेशमात्त्रमिव ह वै देवाः सुविदिताऽअभिसम्पन्नाः"** (मा.वा.शत.१०।६।१।१०) इत्यादिकं माध्यन्दिनीयवाजसनेयिब्राह्मणं ब्रह्मणि प्रादेशमात्रताया आरोपं दर्शयति। सम्पत्तिः=सम्पादनम्=आरोपः।

हिन्दी – त्रैलोक्यात्मा वैश्वानर ब्रह्म के अवयवों का मूर्धा (मस्तक) से चुबुक (ठोडी) तक के शरीर के अवयवों में आरोप कर के भावना करने का उपदेश होने से ब्रह्म में प्रादेशमात्रत्व की भावना का उपदेश भी उपपन्न होने की बात आचार्य जैमिनि मानते हैं। माध्यन्दिनीयवाजसनेयि-शतपथब्राह्मण का "प्रादेशमात्त्रमिव ह वै देवाः" इत्यादि वाक्य ब्रह्म में प्रादेशमात्रता का आरोप दिखाता भी है। अतः आचार्य जैमिनि का मत श्रुतिसम्मत है।

६३. आमनन्ति चैनमस्मिन् १।२।३२।

एनं ब्रह्माभिन्नं परमात्मानमस्मिन् मूर्धादिचुबुकान्ते प्रादेशमात्रे स्थाने **"एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठितः"** (जाबालो.२) इत्यादिना जाबाला आमनन्ति च। तस्मात् साक्षाद् ब्रह्मण उपास्यतया परिग्रहेऽपि ब्रह्म-विषया प्रादेशश्रुतिरुपपद्यत एवेत्यर्थः।

हिन्दी – इस मूर्धा से चुबुक तक के प्रादेशमात्र स्थान में रहने वाले के रूप में इस परमात्माऽभिन्न ब्रह्म को जाबालवाजसनेयिशाखाध्यायी लोग अपने उपनिषद् में पढते भी हैं। अतः साक्षाद् ब्रह्म का उपास्य रूप में ग्रहण करने पर भी कोई विरोध उपस्थित नहीं होता है।

अथ वैश्वानराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स यो हैतमेवमग्ग्ँनिं वैश्वानरम्" (मा.वा.शत.१०।६।१।११), **"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरम्"** (छा.५।१८।१) इत्यादिकं श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र वैश्वानरः किं जाठरोऽग्निरुत भूताग्निरथवा तदभिमानिनी देवताऽथवा शारीर आत्माऽथवा ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– वैश्वानरशब्दस्य **"अयमग्गँनिर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे"** (मा.वा.शत. १४।८।९।१, का.वा.बृह.५।९।१) इत्यादौ जाठरेऽग्नौ प्रयोगादत्राऽपि वैश्वानरो जाठराग्निः स्यात्, **"विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्"** (ऋ.१०।८८।१२) इत्यादावग्निमात्रेऽपि वैश्वानरशब्दस्य प्रयोगादत्राऽपि वैश्वानरो भूताग्निरेव स्यात्, **"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम"** (ऋ.१।९८।१) इत्यादावग्निशरीरायां देवतायामपि वैश्वानरशब्दप्रयोगस्य दर्शनादत्राऽपि वैश्वानरोऽग्न्यभिमानिनी देवता स्यात्, **"को न आत्मा"** (छा.५।११।१) इत्युपक्रमाद् भोक्तृत्वेन वैश्वानरसन्निकर्षात् प्रादेशमात्रमिति विशेषणस्योपपत्तेश्चाऽत्र वैश्वानरः शारीर आत्मा स्यात्, न ब्रह्मेति।

उत्तरम्– जाठराग्नि-भूताग्नि-तदभिमानिदेवतासाधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य शारीरात्म-ब्रह्म-साधारणस्याऽऽत्मशब्दस्य च **"तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः"** (छा.५।१८।२) इत्यादितो ब्रह्मपरतारूपस्य विशेषस्याऽवगमात्, स्मृतावुपलभ्यमानस्य ब्रह्मरूपविशेषप्रतिपादनस्य मूलतयाऽस्य वैश्वानरस्य प्रतीतेः, जाठराग्नौ जाठराग्न्युपाधिकतया वा ब्रह्मदृष्टेः करणीयताया अत्रोपदेशाद् वैश्वानरशब्दस्य ब्रह्मण्यपि प्रयोगस्योपपत्तेः, केवलेषु जाठराग्न्यादिषु **"मूर्धैव सुतेजाः"** (छा.५।१८।२) इत्यादिनोपदिष्टस्य रूपस्याऽसम्भवात्, पुरुषत्वस्य पुरुषविधत्वस्य वाऽपि तत्राऽभावात्, प्रकरणबलाद् वैश्वानरशब्दस्य यौगिकार्थाश्रयणेन साक्षाद् ब्रह्मपरतयाऽपि नेतुं शक्यत्वात्, प्रादेशमात्रश्रुतेरपि अभिव्यक्तिविशेषाद्यभिप्रायतया ब्रह्मण्यप्युपपत्तेः, **"को न आत्मा किं ब्रह्म"** (छा.५।११।१) इत्यात्माभिन्नब्रह्मण उपक्रमाच्च ब्रह्मैवाऽत्र वैश्वानरो न जाठराग्न्यादिकोऽन्य इति।

निर्णयः– वैश्वानरोऽत्रोपास्यं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. स यो हैतमेवमग्गँनिं वैश्वानरमिति श्रुतिः।
यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमित्यपि च श्रुतिः॥१॥

२. तत्र वैश्वानर इति जाठराग्निर् भवेदुत।
भूताग्निर् वा देवता वा शारीरात्माऽथ ब्रह्म वा॥२॥

३. जाठराग्नेश्च भूताग्नेर् देवताया अपि श्रुतौ।
वैश्वानराख्ययोक्तेः स्यात् तेषामेकतमोऽत्र च॥३॥
आत्मशब्दाच्च सान्निध्यात् प्रादेशपरिमाणतः।
स जीवः स्यान् न तु ब्रह्म शब्दाद्यनुपपत्तितः॥४॥

४-५. पूर्वापरालोचनया वैश्वानरपदस्य च।
तथैवाऽऽत्मपदस्याऽपि नेयत्वात् खलु ब्रह्मणि॥५॥
जाठरोपाधिकत्वेन साक्षाद् वापि ह्युपासने।
शब्द-सामानाधिकरण्यादिकस्याऽविरोधतः॥६॥

अनुस्मृतेरभिव्यक्तेः सम्पत्तेर् वा परिग्रहात्।
प्रादेशमात्रतोक्तेश्च ब्रह्मण्यप्युपपत्तितः ॥७॥
जाठराग्नौ च भूताग्नौ देवतायां तथैव च।
द्युमूर्धत्वाद्ययोगाच्च पुरुषत्वाऽप्रतीतितः ॥८॥
अस्मिन् प्रकरणे वैश्वानरो ब्रह्मेति निर्णयः।
तस्मादुपास्येऽपि ब्रह्मण्येव श्रुतिसमन्वयः ॥९॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ प्रथमे श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽध्याये द्वितीयो
ऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयप्रदर्शनपरः
पादः समाप्तः ॥

अथ तृतीयः पादः

(ज्ञेयब्रह्मपरकाऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयपरः)

१९. (१) द्युभ्वाद्यधिकरणम् (सू.१-७)

उपाधिद्वारोपदेशनपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं वेदान्तानां चेतनकारणतावादित्वमेव च प्रपञ्चयन्नाह भगवान् सूत्रकारः —

६४. द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् १।३।१॥ इत्यादि।

"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतुः" इति मुण्डकश्रुतौ (२।२।५) श्रुतं द्युभ्वाद्यायतनभूतं तत्त्वम् उक्तश्रुतौ आत्मशब्दस्य प्रयोगात्, उत्तरत्र **"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण"** (मुण्डको.२।२।११) इति श्रुतौ अस्मिन् द्युभ्वाद्यायतने ब्रह्मशब्दस्य प्रयोगाच्च ब्रह्मैवाऽस्ति, न तु प्रधानम्, न वा वायुर् न वा शारीर आत्मेत्यर्थः।

हिन्दी – सम्बद्ध वाक्य में ब्रह्म के स्ववाचक आत्मशब्द का और उत्तर वाक्य में ब्रह्मशब्द का प्रयोग होने से द्युलोक-भूलोकादि का आयतनभूत तत्त्व ब्रह्म ही है।

६५. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् १।३।२॥

यद् द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृतं तस्य **"तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"** (मुण्डको.३।२।८) इति अविद्यारागद्वेषादिमुक्तैरुपसृप्य-

ताया व्यपदेशात्, मुक्तोपसृप्यता च ब्रह्मण एवेति श्रुत्यन्तरेषु प्रसिद्धत्वाद् द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्मैव।

हिन्दी – उक्त प्रकरण में प्रकृत द्युलोक-भूलोकादि के आयतन को अविद्या-राग-द्वेषादि से मुक्त पुरुषों से उपगम्य के रूप में प्रतिपादित किए जाने से वह द्युलोक-भूलोकादि का आयतनभूत तत्त्व परब्रह्म ही है।

६६. नाऽनुमानमतच्छब्दात् १।३।३॥

आनुमानिकस्याऽचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादयितुः कस्याऽपि शब्दस्याऽत्र प्रकरणेऽभावात्, प्रत्युताऽत्र प्रकरणे **"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"** (मुण्डको.१।१।९) इति चेतनस्य प्रतिपादयितुः शब्दस्य सत्त्वात्, साङ्ख्यपरिकल्पितमानुमानिकं प्रधानं द्युभ्वाद्यायतनं भवितुं नार्हति।

हिन्दी – अनुमानमात्रगम्य रूप में साङ्ख्यों का अभिमत अचेतन प्रधान के प्रतिपादक शब्द का इस प्रकरण में अभाव होने से, प्रत्युत इस प्रकरण में "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इस वाक्य में चेतन का प्रतिपादक शब्द उपलब्ध होने से साङ्ख्यों का अनुमानगम्य रूप में अभिमत प्रधान द्युलोक-भूलोकादि का आयतनभूत तत्त्व नहीं माना जा सकता हैं।

६७. प्राणभृच्च १।३।४॥

प्राणभृज्जीववाचकस्य शब्दस्याऽत्राऽभावात्; प्रत्युत **"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"** (मुण्डको.१।१।९) इति प्राणभृति जीवेऽवर्तमानायाः सर्वज्ञतायाः प्रतिपादकस्य शब्दस्याऽत्र प्रकरणे सत्त्वात् प्राणभृज् जीवोऽपि द्युभ्वाद्यायतनं भवितुं नार्हतीत्यर्थः। नेति अतच्छब्दादिति च पदे पूर्वसूत्रादस्मिन् सूत्रेऽनुवर्तेते।

हिन्दी – प्राण को धारण करने वाले जीव के वाचक शब्द का भी इस प्रकरण में अभाव होने से, प्रत्युत जीव में नरहने वाले सर्वज्ञत्व का वाचक "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इस शब्द का इस प्रकरण में प्रयोग देखे जाने से जीव भी द्युलोक-भूलोकादिका आयतनभूत तत्त्व नहीं माना जा सकता है।

६८. भेदव्यपदेशात् १।३।५॥

"तमेवैकं जानथ" (मुण्डको.२।२।५) इति जीव-ब्रह्मणोर् ज्ञातृ-ज्ञेयभावेन भेदेन व्यपदेशाद् द्युभ्र्वाद्यायतनस्य च ज्ञेयत्वेनोक्तत्वाद् ज्ञातृत्वेन श्रूयमाणः प्राणभृज् जीवो द्युभ्वाद्यायतनं नेत्यर्थः।

हिन्दी – "तमेवैकं जानथ" इस वाक्य से जीव और ब्रह्म को ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में भिन्न रूप में बताए जाने से और द्युलोक-भूलोकादि के आयतनभूत तत्त्व को ही ज्ञेय रूप में बताए जाने से ज्ञाता के रूप में प्रतिपादित प्राणधारी जीव द्युलोक-भूलोकादिका आयतनभूत तत्त्व नहीं माना जा सकता है।

६९. प्रकरणात् १।३।६॥

"कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (मुण्डको.१।१।३) इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रक्रान्तत्वात्, सर्वात्मके ब्रह्मणि ह्येकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यान् न केवले जीव इति ब्रह्मणः प्रकरणाद् द्युभ्वाद्यायतनभूतं तत्त्वं प्राणभृज् जीवो नेत्यर्थः।

हिन्दी – इस प्रकरण में एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान होने की बात प्रतिपादित होने से और ब्रह्म के ज्ञान से ही सभी का ज्ञान सम्भव होने से, जीव के ज्ञान से सभी का ज्ञान सम्भव न होने से प्रकरण की विशेषता से भी प्राणधारी जीव द्युलोक-भूलोकादि का आयतनभूत तत्त्व नहीं माना जा सकता है।

७०. स्थित्यदनाभ्याञ्च १।३।७॥

द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचकशीति"** (मुण्डको.३।१।१, द्र.–ऋ.१।१६४।२०, श्वेता.४।६) इत्यत्र परमात्मन औदासीन्येन स्थितेः, जीवात्मनः फलभोगस्य च प्रतिपादितत्वाच्च, भोक्तुर् जीवस्य लौकिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्याऽभावात्, तात्पर्यविषयमभोक्तृ परं ब्रह्मैवाऽत्र प्राकरणिकमिति निर्णयाद् द्युभ्वाद्यायतनं प्राणभृज् जीवो नास्ति, किन्तु ब्रह्मैवास्तीत्यर्थः।

पैङ्ग्युपनिषद्-व्याख्यानुसारं द्वा सुपर्णेत्यादौ साक्षिरूपजीवस्याऽभोक्तृतया प्रतिपादने स्वीकृतेऽपि भोक्तृत्वादिपरिच्छेदातीतस्य जीवस्य द्युभ्वाद्यायतनत्वं ब्रह्मणो द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाऽभिन्नमेवेति न काऽपि सूत्रासङ्गतिः।

भूतयोनिप्रकरणस्य (मुण्डको.१।१।५-६) मध्य एव **"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्"** (मुण्डको.२।२।५) इत्यादेः पठितत्वाद् अदृश्यत्वाद्यधिकरणेनैवाऽस्याऽपि तात्पर्यनिर्णयो भवति, तथापि न्यायविशेषप्रदर्शनार्थं प्रपञ्चार्थञ्च द्युभ्वाद्यधिकरणं रचितमिति बोध्यम्।

हिन्दी – सम्बद्ध प्रकरण में परमात्मा ब्रह्म की उदासीन रूप में स्थिति तथा जीवात्मा का फलभोग प्रतिपादित होने से (लौकिक जीव श्रुतितात्पर्य का विषय न होने से तथा अलौकिक ब्रह्म ही श्रुतितात्पर्य का विषय होने से) भी जीव अप्राकरणिक होने से यहां अप्राकरणिक जीव द्युलोक-भूलोकादि का आयतनभूत तत्त्व नहीं माना जा सकता है।

अथ द्युभ्वाद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चाऽन्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतुः" (मुण्डको.२।२।५) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र द्युभ्वाद्यायतनं किं प्रधानं वा वायुर् वा शारीरात्मा वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– द्युभ्वादिकारणत्वात् प्रधानमेव द्युभ्वादेरायतनं स्यात्, **"वायुना वै गौतम सूत्त्रेणाऽयञ्च लोकः परश्च्च लोकः सर्ब्बाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति"** (मा.वा.शत.१४।६।७।६, का.वा.बृह.३।७।२) इति श्रुत्यन्तरे वायोरपि विधारणत्वस्य श्रवणाद् वायुर् वा द्युभ्वाद्यायतनं स्यात्, भोक्तृत्वाद् भोग्यं प्रपञ्चं प्रति आयतनताया उपपत्तेः शारीर आत्मा वा द्युभ्वाद्यायतनं स्यात्; न तु परं ब्रह्म, तस्य सेतुत्वानुपपत्तेः, सेतोर् हि पारवतः प्रसिद्धत्वात्, परस्य ब्रह्मणश्च **"अनन्तमपारम्"** (मा.वा.शत. १४।५।४।१९, का.वा.बृह.२।४।१२) इति अपारवत्त्वस्य श्रवणादिति।

उत्तरम्– द्युभ्वाद्यायतने **"तमेवैकं जानथ आत्मानम्"** (मुण्डको.२।२।५) इति आत्मशब्दस्य प्रयोगात्, तत्र **"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्"** (मुण्डको.२।२।११) इति ब्रह्मशब्दस्य च प्रयोगात्, विधारणत्वमात्रस्य सेतुश्रुत्या विवक्षितत्वात्, द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रकृतस्य तत्त्वस्य मुक्तैरुपसृप्यतायाः **"तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुष-मुपैति दिव्यम्"** (मुण्डको.३।२।८) इति प्रतिपादितत्वाद् ब्रह्मण एव च मुक्तोपसृप्य-तायाः श्रुत्यन्तरेषु प्रसिद्धेश्च द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव। द्युभ्वाद्यायतनस्य **"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"** (मुण्डको.१।१।९) इति सर्वज्ञतायाः प्रतिपादितत्वान् न प्रधानं न वा वायुर् न वाऽपि जीवो द्युभ्वाद्यायतनं भवितुमर्हति तेषु सर्वज्ञताया अभावात्। द्युभ्वाद्यायतनस्य ज्ञेयभावेन जीवाद् भिन्नतया व्यपदेशात्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं कथं स्यादिति प्रकृतत्वाद्, द्वा सुपर्णेत्यादौ द्युभ्वाद्यायतनतत्त्वनिरूपणप्रकरणस्थवाक्ये चाऽभोक्तुः परस्यैव तात्पर्यविषयत्वाच्च द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– द्युभ्वाद्यायतनम् अविवक्षितोपाधिकं ज्ञेयतयोपक्षिप्तं परं ब्रह्मैवास्तीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यस्मिन् द्यौः पृथिवी चाऽन्तरिक्षमोतमिति श्रुतिः।
मन्त्रोपनिषदि ह्याथर्वणिकानां तु पठ्यते॥१॥

२. तत्र द्युभ्वाद्यायतनं प्रधानं स्यादथापि वा।
वायुः स्यादथवा जीवः परं ब्रह्मैव वा भवेत्॥२॥

३. द्युभ्वादिकारणत्वात् स्यात् प्रधानं सूत्रताश्रुतेः।
वायुर् वा स्यात् प्रपञ्चस्य भोक्तृत्वाज् जीव एव वा॥३॥
सेतुतायाः श्रुतेरस्य सेतोः पारयुतत्वतः।
अपारत्वाद् ब्रह्मणश्च नेदं ब्रह्मेति युज्यते॥४॥

४-५. आत्मशब्दप्रयोगाच्च ब्रह्मशब्दप्रकीर्तनात्।
विधारणत्वमात्रस्य सेतुश्रुत्या विवक्षणात्॥५॥
मुक्तोपसृप्यत्वात् सर्व-ज्ञत्वस्यान्येष्वभावतः।
ज्ञातुर् जीवाद् ज्ञेयतया भेदेन व्यपदेशतः॥६॥

सर्वज्ञानप्रकरणात् भोक्त्रभोक्त्रोर् विवेचनात्।
द्युभ्वाद्यायतनं ज्ञेयं ब्रह्मैवेति विनिश्चयः ॥७॥

---

२०. (२) भूमाधिकरणम् (सू.८-९)

उपाधिद्वारोपदेशनपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेवेति हि प्रपञ्चयन्नाह–

७१. भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् १।३।८॥ इति।

प्राणादुपरि भूम्न उपदेशाद् **"यत्र नाऽन्यत् पश्यति नाऽन्यच् छृणोति नाऽन्यद् विजानाति स भूमाऽथ यत्राऽन्यत् पश्यत्यन्यच् छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्"** (छा.७।२४) इत्यत्र भूमा ब्रह्माऽस्ति। सम्यक् प्रसीदति जीवोऽस्मिन्निति सम्प्रसादः सुषुप्तिः। सुषुप्तौ प्राणस्य जागरणाद् लक्षणयाऽत्र सम्प्रसादः प्राणः। **"एष तु वा अतिवदति"** (छा.७।१६) इति, **"सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्"** (छा.७।१६) इति च तु-पदेन प्रकृतं प्राणं व्यावर्त्य सत्यस्य भूम्न उपदेशादस्मिन् प्रकरणे प्राणादुपरि भूम्न उपदेशः स्फुटः।

हिन्दी– सम्प्रसाद (प्राण) से ऊपर उपदिष्ट होने से "यत्र नाऽन्यत् पश्यति नाऽन्यच् छृणोति नाऽन्यद् विजानाति स भूमा" इस वाक्य में प्रतिपादित भूमा ब्रह्म है।

७२. धर्मोपपत्तेश्च १।३।९॥

भूम्नि श्रुतानां दर्शनादिव्यवहाररहितत्व-सुखरूपत्वा-ऽमृतत्व-सत्यत्व-स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व-सर्वगतत्व-सर्वात्मत्वानां धर्माणां ब्रह्मणि उपपत्तेः, प्राणेऽनुपपत्तेश्च भूमा ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी– भूमा के धर्म के रूप में वर्णित दर्शनादिव्यवहाररहितत्व, सुखरूपत्व, अमृतत्व, सत्यत्व, स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व इन धर्मों का ब्रह्म में ही उपपत्ति होने से भूमा ब्रह्म ही है।

अथ भूमाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यत्र नाऽन्यत् पश्यति नाऽन्यच् छृणोति नाऽन्यद विजानाति स भूमाऽथ यत्राऽन्यत् पश्यत्यन्यच् छृणोत्यन्यद विजानाति तदल्पम्" (छा.७।२४।१) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र भूमा प्राणो वा ब्रह्म वा।

पूर्वपक्षः– भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्तत्वेन कस्य चन भावस्य प्रतीतेः, सान्निध्यात् प्राणस्यैव भावस्य ग्राह्यत्वात्, **"अस्ति भगवो नाम्नो भूयः"** (छा.७।१।५) इति, **"वाग् वाव नाम्नो भूयसी"** (छा.७।२।१) इत्यादिके प्रश्नोत्तरप्रवाहे प्रचलति सत्यपि प्राणात् परं

प्रश्नोत्तरयोरदर्शनात्, प्राणदर्शिनोऽतिवादित्वस्याऽनुज्ञातत्वात्, दर्शनादिव्यवहाररहितत्वादीनां धर्माणाञ्च प्राणेऽप्यविरुद्धत्वात् प्राण एवाऽत्र भूमेति।

उत्तरम्– प्राणादुपरि **"एष तु वा अतिवदति यः सत्येनाऽतिवदति"** (छा.७।१६।१) इति सत्यस्योपदेशात्, तत्र सत्यशब्देनोक्तस्यैव विज्ञानादिसाधनपरम्परोपदेशपूर्वकं **"यत्र नाऽन्यत् पश्यति"** (छा.७।२४।१) इत्यादिना भूमत्वेनोपदेशात्, **"तरति शोकमात्मवित्"** (छा.७।१।३) इति प्रकरणस्योत्थानात्, प्राणस्य मुख्यात्मताया अभावात्, **"तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः"** (छा.७।२६।२) इत्युपसंहारात्, **"नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।१८, श्वेता ३।८, ६।१५) इति श्रुतेश्च ब्रह्मज्ञानादन्यस्य शोकतरणोपायस्य चाऽभावाद्, दर्शनादिव्यवहाररहितत्व-सुखरूपत्वा-ऽमृतत्व-सत्यत्व-स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व-सर्वगतत्व-सर्वात्मत्वानां च भूमनि श्रूयमाणानां धर्माणां ब्रह्मण्येवोपपत्तेः, प्राणेऽनुपपत्तेश्च भूमा ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अत्र भूमा ज्ञेयत्वेनोपदिष्टं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यत्र नान्यत् पश्यतीत्येवमाद्या सामगश्रुतिः।
२. श्रूयमाणस्तत्र भूमा प्राणो वा ब्रह्म वा भवेत्॥१॥
३. प्राणाऽधिकस्याऽपृष्टत्वात् प्राणदर्शिनि च श्रुतौ।
अतिवादित्वानुमतेः प्राणो भूमा भवेदिह॥२॥
४-५. प्राणादुपरि सत्यस्योपदेशात् तदभेदतः।
भूम्न उक्तेरात्मवित्तिमोक्षयोर् हि उपक्रमात्॥३॥
दर्शनादिव्यवहृतिविरहित्वादिलक्ष्मणाम्।
उपपत्तेश्चाऽत्र भूमा ज्ञेयं ब्रह्मेति निर्णयः॥४॥

---

२१. (३) अक्षराधिकरणम् (सू.१०-१२)

उपाधिद्वारोपदेशनपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं वेदान्तानां चेतनकारणतावादित्वमेव च प्रपञ्चयन्नाह–

७३. अक्षरमम्बरान्तधृतेः १।३।१०॥ इति।

"कस्मिन्नु खल्वाकाशऽओतंश्च प्रोतश्चेति। स होवाचैतद् वै तदक्षरङ् गार्गि ब्राह्मणाऽअभिवदन्त्यस्थूलमनणु" (मा.वा.शत.१४।६।८।७-८, का.वा.बृह.३।८।७-८) इत्यादौ प्रकरणे श्रूयमाणमक्षरं पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य स्वस्मिन्नोतप्रोततया धारणाद् ब्रह्माऽस्तीति गम्यत इत्यर्थः।

हिन्दी – "कस्मिन् नु खल्वाकाशऽओतश्च्च प्रोतश्च्च" इत्यादि श्रुति में प्रतिपादित अक्षर वहाँ उस के आकाश तक के सम्पूर्ण विकारों के धारण का वर्णन होने से और वह कार्य ब्रह्म में ही उपपन्न होने से ब्रह्म ही है।

७४. सा च प्रशासनात् १।३।११॥

"एतस्स्य वाऽअक्क्षरस्स्य प्प्रशासने गार्ग्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठ्तः" (मा.वा.शत.१४।६।८।९, का.वा.बृह.३।८।९) इति श्रुतावक्षरकृतस्याऽऽज्ञारूपस्य चेतनकार्यस्य प्रशासनस्य श्रवणात् पूर्वोक्तश्रुतौ श्रूयमाणस्याऽक्षरस्याऽम्बरान्त-विकारजातधृतिरपि चेतनस्य ब्रह्मणः कर्म नाऽचेतनस्य प्रधानस्येति निश्चीयते। एवञ्चाऽम्बरान्तधृतेः कर्तृ अक्षरं चेतनं ब्रह्मैव नाऽचेतनं प्रधानमिति तात्पर्यम्।

हिन्दी – वह आकाश तक के सम्पूर्ण विकारों का धारण वहाँ चेतन धर्म प्रशासन का प्रतिपादन होने से चेतन ब्रह्म का ही धर्म अवगत होता है। अतः उक्त अक्षर चेतन ब्रह्म ही है, अचेतन प्रधान नहीं, यह तात्पर्य है।

७५. अन्यभावव्यावृत्तेश्च १।३।१२॥

"तद् द्वाऽएतदक्क्षरङ् गार्ग्यदृष्ट्न् द्रष्ट्" (मा.वा.शत.१४।६।८।११, का.वा.बृह.३।८।११) इति अचेतनाऽकारादिवर्णभावाद् अचेतनप्रधानभावाच्च व्यावृत्ततया, **"अचक्क्षुष्क्कमश्श्रोत्त्रम्"** (मा.वा.शत.१४।६।८।८, का.वा.बृह.३।८।८) इति सोपाधिकजीवभावाच्च व्यावृत्ततयेति अक्षरत्वेनाऽशङ्कनीयेभ्यो-ऽन्येभ्योऽकारादिवर्ण-प्रधान-जीवेभ्यो व्यावृत्ततयाऽस्याऽम्बरान्तधारणकर्तुरक्षरस्य प्रतिपादनादक्षरं ब्रह्मैवेत्यर्थः। अथवाऽस्थूलमनण्वित्यादिनाऽन्येषु व्यावहारिकेषु ब्रह्मेतरपदार्थेषु दृश्यानां सर्वेषां धर्माणां प्रतिषेधादक्षरं ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी – अक्षर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त "द्रष्ट्" और "अचक्षुष्कम्" इत्यादि शब्दों से अक्षरशब्द के अर्थ के रूप में सम्भावित अकारादि वर्ण, प्रधान, और जीव के व्यावृत्ति होने से भी अक्षर ब्रह्म ही है, अकारादि वर्ण, प्रधान और जीव नहीं है। अथवा अस्थूलम् अनणु इत्यादि विशेषण से व्यावहारिक ब्रह्मेतर पदार्थों में दृश्य सभी धर्मों की व्यावृत्ति किए जाने से भी अक्षर ब्रह्म ही है।

अथाऽक्षराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"कस्मिन्नु खल्वाकाशऽओतश्च प्प्रोतश्चेति। स होवाचैतद्द्वै तदक्क्षरङ् गार्ग्गि ब्ब्राह्म्मणाऽअभिवदन्त्यस्त्थूलमनणु"** (मा.वा.शत.१४।६।८।७-८, का.वा.बृह.३।८।७-८) इत्यादिकं श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्राऽक्षरं प्रधानं वा जीवो वा वर्णो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– अत्र श्रुतौ अम्बरान्तानां कारणत्वात् प्रधानमक्षरं स्यात्, प्रपञ्चभोक्तृत्वाज् जीवो वाऽक्षरं स्यात्, प्रसिद्धत्वादोङ्काररूपो वर्णो वाऽक्षरं स्यात्, न तु ब्रह्म तत्राऽक्षर-शब्दस्य समुदायप्रसिद्धेरभावादिति।

उत्तरम्– पृथिव्याद्याकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात्, आज्ञादानरूपप्रशासनकार्ययुक्तत्वात्, सक्षाच् चेतनत्वेन श्रुतत्वात्, इन्द्रियाद्युपाधिरहितत्वाच् चाऽक्षरमत्र श्रुतौ ब्रह्म भवितुमर्हति न प्रधानं न वा जीवो नाऽपि वर्ण इति।

निर्णयः– अत्राऽक्षरं ज्ञेयं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. तदक्षरं गार्गि एवमादिका श्रूयते श्रुतिः।
२. तत्राऽक्षरं प्रधानं वा जीवो वर्णोऽथ ब्रह्म वा॥१॥
३. अक्षरं स्यात् प्रधानं हि व्योमादेः कारणत्वतः।
जीवः प्रपञ्चभोक्तृत्वात् प्रणवो वा प्रसिद्धितः॥२॥
४-५. मुख्याकाशान्तविधृतेर् ब्रह्मण्येवोपपत्तितः।
प्रशासनश्रुतेस् तस्याश् चेत्तृकार्यत्वतस् तथा॥३॥
अचेतन-परिच्छिन्न-भावव्यावृत्तितोऽपि च।
अत्राऽक्षरं हि विज्ञेयं परं ब्रह्मेति निर्णयः॥४॥

---

२२. (४) ईक्षतिकर्माधिकरणम् (सू.१३)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्मवाक्यानामव्याघातं प्रपञ्चयन्नाह भगवान् सूत्रकारः –

७६. ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः १।३।१३॥ इति।

"स एतस्माज् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्रश्नो.५।५) इति वाक्यशेषे ईक्षतिकर्मतया व्यपदेशात् प्रश्नोपनिषदि **"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"** (प्रश्नो.५।५) इत्यत्राऽभिध्यातव्यतयोक्तः स परः पुरुषः ब्रह्मैवाऽस्तीत्यर्थः।

· हिन्दी – "परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इस वाक्यशेष में ईक्षण के कर्म के रूप में प्रतिपादित होने से पश्नोपनिषद् के "परं पुरुषमभिध्यायीत" इस वाक्य में ध्येय के रूप में प्रतिपादित वह पर पुरुष ब्रह्म ही है।

अथेक्षतिकर्माधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्रश्नो.५।५) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्राऽभिध्येयत्वेनाऽपरं ब्रह्मोक्तमथवा परं ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– एतदभिध्यातुः परिच्छिन्नफलप्राप्तेः श्रवणात्, स्थूलविराड्रूपपिण्डापेक्षया सूत्रात्मनः प्राणस्य परताया उपपत्तेः, परात् परस्यैवेक्षणीयताया वाक्यशेष उक्तत्वाद्, अपरोपासनस्य चोपक्रमादत्रोपास्यत्वेनोक्तमपरमेव ब्रह्म स्यादिति।

उत्तरम्– ओङ्कारालम्बनेन सोपाधिकतया ध्यानात् परब्रह्मणो ध्यातुरपि ब्रह्मलोकप्राप्तिरूपस्य परिच्छिन्नस्य फलस्यौचित्यात्, वाक्यशेषे जीवघनशब्देन प्रकृतस्याऽभिध्यातव्यस्य परस्य पुरुषस्याऽपरामृष्टत्वाद् ब्रह्मलोकस्य जीवस्यैव वोक्तत्वात्, प्रकृतस्याऽभिध्यातव्यस्यैवेक्षतिकर्मतयोक्तत्वाद्, ईक्षतिकर्मणश्च यथाभूतत्वस्यैव लोके दर्शनाद् ध्यायतिकर्मण इवाऽयथाभूतत्वस्याऽसम्भवाद्, **"एतद् वै सत्यकाम परं चाऽपरं च ब्रह्म यदोङ्कारः"** इति पराऽभिध्यानस्याऽप्युपक्रान्तत्वाच्च परं ब्रह्मैवाऽत्राऽभिध्येयत्वेनोक्तं भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अत्राऽभिध्येयत्वेनोक्तं परं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. एतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवेत्यादिकां श्रुतिम्।
ब्राह्मणोपनिषद्याथर्वणिकाः खल्वधीयते ॥१॥

२. तत्राऽभिध्येयमोङ्कारेऽपरं ब्रह्माऽथवा परम्।

३. परिच्छिन्नफलत्वात् तु ध्येयमत्राऽपरं भवेत् ॥२॥

४-५. सर्व-सालम्ब-ध्यानानां परिच्छिन्नफलत्वतः।
ध्येयस्याऽस्यैवोत्तरत्रेक्षतिकर्मतयोक्तितः ॥३॥
यथाभूतत्वस्वाभाव्यादीक्षणीयस्य वस्तुनः।
ध्येयं त्रिमात्रोङ्कारेणाऽऽलम्बनेन परं मतम् ॥४॥

---

२३. (५) दहराधिकरणम् (सू.१४-२१)

उपास्यब्रह्मवाक्यैर् निर्विशेषब्रह्मवाक्यानामव्याघातं प्रपञ्चयन्नाह—

७७. दहर उत्तरेभ्यः १।३।१४॥ इत्यादि।

छान्दोग्योपनिषदि **"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यम्"** (८।१।१) इत्यत्र श्रूयमाणो दहर आकाश उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो दहरत्वनिवर्तना-ऽऽत्मत्वा-ऽपहतपाप्मत्वादि-गुणकीर्तना-ऽनन्तफलकत्व-प्रदर्शनादिभ्य उत्तरैः सूत्रैः प्रदर्शितेभ्यश्च हेतुभ्यो ब्रह्मेति निश्चीयत इत्यर्थः।

हिन्दी– छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित दहर आकाश आगे के वाक्यों में आए हुए दहरत्वनिवर्तन, आत्मत्व, अपहतपाप्मत्व इत्यादि गुणों का कीर्तन और अनन्तफलकत्वप्रदर्शन इत्यादि हेतुओं से ब्रह्म ही अवगत होता है।

७८. गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च १।३।१५॥

"इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर् गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति" (छा. ८।३।२) इति ब्रह्मलोकत्वेनोक्ते दहराकाशे प्रजात्वेनोक्तानां जीवानामहरहर् गतेः श्रवणात्, दहराकाशे ब्रह्मलोकशब्दस्य प्रयोगाच्च दहराकाशो ब्रह्मैव। तथा हि "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा.६।८।१) इत्यादौ श्रुत्यन्तरे, लोकेऽपि गाढं सुषुप्ते "ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः" इति प्रयोगे जीवस्य ब्रह्मणि गमनं दृष्टम्। तथा च प्रकृतश्रुतौ श्रूयमाणं ब्रह्मलोकगमनमपि ब्रह्मगमनमेवेति निश्चीयते। एतदेव श्रूयमाणं जीवस्य ब्रह्मणि गमनं ब्रह्मलोकशब्दस्य सत्यलोकरूपमर्थमपरिगृह्य ब्रह्मरूपस्याऽर्थस्य परिग्रहे लिङ्गञ्च भवति, जीवानामहरहः सत्यलोकेऽगमनात्।

हिन्दी– ब्रह्मलोक के रूप में प्रतिपादित दहर आकाश में प्रजा के रूप में उल्लिखित जीवों का प्रतिदिन गमन का प्रतिपादन होने से और दहर आकाश में ब्रह्मलोकशब्द का प्रयोग किए जाने से दहर आकाश ब्रह्म ही ज्ञात होता है। इसी प्रकार का जीव का ब्रह्म में गमन "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" इत्यादि श्रुतियों में और लौकिक "सुषुप्तो ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः" इस प्रयोग में भी देखा गया है; और यही जीवों का ब्रह्म में गमन श्रूयमाण ब्रह्मलोकशब्द का सत्यलोकपरक नहोकर ब्रह्मपरक होने का चिह्न भी है, क्यों कि प्रतिदिन जीवों का सत्यलोक में जाना और आना सम्भव नहीं माना जा सकता है।

७९. धृतेश्च महिम्नोऽस्याऽस्मिन्नुपलब्धेः १।३।१६॥

अस्य लोकविधारणरूपस्य महिम्नः अस्मिन् ब्रह्मण्येव वर्तमानतायाः "एतस्स्य वाऽअक्षरस्स्य प्प्रशासने गार्ग्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठ्तः" (मा.वा.शत.१४।६।८।९, का.वा.बृह.६।८।९) इत्यादौ श्रुत्यन्तरे च उलभ्यमानत्वाद् अस्मिन् प्रकृत आत्माभिन्नेऽपहतपाप्मत्वादिगुणवति दहराकाशे "अथ य आत्मा स सेतुर् विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" (छा.८।४।१) इति श्रुताद् धारणरूपाद् महिम्नश्च दहरो ब्रह्मैव इत्यर्थः।

हिन्दी– दहराकाश के सम्पूर्ण लोक के धारणरूप महिमा का इस प्रकरण में प्रतिपादन होने से और दूसरी श्रुतियों में भी लोकविधारणरूप महिमा का ब्रह्म में ही वर्तमानत्व का प्रतिपादन उपलब्ध होने से भी दहर आकाश ब्रह्म ही अवगत होता है।

८०. प्रसिद्धेश्च १।३।१७॥

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छा.१।९।१) इत्यादौ ब्रह्मणि आकाशशब्दस्य प्रसिद्धत्वाच्च दहराकाशो ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी– आकाशशब्द का ब्रह्म में प्रयोग "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध होने से भी दहर आकाश ब्रह्म ही अवगत होता है।

८१. इतरपरामर्शात् स इति चेन्नाऽसम्भवात् १।३।१८॥

"अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय" (छा.८।३।४) इत्यादौ दहरवाक्यशेषे सम्प्रसादशब्देनेतरस्य जीवस्य परामर्शाद् दहरो जीव इति चेत्, बुद्ध्युपाधिपरिच्छेदाभिमानिनि जीवे आकाशोपमेयताया अपहतमाप्मत्वादिधर्मवत्तायाश्चाऽसम्भवात् न तथा भवितुमर्हतीत्यर्थः। *शङ्करानन्दकृतदीपिकायां ब्रह्मामृतवर्षिण्यां च उत्तराच् चेदिति उत्तरसूत्रात् नवीनमधिकरणं प्रारब्धं दृश्यते।*

हिन्दी – "अथ य एष सम्प्रसादः" इत्यादि दहरवाक्यशेष में सम्प्रसादशब्द से ब्रह्म से इतर जीव का परामर्श होने से दहर आकाश जीव अवगत होता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि बुद्धिरूप उपाधि से परिच्छिन्न होने का अभिमान करने वाले जीव में आकाशोपमेयता और अपहतपाप्मत्वादिधर्मवत्ता असम्भव होने से दहर आकाश जीव नहीं माना जा सकता है।

८२. उत्तराच् चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु १।३।१९॥

उत्तराद् **"य एषोऽक्षिणि पुरुषः"** (छा.८।७।४) इत्यादिकात् प्रजापतिवाक्याद् **"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय"** (छा.८।१२।३) इत्यादौ जीवस्यैवोत्तमपुरुषतायाः प्रतिपादितत्वस्य निश्चयाज् जीवेऽपि ब्रह्मधर्मा उपपद्यन्त एवेति दहरो जीव एवेति चेत्, आविर्भूतस्वरूपो हि स्वात्मविवेकविज्ञानेन ब्रह्मतां प्राप्तो भूतपूर्वगत्या सम्प्रसादशब्देन परामृष्टो जीवस्तत्र प्रजापतिवाक्ये प्रतिपादितो न लौकिको जीव इति तत्र ब्रह्मधर्मा उपपद्यन्ते, अनाविर्भूतस्वरूपे लौकिके जीवे तु ब्रह्मधर्मा नैव सम्भवन्ति, तस्माद् दहरोऽनाविर्भूतस्वरूपो लौकिको जीवो भवितुं नार्हतीति भावः।

हिन्दी – "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" इत्यादि उत्तरवाक्य से "एवमेवैष सम्प्रसादः" इत्यादि में जीव की ही उत्तमपुरुषता प्रतिपादित किए जाने का निश्चय होने से जीव में भी ब्रह्मधर्म उपपन्न होते ही हैं, अतः दहर आकाश जीव ही अवगत होता है, ऐसी बात उचित नहीं है, क्यों कि आत्मज्ञान से ब्रह्मत्व में प्राप्त होकर आविर्भूतस्वरूप जीव ही उत्तरवाक्य में भूतपूर्वन्याय से सम्प्रसादशब्द से परामृष्ट है न तु लौकिक जीव। अतः उस में ब्रह्मधर्म हो सकते हैं। अनाविर्भूतस्वरूप लौकिक जीव में ब्रह्मधर्म नहीं रह सकते हैं। अतः दहर आकाश अनाविर्भूतस्वरूप लौकिक जीव नहीं माना जा सकता है।

८३. अन्यार्थश्च परामर्शः १।३।२०॥

"अथ य एष सम्प्रसादः" (छा.८।३।४) इति दहरवाक्यशेषे यो·जीवपरामर्शः स खलु, यदस्य जीवस्योपसम्पत्तव्यं परं ज्योतिः, अयं जीवो येन स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते, स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुण उपास्य इति प्रतिपादनाय कृतः। तस्माज् जीवपरामर्शोऽपि ब्रह्मात्मस्वरूपपर्यवसायी न जीवात्मस्वरूपपर्यवसायी।

हिन्दी – दहरवाक्यशेष में "अथ य एष सम्प्रसादः" इस रूप में जो जीव का परामर्श है वह जीव जिस अपने वास्तविक रूप में अभिनिष्पन्न होता है उस अपहतपाप्मत्वादिगुणक आत्मा की

उपासना के लिए किया गया है। अतः वह जीव का परामर्श भी परमात्मस्वरूपपर्यवसायी है, जीवात्मस्वरूपपर्यवसायी नहीं है।

८४. अल्पश्रुतेरिति चेत् तदुक्तम् १।३।२१॥

"दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" (छा.८।१।१) इति प्रकृतस्याऽऽकाशस्य दहरशब्दवाच्याया अल्पतायाः श्रुतत्वान् नाऽयं परमात्मेति चेत्, तदुत्तरम् **"अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च"** (ब्रह्ममी.१।२।७) इति सूत्रेण हि उपासनार्थमौपाधिकमल्पत्वं ब्रह्मण्यपि अविरुद्धमेवेत्यादिकमुक्तमेवेत्यर्थः।

हिन्दी– "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" इस वाक्य से आरब्ध प्रकरण में आकाश की अल्पता दहर पद से सुने जाने से वह आकाश परमात्मा वा ब्रह्म नहीं हो सकता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपासना के लिए ब्रह्म में भी औपाधिक अल्पता की कल्पना अविरुद्ध होने की बात "अर्भकौकस्त्वात्" इत्यादि सूत्र में (१।२।७) बताई जा चुकी है।

अथ दहराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यम्" (छा.८।१।१) इति श्रुतिः।

विशयः– अत्र दहर आकाशो भूताकाशो वा जीवो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– आकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद् दहरायतनापेक्षया दहरत्वव्यपदेशस्य तत्राऽपि सम्भवात्, दहराकाशभिन्नस्य दहराकाशान्तर्गतस्यैवाऽन्वेष्टव्यत्वाच्च दहराकाशो भूताकाशः स्यात्, अथवा दहरत्वस्याऽराग्रमात्रे जीव एव सम्भवाद् दहराकाशस्य ब्रह्मपुराधिकरणतायाः श्रुतत्वाज् जीवस्य च ब्रह्मपुराख्ये स्वकर्मणोपार्जिते शरीरे स्थितत्वात् लक्षणया ब्रह्मशब्देनाऽपि वक्तुं शक्यत्वाच्च जीव एव दहराकाशः स्यात्, ब्रह्मणस्तु स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितस्य शरीराधिकरणताया अभावात्, विभोर् दहरत्वस्याऽनुपपत्तेश्च दहराकाशो ब्रह्म भवितुं नार्हतीति।

उत्तरम्– ब्रह्मलोकत्वेनोक्ते दहराकाशे प्रजात्वेनोक्तानां जीवानामहरहर् गतेः श्रवणात्, दहराकाशे ब्रह्मलोकशब्दस्य प्रयोगात्, ब्रह्मलोकशब्दस्य ब्रह्मैव लोक इत्यर्थकत्वात्, अस्मिन् दहराकाशे वर्तमानत्वेन श्रुतात् सर्वलोकधारणरूपाद् महिम्नः, एतादृशमहिमवत्त्वस्य ब्रह्मणि एव वर्तमानतायाः श्रुत्यन्तरेऽप्युपलब्धेः, आकाशशब्दस्य श्रुत्यन्तरे ब्रह्मण्यपि प्रसिद्धत्वात्, प्रजापतिविद्यायामपि ब्रह्मत्वं गते भूतपूर्वगत्या जीवत्वेन परामृष्टे ब्रह्मण्येव ब्रह्मधर्माणां श्रवणात्, दहर आकाशे श्रूयमाणानामपहतपाप्मत्वादिब्रह्मधर्माणां जीवेऽसम्भवात्, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणोऽपि शरीरेण सम्बन्धस्य सत्त्वात्, ब्रह्मपुरशब्दे श्रूयमाणस्य ब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मण्येव मुख्यत्वात्, दहराकाशविज्ञानस्याऽनन्तफलकत्वस्य श्रवणात्, दहराकाशान्तस्समाहितस्य द्याव्यापृथिव्यादिकस्याऽन्वेष्टव्यत्वे दहरा-

काशात्मवेदनस्य फलवत्तायाः प्रतिपादकस्य वाक्यशेषस्याऽसङ्गतत्वस्याऽऽपत्तेः, उपासनार्थस्यौपाधिकस्याल्पत्वस्य ब्रह्मण्यप्यविरुद्धत्वाद् दहर आकाशो ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– दहर आकाश उपास्यत्वेनोक्तं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्याद्या श्रुतिः खलु।
२. अयं दहर आकाशो व्योम जीवोऽथ ब्रह्म वा॥१॥
३. आकाशशब्दात् तद्भिन्नान्वेषाणाच्च वियद् भवेत्।
अल्पत्वाद् ब्रह्मपुरके स्थितत्वाज् जीव एव वा॥२॥
४-५. जीवानामभिगम्यत्वाद् ब्रह्मलोकतया श्रुतेः।
सर्वस्य धारकत्वाच्चाऽऽकाशशब्दप्रसिद्धितः॥३॥
तथाऽपहतपाप्मत्वादात्मत्वेन च कीर्तनात्।
ध्येयेऽल्पत्वस्याऽविरोधाद् दहरोऽयञ्च ब्रह्म हि॥४॥

---

२४. (६) अनुकृत्यधिकरणम् (सू.२२-२३)

उपाधिद्वारोपदेशनपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं प्रपञ्चयन्नाह—

८५. अनुकृतेस्तस्य च १।३।२२॥ इति।

मुण्डकोपनिषदि "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (२।२।१०) इत्यत्र श्रूयमाणः प्रकाशः तस्य च सर्वप्रकाशकस्य सर्वेण जगताऽनुभानेन कृताया अनुकृतेरुक्तायां श्रुतावेव श्रवणात् चिन्मयं ब्रह्मैवाऽस्ति; नान्यो भौतिकस् तेजःपिण्डविशेषः, प्रचण्डतमस्य भासमानस्य भौतिकतेजोन्तरस्य स्वनिकृष्टभौतिकतेजोन्तराभिभावकत्वेन सूर्यादिभौतिकतेजोन्तरैस्तस्याऽनुकृतेरसम्भवादित्यर्थः।

हिन्दी– "न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि वाक्य में श्रूयमाण प्रकाश, सर्वप्रकाशक उस प्रकाश का सम्पूर्ण जगत् से अनुभान रूप से अनुकृति किए जाने की बात उसी श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित होने से, चिन्मय ब्रह्म ही अवगत होता है।

८६. अपि च स्मर्यते १।३।२३॥

"न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम" (गीता.१५।६) इति, **"यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाऽग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्"** (गीता.१५।१२) इति च ब्रह्मणः सूर्याद्यप्रकाश्यत्वं सूर्यादिप्रकाशकत्वञ्च स्मर्यते। तस्मान् **"न तत्र सूर्यो**

भाति" (मुण्डको.२।२।१०) इत्यादावपि सर्वावभासकत्वेन ब्रह्मैवोक्तं नाऽन्यत् किञ्चिदिति तात्पर्यम्।

हिन्दी– "न तद् भासयते सूर्यः" इत्यादि स्मृति में भी ब्रह्म का सूर्यादि से अप्रकाश्यत्व और ब्रह्म का ही सूर्यादिप्रकाशकत्व प्रतिपादित किया जाता है। स्मृति श्रुति की ही अनुगामिनी होती है। अतः " न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि श्रुति में प्रतिपादित प्रकाश ब्रह्म ही अवगत होता है।

अथाऽनुकृत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"** (मुण्डको.२।२।१०) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– यं भान्तं सर्वमिदमनुभाति, यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स भौतिकतेजःपिण्डः कश्चिदुत चिन्मयं ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– भौतिकतेजस्स्वभावके हि सूर्ये भासमाने भौतिकतेजस्स्वभावकानां हि प्रदीपतारकादीनामभानस्य दृष्टत्वाद्, अनुकार्यानुकारकभावस्यापि सजातीयेष्वेव प्रसिद्धत्वाच्च यस्मिन् भासमाने भौतिकतेजस्स्वभावकाः सूर्यादयो न भान्ति, यञ्चाऽनुभान्ति सोऽपि कश्चन भौतिकतेजःपिण्ड एव भवेत् न ब्रह्मेति।

उत्तरम्– चिन्मयस्य ब्रह्मण एव **"भारूपः"** (छा.३।१४।२) इति प्रसिद्धत्वेन सूर्यादीनां तदनुभानस्यौचित्यात्, प्रदीपस्य प्रदीपान्तरानुभानस्याऽदर्शनात् सूर्यादीनां भौतिकतेजस्स्वभावकानां पदार्थानां भौतिकतेजःपिण्डान्तरानुभानस्याऽदर्शनाद् वातविजातीयस्याऽपि भौमस्य रजसो वातमनुवहनस्य दर्शनात्, तत्रेति प्रकृतस्य द्युभ्वाद्यायतनस्य चिन्मयस्य ब्रह्मणः परामर्शात्, परब्रह्मणः सर्वव्यञ्जकत्वादनन्यव्यज्यत्वाद् **"न तत्र सूर्यो भाति", "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"** इति कथनस्य तत्रोपपद्यमानत्वात्, स्मृतावपि परब्रह्मण एवंविधताया एव स्मर्यमाणत्वाच्च यस्मिन् भासमाने सूर्यादयो न भान्ति, यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति तच् चिन्मयं परं ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– यस्मिन् भासमाने सूर्यादयो न भान्ति, यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति तच् चिन्मयं परं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. न तत्र सूर्यो भातीत्येवमाद्या मुण्डकश्रुतिः।
२. सर्वावभास्यत्र भौततेजःपिण्डोऽथ ब्रह्म वा॥१॥
३. सजातीयस्याऽनुकृतेरभिभूतेश्च दर्शनात्।
कश्चित् सूर्यसजातीयस् तेजःपिण्डो ह्ययं भवेत्॥२॥
४-५. एकानुभानमन्यस्य भौततेजस्स्वदर्शनात्।
विजातीयस्याऽपि रेणोर् वातानुकृतिदर्शनात्॥३॥

स्मृतावपीदंरूपस्य ब्रह्मणः परिकीर्तनात्।
यस्य भासा सर्वमिदं भाति ज्ञेयं हि ब्रह्म तत्॥४॥

---

२५. (७) प्रमिताऽधिकरणम् (सू.२४-२५)

उपाधिद्वारोपदेशपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वं प्रपञ्चयन्नाह भगवान् सूत्रकारः —

८७. शब्दादेव प्रमितः १।३।२४॥ इति।

कठोपनिषदि **"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽवधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उ श्व एतद् वै तत्"** (२।१।१३) इत्यत्र श्रुतोऽङ्गुष्ठप्रमितः पुरुषः **"ईशानो भूत-भव्यस्य"** इतिशब्दाद् एव ब्रह्मैवास्तीति निश्चीयत इत्यर्थः।

हिन्दी – "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" इत्यादि श्रुति में श्रूयमाण अङ्गुष्ठपरिमाणक पुरुष उस में "ईशानो भूतभव्यस्य" ऐसा सर्वेशकत्ववाचक शब्द का प्रयोग होने से ब्रह्म ही अवगत होता है।

८८. हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् १।३।२५॥

मनुष्याणामेव शक्तत्वादर्थित्वाच्च वेदशास्त्रस्य मनुष्याधिकारिकत्वाद् मनुष्याङ्गुष्ठप्रमाणके मनुष्यहृदयाऽऽकाशे विशेषेणाऽभिव्यक्ततयाऽवस्थानमपेक्ष्याऽङ्गुष्ठमात्रत्वमिदं ब्रह्मण उक्तं वेदितव्यम्।

हिन्दी – मनुष्य ही आत्मज्ञान में समर्थ और आत्मज्ञान के अर्थी भी हैं। अतः वेदशास्त्र मनुष्य के लिए प्रवृत्त होने से मनुष्य के अङ्गुष्ठ के तुल्य मनुष्यहृदयाकाश में विशेष रूप में अभिव्यक्त होकर रहने से ब्रह्म का यह अङ्गुष्ठप्रमाणकत्व श्रुति में बताया गया है।

अथ प्रमिताधिकरणस्वरूपम्

विषयः – "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽवधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उ श्व एतद् वै तत्" (कठो.२।१।१२) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः – अयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो जीवो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः – ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठमात्रताया अभावात्, जीवस्यैव **"ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्"** (महा.वन.२९७।१७, सात.२८१।१६) इत्यादिषु स्मृतिषु अङ्गुष्ठमात्रताया उक्तत्वाच्च जीव एवाऽयं न ब्रह्मेति।

उत्तरम् – अङ्गुष्ठमात्रपुरुषस्य **"ईशानो भूतभव्यस्य"** इति विशेषितत्वाद्, एतच्छब्दप्रयोगस्य एतद्विशेषणस्य च जीवेऽभावात्, अस्य वचनस्याऽङ्गुष्ठमात्रत्वेन निरूप्यमाणस्य जीवस्यैव वस्तुतो ब्रह्मतेत्युपदेष्टुं प्रवृत्तत्वात्, परमात्मविषयकप्रश्नोत्तरप्रकरणस्थत्वात्, वेदशास्त्रस्य मनुष्याधिकारिकत्वान् मनुष्यहृदयोपाधिमुपादाय च ब्रह्मणोऽप्यङ्गुष्ठमात्रतयोपदेष्टुं शक्यत्वाच्चाऽयमङ्गुष्ठप्रमितः पुरुषो ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो हृदयोपाधिद्वारेण ज्ञेयतयोपदिष्टं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष इत्याद्या काठकश्रुतिः।
२. अयमङ्गुष्ठमात्रो हि जीवो वा ब्रह्म वा भवेत्॥१॥
३. प्रमितत्वविशेषस्य परे ब्रह्मण्यसम्भवात्।
जीवे तु स्मरणाज् जीवोऽयमङ्गुष्ठप्रमाणकः॥२॥
४-५. भूतभव्येशानतायाः शारीरात्मन्यसम्भवात्।
ब्रह्म-प्रश्नोत्तरत्वाच्चाऽङ्गुष्ठमात्रश्च ब्रह्म हि॥
मनुष्यहृदुपाधित्वाद् ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठमात्रता।
जीवस्यैव च ब्रह्मत्वं वक्तुं साऽपि समाश्रिता॥४॥

---

२६. (८) देवताधिकरणम् (सू.२६-३२)

मनुष्याधिकारोल्लेखप्रसङ्गादाह—

८९. तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् १।३।२६॥ इति।

तेषां पूर्वसूत्रोक्तानां मनुष्याणामुपरि वर्तमानानान् देवादीनपि मोक्षशास्त्रमधिकरोति विग्रहवत्त्वप्रयुक्तसामर्थ्यवतां तेषामपि मोक्षविषयेऽर्थित्वस्य सम्भवादिति बादरायणो मन्यत इत्यर्थः। बादरायण इत्यादिरूपेण स्वनामग्रहणं शास्त्रकाराणां नाऽनुचितं मन्यन्ते विद्वांसः।

हिन्दी– मनुष्यों से ऊपर की विग्रहवती देवताओं में भी आत्मज्ञानसामर्थ्य और आत्मज्ञानार्थित्व सम्भव होने से वेदादिशास्त्र देवताधिकारक भी होने की बात बादरायण मुनि मानते हैं।

९०. विरोधः कर्मणीति चेन्नाऽनेकप्रतिपत्तेर् दर्शनात् १।३।३७॥

विद्याधिकारित्वसिद्धये देवादीनानां विग्रहवत्त्वे स्वीकृते कर्मण्यपि तेषां स्वरूपसन्निधानेन कर्माङ्गभावः स्वीकरणीयः स्यात्, तथा चेन्द्रादीनां विग्रहवतां यागेऽङ्गभावस्याऽदर्शनात्, बहुषु यागेषु युगपत् स्वरूपसन्निधानानुपपत्तेश्च कर्मणि विरोध आपतेदिति चेत्, एकस्याऽपि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्राप्तेर् **"महिमानऽएवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत् त्वेव देवाः"** (मा.वा.शत.१४।६।९।३, का.वा.बृह. ३।९।२) इत्यादिकायां श्रुतौ दर्शनान् न तादृशी अनुपपत्तिर् भवतीति गम्यते इत्यर्थः। एवं चाऽनेकरूपप्राप्तिसम्भवादेकाऽपि देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छति, परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियायोगादिति देवतानां विग्रहवत्त्वमुपपद्यत एवेति भावः। अथवा यथैकत्रैव स्थित-

मेकमेव ब्राह्मणं बहवो युगपदेव नमस्कर्तुं शक्नुवन्ति तथैव यागस्य उद्देश-त्यागात्मकत्वादेकत्रैव स्थितां विग्रहवतीं देवतामुद्दिश्याऽपि बहवो युगपत् स्वंस्वं द्रव्यं त्यक्तुं शक्नुवन्तीति एकस्या विग्रहवत्याः स्वस्थानस्थाया अपि देवताया अनेकेषु यागेषु अङ्गभावप्राप्तेः सम्भवस्य दर्शनाद् देवादीनां विग्रहवत्त्वे स्वीकृते-ऽपि कर्मणि न कोऽपि विरोध आपततीति भावः।

हिन्दी – देवताओं को विग्रहयुक्त मानकर उन का वेदशास्त्र में अधिकार मानने पर यागों में विग्रहवती देवताओं की उपस्थिति न देखे जाने से और विग्रहवती देवताओं की एक ही समय में अनेक यागों में उपस्थिति अनुपपन्न होने से भी कर्म में विरोध प्रतीत होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि एक ही देवता की अनेकरूपता श्रुतिसम्मत है, और अन्तर्धानशक्ति के कारण यागादि में उन की उपस्थिति मनुष्यों से नहीं देखी जाती है; अथवा जैसे एक ही स्थान में रहे हुए एक ही ब्राह्मण को भी एक ही समय में हजारों पुरुष नमस्कार कर सकते हैं वैसे ही एक ही स्थान में रही हुई विग्रहवती देवता को भी एक ही समय में हजारों यागों में द्रव्यों का अर्पण किया जा सकता है। अतः देवताओं की विग्रहवत्ता मानकर उन का भी आत्मज्ञान में अधिकार मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

९१. शब्द इति चेन्नाऽतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् १।३।२८॥

विद्याधिकारसिद्धये देवादीनां विग्रहवत्त्वे स्वीकृते तेषामपि अस्मदादीना-मिव जननमरणवत्तायाः प्रसक्तेरनित्यत्वापाताद् नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये सम्बन्धे सिद्धे यद् वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति कर्मणि विरोधस्याऽभावेऽपि वैदिके शब्दे विरोधः स्यादिति चेत्, वस्वादिदेवविशेषाकृति-भिर् नित्याभिर् नित्यमेव सम्बद्धाद् वर्णरूपाद् नित्यादस्मादेव वैदिकाच्छब्दाद् वस्वादिदेवविशेषव्यक्तीनामुत्पत्तेर् नोक्तविधवैदिकशब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग इति न वैदिके शब्दे विरोधो भवतीत्यर्थः। वैदिकाच्छब्दान् निमित्तकारणाद् देवादीना-मुत्पत्तिश्च प्रत्यक्षरूपाद् **"एत इति वै प्रजापतिर् देवानसृजत"** (ताण्डि.६।९।१५) इत्यादिकात् श्रुतिप्रमाणाद्, अनुमानरूपाद् **"नाम रूपञ्च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः"** (महाभारते १२।२३२।२५-२६, द्र.–मनु.१।२१) इत्यादिकात् स्मृतिप्रमाणाच्च विज्ञायते।

हिन्दी – देवता की विग्रहवत्ता मानने पर उन की जन्ममरणवत्ता भी अवश्य स्वीकार्य होने से वेद के देवतावाचक शब्दों का अर्थ से नित्यसम्बन्ध सिद्ध न होने से वैदिक शब्दों के प्रामाण्य में विरोध आ जाएगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि "एत इति वै" इत्यादि प्रत्यक्षशब्द-व्यपदेश्य श्रुतिरूप प्रमाण से और "नाम रूपं च" इत्यादि अनुमानशब्द-व्यपदेश्य स्मृतिरूप प्रमाण से भी वस्वादिदेवविशेषों की नित्य आकृतियों से नित्य सम्बद्ध नित्य वस्वादि वैदिक शब्दों से ही वस्वादि देवविशेषव्यक्तियों की उत्पत्ति होने की बात अवगत होने से वैदिक शब्दों के प्रामाण्य में कोई विरोध नहीं आता है। अतः देवताओं की विग्रहवत्ता मानकर उन का भी आत्मज्ञान में अधिकार मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

९२. अत एव च नित्यत्वम् १।३।२९॥

नित्याकृतीनां देवादिव्यक्तीनां वेदशब्दप्रभवत्वादेव वेदशब्दे नित्यत्वमपि सुस्थम्। नित्याभिर् देवाद्याकृतिभिरेव वेदशब्दानां सम्बन्धस्य स्वीकृतत्वाद्, अनित्याभिर् देवादिव्यक्तिभिः सम्बन्धस्याऽस्वीकृतत्वात् न वेदस्याऽनित्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। शब्दात्मकवेदस्य नित्यत्वं च महाप्रलयपर्यन्तस्थायित्वं बोध्यम्।

हिन्दी – नित्य आकृति वाले देवादि व्यक्तियों की वेदशब्दरूप निमित्त से उत्पत्ति होने से ही वेदशब्दों की नित्यता भी सुनिश्चित होती है। देवादि की नित्य आकृतियों से ही वेदशब्दों का सम्बन्ध माने जाने से, जन्ममरणस्वभावक देवादिव्यक्तियों से वेदशब्दों का सम्बन्ध नहीं माने जाने से वेदशब्दों की नित्यता में कोई विरोध नहीं आता है, यह तात्पर्य है।

९३. समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च १।३।३०॥

कल्पान्तरेषूत्पद्यमानानां पदार्थानां पूर्वपूर्वकल्पपदार्थसमाननामरूपत्वस्य **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चाऽन्तरिक्षमथो स्वः"** (ऋ.१०।१९०।३) इत्यादिषु श्रुतिषु श्रवणात्, **"यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्माहरात्रिषु"** (महा.सात.१२।२२४।७०, द्र.-मनु.१।३०) इत्यादिषु स्मृतिषु स्मृतत्वाच्च महासर्ग-महाप्रलयलक्षणायामावृत्तावपि उत्पद्यमानानां तत्तत्पदार्थानां पूर्वकल्पभवैस् तत्तत्पदार्थैः सह स्वापोत्तरभाविनां पदार्थानां स्वापपूर्वभवैः पदार्थैः सहेव नामरूपाभ्यां समानत्वाद्, ईश्वरस्य पूर्वकल्पसर्वव्यवहारानुसन्धानक्षमत्वेन उक्तसमानताया उपपन्नत्वाच्च पूर्वकल्पाकृतिसमानाकृतिकव्यक्त्युत्पत्तेर् न वेदशब्दानामपूर्वनवोत्पन्नार्थैः सम्बन्धस्य प्रसङ्ग इति न कश्चिद् वेदशब्दप्रामाण्ये विरोध इत्यर्थः।

हिन्दी – महाप्रलय के वाद होने वाली सृष्टिरूप आवृत्ति में भी उत्पन्न होने वाले पदार्थों की पूर्वकल्प के उन उन पदार्थों के साथ नाम और रूप में समानता होने की बात "सूर्याचन्द्रमसौ" इत्यादि श्रुति में देखी जाने से और "यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि" इत्यादि स्मृति में भी स्मृत होने से वेदशब्दों का सर्वथा अपूर्व नवीन उत्पन्न अर्थों से सम्बन्ध अवगत न होने से वेदशब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध अनित्य नहीं माना जा सकता है। अतः देवताओं की विग्रहवत्ता मानने से वेदशब्दों की नित्यता में और प्रमाणता में कोई विरोध नहीं आता है।

९४. मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः १।३।३१॥

मध्वादिविद्यासु प्रसक्तस्याऽऽदित्योपासनस्याऽऽदित्यदेवतायाः कृते, वस्वाद्यमृतोपजीविविज्ञानस्य वस्वादिमहिमैषणस्य च वसु-रुद्रा-ऽऽदित्य-मरुत्-साध्यानां कृते, अग्निवाय्वादित्यादिदेवतात्मोपासनस्याऽग्निवाय्वादीनां कृते, गोतम-भरद्वाजाद्यृष्युपासनस्य गोतमभरद्वाजाद्यृषीणां कृतेऽसम्भवाद् विद्यात्वसामान्याद ब्रह्मविद्यायामपि देवादीनामनधिकार इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

हिन्दी – मधुविद्यादि विद्याओं में आवश्यक आदित्योपासन आदित्यदेवता के लिए, वस्वाद्यमृतोपासन और वस्वादिमहिमा का एषण वसु रुद्र आदित्य मरुत् और साध्यों के लिए, अग्नि-वाय्वादि देवताओं का उपासन अग्नि वायु इत्यादि देवताओं के लिए, गोतम-भरद्वाजादि ऋषियों का उपासन गोतम-भरद्वाजादि ऋषियों के लिए असम्भव होने से, और मध्वादिविद्याओं में और ब्रह्मविद्या में विद्या के रूप में समानता होने से ब्रह्मविद्या में भी देवताओं का अधिकार उपपन्न न होने की बात अचार्य जैमिनि मानते हैं।

९५. ज्योतिषि भावाच्च १।३।३२॥

आदित्यादि-देवता-वाचकशब्दानां लोकप्रसिद्ध-तेजोमण्डल-विशेषादिषु प्रयोगस्य सत्त्वात् तेषाञ्च हृदयादिना विग्रहेण चेतनयाऽर्थित्वादिनाऽप्ययोगाच्च देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकाराभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते।

हिन्दी – आदित्य इत्यादि देवतावाचकशब्दों का लोकप्रसिद्ध तेजोमण्डल इत्यादि में प्रयोग होने से और उन में हृदय, चेतना, अर्थित्व इत्यादि कुछ भी न होने से आदित्यादि देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहोने की बात आचार्य जैमिनि मानते हैं।

९६. भावं तु बादरायणोऽस्ति हि १।३।३३॥

बादरायणस्त्वाऽऽचार्यो देवादीनां ब्रह्मविद्याधिकारस्य सद्भावं मन्यते; यतो हि **"तद् द्योयो देवानाम् प्रत्त्यबुद्ध्यत सऽएव तदभवत् तथर्षीणान् तथा मनुष्याणाम्"** (मा.वा.शत.१४।४।२।२१, का.वा.बृह.१।४।१०), **"इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्"** (छा.८।७।२) इत्यादिषु श्रुतिषु देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारस्य सूचकं लिङ्गमस्ति, एवं च मध्वादिषु देवताव्यामिश्रासु विद्यासु देवतानामधिकारस्याऽसम्भवेऽपि शुद्धासु ब्रह्मविद्यासु तस्य सम्भवादस्त्येव तत्र तेषामधिकारः, अन्यथा राजसूयादौ ब्राह्मणादीनामधिकाराभावाद् वैदिकेषु सर्वेष्वेव कर्मसु तेषामधिकाराभावः स्वीकर्तव्यः स्यादित्यर्थः। प्रमाणान्तरागोचरेषु प्रमाणान्तराऽविरुद्धेषु अर्थवादवाक्यार्थेषु विद्यमानवाद एवाश्रयणीय इति तादृशैरर्थवादार्थैरावेदितं देवादीनां विग्रहवत्त्वं च स्वीकरणीयमेव। अयमेव देवताधिकरणन्याय इत्युच्यते। एवं च देवादीनां विग्रहवत्त्वस्याऽर्थित्वस्य च सत्त्वात् तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽपि स्वीकार्य एवेति भावः।

हिन्दी – "तद् द्योयो देवानाम् प्रत्त्यबुद्ध्यत", "इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज" इत्यादि श्रुतियों में देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार होने का लिङ्ग उपलब्ध होने से आचार्य बादरायण तो देवादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार का अस्तित्व मानते हैं। कतिपय उपासनाओं में देवादि का अधिकार असम्भव होने पर भी शुद्धब्रह्मविद्या में उन का अधिकार होने में कोई अनुपपत्ति न होने से भी ब्रह्मविद्या में देवादि का भी अधिकार मानना ही चाहिए, यह आचार्य बादरायण का श्रुतिलिङ्गसमर्थित मत है।

अथ देवताऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"तद् द्योयो देवानाम् प्रत्त्यबुद्ध्यत सऽएव तदभवत् तथर्षीणान् तथा मनुष्य्याणाम्"** (मा.वा.शत.१४।४।२।२१, का.वा.बृह.१।४।१०) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारः प्रतिपाद्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– देवादीनां विग्रहवत्त्वे तेषामपि कर्मसु ऋत्विगादीनामिवोपस्थितेरावश्यकत्वाद्, एकस्या देवताया युगपदनेकेषु कर्मसु तथोपस्थितेरसम्भवात् कर्मणि विरोधस्य प्रसङ्गात्, देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गेन तद्वाचिनो वेदस्याऽप्यनित्यार्थसम्बद्धत्वेनाऽप्रामाण्यस्य प्रसङ्गाच्च देवादीनां विग्रहवत्त्वाभावस्य स्वीकरणीयत्वाद्, अविग्रहाणां च तेषां ब्रह्मविद्यायामसामर्थ्यात्, मध्वादिविद्यासु प्रसक्तस्याऽऽदित्याद्युपासनस्याऽऽदित्यादिदेवानां कृतेऽसम्भवात्, आदित्यादिपदानामचेतनेषु ज्योतिःपिण्डेषु प्रयोगात्, तेषां च विद्यायामधिकारस्याऽसम्भवात् न ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारः सम्भवतीति नाऽत्र देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारः प्रतिपाद्यत इति।

उत्तरम्– मोक्षविषयेऽर्थित्वस्य विग्रहवत्त्वप्रयुक्तसामर्थ्यस्य च देवादिष्वपि सत्त्वाद्, एकस्याऽपि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्राप्तेः श्रुतौ श्रवणात्, वस्वादिदेवविशेषाकृतिभिर् नित्याभिर् नित्यमेव सम्बद्धाद् नित्याद् वैदिकाच् शब्दाद् वस्वादिदेवविशेषव्यक्तीनामुत्पत्तेर् वैदिकशब्दप्रामाण्यस्याऽप्यविघातात्, नित्याभिर् देवाद्याकृतिभिरेव वेदशब्दानां सम्बन्धस्य स्वीकृतत्वाद् वेदस्याऽपि नित्यताया लाभात्, मध्वादिषु देवादिव्यामिश्रासु विद्यासु देवादीनामधिकारस्याऽभावेऽपि राजसूयानधिकारिणां ब्राह्मणादीनां वैदिकयागान्तरेष्वधिकारिताया इव शुद्धब्रह्मविद्यासु देवादीनामधिकारितायाः सम्भवात्, आदित्यादीनां ज्योतिर्मण्डलाद्यधिष्ठातृदेवादिरूपत्वेन चेतनतया ब्रह्मविद्यायामधिकारस्य सम्भवात्, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽपि देवादीनां विग्रहवत्त्वस्य ज्ञायमानत्वेन तेषामपि मोक्षेऽर्थित्वस्य सामर्थ्यस्य चाऽवगमाच्च **"तद् द्योयो देवानाम् प्रत्त्यबुद्ध्यत"** इत्यादिकायां श्रुतौ देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारः प्रतिपाद्यत इत्येव मन्तव्यमिति।

निर्णयः– **"तद् द्योयो देवानाम् प्रत्त्यबुद्ध्यत"** इत्यादिकायां श्रुतौ देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारः प्रतिपाद्यत एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. योयो देवानामिति हि श्रुतिर् वाजसनेयिनाम्।
२. देवादीनां ब्रह्मविद्याधिकारं वक्ति सा न वा?॥१॥
३. देवादीनां शरीरस्याऽभावाद् विद्यास्वशक्तता।
आदित्योपसनादेश्चाऽऽदित्याद्यर्थमसम्भवः॥३॥
आदित्यज्योतिःपिण्डादेः स्फुटाऽचेतनताऽपि च।
तस्मान्न स्याद् धि देवानां ब्रह्मविद्याधिकारिता॥४॥

४-५. देवादीनां शरीरित्वं मन्त्रादिभ्यः प्रतीयते।
अनेकप्रतिपत्तेश्चाऽऽकृतिनित्यत्वतस्ततः ॥५॥
न कर्मणि न वेदानां प्रामाण्ये स्याद् विरोधनम्।
ज्योतिःपिण्डाद्यधिष्ठातृदेवानां चेतनाऽस्ति च ॥६॥
अतः शुद्धब्रह्मविद्याधिकारस्तत्र युज्यते।
तस्मादुक्ता श्रुतिर् देवाद्यधिकारं प्रवक्ति हि ॥७॥

---

२७. (९) अपशूद्राधिकरणम् (सू.३४-३८)

ब्रह्मविद्याधिकारप्रसङ्गादाह—

९७. शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि १।३।३४ ॥ इति।

अस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्य तेषां हंसानां **"कम्वर एनमेतत् सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ"** (छा.४।१।३) इति वाक्येन सूचितस्य स्वविषयकस्याऽनादरस्य श्रवणात् शुगुत्पेदे, ततश्चाऽस्य तं रैक्वं प्रति आद्रवणात् शुचा द्रवतीति योगवृत्त्या एष जानश्रुतिः शूद्र उक्तो न तु रूढिवृत्त्या जात्या शूद्र इति तथोक्तः, जानश्रुतिशुगुद्भवस्य तदाद्रवणस्य शुगुत्पत्तिहेतुकत्वस्य च परोक्षस्यापि स्वविदितत्वं शूद्रेति सम्बोधनेन रैक्वेण सूच्यते आत्मनः परोक्षज्ञतायाः ख्यापनायेति सूत्राक्षरार्थः। प्रकरणवशात् तु जात्या शूद्रे श्रौत-ब्रह्मविद्याधिकारो नास्ति, तत्सत्त्वे श्रौतलिङ्गस्याऽभावात्, संवर्गविद्याधिकारिणि शूद्रशब्दस्य प्रयुक्तत्वेऽपि तस्य जातिशूद्रत्वस्याऽभावादित्यर्थोऽवगम्यते।

हिन्दी– जन्म से शूद्र का श्रौत ब्रह्मविद्या में अधिकार होने का लिङ्ग वेदशास्त्र में नहोने से जन्म से शूद्र का श्रौत ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं होता है। छान्दोग्योपनिषद् में संवर्गविद्या के अधिकारी जानश्रुति का शूद्रशब्द से जो सम्बोधन हुआ है उस की वस्तुस्थिति दूसरी है। इस जानश्रुति का उन हंसो के अपने प्रति अनादरपूर्ण वाक्य के श्रवण से शुच् (शोक) उत्पन्न हुई और वह रैक्व प्रति दौडा, इस घटनावर्णन से शूद्रशब्द का "शुचा द्रवति इति शूद्रः" यह योगार्थ सूचित होता है; उस परोक्ष घटना का अपने को ज्ञान होने की बात सूचित कर के अपनी परोक्षज्ञता ख्यापित करने के लिए ही रैक्व ने जानश्रुति को उक्त योगार्थ को लेकर शूद्रशब्द से सम्बोधित किया है, शूद्रशब्द का जन्मजातशूद्ररूप योगरूढार्थ को लेकर सम्बोधित नहीं किया है।

९८. क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् १।३।३५ ॥

उत्तरत्र संवर्गविद्यावाक्यशेषे प्रसिद्धेन क्षत्रियेण चैत्ररथेन सह समभिव्याहाराल् लिङ्गाज् जानश्रुतेः क्षत्रियत्वस्य गम्यमानत्वाच्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिरित्यर्थः।

हिन्दी– संवर्गविद्या के वाक्यशेष में प्रसिद्ध क्षत्रिय चैत्ररथ के साथ में जानश्रुति का उल्लेखरूप लिङ्ग से जानश्रुति का क्षत्रियत्व अवगत होने से जानश्रुति जन्मना शूद्र नहीं ज्ञात होता है,

और छान्दोग्योपनिषद् का यह प्रसङ्ग जन्मना शूद्र का वेदविद्या में अधिकार होने का लिङ्ग नहीं माना जा सकता है।

९९. संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च १।३।३६॥

विद्यादानप्रदेशेषु **"तꣳ होपनिन्ये"** (मा.वा.शत.११।५।३।१३) इत्यादिना वाक्येनोपनयनसंस्कारस्य परामर्शात्, **"तान् हाऽनुपनीयैव"** (छा.५।११।७) इत्यादिना च प्रतिषेधेनाऽपि प्रतिषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् संस्कारप्राप्तेः सूचनात् संस्कारवतां संस्कारप्राप्तिमतां वा विद्यास्वधिकारः, शूद्रस्य तु **"न केन चिच् छन्दसा शूद्रमित्य-संस्कार्यो विज्ञायते"** (वासिष्ठध.४।३) इति, **"न शूद्रे पातकं किञ्चिन् न च संस्कार-मर्हति"** (मनु.१०।१२६) इति च सर्वथा संस्काराभावस्याऽभिलपनाच् च तस्य संस्कारप्राप्तेरप्यभावात् न श्रौतब्रह्मविद्यायामधिकार इत्यर्थः प्रकरणवशादवसेयः।

हिन्दी – विद्यादान के श्रौत प्रसङ्गों में "तं होपनिन्ये" इत्यादि वाक्यों में उपनयनसंस्कार का परामर्श होने से और "न केन चिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते" इत्यादि रूप में शूद्र के उपनयनसंस्कार का अभाव उल्लिखित होने से भी उपनयनसंस्काररहित जन्मना शूद्र का वेदविद्या में अधिकार नहीं माना जा सकता है।

१००. तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः १।३।३७॥

सत्यकामस्य जाबालस्योपनयनस्य प्रसङ्गे (छा.४।४।१-५) तस्य शूद्रताया अभावस्य निर्धारणे गौतमस्याऽऽचार्यस्य प्रवृत्तेश्च शूद्रस्योपनयनस्याऽभावो गम्यत इत्यर्थः।

हिन्दी – छान्दोग्योपनिषद् के विद्यादान के लिए कर्तव्य उपनयन के एक प्रसङ्ग में उपनेय सत्यकाम जाबाल के शूद्रत्व के अभाव के निर्धारण में आचार्य गौतम की प्रवृत्ति देखी जाने से भी शूद्र में वेदविद्यार्थ उपनेयत्व न होने की बात अवगत होती है।

१०१. श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च १।३।३८॥

आचारात् स्मृतेश्चाऽपि **"अथ हाऽस्य वेदमुपशृण्वतस् त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणम्"** (गौतमध.२।३।४) इत्यादितो धारणार्थं वेदश्रवणस्य शूद्रे प्रतिषेधात्; **"उदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः"** (गौतमध.२।३।४) इत्यादितो वेदाध्यय-नधारणयोः प्रतिषेधात्; **"न शूद्राय मतिं दद्यात्"** (वासिष्ठध.१८।१४, मनु.४।८०) इत्यादितो ज्ञानरूपस्य वेदार्थस्य **"द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्"** (गौतमध.२।१।१) इत्यादितश्चाऽनुष्ठानरूपस्य वेदार्थस्य च प्रतिषेधात् शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायां वेदपूर्वको-ऽधिकारो नास्तीत्यर्थः। **"ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः"** (मा.वा.शत.३।१।१।९), **"तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः"** (तै.सं.७।१।१।६) इत्यादि-कासु श्रुतिष्वपि शूद्रस्य वेदार्थानुष्ठानाऽनधिकारित्वं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्।

"शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" इत्यादिभिः श्रुतिवचनैर् वैदिकयज्ञेऽनधिकारित्वेन घोषितानां शूद्राणां छान्दोग्योपनिषदि आगतमेकं शूद्रशब्दप्रयोगमादाय शङ्कामुत्थाप्य तेषां वेदपूर्वकब्रह्मविद्यायामनधिकारं व्यवस्थापयता सूत्रकारेण गार्गीमैत्रेय्यादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारस्य प्रदर्शकानि बृहदारण्यकोपनिषदि आगतानि वाक्यानि आदाय ब्रह्मविद्यायां द्विजातिस्त्रीणामधिकारो न विचारित इति वैदिकयज्ञाधिकारिणीनां द्विजातिस्त्रीणां वेदपूर्वकमेव ब्रह्मविद्यायामप्यधिकारं सूत्रकारो निश्शङ्कतया स्वीकरोतीति अवगम्यते।

हिन्दी– स्मृति से और आचार से भी वेद के धारणार्थ श्रवण में, धारणार्थ उच्चारण में, धारण में और वेदोक्त यज्ञों के अनुष्ठान में भी शूद्र का निषिद्ध होने से जन्मना शूद्र का वेदविद्या में अधिकार नहीं होता है।

अथाऽपशूद्राधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु"** (छा.४।२।३) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारः सूच्यते न वा ?

पूर्वपक्षः– शूद्रस्याऽपि ब्रह्मविद्यायामर्थित्वस्य सामर्थ्यस्य च सम्भवात्, **"तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः"** (तै.सं.७।१।१।६) इति यज्ञे शूद्रस्य सामर्थ्ये निषिद्धेऽपि विद्यायां तत्सामर्थ्यस्याऽनिषिद्धत्वात्, गार्हपत्याग्न्यादिरहितेनाऽपि विद्याया अधिगन्तुं शक्यत्वात्, संवर्गविद्यायां शूद्रस्याऽधिकारस्य सत्ताया लिङ्गस्य दर्शनाच्च ब्रह्मविद्यायामपि शूद्रस्याऽधिकारोऽनयैव संवर्गविद्याप्रकरणस्थश्रुत्या सूच्यत इति।

उत्तरम्– संवर्गविद्याप्रकरणस्थायाम् **"अह हारेत्वा शूद्र"** (छा.४।२।३) इत्यादिकायां श्रुतौ श्रूयमाणेन शूद्रशब्देन शुचा द्रवतः प्रतिपादनाज् जातिशूद्रस्याऽप्रतिपादनात्, शूद्रेति सम्बोधितस्य जानश्रुतेः क्षत्रियताया गम्यमानत्वात्, विद्यादानप्रसङ्गेषु संस्कारस्य परामर्शात्, शूद्रस्य संस्काराऽभावस्य प्रतिपादितत्वात्, उपनयनप्रसङ्गे चोपनेयस्य शूद्रताया अभावस्य निर्धारणे प्रवृत्तेर् दर्शनात्, शूद्रस्य वेदश्रवणे वेदाध्ययने वेदार्थज्ञाने वेदार्थानुष्ठाने च प्रतिषिद्धतायाः स्मृतेराचाराच्चाऽवगम्यमानत्वाद् वेदपूर्विकायां ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याऽधिकारो नास्त्येवेति **"अह हारेत्वा"** इत्यादिका श्रुतिः शूद्रस्य ब्रह्मविद्याधिकारं न सूचयतीति।

निर्णयः– "अह हारेत्वा शूद्र" इत्यादिका श्रुतिः ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याऽधिकारं नैव सूचयतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. छान्दोग्येऽस्त्यह हारेत्वा शूद्रेत्याद्या श्रुतिः खलु।
संवर्गविद्यार्थिन्यत्र शूद्रेत्युक्तिः प्रवर्तते ॥१॥

२. तत्र शूद्रस्याऽधिकारो विद्यायां सूच्यते न वा?

३. सामर्थ्यार्थित्वयोर् विद्यां प्रति शूद्रेऽपि दर्शनात् ॥२॥
संवर्गविद्यायां शूद्राधिकारस्य प्रतीतितः।

यथाऽत्रैवर्णिका देवा विद्यायामधिकारिणः ॥३॥
तथैव शूद्रो विद्यायामधिकारी भवेदिति।

४-५. शूद्रेत्यामन्त्रितस्याऽपि क्षत्रियत्वस्य निश्चयात् ॥४॥
संवर्गविद्यायां शूद्र-शब्दः शुग्-द्रुतवाचकः।
संस्कारस्य परामर्शाद् विद्यादानस्थलेषु च ॥५॥
शूद्रसंस्कृत्यभावस्य प्रोक्तत्वाच्च स्मृतौ स्फुटम्।
स्वयम्भातश्रुत्यमरेऽधिकारेऽपि च पादजे ॥६॥
वेदश्रवणतज्जार्थज्ञानानुष्ठित्यभावतः।
अधिकारेऽस्य विद्यायां पौराण्यां तु स्थितेऽपि च ॥७॥
वेदपूर्वकविद्यायां नाऽधिकार इति स्थितिः।
तत् सूच्यते नैव शूद्रे वेदविद्याधिकारिता ॥८॥

---

२८. (१०) कम्पनाधिकरणम् (सू.३९)

प्रासङ्गिकं समाप्य उपाधिद्वारोपदेशपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेव प्रपञ्चयन्नाह—

१०२. कम्पनात् १।३।३९ ॥ इति।

"यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद् भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति" (कठो.२।३।२) इत्यत्र श्रुतः प्राणः तत्रैव श्रुतात् सवायुकस्य सर्वस्य जगतः स्वव्यापारे प्रवर्तनाद् ब्रह्मैवाऽस्तीत्यर्थः। कम्पनात्=चलनात्=प्रवर्तनात्।

हिन्दी– "यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्" इत्यादि श्रुति में उक्त प्राण उसी श्रुति में प्राण के कार्य के रूप में प्रतिपादित वायुसहित सम्पूर्ण जगत् के प्रवर्तन से ब्रह्म ही अवगत होता है।

अथ कम्पनाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद् भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति"** (कठो.२।३।२) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अस्यां श्रुतौ प्राणाऽभिन्नोऽशनिहेतुर् वायुरुपास्य उक्त उत ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– प्राणशब्दस्य वायौ प्रसिद्धत्वाद्, वायुविज्ञानस्याऽपि मोक्षफलकताया **"बायुरेव ब्व्यष्टिर् ब्वायुः समष्टिरप पुनर् मृत्त्युञ् जयति यऽएवव्ं वेद"** (मा.वा.शत. १४।६।३।२, का.वा.बृह.३।३।२) इत्यादौ च प्रसिद्धत्वाद् वायुरेवात्रोपास्य उक्त इति।

उत्तरम्– सर्वशब्दवाच्यस्य सवायुकस्य जगतः कम्पनाज् जीवनादि-चेष्टाहेतुत्वादत्र प्राणो ब्रह्मैव, न वायुः, **"न प्राणेन नाऽपानेन मर्त्यो जीवति कश्चन"** (कठो.२।२।५) इत्यादौ जगच्चेष्टाहेतुत्वस्य **"प्राणस्य प्प्राणम्"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२१, का.वा.बृह.

४।४।१८) इत्यादौ प्राणशब्दस्य च ब्रह्मणि प्रसिद्धत्वात्। पूर्वोत्तरवाक्यपर्यालोचनाच्च प्राणो ब्रह्मैवेति।

निर्णयः– अस्यां श्रुतावुक्तः प्राणो ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यदिदं किञ्च जगदित्यादिका काठकश्रुतिः।
२. प्राणवायूपासनं वा ज्ञेयं ब्रह्माऽत्र कीर्त्यते॥१॥
३. प्रसिद्धेः प्राणशब्दस्य वायौ स्यात् तदुपासनम्।
४-५. नैवं जगत्कम्पनात् तु प्राणो ब्रह्मैव बुध्यते॥२॥

---

२९. (११) ज्योतिरधिकरणम् (सू.४०)

उपाधिद्वारोपदेशपराणां वेदान्तवाक्यानामपि निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेवेत्येव प्रपञ्चयन्नाह–

१०३. ज्योतिर् दर्शनात् १।३।४०॥ इति।

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते" (छा.८।१२।३) इत्यत्र श्रुतं ज्योतिः एतस्मिन् प्रकरणे वक्तव्यत्वेन ब्रह्मण एवाऽनुवृत्तेर् दर्शनाद् ब्रह्मैवाऽस्तीत्यर्थः।

हिन्दी– "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य" इत्यादि श्रुति में उल्लिखित ज्योति इस प्रकरण में प्रतिपादनीय रूप में ब्रह्म की ही अनुवृत्ति देखी जाने से ब्रह्म ही अवगत होता है।

अथ ज्योतिरधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते"** (छा.८।१२।३) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र ज्योतिश्चक्षुरनुग्राहकं सूर्यमण्डलम् उत ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– ज्योतिश्शब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वाद् मुमुक्षोरादित्यप्राप्तेः श्रुत्या प्रतिपादितत्वाच्च (छा.८।६।५) सूर्यमण्डलमेवाऽत्र ज्योतिश्शब्देनोक्तं भवेदिति।

उत्तरम्– प्रकरणस्याऽऽदौ **"य आत्माऽपहतपाप्मा"** (छा.८।७।१) इत्यादिनाऽऽत्मनोऽन्वेष्टव्यत्वेन प्रतिज्ञानात्, **"एतन्त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि"** (छा.८।१२।२) इति चाऽनुसन्धानाच्च परमात्मनो ब्रह्मण एवाऽस्मिन् प्रकरणे वक्तव्यत्वेनाऽनुवृत्तेर् दर्शनाज् ज्योतिश्शब्दवाच्यमत्र ज्ञेयं परं ब्रह्मैव भवेदिति।

निर्णयः– अस्यां श्रुतौ ज्योतिश्शब्दवाच्यं ज्ञेयत्वेनोपदिष्टं परं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. छन्दोगानामेष सम्प्रसाद इत्यादिका श्रुतिः।
२. तत्र ज्योतिर् भवेत् सूर्यमण्डलं ब्रह्म वा परम्॥१॥
३. ज्योतिश्शब्दस्य रूढत्वाद् लोके भौतिकतेजसि।
उपसम्पद्येति चोक्तेर् ज्योतिः स्यात् सूर्यमण्डलम्॥२॥
४-५. यआत्मादिप्रकरणेऽन्वेष्टव्यत्वेन कीर्तनात्।
आत्मानुवृत्तेर् दृष्टेश्च ज्योतिर् ब्रह्म परं मतम्॥३॥

---

३०. (१२) अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् (सू.४१)

उपाधिद्वारोपदेशपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेवेत्येव प्रपञ्चयन्नाह—

१०४. आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् १।३।४१॥ इति।

"आकाशो वै नाम नाम-रूपयोर् निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" (छा.८।१४।१) इति श्रुतावाकाशस्य नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूततया व्यपदेशात्, ब्रह्मण एव नामरूपाभ्यामर्थान्तरतायाः सम्भवात्, नामरूपनिर्वहणव्यपदेशस्याऽपि ब्रह्मण्येवोपपद्यमानत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य स्रष्टृलिङ्गत्वात्, **"तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा"** (छा.८।१४।१) इति वचनाच्चाऽऽकाशो ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी– "आकाशो वै नाम नाम-रूपयोर् निर्वहिता" इत्यादि श्रुति में उल्लिखित आकाश, उसी श्रुति में इस आकाश का नाम-रूपों से भिन्नत्व प्रतिपादित होने से, उसी श्रुति में प्रतिपादित नाम-रूपों का निर्वहण भी ब्रह्म में ही उपपन्न होने से, उक्त नाम-रूपों का निर्वहण स्रष्टा का लिङ्ग होने से और उसी श्रुति के वाक्यशेष में "तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" यह स्पष्ट वचन देखे जाने से भी, ब्रह्म ही अवगत होता है।

अथाऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "आकाशो वै नाम नामरूपयोर् निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" (छा.८।१४।१) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्राऽऽकाशशब्देन प्रसिद्धो भूताकाश उक्तः किं परं ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– आकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वान् नामरूपनिर्वहणस्य चाऽवकाशदानद्वारेण तस्मिन् योजयितुं शक्यत्वात् स्रष्टृत्वादेः स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्य चाऽदर्शनादत्राऽऽकाशो भूताकाश एवेति।

उत्तरम्– अत्र श्रुतौ आकाशस्य नामरूपाभ्यामर्थान्तरताया व्यपदेशात्, ब्रह्मण एव नामरूपाभ्यामर्थान्तरतायाः सम्भवात्, नामरूपनिर्वहणस्याऽपि ब्रह्मण्येव सम्भाव्यमानत्वात्,

नामरूपनिर्वहणस्य स्रष्टृलिङ्गत्वात्, "तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" (छा.८।१४।१) इति ब्रह्मवादाच्चाऽऽकाशो ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अत्राऽऽकाशो ज्ञेयं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आकाशो वै नाम नामेत्याद्या छान्दोग्यकश्रुतिः।
२. तत्राऽऽकाशो व्योम भवेत् परं ब्रह्माऽथवा भवेत्॥१॥
३. व्योम्न्याकाशस्य रूढत्वाद् व्योमाऽत्राऽऽकाश उच्यते।
४-५. नामरूपार्थान्तरत्वेनाऽऽकाशस्याऽत्र कीर्तनात्॥२॥
नामरूपात्मकजगन्निर्वोढृत्वेन चोक्तितः।
निर्वोढृत्वात् स्रष्टृलिङ्गादाकाशो ब्रह्म नाऽपरः॥३॥

---

३१. (१३) सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् (सू.४२-४३)

उपाधिद्वारोपदेशपराणामपि वेदान्तवाक्यानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेवेत्येव प्रपञ्चयन्नाह भगवान् सूत्रकारः –

१०५. सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर् भेदेन १।३।४२॥ इति।

"कतमऽआत्त्मेति सोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (मा.वा.शत.१४।७।१।७, का.वा.बृह.४।३।७) इत्यारब्धे प्रकरणे **"अयम् पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्त्मना सम्परिष्ष्वक्क्तो न बाह्य्यङ् किञ्चन वेद नान्तरम्"** (मा.वा.शत.१४।७।१।२१, का.वा.बृह.४।३।२१) इति सुषुप्तौ, उत्क्रान्तौ च **"अयꣳ शारीरऽआत्त्मा प्राज्ञेनाऽऽत्त्मनाऽन्वारूढऽउत्त्सर्ज्जन्न्याति"** (मा.वा. शत.१४।७।१।४२, का.वा.बृह.४।३।३५) इति जीवाद् भेदेन ब्रह्मणो प्राज्ञशब्देन व्यपदेशात् कतम आत्मेत्युपक्रमेण जिज्ञासित आत्मा ब्रह्मैवेत्यर्थः।

हिन्दी– "कतम आत्त्मेति" इत्यादि श्रुति में जिज्ञासित आत्मा, सुषुप्ति की अवस्था में और मरण की अवस्था में भी जीवात्मा से भिन्न रूप में ब्रह्म का प्राज्ञशब्द से उल्लेख होने से, ब्रह्म ही अवगत होता है।

१०६. पत्यादिशब्देभ्यः १।३।४३॥

एतत्प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मनि प्रयुक्तेभ्यः **"सर्व्वस्स्य वशी सर्व्वस्स्येशानः सर्व्वस्स्याधिपतिः"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२४, का.वा.बृह.४।४।२२) इत्यादिशब्देभ्यश्च प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मा ब्रह्मैव न जीव इति ज्ञायते इत्यर्थः। एवं चाऽयं वाक्यसन्दर्भो विज्ञानमयसुषुप्त्याद्यवस्थावज्जीवानुवादेन जीवब्रह्मणोरभेदस्य प्रतिपादने प्रवृत्त इत्यवगम्यते इति भावः।

हिन्दी – इस प्रकरण में प्रतिपाद्य आत्मा में "सर्व्वस्स्य बशी सर्व्वस्स्येशानः सर्व्वस्स्याऽधिपतिः" इत्यादि शब्दों के प्रयोग होने से भी इस प्रकरण में प्रतिपाद्य आत्मा ब्रह्म ही है जीव नहीं है, यह बात अवगत होती है। इस प्रकार यह वाक्यसन्दर्भ विज्ञानमय और सुषुप्त्यादि अवस्था वाले जीव को लेकर जीव और ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादन में प्रवृत्त है, यह बात ज्ञात होती है, यह भाव है।

अथ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "कतम ऽआतत्ँमेति योऽयवं विज्ज्ँआनमयः प्प्राणेषु हृद्द्यन्तज्ज्योतिः पुरुषः" (मा.वा.शत.१४।७।१।७, का.वा.बृह.४।३।७) इत्यादिकं श्रुतिप्रकरणम्।

विशयः– एतस्मिन् प्रकरणे जिज्ञासित आत्मा शारीरात्मैवाऽथवा ब्रह्मेति।

पूर्वपक्षः– उक्तस्य प्रकरणस्योपक्रमे चोपसंहारे च संसारिशारीरात्मन एवोल्लेखात् तत्स्वरूपमेवाऽत्राऽन्वाख्यायत इति एतस्मिन् प्रकरणे जिज्ञासित आत्मा शारीर आत्मैव भवेदिति।

उत्तरम्– एतत्प्रकरणप्रतिपाद्यस्य प्राज्ञात्मनः सुषुप्तौ पुरुषत्वेनोक्ताद् उत्क्रान्तौ शारीरात्मत्वेन चोक्ताज् जीवाद् भेदेन व्यपदेशाद्, उपक्रमोपसंहारयोरपि संसारिणोऽनुवादेऽपि तस्य ब्रह्मणैक्यस्य विवक्षितत्वात्, "**अनन्वागतस्तेन भवत्त्यसङ्गो ह्य्ययम् पुरुषः**" (मा.वा.शत.१४।७।१।१७, का.वा.बृह.४।३।१५,१६) इत्यसङ्गत्वस्य प्रतिपादितत्वात्, **सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिरि**त्यादिभ्यः शब्देभ्यश्च ब्रह्मणोऽवगम्यमानत्वादेतस्मिन् प्रकरणे जिज्ञासितः प्राज्ञात्मा ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– एतस्मिन् प्रकरणे जिज्ञासितः प्राज्ञात्मा ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतिः कतम आत्मेतीत्याद्या वाजसनेयके।
२. अस्याः प्रकरणे संसार्यात्मा वा ब्रह्म वर्ण्यते ॥१॥
३. एतत्प्रकरणस्योपक्रमे चाऽप्युपसंहृतौ।
संसारिणः समुल्लेखात् स्यात् संसार्यत्र वर्णितः ॥२॥
४-५. सुषुप्तावपि चोत्क्रान्तौ जीवतो हि पृथक्तया।
प्राज्ञात्मत्वेन प्रोक्तस्य ब्रह्मणः प्रतिपादनात् ॥३॥
असङ्गपुरुषत्वेन मोक्षायैवाऽस्य कीर्तनात्।
सर्वस्याऽधिपतित्वेनोक्तेश्च ब्रह्माऽत्र वर्ण्यते ॥४॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ प्रथमे श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽध्याये तृतीयो
ऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गकश्रुतिवाक्यसमन्वयप्रदर्शनपरः
पादः समाप्तः॥

अथ चतुर्थः पादः

(अव्यक्तादिसन्दिग्धपदसमन्वयपरः)

३२. (१) आनुमानिकाधिकरणम् (सू.१-७)

प्रधानेऽपि श्रुतिसमन्वयो दृश्यते तत् कथं ब्रह्मण्येव श्रुतिसमन्वय इत्युच्यते इत्याक्षेपं निरसितुमाह—

१०७. आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन् न शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेर् दर्शयति च १।४।१॥ इति।

आनुमानिकं प्रधानमपि केषाञ्चिद् वेदशाखाध्यायिनामाम्नायेन प्रतिपादितमिति शब्दप्रमाणकमुपलभ्यते, यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः साङ्ख्यस्मृतिप्रसिद्धास् त एव हि काठके **"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः"** (कठो.१।३।११) इति प्रतिपाद्यन्ते, अतः कथं प्रधानस्याऽशब्दत्वमिति चेत्, तत्र **"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च"** (कठो.१।३।३) इति पूर्ववाक्येऽपि शरीरादिरूपकेण विन्यस्तानां तत्त्वानामेव **"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः"** (कठो.१।३।११) इति वाक्येऽपि ग्रहणात्, पूर्ववाक्ये चाऽऽत्मबुद्ध्योर् मध्ये शरीरस्य गृहीतत्वादत्राऽपि आत्मबुद्ध्योर् मध्ये गृहीतस्य अव्यक्तशब्दस्य शरीरवाचकत्वस्यैव औचित्यात् तत्र नाऽव्यक्तशब्दस्य साङ्ख्यसम्मत-स्वतन्त्रकारणरूपत्रिगुणात्मकप्रधानप्रतिपादकत्वम्; तथाहि– तद्वाक्यपूर्ववर्ती **"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर् विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर् मनीषिणः"** (कठो.१।३।३,४) इति ग्रन्थो रूपकक्लृप्तिं प्रदर्शयति।

हिन्दी– किसी किसी शाखाध्यायियों के आम्नाय (उपनिषद्) में आनुमानिक प्रधान भी जगत् के कारण के रूप में प्रतिपादित है, अतः प्रधान को अशब्द वा वेदशब्दों से अप्रतिपादित नहीं माना जा सकता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्यों कि वहाँ "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादि पूर्ववाक्य में शरीरादिरूपक से उपन्यस्त तत्त्वों का ही "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः" इस वाक्य में भी ग्रहण होने से और पूर्ववाक्य में आत्मा और बुद्धि के मध्य में शरीर का ग्रहण होने से इस वाक्य में भी आत्मा और बुद्धि के मध्य में गृहीत अव्यक्तशब्द का शरीरवाचकत्व ही अवगत होता है, न कि प्रधानवाचकत्व। उस प्रकरण में रूपक का विन्यास "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादि सन्दर्भ दिखाता ही है।

१०८. सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् १।४।२॥

अव्यक्तशब्देन गृहीतं शरीरं तु कारणात्मना सूक्ष्मं विवक्षितं बोध्यम्, तस्यैवाऽव्यक्तशब्दार्हत्वात्। प्रकृतिरूपभूतसूक्ष्मवाचकस्याऽव्यक्तशब्दस्य प्रकृतसन्दर्भे भूतसूक्ष्मविकाररूपे स्थूलशरीरे **"गोभिः श्रीणीत मत्सरम्"** (ऋ.९।४६।४)

इत्यादिषु प्रकृतिवाचकानां गवादिशब्दानां विकृतिषु दुग्धादिषु प्रयोग इवोपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः।

हिन्दी – भूतसूक्ष्मरूप कारण ही अव्यक्तशब्द से व्यपदेश में योग्य होने से कारणात्मना सूक्ष्मत्व को लेकर भूतसूक्ष्मवाचक अव्यक्तशब्द से यहां स्थूलशरीर विवक्षित हुआ है।

१०९. तदधीनत्वादर्थवत् १।४।३॥

पूर्वोक्तस्याऽव्यक्तस्य भूतसूक्ष्मस्य प्रधानस्थानीयत्वेऽपि तस्य परमात्माऽधीनत्वान् न तत्स्वीकरणेन स्वतन्त्र-प्रधानकारणवाद-स्वीकारापत्तिः, परमात्मनः स्रष्टृत्वस्योपपादनेन, बद्धमुक्तविभागेन च तन् मायात्मकं भूतसूक्ष्मं प्रयोजनवदिति स्वीकरणीयमित्यर्थः।

हिन्दी – वह पूर्वोक्त अव्यक्तशब्दवाच्य भूतसूक्ष्मरूप कारण साङ्ख्यसम्मत-प्रधानस्थानीय होने पर भी ब्रह्माधीन होने से साङ्ख्यसम्मत प्रधान से विलक्षण होता हुआ भी ब्रह्म के स्रष्टृत्व की और जीवों के बद्धत्व-मुक्तत्व की व्यवस्था करने में समर्थ होने से अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ है।

११०. ज्ञेयत्वावचनाच्च १।४।४॥

त्रिगुणात्मकप्रकृतिपुरुषभेदज्ञानात् कैवल्यमिति वदद्भिः साङ्ख्यैः प्रकृत्यपरपर्यायस्याऽव्यक्तस्य ज्ञेयत्वेनोच्यमानत्वात्, प्रकृतश्रुतौ तु अव्यक्तस्य ज्ञेयताया अवचनाच्च साङ्ख्याऽभिमताऽव्यक्तभिन्नमेतच्छ्रुत्युक्तमव्यक्तं बोध्यम्।

हिन्दी – साङ्ख्यसम्मत प्रधान का साङ्ख्यों के मत में ज्ञेयत्व प्रतिपादित होने पर भी श्रुति में उल्लिखित अव्यक्त का ज्ञेयत्व श्रुति में अनुक्त होने से श्रुति में उल्लिखित अव्यक्त साङ्ख्यसम्मत प्रधान नहीं माना जा सकता है।

१११. वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् १।४।५॥

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते" (कठो.१।३।१५) इति श्रुतिरव्यक्तस्य ज्ञेयत्वं वदतीति चेन् न, प्राज्ञस्य प्रकृतत्वात् प्राज्ञः परमात्मैवाऽत्र ज्ञेयत्वेनोक्तोऽवगम्यते।

हिन्दी – "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि श्रुति अव्यक्त का ज्ञेयत्व बताती ही है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्यों कि यह प्राज्ञ परमात्मा का प्रकरण होने से इस श्रुति में प्रतिपादित शब्दादिरहित तत्त्व प्राज्ञ परमात्मा ही है, साङ्ख्यसम्मत प्रधान नहीं, यह बात अवगत होती है।

११२. त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च १।४।६॥

उक्तश्रुतिप्रकरणे वरप्रदानसामर्थ्याद् अग्नि-जीव-परमात्मनां त्रयाणामेव वक्तव्यतयोपन्यासोऽस्ति, तद्विषय एव च प्रश्नोऽस्ति, तस्मादुक्तानां त्रयाणामेव

तत्र प्रतिपादनम्, न तदतिरिक्तस्याऽव्यक्तस्येति नैवाऽत्र श्रुतिर् ज्ञेयत्वेनाऽव्यक्तं प्रतिपादयतीत्यर्थः।

हिन्दी– इस प्रकरण में वरदानसामर्थ्य से अग्नि, जीव और परमात्मा इन तीनों का ही वक्तव्य रूप में उपन्यास है, उन के ही विषय में प्रश्न भी है। अतः वहाँ उन तीनों का ही प्रतिपादन अवगत होता है, उन तीनों के अतिरिक्त साङ्ख्यसम्मत अव्यक्त (प्रधान) का कोई प्रतिपादन वहाँ उपपन्न नहीं है, यह भाव है।

११३. महद्वच्च १।४।७॥

यथा महच्छब्दः साङ्ख्यैः प्रथमजे सत्तामात्रे प्रयुक्तोऽपि **"बुद्धेरात्मा महान् परः"** (कठो.१।३।१०), **"महान्तं विभुमात्मानम्"** (कठो.१।२।२२), **"वेदाऽहमेतम् पुरुषम् महान्तम्"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।१८, श्वेता.३।८) इत्यादिषु वैदिकेषु प्रयोगेषु न तमेवार्थमाह, तथैव साङ्ख्यैः प्रधाने प्रयुक्तोऽपि अव्यक्त-शब्दो वैदिकेषु प्रयोगेषु न साङ्ख्याभिमतं प्रधानमाहेत्यर्थः।

हिन्दी– जैसे महत्-शब्द साङ्ख्यों से प्रथमज सत्ता मात्र में प्रयुक्त होने पर भी "बुद्धेरात्मा महान् परः" इत्यादि वैदिक प्रयोगों में साङ्ख्यसम्मत अर्थ को प्रतिपादित नहीं करता है, वैसे ही साङ्ख्यों से प्रधान के अर्थ में प्रयुक्त अव्यक्त-शब्द भी वैदिक प्रयोगों में साङ्ख्यसम्मत अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है।

अथाऽऽनुमानिकाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः"** (कठो.१।३।११) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्राऽव्यक्तपदवाच्यं किम् ? साङ्ख्योक्तं प्रधानं वाऽन्यदेव वेति।

पूर्वपक्षः– साङ्ख्यसिद्धान्ते यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः प्रसिद्धाः त एव **"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः"** (कठो.१।३।११) इत्यत्राऽपि श्रूयन्त इति शब्दादिहीनत्वेन न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तेः सम्भवाच्च अत्राऽव्यक्तपदेनोक्तं वस्तु साङ्ख्यसिद्धान्तसम्मतं प्रधानमेव स्यादिति।

उत्तरम्– **"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि"** इत्यादिके पूर्ववाक्ये शरीरादिरूपकविन्यासे आत्मबुद्ध्योर् मध्ये शरीरस्य गृहीतत्वात्, उत्तरवाक्ये **"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः"** (कठो.१।३।११) इत्यत्रापि महच्छब्द-वाच्यबुद्धि-पुरुषशब्दवाच्यात्मनोर् मध्ये गृहीतस्याऽव्यक्तस्य शरीररूपताया एव स्वीकरणीयत्वात्, भूतसूक्ष्मकारणके शरीरे चोपचारेणाऽव्यक्तशब्दप्रयोगस्योचितत्वात्, वेदान्तसिद्धान्ते साङ्ख्यसिद्धान्तस्थप्रधानस्थानीयस्य भूतसूक्ष्मस्य स्वीकृतत्वेऽपि तस्य ब्रह्माधीनत्वात् स्वतन्त्रप्रधानकारणतावादस्वीकारप्रसक्तेरभावात्, साङ्ख्ये प्रकृति-पुरुष-विवेकाय प्रकृतेरपि ज्ञेयताया उक्तत्वात् प्रकृतश्रुतौ तु अव्यक्तस्य ज्ञेयताया अवचनात्, प्राज्ञात्मन एव ज्ञेयताया उक्तत्वात्, अग्नि-जीव-ब्रह्मणां त्रयाणामेव

पृष्टत्वात् तदुत्तरेऽपि तेषामेवोक्तत्वाद् अव्यक्तस्य ज्ञेयतयोपदेशायाऽवसरस्यैवाऽभावात्, महच्छब्दस्येवाऽव्यक्तशब्दस्याऽपि साङ्ख्यप्रयोगे वैदिकप्रयोगे चार्थे भेदाच् चाऽत्राऽव्यक्तशब्दोक्तं भूतसूक्ष्मकारणकं शरीरमेव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अत्र मायारूपकारणशरीरवाचकेनाऽव्यक्तशब्देनोपचारेण कारणशरीरविकाररूपं स्थूलशरीरमेवोच्यत इति अत्राऽव्यक्तशब्दवाच्यं साङ्ख्योक्तं प्रधानं नैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
इत्येषा राजते ह्यत्र प्रसिद्धा काठकश्रुतिः॥१॥
२. अत्र ह्यव्यक्तशब्दोक्तं प्रधानं वाऽन्यदेव वा?
३. शब्दे क्रमे च सामान्यात् तत्रोक्तं स्यात् प्रधानकम्॥२॥
४-५. पूर्ववाक्ये शरीरादिरूपकोक्तौ धियस् तथा।
आत्मनश्चाऽन्तराले चोपात्तं स्पष्टं शरीरकम्॥३॥
महतः परमित्यादौ चोपात्तं ह्यन्तरे तयोः।
अव्यक्तं हि भूतसूक्ष्मकारणं स्याच् शरीरकम्॥४॥
भूतसूक्ष्मस्य प्रधान-स्थानीयत्वेऽपि तस्य तु।
ब्रह्माधीनतया भिन्नं तत् प्रधानात् स्वतन्त्रकात्॥५॥
ज्ञेयतायाः प्रधाने तूक्तत्वादत्र त्वनुक्तितः।
अग्नि-जीव-ब्रह्म-प्रश्ने तेषामेव च कीर्तनात्॥६॥
साङ्ख्य-वैदिक-शब्दार्थभेदादव्यक्तमत्र च।
भाक्तं स्थूलं शरीरं हि प्रधानेऽशब्दता स्थिता॥७॥

---

३३. (२) चमसाधिकरणम् (सू.८-१०)

प्रधानेऽपि श्रुतिसमन्वयो दृश्यते कथं ब्रह्मण्येव श्रुतिसमन्वय इत्याक्षेपमेव परिहरन्नाह—

११४. चमसवदविशेषात् १।४।८॥ इति।

"अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वेता.४।५) इति श्वेताश्वतराणामाम्नाये हि आनुमानिकं प्रधानमपि प्रतिपादितमिति तत्राऽपि श्रुतिसमन्वयोऽस्तीति चेत्, न, **"अर्वाग्बिलश्चमसऽऊर्ध्वबुध्नः"** (मा.वा.शत.१४।५।२।४, का.वा.बृह.२।२।३) इत्यत्र चमसशब्दस्येव अजाशब्दस्याऽपि कयाऽपि कल्पनया नैकविधदर्शनवादानुकूलतया योजयितुं शक्यत्वेनाऽविशेषादित्यर्थः। न हि तत्र वाक्यशेषपर्यालोचनं विना चमस-शब्दार्थविशेषो निर्धारयितुं शक्यः। तथैवाऽत्रा-

ऽपि शाखान्तरस्थसमानप्रकरणादिपर्यालोचनं विनाऽजाशब्दार्थविशेषो न निर्धारयितुं शक्य इति तात्पर्यम्।

हिन्दी – "अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्" इत्यादि श्रुति में उक्त अजा "अर्वाग्बिलश्चमसः" इत्यादि श्रुति में उक्त चमस की तरह किसी कल्पना के आधार में नाना प्रकार के दर्शनों के अनुकूल रूप में व्याख्यात हो सकने से उस को साङ्ख्यसम्मत प्रधान ही मानने में कोई विशेष लिङ्ग न होने से उस को पुरुष से स्वतन्त्र साङ्ख्यसम्मत प्रकृति (प्रधान) नहीं माना जा सकता है।

११५. ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके १।४।९॥

ज्योतिरादिका तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधभूतग्रामप्रकृतिरियमजा न तु गुणत्रयलक्षणा। तथा हि एके शाखिनस् तेजोबन्नानां ब्रह्मण उत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव **"यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस् तद् रूपं यच् छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य"** (छा.६।४।१) इति रोहितादिरूपतामामनन्ति। तस्माद् रोहित-शुक्ल-कृष्ण-रूपाऽजा तेजोबन्नात्मिका भूतग्रामप्रकृतिरेव न तु साङ्ख्याभिमतमानुमानिकं प्रधानमिति तात्पर्यम्। वाक्योपक्रमे वाक्यशेषे च ब्रह्माधीनाया ब्रह्मणः शक्तेरेवाऽवगम्यमानत्वात् सैवेयमजा न साङ्ख्योक्ता स्वतन्त्रा प्रकृतिरिति भावः।

हिन्दी – उक्त अजा तेज-अप्-भूमिरूप जरायुजादि-चतुर्विधभूत-प्रकृति है, गुणत्रयलक्षण साङ्ख्यसम्मत प्रधान नहीं है। कोई वेदशाखाविशेष के अध्येता लोग ब्रह्म से तेज-अप्-अन्नों की उत्पत्ति के प्रकरण को पढकर उन ही तेजप्रभृति तत्त्वों को रोहित-शुक्ल-कृष्णरूप में पढते हैं। अतः यह अजा साङ्ख्यसम्मत प्रकृति नहोकर ब्रह्माधीन ब्रह्मशक्तिरूप भूतग्रामप्रकृति ही है, यह भाव है।

११६. कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः १।४।१०॥

अजाशब्देन चाऽऽकृतिं यौगिकमर्थञ्चाऽविवक्षित्वा कल्पनयोपदेशाद्, यथाऽऽकृतिसाम्ये यौगिकार्थान्वये चाऽसति अपि **"असौ वा आदित्यो देवमधु"** (छा.३।१।१), **"वाचन् धेनुमुपासीत"** (मा.वा.शत.१४।८।९।१, का.वा.बृह.५।८।१), **"असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१२, का.वा.बृह.६।२।९; द्र.- छा.५।४।१) इत्यादौ आदित्यादिषु मध्वादीनां कल्पनयोपदेशे न कश्चिद् विरोधः तथैवाऽत्राऽपि तेजोबन्नात्मिकायां लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपायां भूतग्रामप्रकृतौ अजात्वकल्पनयोपदेशे न कश्चिद् विरोध इत्यर्थः। यथा हि लोके काचिदजा लोहित-शुक्ल-कृष्णवर्णचित्रा स्याद् बहुपष्ठिका सरूपपष्ठिका च ताञ्च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुगच्छेत्, कश्चिच्च भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा सरूपं बहु च चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविद्वाँश्च क्षेत्रज्ञो भोगायेमामनुगच्छति विद्वाँश्च परित्यजतीति सेयं भूतप्रकृतिरजेवाऽजेति कल्पना बोध्या। तस्मादजाऽत्र न साङ्ख्यसिद्धान्तसिद्धा प्रकृतिरिति तात्पर्यम्।

हिन्दी – जैसे "असौ वा आदित्यो देवमधु", "बाचन् धेनुमुपासीत", "असौ वै लोकोऽग्गँनिर्ग् गौतम" इत्यादि में आदित्यादि में कल्पनाद्वारा उपदेश करने में कोई विरोध नहीं है वैसे ही लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपवाली भूतग्रामप्रकृति में अजात्व की कल्पना कर के उपदेश करने में भी कोई विरोध नहीं है।

अथ चमसाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वेता.४।५) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः – अत्राऽजा साङ्ख्यसिद्धान्तसिद्धा प्रकृतिरुत वेदान्तसिद्धान्तानुसारिणी भूतग्रामप्रकृतिरिति।

पूर्वपक्षः – "न जायत इत्यजा" इति व्युत्पत्त्याऽजा **"मूलप्रकृतिरविकृतिः"** (सा.का.३) इति साङ्ख्यैरुक्ता प्रकृतिरेव भवितुमर्हति, श्रूयमाणानां लोहितशुक्लकृष्णरूपाणां रजस्सत्त्वतमोगुणपरत्वाच्चेयं साङ्ख्यसिद्धा त्रिगुणा प्रकृतिरेव; आकृत्या यौगिकार्थान्वयेन चाऽयुक्तत्वाद् वेदान्तसिद्धान्तानुसारिणी भूतग्रामप्रकृतिस्तु नैवाऽजा भवितुमर्हतीति।

उत्तरम् – **"अर्व्वाग्ग्बिलश्च्चमस ऽऊर्द्ध्वबुद्ध्नः"** (मा.वा.शत.१४।५।२।४, का.वा.बृह. २।२।३) इत्यत्र चमसशब्दस्येव अजाशब्दस्याऽप्यनेकेष्वर्थेषु योजयितुं शक्यत्वेनाऽविशेषाद् वाक्यशेषपर्यालोचनं विनाऽर्थविशेषस्याऽवधारयितुमशक्यत्वात्, वाक्यशेषपर्यालोचने समानविषयकशाखान्तरश्रुतिविचारणे च कृते सति त्वियमजा ब्रह्माधीना शक्तिरेव न साङ्ख्यप्रसिद्धा प्रकृतिरिति बुध्यमानत्वात्, भूतग्रामप्रकृतेरजात्वस्य कल्पनायां च आदित्यादीनां मधुत्वादिरूपैः कल्पनायामिवाऽऽकृतिसाम्यस्य यौगिकार्थान्वयस्य चाऽनावश्यकत्वाच् चेयमजा वेदान्तसिद्धान्तानुसारिणी ब्रह्माधीना भूतग्रामप्रकृतिरेव भवितुमर्हति न साङ्ख्यसिद्धान्तानुरूपा स्वतन्त्रा प्रकृतिरिति।

निर्णयः – अत्राऽजा ब्रह्माधीना तेजोबन्नात्मिका भूतग्रामप्रकृतिरेव न साङ्ख्यसिद्धान्ताऽनुरूपा स्वतन्त्रा प्रकृतिरिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अजामेकामिति श्वेताश्वतराणां श्रुतिः श्रुता।
२. तत्र ह्यजा भवेत् साङ्ख्यप्रकृतिर् वेतरा ननु ॥१॥
३. अजात्वयोगयुक्तेश्च वर्णैश्च गुणलक्षणात्।
साङ्ख्यसिद्धान्तसिद्धैव प्रकृतिः स्यादजा खलु ॥२॥
४-५. अजाशब्दस्याऽविशेषात् स्वतोऽर्थस्याऽविनिश्चयात्।
श्रुत्यन्तरस्याऽथ वाक्यशेषस्य च विचारणात् ॥३॥
वर्णैस्तेजोबन्नरूपाभिधानमिति निश्चयात्।
आदित्यादौ मधुत्वादेः कल्पनायामिवाऽत्र च ॥४॥

योगार्थाकृतिसाम्याद्यपेक्षायाश्चाऽप्यभावतः।
अजेयम् ब्रह्ममायैव न प्रधानमिति स्थितिः ॥५॥

---

३४. (३) सङ्ख्योपसङ्ग्रहाधिकरणम् (सू.११-१३)

पुनरपि साङ्ख्यसिद्धान्तेऽपि श्रुतिसमन्वयो दृश्यते कथं ब्रह्मण्येव श्रुतिसमन्वय इत्याक्षेपं परिहरन्नाह—

११७. न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च १।४।११॥ इति।

साङ्ख्यसिद्धान्तस्वीकृतानां पञ्चविंशतिसङ्ख्यकानां तत्त्वानां पञ्चसु पञ्चकेषु निवेशनाय तेषुतेषु पञ्चकविशेषनिवेशनीयेषु तत्त्वेषु अनुगतानां तेभ्यस्तेभ्यः पञ्चकान्तरनिवेशनीयेभ्यस्तत्त्वेभ्यो व्यावृत्तानाञ्च धर्माणामभावेन नानाभावात् (=पृथक्त्वात्) तेषां पञ्चकेषु अनिवेशात्; श्रुतेः पञ्चकानां प्रतिपादने तात्पर्यस्याऽभावस्य पञ्चविंशतिसङ्ख्याकानां तत्त्वानां प्रतिपादन एव तात्पर्यस्य सत्तायाश्च कल्पने पदार्थानां पञ्चकेष्वनिवेशेन नानाभावस्याऽदोषतायाः स्वीकृतावपि प्रकृतश्रुतौ प्रतिष्ठाधारत्वेन निर्दिष्टेनाऽऽत्मना पृथङ् निर्दिष्टेनाऽऽकाशेन च पञ्चविंशतेः सङ्ख्याया अतिरेकस्याऽऽपत्तेश्च **"यस्मिन्न् पञ्च पञ्चजनाऽआकाशश्च्च प्प्रतिष्ठितः। तमेव मन्यऽआत्त्माँनवं विद्द्वान्न् ब्रह्मामृतोऽमृतम्"** (मा.वा.शत. १४।७।२।१९, का.वा.बृह.४।४।१७) इति श्रुतौ श्रूयमाणया पञ्चगुणितया पञ्चात्मिकया सङ्ख्यया साङ्ख्यसिद्धान्तसिद्धानां पञ्चविंशतिसङ्ख्यकानां तत्त्वानामुपसङ्ग्रहात् अपि साङ्ख्यसिद्धान्तेऽपि श्रुतिसमन्वयोऽस्तीति न मन्तव्यम् इत्यर्थः।

हिन्दी– साङ्ख्यसिद्धान्त में स्वीकृत पच्चीस तत्त्वों के पाँच पञ्चकों में निवेशन के लिए उन उन पञ्चकविशेषों में निवेशनीय तत्त्वों में अनुगत धर्मों का और अन्य पञ्चकविशेषों में निवेशनीय तत्त्वों से व्यावृत्त धर्मों का भी अभाव होने से तत्त्वों में नानात्व (परस्पर पृथक्त्व) होने से उन का पाँच पञ्चकों में निवेश युक्तिसङ्गत न होने से और श्रुति में प्रतिष्ठा के आधार के रूप में निर्दिष्ट आत्मा से और पृथक् निर्दिष्ट आकाश से भी पच्चीस सङ्ख्या का अतिक्रमण होने से भी "यस्मिन्न् पञ्च पञ्चजनाः" इत्यादि श्रुति में श्रुत पञ्चगुणित पाँच सङ्ख्या से साङ्ख्यसम्मत पच्चीस तत्त्वों का उपसङ्ग्रह और उस से जगत् के कारण के रूप में प्रधान का श्रुति में स्वीकृतत्व भी नहीं माना जा सकता है।

११८. प्राणादयो वाक्यशेषात् १।४।१२॥

सङ्ख्यायाः सञ्ज्ञायामेव समानाधिकरणसमासस्य दृश्यमानतया रूढत्वेन विज्ञायमानेन पञ्चजनशब्देन निर्दिष्टा एते च पञ्चजनाः **"प्राणस्स्य प्प्राणमुत चक्क्षुषश्च्चक्क्षुरुतश्श्रोत्त्रस्स्य श्श्रोत्त्रमन्नस्स्यान्नम् मनसो ये मनो विदुः"** (मा.वा. शत.१४।७।२।२१, द्र.- का.वा.बृह.४।४।१८) इति वाक्यशेषात् प्राणादय एव ज्ञायन्ते, न साङ्ख्यसम्मतपञ्चविंशतिसङ्ख्याकतत्त्वपूरक-पञ्चकरूपा इत्यर्थः।

हिन्दी – सङ्ख्यावाचक शब्द का समानाधिकरणसमास रूढि में ही देखे जाने से रूढ शब्द के रूप में ज्ञायमान पञ्चजनशब्द से प्रतिपादित पदार्थ **"प्राणस्स्य प्प्राणम्"** इत्यादि वाक्यशेष में प्राणादि का उल्लेख देखे जाने से प्राणादि ही अवगत होते हैं।

११९. ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने १।४।१३॥

काण्ववाजसनेयिनामध्ययने वाक्यशेषेऽन्नेऽपठ्यमाने पञ्चानां पूरणं **"तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिः"** (का.वा.बृह.४।४।१६) इति पूर्वमन्त्रपठितेत ज्योतिषा भवति। अपेक्षाभावाऽभावनिबन्धने च ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे न न्यायविरुद्धे।

हिन्दी – काण्ववाजसनेयियों के शाखा में वाक्यशेष में अन्न का पाठ न होने पर पाँच सङ्ख्या की पूर्ति आकाङ्क्षाविशेष से पूर्वमन्त्र से आकर्षणीय ज्योति से होती है। माध्यन्दिनीय-वाजसनेयिशाखा में वाक्यशेष में प्राणादि पाँचों का उल्लेख होने से वहाँ पूर्वमन्त्र से ज्योति का आकर्षण नहोना और काण्ववाजसनेयिशाखा में वाक्यशेष में केवल चार का उल्लेख होने से वहाँ पञ्च सङ्ख्यापूरण के लिए पूर्वमन्त्र से ज्योति का आकर्षण करना ये दोनो बातें आकाङ्क्षा के अभाव और भाव को लेकर उपपन्न होतीं हैं।

अथ सङ्ख्योपसङ्ग्रहाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"यस्मिन्न् पञ्च पञ्चजनाऽआकाशश्च प्प्रतिष्ठ्रितः। तमेव मन्न्यऽआत्तँ-मानवं् विद्द्वान्न् ब्रह्म्मामृतोऽमृतम्"** (मा.वा.शत.१४।७।२।१९) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र 'पञ्च पञ्चजनाः' इति साङ्ख्यप्रसिद्धानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि उच्यन्त उत अन्य एव पदार्था इति।

पूर्वपक्षः– अत्र 'पञ्च पञ्चजनाः' इति पञ्चगुणिता पञ्चात्मिका सङ्ख्या पञ्चविंशतिरूपा श्रूयते। एतया च सङ्ख्येयाः पञ्चविंशतिः पदार्था आकाङ्क्ष्यन्ते। तत्र साङ्ख्यसिद्धान्ते स्वीकृतैः **"मूलप्रकृतिरविकृतिर् महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर् न विकृतिः पुरुषः"** (साङ्ख्यका.३) इति प्रतिपादितैः पञ्चविंशत्या तत्त्वैरेषाऽऽकाङ्क्षा पूर्यत इति **"पञ्च पञ्चजनाः"** इति साङ्ख्यप्रसिद्धानि पञ्चविंशतिस् तत्त्वानि एवोच्यन्त इति।

उत्तरम्– साङ्ख्यसिद्धान्तस्वीकृतानां पञ्चविंशतिसङ्ख्यकानां तत्त्वानां पञ्चसु पञ्चकेषु निवेशनाय तेषुतेषु पञ्चकविशेषनिवेशनीयेषु तत्त्वेषु अनुगतानां तेभ्यस्तेभ्यः पञ्चकान्तर-निवेशनीयेभ्यस्तत्त्वेभ्यो व्यावृत्तानां च धर्माणां तेषु अभावेन पार्थक्यात् पञ्चकेषु तेषा-मनिवेश्यत्वात्, श्रुतेः पञ्चकानाम् प्रतिपादने तात्पर्यस्याऽभावस्य पञ्चविंशतिसङ्ख्याक-तत्त्वानां प्रतिपादन एव तात्पर्यस्य सत्तायाः कल्पने पदार्थानां पञ्चकेष्वनिवेशनाऽस्वर्गीकृत-तया पृथग्भावेन स्थितेरदोषतायाः स्वीकृतावपि प्रकृतश्रुतौ प्रतिष्ठाधारत्वेन निर्दिष्टेना-ऽऽत्मना पृथङ् निर्दिष्टेनाऽऽकाशेन च पञ्चविंशतेः सङ्ख्याया अतिरेकस्याऽऽपत्तेश्च **"पञ्च पञ्चजनाः"** इति न साङ्ख्यप्रसिद्धानि तत्त्वानि उच्यन्ते, किन्तु वाक्यशेषात् प्राण-चक्षुश्-श्रोत्रा-ऽन्न-मनांसि उच्यन्तेऽथवा ज्योतिः-प्राण-चक्षुश्-श्रोत्र-मनांसि उच्यन्त इति।

निर्णयः– "यस्मिनन् पञ्च पञ्चजनाः" इत्यादिकायां श्रुतौ "पञ्च पञ्चजनाः" इति साङ्ख्यप्रसिद्धानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि नैवोच्यन्ते, किन्तु प्राणादय उच्यन्त इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यस्मिनन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्चच प्प्रतिष्ठितः।
इत्यादिका ब्राह्मणेऽस्ति श्रुतिर् वाजसनेयिनाम्॥१॥

२. तत्र पञ्च पञ्चजनाः साङ्ख्योक्ताः पञ्चविंशतिः।
पदार्थाः स्युरुताऽन्ये वाऽन्ये चेत् के स्युश्च ते पुनः॥२॥

३. पञ्च पञ्चजनाश्चेति सङ्ख्येयम् पञ्चविंशतिः।
तस्याश्च सङ्ख्येयाकाङ्क्षा साङ्ख्यतत्त्वैर् हि पूर्यते॥३॥
अतो हि साङ्ख्यसिद्धान्तः श्रौत इत्यवभासते।

४-५. पञ्चभिःपञ्चभिस्तत्त्वैः कृता वर्गा न सन्ति हि॥४॥
साङ्ख्यतत्त्वेष्वतस्तत्र पञ्च पञ्चजना इति।
श्रुतिः समञ्जसा नास्ति कथञ्चित् पञ्चविंशतौ ॥५॥
तात्पर्ये स्वीकृतेऽप्यात्माकाशयोरतिरेकतः।
सङ्ख्याधिक्यं प्रसज्येताऽतोऽश्रौतं ह्यानुमानिकम्॥६॥
प्राणादयः पञ्चजना वाक्यशेषाद् धि निश्चिताः।
अतः श्रुतीनां सुस्थो हि ब्रह्मण्येव समन्वयः॥७॥

---

३५. (४) कारणत्वाधिकरणम् (सू.१४-१५)

सृष्टिक्रमे जगत्कारणे च वेदान्तेषु विगानस्य दर्शनान् न ब्रह्मकारणवादे वेदान्तानां गतिसामान्यमिति नास्त्येव वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वय इत्याक्षेपं परिहरन्नाह भगवान् सूत्रकारः –

१२०. कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः १।४।१४॥ इति।

आकाशादिषु स्रष्टव्येषु कारणत्वेन चैकस्यां श्रुतौ यथाविधं ब्रह्म व्यपदिष्टं तथाविधस्यैव ब्रह्मणः श्रुत्यन्तरेष्वपि आकाशादिषु स्रष्टव्येषु कारणत्वेनोक्तेः आकाशादिषु सृष्टिविषयेषु कारणत्वेनोक्तं वस्तु सर्वत्र ब्रह्मैवाऽस्तीत्यर्थः।

हिन्दी – आकाशादि स्रष्टव्य वस्तुओं के कारण के रूप में एक श्रुति में जैसे ब्रह्म का उल्लेख है वैसे ही ब्रह्म का दूसरी सभी श्रुतियों में भी आकाशादि स्रष्टव्य वस्तुओं के कारण के रूप में उल्लेख होने से आकाशादि स्रष्टव्य वस्तुओं के कारण के रूप में सभी श्रुतियों में प्रतिपादित तत्त्व ब्रह्म ही अवगत होता है।

१२१. समाकर्षात् १।४।१५॥

"असद् वा इदमग्र आसीत्" (तै.२।७) इत्यत्रापि आकाशादिषु सृष्टिविषयेषु कारणत्वेनोक्तं वस्तु अन्यश्रुत्युक्तविधं सल्लक्षणं ब्रह्मैव, नाऽसल्लक्षणमन्यत् किञ्चिद्, **"अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः"** (तै.२।६) इत्युक्तस्याऽस्तित्वलक्षणस्य ब्रह्मण एव **"सोऽकामयत"** (तै.२।६) इति तच्छब्देन समाकर्षात्, तस्यैव च समर्थनाय **"असद् वा इदमग्र आसीत्"** इत्यादेः श्लोकस्योपन्यासात्। लोके प्रायेण नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः सच्छब्दः प्रसिद्ध इति अव्याकृतत्वप्रतिपादनाय सदेव ब्रह्मोपचारेणाऽसदित्युक्तमत्रेति बोध्यम्। यदि त्वत्र श्लोके निरात्मकमेवाऽसदभिप्रेयेत तदाऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसम्बद्धं वाक्यमापद्येत। **"असदेवेदमग्र आसीत्"** (छा.३।१९।१, ६।२।१) इत्यादावन्यत्राऽपि एषैव योजना बोध्या।

हिन्दी– "असद् वा इदमग्र आसीत्" इस स्थल में भी स्रष्टव्य आकाशादि के विषय में कारण के रूप में उक्त वस्तु "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इस वाक्य में उक्त अस्तित्वलक्षण ब्रह्म का ही "सोऽकामयत" इस वाक्य के "सः" पद से समाकर्ष किए जाने से और उसी के समर्थन के लिए "असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि श्लोक का उपन्यास किए जाने से अन्य श्रुतियों में जिस प्रकार का सल्लक्षण ब्रह्म का प्रतिपादन है उसी प्रकार का सल्लक्षण ब्रह्म ही होने की बात अवगत होती है। लोक में प्रायः नामरूप से व्याकृत वस्तु में सत्-शब्द प्रयुक्त होने से नामरूप से अव्याकृत वस्तु को बताने के लिए उक्त स्थल में असत्-शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि इस स्थल में असत्-शब्द से निरात्मक असत् को ही लिया जाएगा तो अन्य तत्त्व का समाकर्षण कर के अन्यथा उदाहरण उपन्यस्त करने से वाक्य असम्बद्ध हो जाएगा।

अथ कारणत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"स इमाल्ँ लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर् मरमापः"** (ऐ.आ.४।१।२), **"आत्मन आकाशः सम्भूतः"** (तै.२।१), **"असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत"** (तै.२।७), **"तद् धेदन् तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत"** (मा.वा.शत.१४।४।२।१५, का.वा.बृह.१।४।७) **"असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत् तत् समभवत्"** (छा.३।१९।१), **"तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् तस्मादसतः सज्जायतेति। कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात् कथमसतः सज्जायेत। सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"** (छा.६।२।१), **"तत् तेजोऽसृजत"** (छा.६।२।३), **"स प्राणमसृजत"** (प्रश्नो.६।४) इत्यादिकाः श्रुतयः।

विशयः– एतासु श्रुतिषु कारणत्वेनोक्तं वस्तु विभिन्नं वा एकमेव वेति।

पूर्वपक्षः– कस्य चिदाकाशादिकसृष्टिकर्तृत्वात्, कस्यचित् तेजःप्रभृतिकसृष्टिकर्तृत्वात्, कस्यचित् पुनः प्राणादिकसृष्टिकर्तृत्वाच्चेत्येवंप्रकारेण भिन्नप्रवृत्तिकत्वात् कस्य चनाऽसच्छब्देन व्यपदिश्यमानत्वात् कस्य चन पुनस्तदविरोधिना सच्छब्देन व्यपदिश्यमान-

निर्णयः– "यस्मिनन् पञ्च पञ्चजनाः" इत्यादिकायां श्रुतौ "पञ्च पञ्चजनाः" इति साङ्ख्यप्रसिद्धानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि नैवोच्यन्ते, किन्तु प्राणादय उच्यन्त इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यस्मिनन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च्च प्प्रतिष्ठितः।
इत्यादिका ब्राह्मणेऽस्ति श्रुतिर् वाजसनेयिनाम्॥१॥

२. तत्र पञ्च पञ्चजनाः साङ्ख्योक्ताः पञ्चविंशतिः।
पदार्थाः स्युरुताऽन्ये वाऽन्ये चेत् के स्युश्च ते पुनः॥२॥

३. पञ्च पञ्चजनाश्चेति सङ्ख्येयम् पञ्चविंशतिः।
तस्याश्च सङ्ख्येयाकाङ्क्षा साङ्ख्यतत्त्वैर् हि पूर्यते॥३॥
अतो हि साङ्ख्यसिद्धान्तः श्रौत इत्यवभासते।

४-५. पञ्चभिःपञ्चभिस्तत्त्वैः कृता वर्गा न सन्ति हि॥४॥
साङ्ख्यतत्त्वेष्वतस्तत्र पञ्च पञ्चजना इति।
श्रुतिः समञ्जसा नास्ति कथञ्चित् पञ्चविंशतौ ॥५॥
तात्पर्ये स्वीकृतेऽप्यात्माकाशयोरतिरेकतः।
सङ्ख्याधिक्यं प्रसज्येताऽतोऽश्रौतं ह्यानुमानिकम्॥६॥
प्राणादयः पञ्चजना वाक्यशेषाद् धि निश्चिताः।
अतः श्रुतीनां सुस्थो हि ब्रह्मण्येव समन्वयः॥७॥

---

३५. (४) कारणत्वाधिकरणम् (सू.१४-१५)

सृष्टिक्रमे जगत्कारणे च वेदान्तेषु विगानस्य दर्शनान् न ब्रह्मकारणवादे वेदान्तानां गतिसामान्यमिति नास्त्येव वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वय इत्याक्षेपं परिहरन्नाह भगवान् सूत्रकारः –

१२०. कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः १।४।१४॥ इति।

आकाशादिषु स्रष्टव्येषु कारणत्वेन चैकस्यां श्रुतौ यथाविधं ब्रह्म व्यपदिष्टं तथाविधस्यैव ब्रह्मणः श्रुत्यन्तरेष्वपि आकाशादिषु स्रष्टव्येषु कारणत्वेनोक्तेः आकाशादिषु सृष्टिविषयेषु कारणत्वेनोक्तं वस्तु सर्वत्र ब्रह्मैवाऽस्तीत्यर्थः।

हिन्दी – आकाशादि स्रष्टव्य वस्तुओं के कारण के रूप में एक श्रुति में जैसे ब्रह्म का उल्लेख है वैसे ही ब्रह्म का दूसरी सभी श्रुतियों में भी आकाशादि स्रष्टव्य वस्तुओं के कारण के रूप में उल्लेख होने से आकाशादि स्रष्टव्य वस्तुओं के कारण के रूप में सभी श्रुतियों में प्रतिपादित तत्त्व ब्रह्म ही अवगत होता है।

१२१. समाकर्षात् १।४।१५॥

"असद् वा इदमग्र आसीत्" (तै.२।७) इत्यत्रापि आकाशादिषु सृष्टिविषयेषु कारणत्वेनोक्तं वस्तु अन्यश्रुत्युक्तविधं सल्लक्षणं ब्रह्मैव, नाऽसल्लक्षणमन्यत् किञ्चिद्, **"अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः"** (तै.२।६) इत्युक्तस्याऽस्तित्वलक्षणस्य ब्रह्मण एव **"सोऽकामयत"** (तै.२।६) इति तच्छब्देन समाकर्षात्, तस्यैव च समर्थनाय **"असद् वा इदमग्र आसीत्"** इत्यादेः श्लोकस्योपन्यासात्। लोके प्रायेण नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः सच्छब्दः प्रसिद्ध इति अव्याकृतत्वप्रतिपादनाय सदेव ब्रह्मोपचारेणाऽसदित्युक्तमत्रेति बोध्यम्। यदि त्वत्र श्लोके निरात्मकमेवाऽसदभिप्रेयेत तदाऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसम्बद्धं वाक्यमापद्येत। **"असदेवेदमग्र आसीत्"** (छा.३।१९।१, ६।२।१) इत्यादावन्यत्राऽपि एषैव योजना बोध्या।

हिन्दी– "असद् वा इदमग्र आसीत्" इस स्थल में भी स्रष्टव्य आकाशादि के विषय में कारण के रूप में उक्त वस्तु "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इस वाक्य में उक्त अस्तित्वलक्षण ब्रह्म का ही "सोऽकामयत" इस वाक्य के "सः" पद से समाकर्ष किए जाने से और उसी के समर्थन के लिए "असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि श्लोक का उपन्यास किए जाने से अन्य श्रुतियों में जिस प्रकार का सल्लक्षण ब्रह्म का प्रतिपादन है उसी प्रकार का सल्लक्षण ब्रह्म ही होने की बात अवगत होती है। लोक में प्रायः नाम-रूप से व्याकृत वस्तु में सत्-शब्द प्रयुक्त होने से नाम-रूप से अव्याकृत वस्तु को बताने के लिए उक्त स्थल में असत्-शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि इस स्थल में असत्-शब्द से निरात्मक असत् को ही लिया जाएगा तो अन्य तत्त्व का समाकर्षण कर के अन्यथा उदाहरण उपन्यस्त करने से वाक्य असम्बद्ध हो जाएगा।

अथ कारणत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स इमाल्ं लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर् मरमापः" (ऐ.आ.४।१।२), "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै.२।१), "असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत" (तै.२।७), "तद् धेदन् तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत" (मा.वा.शत.१४।४।२।१५, का.वा.बृह.१।४।७) "असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत् तत् समभवत्" (छा.३।१९।१), "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् तस्मादसतः सज्जायतेति। कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात् कथमसतः सज्जायेत। सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा.६।२।१), "तत् तेजोऽसृजत" (छा.६।२।३), "स प्राणमसृजत" (प्रश्नो.६।४) इत्यादिकाः श्रुतयः।

विशयः– एतासु श्रुतिषु कारणत्वेनोक्तं वस्तु विभिन्नं वा एकमेव वेति।

पूर्वपक्षः– कस्य चिदाकाशादिकसृष्टिकर्तृत्वात्, कस्यचित् तेजःप्रभृतिकसृष्टिकर्तृत्वात्, कस्यचित् पुनः प्राणादिकसृष्टिकर्तृत्वाच्चेत्येवंप्रकारेण भिन्नप्रवृत्तिकत्वात् कस्य चनाऽसच्छब्देन व्यपदिश्यमानत्वात् कस्य चन पुनस्तदविरोधिना सच्छब्देन व्यपदिश्यमान-

त्वाच्च श्रुतिषु विगानदर्शनाद् एतासु श्रुतिषु कारणत्वेनोक्तं वस्तु विभिन्नमेव भवितु-मर्हतीति।

उत्तरम्– सत्यपि कार्यविषये विगाने तत्र श्रुतेस्तात्पर्यस्याऽभावस्य **"यतमथाऽसृजत तथाऽसृजत प्रजापतिस्त्वेवेदᳪ सर्व्वमसृजत यदिदङ् किञ्च"** (मा.वा.शत.६।१।२।१) इति प्रत्यक्षश्रुत्यैवोक्तत्वेन तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, वस्तुतस्तु तत्रापि विगानस्यैवा-ऽभावस्य व्युत्पादयितुं शक्यत्वात्, कार्यविषयस्य विगानस्य शङ्कायाश्च प्रसङ्गाद् द्वितीये-ऽध्याये परिहरिष्यमाणत्वात्, आकाशादिसृष्टिवादिनीषु श्रुतिषु मध्ये चैकस्यां श्रुतौ यादृशं ब्रह्मोक्तं तादृशस्यैव ब्रह्मणोऽन्यास्वपि श्रुतिषूक्तत्वाद्, असच्छब्दस्याऽपि प्रकरणपर्या-लोचने निरात्मक-तत्त्व-वाचकत्वस्याऽभावस्या-ऽवगम्यमानत्वेन अव्याकृतावस्थाक-ब्रह्मण एव वाचकत्वस्य निश्चयाच्च सर्वास्वेव श्रुतिषु परमकारणत्वेनोक्तं वस्तु एक-मेव सल्लक्षणं ब्रह्मेति।

निर्णयः– सर्वासु श्रुतिषु आकाशादिजगत्कारणत्वेनोक्तं वस्तु एकमेव सल्लक्षणं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतिरात्मन आकाशः सम्भूत इति काचन।
तत् तेजोऽसृजतेत्यन्या स प्राणमिति चापरा॥१॥
असद् वा इदमग्र इत्यादिका काचन श्रुतिः।
सदेव सोम्येत्यन्येति विभिन्नाः श्रुतयः खलु॥२॥
२. जगतः कारणं ह्यासु विभिन्नं वैकमुच्यते।
३. भेदात् कार्ये च शब्दे च विभिन्नमिति गम्यते॥३॥
४-५. कार्योक्तौ सति भेदेऽपि कारणोक्तावभेदतः।
असच्छब्दस्याऽपि चाऽव्याकृतब्रह्मपरत्वतः॥४॥
एकं सद् ब्रह्म सर्वत्र कारणत्वेन कीर्तितम्।
अतश्च गतिसामान्यं श्रुतीनां ब्रह्मणि स्थितम्॥५॥

---

३६. (५) बालाक्यधिकरणम् (सू.१६-१८)

ननु साङ्ख्यवादसिद्धो जीवरूपः पुरुषोऽपि वेदान्तेषु वेदितव्यतयोपदिश्यत इति न हि परब्रह्मणि सर्वेषां वेदान्तानां समन्वय इत्याक्षेपं परिहरन्नाह भगवान् सूत्रकारः–

१२२. जगद्वाचित्वात् १।४।१६॥ इति।

"यस्य वैतत् कर्म" (कौषी.४।१९) इत्यत्र एतदिति पदस्य प्रत्यक्ष-सन्निहितजगद्वाचित्वाद्, जगतश्च जीवकार्यत्वाऽभावाद् **"यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः"** (कौषी.४।१९) इति श्रुतौ

वेदितव्यतया निर्दिष्टः पुरुषो ब्रह्मैवेत्यर्थः। अत्र सूत्रे उक्तरूपः पुरुष उद्देश्यमिति हेतुनिर्देशवैशिष्ट्यादुत्तरसूत्रदर्शनाच्च ज्ञेयम्; ब्रह्म विधेयमिति च जन्माद्यस्य यतः (१।१।२) इत्यत्राऽकाङ्क्षावशादध्याहृतस्य तदुत्तरसूत्रेषु यथार्हमनुवृत्तस्य ब्रह्म-पदस्य विधेयान्तरनिर्देशात् केषुचित् पूर्वाधिकरणसूत्रेषु अननुवृत्तस्यापि अत्र सूत्रे महाप्रकरणवशाद् मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तनाद् बोध्यम्।

हिन्दी – "यस्य वैतत् कर्म" इस वाक्य के एतत्-शब्द का प्रत्यक्षसन्निहित-जगद्वाचित्व होने से और जगत् जीव का कार्य नहोने से "यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः" इस वाक्य में वेदितव्य के रूप में प्रतिपादित तत्त्व ब्रह्म ही अवगत होता है।

१२३. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान् नेति चेत् तद् व्याख्यातम् १।४।१७॥

वाक्यशेषे **"तद् यथा श्रेष्ठी"** (कौषी.४।२०) इत्यादौ जीवलिङ्गस्य श्रवणाद्, **"अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति"** (कौषी.४।१९) इत्यादौ मुख्यप्राणलिङ्गस्य च श्रवणात् तयोरेकतरस्य ग्रहणमावश्यकमिति यो वै बालाक इत्यादिकायां श्रुतौ वेदितव्यतयोपदिष्टः पुरुषो ब्रह्म भवितुं नार्हतीति चेत् तच्चोद्यं **"नोपासात्रैविध्या-दाश्रितत्वादिह तद्योगात्"** (ब्रह्ममी.१।१।३१) इति पूर्वसूत्रांशेनैव परिहृतमिति व्याख्यातचरमेवेत्यर्थः। अत्र जीवस्य मुख्यप्राणस्य च प्राधान्ये स्वीकृते जीव-प्राण-ब्रह्मावलम्बनत्वेनोपासनायास्त्रैविध्यं स्यात्, तस्य च वाक्यभेदप्रसङ्गेना-ऽनिष्टत्वात्, अन्यत्राऽपि ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तेराश्रितत्वात्, इहापि तेषां हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गानां योगात्, श्रूयमाणस्य जीवव्यापारस्य मुख्यप्राणव्यापारस्य च ब्रह्मणि उपचरितुं शक्यत्वाच्च ब्रह्मैवाऽत्र प्रकरणे प्रति-पादितमिति हि उक्तसूत्रांशस्याऽत्र प्रकरणे व्याख्यानम्।

हिन्दी – इस प्रकरण में "तद् यथा श्रेष्ठी" इत्यादि वाक्यशेष में जीवलिङ्गों का उल्लेख होने से, और "अथाऽस्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इत्यादि वाक्यशेष में मुख्य प्राण के लिङ्गों का उल्लेख होने से "यो वै बालाक" इत्यादि वाक्य में वेदितव्य रूप में प्रतिपादित तत्त्व ब्रह्म नहीं हो सकता है, यह शङ्का यहाँ भी नहीं करनी चाहिए, क्यों कि इस शङ्का का उत्तर "नोपासात्रैविध्यादाश्रित-त्वादिह तद्योगात्" (१।१।३१) इस सूत्रांश से दी जा चुकी है। इस प्रसङ्ग में उस सूत्रांश का अर्थ होता है– यहाँ जीव का और मुख्य प्राण का भी प्राधान्य मानने से जीव, मुख्य प्राण और ब्रह्म इन तीनों की उपासना को विहित मानने की आपत्ति आ जाने से, उस से वाक्यभेद दोष आ जाने से, अन्यत्र भी ब्रह्मलिङ्गों को देखकर प्राणशब्द का ब्रह्म में प्रयोग माने जाने से, यहाँ भी हिततमोपन्यासादि ब्रह्मलिङ्गों का योग होने से, श्रूयमाण जीवव्यापार का और मुख्य प्राण का व्यापार का भी ब्रह्म में उपचरित माने जा सकने से भी इस प्रकरण में ब्रह्म ही प्रतिपादित अवगत होता है।

१२४. अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके १।४।१८॥

अत्र प्रकरणे **"एवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर् भुङ्क्त एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति"** (कौषी.४।२०) इति यदुक्तं तद् हि **"क्वैष एतद् बालाके**

पुरुषोऽशयिष्ट" (कौषी.४।१९) इति जीवातिरिक्ताधिकरणप्रश्नाद्, **"अथाऽस्मिन् प्राण एवैकधा भवति"** (कौषी.४।१९) इति जीवातिरिक्तजीवाऽऽगमनाऽपादानरूप-ब्रह्मरूपाधिकरणनिर्देशरूपात् तत्प्रतिवचनाच्च ब्रह्मज्ञानार्थं हि जीवपरामर्शमत्र जैमिनिराचार्यो मन्यते; न जीवलिङ्गम्; अपि च के चन शाखिनो बालाक्यजातशत्रुसंवादे **"यऽएष विज्ञँञानमयः पुरुषः क्क्वैष तदाऽभूत्त् कुतऽएतदागात्"** (मा.वा.शत. १४।५।१।१६, का.वा.बृह.२।१।१६) इत्यत्र स्पष्टतया विज्ञानमयशब्देन जीवमुल्लिख्य तद्व्यतिरिक्तं ब्रह्म समामनन्ति। तस्मादस्मिन् प्रकरणे वेदितव्यत्वेनोपदिष्टः पुरुषो ब्रह्मैवेति तात्पर्यम्।

हिन्दी – "क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट ?" इस वाक्य से जीवातिरिक्त अधिकरण के विषय में किए गए प्रश्न से और "अथाऽस्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इस वाक्य से किए गए जीवातिरिक्त जीव के आगमन के अपादानभूत ब्रह्मरूप अधिकरण के व्याख्यान से इस प्रकरण में "एवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर् भुङ्क्त एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति" इस वाक्य में किया गया जीव का परामर्श ब्रह्मज्ञान के लिए ही किया गया अवगत होता है, (जीव के निरूपण के लिए नहीं), यह बात आचार्य जैमिनि मानते हैं। माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखाध्यायी इत्यादि किसी किसी शाखा के अध्येता लोग "यऽएष विज्ञँञानमयः पुरुषः क्क्वैष तदाऽभूत्त् कुतऽएतदागात् ?" इत्यादि रूप में स्पष्ट रूप में विज्ञानमय शब्द से जीव का उल्लेख कर के उस के अतिरिक्त ब्रह्म का निर्देश करते हैं। अतः इस प्रकरण में वेदितव्य रूप में उपदिष्ट पुरुष ब्रह्म ही है, यह तात्पर्य है।

अथ बालाक्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः" (कौषी.४।१९) इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र वेदितव्यत्वेनोक्तः पुरुषो मुख्यः प्राणो वा जीवो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– "यस्य वैतत् कर्म" (कौषी.४।१९) इति कर्मणः श्रवणात् कर्मणश्च परिस्पन्दलक्षणस्य प्राणाश्रयत्वाद् वाक्यशेषे च **"अथाऽस्मिन् प्राण एवैकधा भवति"** (कौषी.४।१९) इति प्राणशब्दस्य श्रवणाच्च प्राण एव वेदितव्यत्वेनोपदिष्टो भवितुमर्हति, जीवस्याऽपि धर्माऽधर्मलक्षणस्य कर्मणः कर्तृत्वाद्, भोक्तृत्वेन च भोगोपकरणभूतान् पुरुषान् प्रति अपि जीवस्य कर्तृत्वस्य सम्भवाद्, वाक्यशेषे च **"तद् यथा श्रेष्ठी"** (कौषी.४।२०) इत्यादौ जीवलिङ्गस्य श्रवणाज् जीवो वा वेदितव्यत्वेनोपदिष्टो भवितुमर्हति, न ब्रह्म, तल्लिङ्गानवगमादिति।

उत्तरम्– **"यस्य वैतत् कर्म"** (कौषी.४।१९) इत्यत्र एतच्छब्दस्य जगद्वाचित्वाद्, जगत्कर्मकतायाश्च जीवे प्राणे चाऽसम्भवाद् ब्रह्मण्येव सम्भवाद्, जीव-प्राण-लिङ्गयोरपि ब्रह्मण्युपचरितुं शक्यत्वाद्, जीवपरामर्शस्याऽपि ब्रह्मबोधनार्थमेव कृतत्वाद् अत्र वेदितव्यतयोपदिष्टः पुरुषो ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– अत्र वेदितव्यतयोपदिष्टः पुरुषो ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्य इति श्रुतिः।
२. अत्र कर्तृतयोक्तः कः प्राणो जीवोऽथ ब्रह्म वा ॥१॥
३. तत्तल्लिङ्गश्रुतेः प्राणो जीवो वाऽत्राऽवगम्यते।
४-५. एतच्-छब्दस्य तु जगद्-वाचित्वाज् जगतः पुनः ॥२॥
कर्तृताया ब्रह्मणि हि उपपन्नतया तथा।
जीवस्याऽपि ब्रह्मवित्त्यै परामृष्टतयाऽपि च ॥३॥
वेदितव्यतया प्रोक्तं ब्रह्मैवाऽत्रेति निर्णयः।
अतो ब्रह्मण्यस्ति जीवे नास्ति श्रुतिसमन्वयः ॥४॥

---

३७. (६) वाक्यान्वयाधिकरणम् (सू.१९-२२)

ननु साङ्ख्याभिमतो जीवरूपः पुरुषः पाञ्चरात्राभिमतः क्षेत्रज्ञरूपः परमात्मभिन्नः पुरुषो वाऽपि केषु चिद् वेदान्तेषु वेदितव्यतयोपदिश्यत इति नास्ति खलु परब्रह्मणि सर्वेषां वेदान्तानां समन्वय इत्याक्षेपं च परिहरन्नाह—

१२५. वाक्यान्वयात् १।४।१९ ॥ इति।

ब्रह्मण्येव एतत्प्रकरणरूपमहावाक्यस्याऽवयवानामवान्तरवाक्यानामन्वयात् **"आत्तँमनस्तु कामाय सर्व्वम् प्रियम् भवत्त्यात्तँमा वाऽअरे द्द्रष्ट्टव्व्यः श्श्रोतव्व्यो मन्तव्व्यो निदिद्ध्यासितव्व्यो मैत्त्रेय्यात्तँमनो वाऽअरे दर्शनेन श्श्रवणेन मत्त्या विज्ज्ञानेनेदꣳ सर्व्वं विदितम्"** (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६; का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६) इत्यत्र द्रष्टव्यतयोपदिष्ट आत्मा ब्रह्मैवेत्यर्थः। तथा हि वाक्यानामन्वयः **"यन्नु मऽइयम् भगोः सर्व्वा पृथिवी वित्तेन पूर्ण्णा स्स्यात्त्व किमहन् तेनाऽमृता स्स्याम्"** (मा.वा.शत.१४।५।४।२, का.वा.बृह.२।४।२) इति प्रश्ने **"अमृतत्त्वस्स्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन"** (मा.वा.शत.१४।५।४।२, का.वा.बृह.२।४।२) इत्युत्तरं श्रुत्वा **"येनाऽहन् नाऽमृता स्स्याङ् किमहन् तेन कुर्व्व्याम् यदेव भगवान्न्वेद तदेव मे ब्ब्रूहि"** (मा.वा.शत. १४।५।४।३, का.वा. बृह.२।४।३) इत्युक्तवत्यै अमृतत्वमाशासानायै मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति **"आत्तँमा वाऽअरे द्द्रष्ट्टव्व्यः"** इत्यादिना वाक्येन। **"तमेव विदित्त्वाऽतिमृत्त्युमेति नाऽन्न्यः पन्था विद्द्यतेऽयनाय"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं. ३१।१८, श्वेता.३।८, ६।१५) इति श्रुत्यन्तरे हि ब्रह्मज्ञानेनैवाऽमृतत्वप्राप्तिः श्रूयते, तस्मादमृतत्वाय द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टोऽयमात्मा ब्रह्मैव भवितुमर्हति न जीवः। **"आत्तँमनो वाऽअरे दर्शनेन श्श्रवणेन मत्त्या विज्ज्ञानेनेदꣳ सर्व्वं विदितम्"** (मा.वा.शत.१४।५।४।५, का.वा.बृह.

२।४।५) इति, "इद६ सर्ब्वयं् यदयमात्तँमा" (मा.वा.शत.१४।५।४।६, १४।७।३।७; का.वा.बृह.२।४।६, ४।५।७) इत्यादिकञ्च वाक्यमात्मशब्देन ब्रह्मणो ग्रहण एवोपपद्यते। "अस्स्य महतो भूतस्स्य निश्श्वसितमेद्द्यदृग्वेदः" (मा.वा.शत.१४।५।४।१०, १४।७।३।११; का.वा.बृह.२।४।१०, ४।५।११) इत्यादिकाऽऽत्मनो वेदादिसर्वप्रपञ्चकारणताया उक्तिः, "स सथा सर्ब्वासामपा॑ समुद्द्रऽएकायनम्" (मा.वा.शत. १४।५।४।११, १४।७।३।१२; का.वा.बृह.२।४।११, ४।४।१२) इत्यादिकाऽऽत्मनः सर्वप्रपञ्चलयाधारताया उक्तिः, "एतावदरे खल्ल्वमृतम्" (मा.वा.शत.१४।७।३।२५, का.वा.बृह.४।५।१५) इत्युपसंहारश्च वेदितव्यतयोपदिष्टस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्व एव अन्विता भवन्ति। तस्मादवान्तराणां वाक्यानामन्वयाद् वेदितव्यत्वेनोपदिष्ट आत्मा ब्रह्मैवाऽवगन्तव्यः।

हिन्दी – सम्बद्ध प्रकरणरूप महावाक्य के अवयवरूप अवान्तर वाक्यों का ब्रह्म में ही अन्वय हो सकने से "आत्तँमा वा अरे द्द्रष्टव्व्यः श्रोतव्व्यो मन्तव्व्यो निदिद्ध्यासितव्व्यः" इस वाक्य में द्रष्टव्य रूप में प्रतिपादित आत्मा ब्रह्म ही है, जीव नहीं, यह बात अवगत होती है।

१२६. प्रतिज्ञासिद्धेर् लिङ्गमाश्मरथ्यः १।४।२०॥

ब्रह्मदर्शनपरस्याऽपि मैत्रेयीब्राह्मणस्य विज्ञानात्मब्रह्मणोरभेदांशेनोपक्रमणं प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्य महतो भूतस्य विज्ञानात्मभावेन भूतेभ्यः समुत्थानस्य वचनं च **"आत्तँमनो वाऽअरे दर्शनेन श्श्रवणेन मत्त्या बिज्ज्ँञानेनेद६ सर्ब्वव् विदितम्"** (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६; का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६) इति प्रतिज्ञायाः **"इद६ सर्ब्वयं् यदयमात्तँमा"** (मा.वा.शत.१४।५।४।६, १४।७।३।७; का.वा.बृह. २।४।६, ४।५।६) इति प्रतिज्ञायाश्च सिद्धेः सूचकम्। यदि विज्ञानात्मब्रह्मणोरभेदांशो नोक्तः स्यात् तदा विज्ञानात्मा ब्रह्मणः सर्वथाऽन्यः स्वीकृतः स्यात्, ततश्च ब्रह्मज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञातः स्यादिति उक्ता प्रतिज्ञा हीयेतेति आश्मरथ्यो मुनिर् मन्यते। एतेन सूत्रेण च 'जीवब्रह्मणोर् भेदे सत्यपि आत्यन्तिको भेदो नास्ति, वह्नि-विस्फुलिङ्ग-न्यायेन जीव-ब्रह्मणोर् भेदोऽभेदश्च' इत्याश्मरथ्यमतमिति सूच्यते इति शङ्करो मन्यते।

हिन्दी – ब्रह्मदर्शनपरक मैत्रेयीब्राह्मण का विज्ञानात्मा और ब्रह्म का अभेद को लेकर जो उपक्रम किया गया है, और प्रकृत द्रष्टव्य महान् भूत का विज्ञानात्मा के रूप में भूतों से समुत्थान जो प्रतिपादित है वह "आत्तँमनो वाऽअरे दर्शनेन श्श्रवणेन मत्त्या बिज्ज्ँञानेनेदं सर्ब्वव् विदितम्" इस एकविज्ञान से सर्वविज्ञान बताने वाली प्रतिज्ञा की सिद्धि का सूचक लिङ्ग है, ऐसा आचार्य आश्मरथ्य मानेते हैं।

१२७. उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः १।४।२१॥

इदं जीवब्रह्मणोरभेदेनोपक्रमणं प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्य महतो भूतस्य विज्ञानात्मभावेन भूतेभ्यः समुत्थानस्य वचनं च विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रिय-मनोबुद्धि-

सङ्घातोपाधिसम्पर्कात् कलुषीभूतस्य ज्ञान-ध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यतो ब्रह्मणैक्यस्योपपत्तेरुपपद्यत इत्यौडुलोमिमुनिर् मन्यते। एतेन सूत्रेण च 'जीवस्य संसारदशायां ब्रह्मतः सत्य एव भेदो मुक्त्यवस्थायामेवाऽभेद' इत्यौडुलोमिमतमिति सूच्यते इति शङ्करो मन्यते।

हिन्दी – मैत्रेयीब्राह्मण का विज्ञानात्मा और ब्रह्म का अभेद को लेकर जो उपक्रम किया गया है, और प्रकृत द्रष्टव्य महान् भूत का विज्ञानात्मा के रूप में भूतों से समुत्थान जो प्रतिपादित है वह देह इन्द्रिय इत्यादि उपाधियों के सम्पर्क से कलुषीभूत विज्ञानात्मा का ही ज्ञान-ध्यानादि साधनों के अवलम्बन से स्वच्छता को प्राप्त करके देहादि सङ्घातों से उत्क्रमण के लिए तत्पर होने पर ब्रह्म के साथ ऐक्य हो सकने से उपपन्न होने की बात मुनि औडुलोमि मानते हैं।

१२८. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।१।४।२२॥

ब्रह्मदर्शनपरे मैत्रेयीब्राह्मणे जीवब्रह्मणोरभेदेनोपक्रमणं प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्य महतो भूतस्य विज्ञानात्मभावेन भूतेभ्यः समुत्थानस्य वचनं चाऽस्यैव ब्रह्मणोऽनेनाऽपि विज्ञानात्मभावेनाऽवस्थानादुपपन्नमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते। एतेन सूत्रेण च 'अविकलं ब्रह्मैव जीवो न तद्भिन्नः' इति काशकृत्स्नमतं सूच्यते, परमश्रौतं चैतत् काशकृत्स्नीयं मतं विज्ञायते, **"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदाऽऽस्ते"** (तै.आ.३।१२।७) इत्यादिकाद् मन्त्रवर्णाद्, **"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** (छा.६।३।२) इत्यादिकाद् ब्राह्मणाच्च परब्रह्मण एव जीवभावेनाऽवस्थानस्य श्रुतौ प्रसिद्धत्वादिति शङ्करो मन्यते। वस्तुतस्तु व्याख्यानभङ्गीभेदप्रदर्शनार्थः पूजार्थ एव चाऽऽश्मरथ्यादिव्याख्यानोपन्यासोऽवगन्तव्यः।

हिन्दी – मैत्रेयीब्राह्मण का विज्ञानात्मा और ब्रह्म का अभेद को लेकर जो उपक्रम किया गया है, और प्रकृत द्रष्टव्य महान् भूत का विज्ञानात्मा के रूप में भूतों से समुत्थान जो प्रतिपादित है वह ब्रह्म का ही जीवभाव से भी अवस्थान होने से उपपन्न होने की बात आचार्य काशकृत्स्न मानते हैं।

अथ वाक्यान्वयाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "आत्त्‌मनस्तु कामाय सर्ब्बम् प्रियम् भवत्त्यात्त्‌मा वाऽअरे द्द्रष्ट्टव्यः श्रोतब्व्यो मन्तब्व्यो निदिद्ध्यासितब्व्यः" (मा.वा.शत.१४।५।४।५, का.वा.बृह. २।४।५) इत्यादिकं श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– अत्र द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्ट आत्मा जीवो वा ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्, मध्येऽपि प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्य महतो भूतस्य भूतेभ्यो विज्ञानात्मभावेन समुत्थानस्य कथनात्, उपसंहारे च द्रष्टव्यस्यात्मनो "बिज्ज्‌ञातारमरे केन बिजानीयात्" (मा.वा.शत.१४।५।४।१६, १४।७।३।२५;

का.वा.बृह.२।२।१४, ४।५।१५) इति विज्ञातृत्वेन व्यपदेशाच्च विज्ञानात्मरूपो जीव एवात्र द्रष्टव्यत्वेनोक्तो भवितुमर्हतीति।

उत्तरम्– अमृतत्वमाशासानायै मैत्रेय्यै द्रष्टव्यत्वेनाऽस्याऽऽत्मन उपदिष्टत्वात्, **"तमेव विदित्त्वाऽतिमृत्त्युमेति नाऽन्न्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** इति (मा.वा.शु.य.वे.म.सं. ३१।१८, श्वेता.३।८, ६।१५) श्रुत्यन्तराद् ब्रह्मज्ञानस्यैवाऽमृतत्वोपायताया विज्ञातत्वात्, अस्याऽऽत्मनो विज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिपादनात्, परिच्छिन्नस्य जीवस्य विज्ञानेन च सर्वविज्ञानस्याऽसम्भवात्, अस्यैव प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्याऽऽत्मन ऋग्वेदादिसकलप्रपञ्चोत्पत्तिस्थानतया सविषय-सेन्द्रिय-सान्तःकरणप्रपञ्च-लयस्थानतया चोक्तत्वात्, ब्रह्मण एव सकलप्रपञ्चजन्मादिकारणतायाः श्रुत्यन्तरेषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वात्, **"एतावदरे खल्ल्वमृतम्"** इत्युपसंहारात् (मा.वा.शत.१४।७।३।२५, का.वा.बृह.४।५।१५) ब्रह्मण एव जीवभावेनाऽप्यवस्थानाज् जीवेनोपक्रमणस्य विज्ञानात्मभावेन समुत्थितेर् वचनस्य विज्ञातृत्वेन व्यपदेशस्य चोपपत्तेर् द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टोऽयमात्मा ब्रह्मैव भवितुमर्हतीति।

निर्णयः– **"आत्त्मनस्तु कामाय सर्व्वम् प्रियम् भवत्त्यात्त्मा वाऽअरे दृद्रष्टव्यः श्रोतव्व्यो मन्तव्व्यो निदिद्ध्यासितव्व्यः"** (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६; का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६) इत्यत्र द्रष्टव्यतयोपदिष्ट आत्मा ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आत्मा वा अरे दृद्रष्टव्य इत्याद्या श्रुतिरस्ति हि।
२. तत्र द्रष्टव्य आत्माऽयं जीवो वा ब्रह्म वा भवेत्॥१॥
३. भोक्त्रोपक्रमणाद् विज्ञानात्मत्वेन समुत्थितेः।
उक्तेर् विज्ञातृभावाच्च जीव एव भवेदयम्॥२॥
४-५. अमृतत्वाय हि उपदिष्टत्वादस्य वेदनात्।
सर्वज्ञानस्य चोक्तत्वात् सर्वजन्मादिकश्रुतेः॥३॥
जीवभावेऽप्यवस्थानाद् ब्रह्मणो जीवरूपतः।
उपक्रमादेरौचित्याद् वेद्यं ब्रह्मेति निर्णयः॥४॥

---

३८. (७) प्रकृत्यधिकरणम् (सू.२३-२७)

विविधशङ्कासमाधानैः सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयस्य प्रदर्शनेन जन्माद्यस्य यत इति ब्रह्मलक्षणे चिद्रूपब्रह्मलक्षकतया समर्थितेऽपि निमित्तकारणपरत्वेऽपि ब्रह्मकारणत्ववादिनीनां श्रुतीनां चारितार्थ्याद् उपादानकारणताबोधनप्रधानं जन्माद्यस्य यतस् तद् ब्रह्मेति लक्षणमनुपपन्नमित्येतां शङ्कां कर्तृरूपकारणत्वेन प्रधानस्याऽपेक्षायामसत्यामपि उपादानकारणत्वेन तु तदपेक्षा स्यादिति शङ्कां च परिहरन्नाह भगवान् सूत्रकारः –

१२९. प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् १।४।२३॥ इति।

श्रुतौ श्रूयमाणायाः **"उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्"** (छा.६।१।२,३) इति आत्मनो जगत् प्रति उपादानकारणत्वे निमित्तकारणत्वे च सत्येवोपपद्यमानायाः प्रतिज्ञायाः, तथाविधस्यैव श्रुतौ श्रूयमाणस्य **"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"** (छा.६।१।४) इति दृष्टान्तस्य चोपचरितार्थत्वाद्यर्थसङ्कोचाऽवसरानवतारात् जन्माद्यस्य यत इति लक्षितं ब्रह्म जगतो न केवलं निमित्तकारणमेव किन्तु प्रकृतिश्च (=उपादानकारणमपि) अस्तीति श्रुतयः प्रतिपादयन्तीत्यवगम्यते इत्यर्थः। एवञ्चोपादानकारणताबोधनप्रधानं जन्माद्यस्य यत इति लक्षणं नानुपपन्नम्, न वा श्रुतीनां केवलनिमित्तकारणरूपे ब्रह्मणि वैशेषिकाद्यभिमतेश्वरसदृशे समन्वयः, न वोपादानकारणरूपेणाऽपि प्रधानस्याऽपेक्षेति तात्पर्यम्।

हिन्दी– आत्मा का जगत् के प्रति उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्व दोनों होने पर ही उपपन्न होने वाली "येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादि श्रुति में श्रूयमाण प्रतिज्ञा के और उसी प्रकार के "यथैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यादि श्रुति में श्रूयमाण दृष्टान्त के लाक्षणिकार्थकत्व का आश्रयणादि अर्थसङ्कोच का कोई कारण नहोने से "जन्माद्यस्य यतः" इस लक्षण से लक्षित ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण ही नहीं किन्तु प्रकृति (उपादानकारण) भी है, यह बात अवगत होती है।

१३०. अभिध्योपदेशाच्च १।४।२४॥

"सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेय" (तै.२।६), **"तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय"** (छा.६।२।३) इति ब्रह्मणो बहुभवनाभिध्यानस्य स्वात्मविषयताया उपदेशाच्च ब्रह्म प्रकृतिश्चेति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म के बहुभवन का अभिध्यान स्वात्मविषयक होने का उपदेश होने से ब्रह्म प्रकृति (उपादानकारण) भी अवगत होता है।

१३१. साक्षाच्चोभयाम्नानात् १।४।२५॥

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति" (छा.१।९।१) इति जगत आकाशशब्दोक्ताद् ब्रह्मणः साक्षादुत्पत्तेः तत्रैव साक्षाद् लयस्य चाऽऽम्नानाद् ब्रह्म उपादानं च जगतः, कार्यस्य साक्षादुत्पत्तेरपि उपादानादेव सम्भवात् कार्यस्य साक्षाल्लयस्याऽपि उपादान एव सम्भवादित्यर्थः।

हिन्दी– "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति" इस श्रुतिवाक्य में जगत् का आकाशशब्दवाच्य ब्रह्म से साक्षात् उत्पत्ति और उसी में साक्षात् लय बताए जाने से और कार्य की साक्षात् उत्पत्ति उपादानकारण से ही हो सकने और कार्य का साक्षात् लय भी उपादानकारण में ही हो सकने से भी ब्रह्म जगत् का प्रकृति (उपादानकारण) भी ज्ञात होता है।

१३२. आत्मकृतेः परिणामात् १।४।२६॥

"तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै.२।७) इति ब्रह्मण आत्मनैवात्मन एव करणस्याऽऽम्नानात् **"सच्च त्यच्चाऽभवत्, निरुक्तञ्चाऽनिरुक्तञ्च"** (तै.२।६) इति ब्रह्मणो विकारसामानाधिकरण्येनाऽऽम्नानेन ज्ञापितात् परिणामाच्च ब्रह्म जगतः प्रकृतिश्चेत्यर्थः। अत्र परिणामशब्दो विवर्तरूपार्थक एव, **"तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः"** (ब्रह्ममी.२।१।१४) इति वक्ष्यमाणत्वात्। केचित् तु **"आत्मकृतेः"** इत्येकं सूत्रम् **"परिणामात्"** इत्यन्यत् सूत्रं मन्यन्ते। तथाऽपि अर्थस्तु समान एव।

हिन्दी– "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इस श्रुति में ब्रह्म का अपने ही अपने को बनाने की बात प्रतिपादित होने से और आत्मा की विशेष रूप से विकारों के रूप में अपने को परिणत करने की बात श्रुत होने से अवगत परिणाम से भी ब्रह्म जगत् की प्रकृति भी होने की बात अवगत होती है।

१३३. योनिश्च हि गीयते १।४।२७॥

ब्रह्म हि **"तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"** (मुण्डको.१।१।६) इत्यादौ योनिश्च साक्षात् श्रुत्योच्यते। योनिशब्दश्च प्रकृतिवाचक इति प्रकृतिश्च ब्रह्मेति श्रुतितात्पर्यमवगम्यत इत्यर्थः।

हिन्दी– "तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म योनि भी कहा जाता है। योनिशब्द प्रकृतिवाचक है। अतः ब्रह्म जगत् का केवल निमित्तकारण ही नहीं, किन्तु प्रकृति (उपादानकारण) भी अवगत होता है।

अथ प्रकृत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति, तत् तेजोऽसृजत" (छा.६।२।३) इत्यादिकानि सृष्टिप्रतिपादकानि श्रुतिवाक्यानि।

विशयः– एतेषु श्रुतिवाक्येषु ब्रह्म जगतः कर्तृरूपनिमित्तकारणमेवोच्यते किम् उपादान-कारणमपीति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणः खलु **"तदैक्षत"** (छा.६।२।३) इतीक्षापूर्वकस्य **"तत् तेजोऽसृजत"** (छा.६।२।३) इत्यादेः कर्तृत्वस्य श्रवणाद्, निमित्तकारणे कर्तर्येव कुलालादौ ईक्षा-पूर्वककर्तृत्वस्य दर्शनाद्, अनेककारकपूर्विकाया एव क्रियाफलसिद्धेर् लोके दर्शनात् सृष्टेरपि तथात्वस्यौचित्याद्, ब्रह्मणश्च विशुद्धस्य चेतनस्याऽशुद्धजडजगदुपादानताया असम्भवाद् उक्तश्रुतिवाक्येषु ब्रह्म जगतः कर्तृरूपं निमित्तकारणमेवोच्यत इति।

उत्तरम्– ब्रह्मणि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञातत्वाद्, मृदि ज्ञातायां सर्वेषां मृन्मयानां ज्ञानस्य दृष्टान्तितत्वाद्, ब्रह्मभिन्ने जगत उपादानकारणे स्वीकृते तस्याः प्रतिज्ञायाः तस्य दृष्टान्तस्य च भाक्तत्वाश्रयणादिनाऽवरोधस्य प्रसङ्गाद्, ब्रह्मणोऽभिध्यान-पूर्विकायाः स्वतन्त्रप्रवृत्तेर् बहुभवनाभिध्यानस्य स्वविषयतायाश्चोपदेशात्; जगतो ब्रह्मण एव साक्षादुत्पत्तेर् ब्रह्मण्येव साक्षाल्लयस्य च कीर्तनात्, कार्यस्य साक्षादुत्पत्तेरपि उपादानादेव

सम्भवाद् लयस्य चोपादान एव सम्भवात्, स्वयमात्मानमकुरुतेति श्रवणात्, ब्रह्मणः सत्त्यदाख्य-कार्यरूपेण परिणामस्य विवर्तपदस्पष्टीकरणस्य च श्रवणाद् योनित्वेन कीर्तनाच् चैतेषु सृष्टिविषयकश्रुतिवाक्येषु ब्रह्म जगतः कर्तृरूपनिमित्तकारणमुपादान-कारणञ्चोच्यत इति।

निर्णयः– एतेषु श्रुतिवाक्येषु ब्रह्म जगत उपादानकारणमपीत्युच्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेत्यादिका श्रुतिः।
२. तत्र ब्रह्म निमित्तं वोपादानमभिसंहितम्॥१॥
३. ईक्षितृत्वाच् छुद्धबोधरूपस्य खलु ब्रह्मणः।
जडोपादानताऽयोगाद् निमित्तं स्याच् छ्रुतीरितम्॥२॥
४-५. एकविज्ञानेन सर्वज्ञानस्य कथनात् तथा।
अभिध्यानस्य च बहुभवनार्थस्य कीर्तनात्॥३॥
उत्पत्तेरत एवास्मिन्नेवोक्तेः प्रलयस्य च ।
आत्मनश्च कृतेरुक्तेः कार्येषु परिणामतः॥४॥
योनिशब्देनाऽपि चोक्तेरुपादानञ्च ब्रह्म हि।
तादृशं लक्षितं तस्मिन्नेव श्रुतिसमन्वयः॥४॥

---

३९. (८) सर्वव्याख्यानाधिकरणम् (सू.२८)

इदानीमभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूप-ब्रह्मपरतयैव सर्वेषां वेदान्तानां गतिसामान्यमिति द्रढयन् समन्वयाध्यायमुपसंहरति–

१३४. एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः १।४।२८॥ इति।

एतेन श्रुत्या न्यायेन च जगत् प्रति ब्रह्मणो निमित्तोपादानोभयरूपकारण-ताया निर्धारणेन "न्यग्रोधफलमाहरेति, इदं भगव इति, भिन्धीति, भिन्नं भगव इति, किमत्र पश्यसीति, अण्व्य इवेमा धाना भगव इति, आसामङ्गैकां भिन्धीति, भिन्ना भगव इति, किमत्र पश्यसीति, न किञ्चन भगव इति। तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एष महान् न्यग्रोधस् तिष्ठति" (छा.६।१२।१,२), "अणोरणीयान्" (कठो.१।२।२०), "सम्पतत्रैर् द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" (ऋ.१०।८१।३, मा.वा.शु.य.वे.म.सं.१७।१९, तै.सं. ४।६।२।४), "असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत" (तै.२।७), "तन् नामरूपाभ्यामेव ब्याक्रियत" (मा.वा.शत.१४।४।२।१५, का.वा.बृह.१।४।७), "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" (श्वेता. ६।७), "तद् विष्णोः परमं पदम्" (कठो. ३।९), "आत्मा नारायणः

परः" (महानारायणोपनिषदि ४१।४) इत्यादयोऽणु-शून्य-स्वभाव-महेश्वर-विष्ण्वादि-निमित्तोपादानाऽन्यतरकारणतावादलिङ्गाभासयुता वेदान्ता अपि व्याख्याताः, पूर्वेष्वधिकरणेषु तत्रतत्र प्रदर्शितैर् न्यायैरेव एतेषां वेदान्तानामपि अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपब्रह्मपरताया निर्णयादित्यर्थः। एवञ्च यथोक्तलक्षणे ब्रह्मणि वेदान्तानां गतिसामान्येन समन्वयः सिद्ध इति तात्पर्यम्। पदाऽभ्यासोऽध्यायसमाप्तिसूचकः।

हिन्दी – इस प्रकार श्रुति से और न्याय से भी जगत् प्रति ब्रह्म के निमित्तोपादानोभयरूपकारणता का निरूपण होने से किन्ही प्रकरणांशों में वा वाक्यों में वा वाक्यांशो में वा पदों में परमाणुकारणतावाद, शून्यकारणतावाद, स्वभावकारणतावाद, महेश्वरकारणतावाद, विष्णुकारणतावाद इत्यादि वादों का आभास देने वाले सभी वेदान्तवाक्य जगत् के अभिन्न निमित्तोपादानकारणरूप ब्रह्म के ही प्रतिपादक के रूप में व्याख्यात हो जाते हैं। इस प्रकार उक्तलक्षणक ब्रह्म में सभी वेदान्तवाक्यों के गतिसामान्यत्व से समन्वय सिद्ध होता है, यह तात्पर्य है।

अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"अण्व्य इवेमा धानाः"** (छा.६।१२।१), **"सम्पतत्रैर् द्यावाभूमी जनयन् देव एकः"** (ऋ.१०।८१।३), **"असद् वा इदमग्र आसीत्"** (तै.२।७), **"तन् नामरूपाभ्यामेव ब्याक्क्रियत"** (मा.वा.शत.१४।४।२।१५), **"तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्"** (श्वेता.६।७), **"तद् विष्णोः परमं पदम्"** (कठो.३।९), **"आत्मा नारायणः परः"** (महानारायणो.४१।४) इत्यादयो वेदान्ताः।

विशयः– एते वेदान्ता अणु-शून्य-स्वभाव-महेश्वर-विष्ण्वादि-निमित्तोपादानान्यतर-कारणताप्रतिपादका उताऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपब्रह्मप्रतिपादका इति।

पूर्वपक्षः– **"एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एव महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति"** (छा.६।१२।२) इति दृष्टान्तात् श्रुत्यन्तरेऽपि **"अणोरणीयान्"** (कठो.१।२।२०) इति श्रवणाद् दार्ष्टान्तिकेऽपि अणुकारणतावादोऽभिप्रेतो भवेदिति प्रतीयते, कारणान्वेषणप्रसङ्गे **"न किञ्चन"** (छा.६।१२।१) इति श्रवणाद्, **"असद् वा इदमग्र आसीत् ततः सदजायत"** (तै.२।७) इति **"असदेवेदमग्र आसीत्"** (छा.३।१९।१) इति च श्रवणात् शून्यवादोऽभिप्रेतः स्यादिति प्रतीयते; **"तन् नामरूपाभ्यामेव ब्याक्क्रियत"** (मा.वा.शत.१४।४।२।१५, का.वा.बृह.१।४।७) इति कर्मकर्तरि प्रयोगदर्शनात् स्वभावकारणवादोऽभिप्रेतः स्यादिति प्रतीयते, एवमेव तत्रतत्र महेश्वर-विष्ण्वादिकारणवादा अभिप्रेताः स्युरिति प्रतीयत एवेति नास्ति वेदान्तानाम् अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपे ब्रह्मणि गतिसामान्येन समन्वय इति।

उत्तरम्– सर्वत्र प्रकरणपर्यालोचनेऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपब्रह्मपरताया दर्शनात्, पतत्रशब्दस्य परमाणुवाचकताया असिद्धेः, अणुत्ववादिनीनामपि श्रुतीनाम् उक्तविधस्यैव ब्रह्मणः सूक्ष्मतायाः प्रतिपादने तात्पर्यात्, **"अणुः पन्थाः"** (मा.वा.शत.१४।७।२।११, का.वा.बृह.४।४।८) इति ज्ञानमार्गस्यैव स्तुतत्वात्, अव्याकृते ब्रह्मण्येवाऽसच्छब्दस्य

प्रयोग इति पूर्वमेवाऽऽवेदितत्वात्; कर्मकर्तरि लकारे स्मृतेऽपि तेन सुकरतामात्रस्य द्योतनात् कर्तुरप्रतिक्षेपात् स्वभावकारणवादाप्रसरात्; महेश्वर-विष्ण्वादि-शब्दानामपि प्रकरणपर्यालोचनेऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपब्रह्मविषयकताया निश्चयाच्च नैते वेदान्ताः पराभिमत-निमित्तोपादानान्यतरकारणम् अण्वादिकं तात्पर्येण प्रतिपादयन्तीति निरपवाद एव सर्वेषां वेदान्तानाम् अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपे ब्रह्मणि समन्वय इति।

निर्णयः– एते सर्वेऽपि वेदान्ता अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपब्रह्मपरा एवेति निरपवाद एव सर्वेषां वेदान्तानामुक्तविधे ब्रह्मणि समन्वय इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. न्यग्रोधफलमित्याद्या असदित्यादिकास्तथा।
'तन् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इतीदृशाः॥१॥
तमीश्वराणां परमं तद् विष्णोः परमं पदम्।
आत्मा नारायण इति वेदान्ता विविधाः श्रुताः॥२॥

२. एतेऽण्वादिपरा वा स्युरुत ब्रह्मपराः समे।

३. अण्वादिशब्दश्रवणादण्वादिकपरा ननु॥३॥

४-५. वेदान्ता निखिलाः सम्यक् पर्यालोचनतस् स्फुटम्।
निमित्तोपादानरूपब्रह्मात्मपरकाः खलु॥४॥
निश्चीयन्ते ह्यतोऽण्वादिशब्दा अपि च वस्तुतः।
ब्रह्मात्मपरका एवाऽण्वादिवादास्तु सर्वथा॥५॥
अशब्दा एव तस्माच्च सुसिद्धं ब्रह्मलक्षणम्।
सिद्धश्च गत्यैक्येनाऽत्र वेदान्तानां समन्वयः॥६॥

इति श्रीवेदव्यास-बादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां वृत्तौ प्रथमे श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽध्याये चतुर्थः अव्यक्तादिसन्दिग्धपदसमन्वयपरः पादः समाप्तः॥

॥ समाप्तश्चाऽयं समन्वयाध्यायः प्रथमः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(अविरोधाऽध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः

(साङ्ख्ययोगकाणादादिस्मृतितन्मूलतर्कोत्थवेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारपरः स्मृतिपादः)

४०.(१) स्मृत्यधिकरणम् (सू. १-२)

प्रथमेऽध्याये ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे सर्वेषां वेदान्तानां समन्वयः प्रदर्शितः। तत्र स्मृति-तर्क-सृष्ट्यादिश्रुतीनामपि अविरोधं प्रदर्श्य द्वितीयेनाऽध्यायेन समन्वय एव स्थिरीक्रियते। तत्र प्रथममुक्ते समन्वये स्मृत्या अविरोधः स्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्ग इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपाद्यते—

१३५. स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन् नाऽन्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गात् २।१।१॥

ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वये स्वीकृते अनुष्ठेये कर्मकाण्डेऽचरितार्थायाः प्रधानस्य जगत्कारणत्वं प्रतिपादयन्त्याः साङ्ख्यस्मृत्यपराभिधायाः कापिलस्मृतेरनवकाशतेति दोषस्य प्रसक्तिर् भवतीति स्मृतिविरोधाद् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयः स्वीकर्तुं न शक्यते इति चेत्, न हि तथा वक्तुं युज्यते, कापिलस्मृतेरवकाशस्य दाने **"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर् विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवाऽसृजत्"** (मनु.१।८), **"अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्वं संहार-काले च तदत्ति भूयः"** (ब्रह्माण्डपु.१।१।१७४, वायुपु.१।१।१८५), **"विष्णोः सकाशा-दुद्भूतं जगत् तत्रैव च स्थितम्। स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः"** (विष्णु.१।१।३१) **"यत् तत् सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम्। इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम्। स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते। त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः। तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम। अव्यक्ता व्यक्त-भावस्था या सा प्रकृतिरव्यया"** (महा.१२।३३४।२९-३१), **"एतद्योनीति भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा"** (गीता.७।६) इत्यादिकानां ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रतिपादयन्तीनामन्यासां स्मृतीनाम् अनव-काशता स्यादिति दोषस्य प्रसङ्गादित्यर्थः।

स्मृत्योर् विरोधे श्रुत्यनुसारिण्या ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रतिपादयन्त्याः **स्मृतेरेव प्राबल्यात्**, कापिलस्मृतितो मनुस्मृतेरेव सर्वथा प्रबलत्वात्, प्रबलस्मृति-

विरोधाच्च बाधितया प्रधानस्य जगत्कारणत्वं प्रतिपादयन्त्या दुर्बलया कापिल-स्मृत्या ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यत इति भावः।

स्मृतेः श्रुतिविरोधेनैवाऽप्रामाण्ये पूर्वतन्त्रे विरोधाधिकरणे (जै.ध.मी.सू. १।३।३) निर्णीतेऽपि प्रबलस्मृतिविरोधेनाऽपि दुर्बला स्मृतिर् बाध्यत इति न्यायं प्रदर्शयितुमिदमधिकरणं प्रवृत्तं बोध्यम्।

हिन्दी – ब्रह्म को जगत् का कारण मानकर साङ्ख्यसिद्धान्त के प्रधान (=प्रकृति) को जगत् का कारण न मानने से साङ्ख्यस्मृति को निरवकाश अर्थात् सर्वथा अप्रमाण मानने का दोष आ जाएगा (और स्मृति को सर्वथा अप्रमाण मानना उचित नहीं होगा) ऐसा ब्रह्मसमन्वयविरोधी तर्क उचित नहीं है, क्योंकि प्रधानकारणवादिनी साङ्ख्यस्मृति को प्रमाण मानने से मनुस्मृति, ब्रह्माण्डपुराण-वायुपुराण-विष्णुपुराणादि पुराण, महाभारत इत्यादि ब्रह्मकारणवादिनी अनेक स्मृतियों को निरवकाश अर्थात् अप्रमाण मानने का दोष आ ही जायगा।

१३६. इतरेषां चाऽनुपलब्धेः २।१।२॥

प्रधानपरिणामत्वेन कापिलस्मृतौ कल्पितानां प्रधानाद् इतरेषां महदहङ्कार-तन्मात्राणां च आगमप्रमाणरूपे वेदे प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणमूले लोके चाऽप्रसिद्ध-त्वाद् रूपादिभिन्नस्य षष्ठस्येव ज्ञानेन्द्रियार्थस्य तेषां स्मृतिविषयत्वस्यैवाऽसम्भवाद् महदादिकार्यस्मृतेर् निर्मूलत्वात् कारणरूपप्रधानस्य प्रतिपादिकायाः स्मृतेरपि निर्मूलत्वमेवेति न तस्या निर्मूलायाः स्मृतेरनवकाशतायाः प्रसक्तिर् दोष इत्यर्थः। निर्मूलया स्मृत्या ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थापयितु-मेव न शक्यते इति भावः।

अनुपलभ्यमानवेदवाक्यमूलकस्मृत्युक्तानुष्ठेयार्थानामिव महदादीनामपि प्रामाण्यं सम्भवतीति तु न चोद्यमत्रोत्थापितम्, तत्पक्षे पूर्वोदाहृताऽनेकप्रत्यक्षा-ऽद्वैतश्रुतिविरोधादेव प्रधानकारणवादस्य निरसनीयत्वात्।

हिन्दी – साङ्ख्यस्मृति में प्रधान के परिणाम के रूप में प्रतिपादित महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाशतन्मात्रादि प्रधानेतर पदार्थों के भी श्रुति-स्मृतियों में प्रामाणिक रूप में प्रतिपादन नहोने से उन के कारण के रूप में साङ्ख्याभिमत प्रधान का भी श्रुति-स्मृतियों में प्रामाणिक प्रतिपादन होने की बात नहीं मानी जा सकती है।

अथ स्मृत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः कपिलोक्त-साङ्ख्यस्मृत्या विरोद्धुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदस्य अन्यासां स्मृतीनां वाऽपि साङ्ख्य-स्मृत्या बाधेऽपि वेदस्य तासां स्मृतीनां चाऽपि अनुष्ठेये विषये सावकाशत्वात्, प्रधानस्य

जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदेन अन्याभिः स्मृतिभिर् वाऽपि साङ्ख्यस्मृतेर् बाधे तु साङ्ख्यस्मृतेः सर्वथाऽनवकाशतायाः प्राप्तेः अनवकाशताप्राप्तिप्रसङ्गोपोद्बलितया साङ्ख्यस्मृत्या ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थाप्यत एव। एवं च वेदप्रशस्तकपिलोक्तसाङ्ख्यस्मृत्यनुकूल एव वेदार्थः स्वीकर्तव्यो न तद्विरुद्धो ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे समन्वय इति।

उत्तरम्– कपिलप्रोक्तसाङ्ख्यस्मृत्यवकाशदाने मनुस्मृति-पुराण-महाभारतादिस्मृतीनां ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रतिपादयन्तीनाम् अनवकाशतायाः प्रसङ्गात्, वेदमूलाभिः स्मृतिभिर् निर्मूलायाः साङ्ख्यस्मृतेर् बाधस्यौचित्यात् साङ्ख्यस्मृतेर् मनुस्मृति-पुराण-महाभारतादिस्मृतिभिरेव बाधो भवतीति न साङ्ख्यस्मृत्या ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं शक्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयः साङ्ख्यस्मृत्या विरोद्धुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽऽद्यमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जगतः कारणत्वेन ब्रह्मणः प्रतिपादने।
समन्वयः श्रुतीनां तु पूर्वेऽध्याये प्रदर्शितः॥१॥
२. साङ्ख्यस्मृत्या विरोद्धुं स शक्यो वा नेति संशयः।
३. स्मृतेरनवकाशत्वप्राप्त्या शक्य इतीतरे॥३॥
४. अबाधितायां तु साङ्ख्यस्मृतौ स्मृत्यन्तरस्य तु।
भवेदनवकाशत्वं तद् बाध्या कापिली स्मृतिः॥४॥
५. तद् दृष्टश्रुतिमूलाभिः स्मृतिभिः सन्निरुद्धया।
साङ्ख्यस्मृत्या नैव शक्यो रोद्धुं स इति निर्णयः॥५॥

४१.(२) योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् (सू. ३)

स्वतन्त्रतर्कमूलकस्य साङ्ख्यस्य निराकरणेन तादृशस्य योगस्याऽपि निराकरणं प्रतिपादयति–

१३७. एतेन योगः प्रत्युक्तः २।१।३॥ इति।

एतेन वेदविरुद्धे प्रधानकारणतावादांशे साङ्ख्यस्मृतेः प्रामाण्यस्य प्रत्याख्यानेन वेदविरुद्धे प्रधानकारणतावादांशे योगसिद्धान्तोऽपि प्रत्याख्यातो वेदितव्यः। उपलक्षणं चैतत्। सर्वाण्येव तत्त्वज्ञानोपायत्वेन परेषामभिमतानि स्वतन्त्रतर्कमूलानि स्मरणानि प्रत्याख्येयानि, वैदिकसिद्धान्ते **"नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तम्"** (तै.ब्रा.३।१२।९।७), **"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"** (छा.३।९।३६) इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्यो वेदान्तवाक्येभ्य एव तत्त्वज्ञानं भवतीत्यवगतत्वात्।

हिन्दी – इस वेदविरुद्ध प्रधानकारणतावाद के अंश में साङ्ख्यस्मृति की प्रामाणिकता के प्रत्याख्यान से योगसिद्धान्त की भी वेदविरुद्धांश में प्रामाणिकता प्रत्याख्यात ही समझी जानी चाहिए। इस सूत्र का उपलक्षणात्मक होने से इस से स्वतन्त्रतर्कमूलक तत्त्वज्ञानोपाय बताने वाले सभी सिद्धान्तों के वेदविरुद्धांश में प्रामाणिकता प्रत्याख्यात मानी जानी चाहिए।

अथ योगप्रत्युक्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये हैरण्यगर्भ-पातञ्जलादियोगमार्गस्मृत्या विरोध उपस्थापयितुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– श्रुत्यादिप्रसिद्धानामभ्यासादीनां ज्ञानोपायानां बहूनां योगस्मृतौ प्रतिपादितत्वात् तस्याः श्रुत्यादिसम्मतत्वेन प्रामाण्यात्, तत्र प्रधानस्य जगदुपादानकारणतायाः अपि स्वीकृतत्वाच्च योगस्मृत्या ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थाप्यत एव। अतो वेदसम्मत-योगस्मृत्यनुकूल एव वेदार्थः स्वीकर्तव्यो न तद्विरुद्धो ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने समन्वय इति।

उत्तरम्– योगस्मृत्यर्थैकदेशस्य श्रुत्यादिमूलकत्वेऽपि प्रधानोपादानकारणतावादादि-रूपस्याऽर्थैकदेशस्य श्रुतिविरुद्धताया दर्शनात् तदंशे तस्या अप्रामाण्यात् तात्पर्यस्य अभावाद् वाऽपि योगस्मृत्या वेदान्तानां ब्रह्मणो जगदुपादानकारणतायाः प्रतिपादने समन्वये विरोध उपस्थापयितुं न शक्यत इति।

निर्णयः– योगस्मृत्याऽपि ब्रह्मणो जगदुपादानकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. वेदान्तानां तु सर्वेषां ब्रह्मण्युक्तः समन्वयः।
२. योगस्मृत्या बाध्यते वा स न वेति च संशयः॥१॥
३. योगस्य श्रुतिमूलत्वात् स बाध्येतेति के चन।
४-५. प्रधानकारणत्वांशे योगस्याऽश्रौतता स्फुटा॥२॥
योगस्मृतेस्तत्र तात्पर्यस्याऽभावोऽथवा मतः।
तस्मान् न योगस्मृत्या च बाध्यो ब्रह्मसमन्वयः॥३॥

४२.(३) विलक्षणत्वाधिकरणम् (सू. ४-११)

ब्रह्मणो जगन्निमित्तोपादानत्वं श्रुतिस्मृतिमूलक-तर्केणाऽऽक्षिप्य समाधातुं विलक्षणत्वाधिकरणमारभते–

१३८. न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् २।१।४॥ इति।

प्रथमेऽध्याये प्रदर्शितो ब्रह्मणो जगन्निमित्तोपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयोऽस्य जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वात् (सलक्षणयोरेव घटमृत्तिकयोः कार्योपादानभावस्य दर्शनात्) नोपपद्यते, चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनत्वेनाऽस्य जगतो विलक्षणत्वं च **"विज्ञानं चाऽविज्ञानं च"** (तै.उ.२।६) इति शब्दप्रमाणादेव सिद्धमित्यर्थः।

समन्वये स्मृतिविरोधस्याभावेऽपि श्रुतिस्मृतिमूलकतर्कविरोधो भवितुमर्हति, तर्कस्य चाऽऽदर्तव्यं च **"आत्ताँमा वाऽअरे द्द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः"** इति श्रुतिः (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६, का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६) सूचयति, **"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः"** (मनु.१२।१०६) इति स्मृतिश्च स्फुटतया प्रतिपादयति, अतः श्रुतिस्मृतिमूलकतर्कविरोधाऽपरिहारे समन्वयाध्यायार्थो न स्थिरो भवेत्। अतः श्रुतिस्मृतिमूलकतर्कविरोधोऽपि परिहर्तव्य इति विलक्षणत्वाधिकरणादीनामारम्भः कृतो वेदितव्यः।

हिन्दी – ब्रह्म से जगत् विलक्षण होने से, इस अचेतन जगत् का चेतन ब्रह्म से विलक्षणत्व "विज्ञानं चाऽविज्ञानं च" (तै.उ.२।६) इत्यादि श्रुतिवाक्य से ही विदित होने से और समानलक्षण पदार्थों में ही कार्योपादानकारणभाव-सम्बन्ध सम्भव होने से प्रथम अध्याय में प्रतिपादित जगत् प्रति ब्रह्म के निमित्तकारणत्व तथा उपादानकारणत्व के प्रतिपादन में उपनिषद्वाक्यों का समन्वय उपपन्न नहीं माना जा सकता है।

१३९. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषाऽनुगतिभ्याम् २।१।५॥

यद्यपि **"आपोऽब्रुवन्"** (मा.वा.शत.६।१।३।२), **"फेनोऽब्रवीत्"** (मा.वा.शत.६।१।३।३), **"मृदब्रवीत्"** (मा.वा.शत.६।१।३।४), **"तत् तेज ऐक्षत"** (छा.६।२।३), **"ते हेमे प्राणाऽअहॅश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः"** (मा.वा.शत.१४।९।२।७, द्र.- छा.५।१।६-७) इत्यादीनि श्रुतिवाक्यानि च श्रूयन्त इति ब्रह्मात्मभिन्नस्य जगतोऽपि चेतनतायाः प्रतीयमानत्वाज्जगतो न विलक्षणत्वमित्यपि आपाततो भाति, तथापि **"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति"** (छा.६।३।२), **"सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः"** (कौषी.२।९) इत्यादिभ्यः छान्दोग्योपनिषत्-कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्वाक्यादिभ्यो तेजःप्रभृतिषु इन्द्रियेषु च देवतात्मकविशेषस्याऽवगम्यमानत्वात्, सर्वत्राऽभिमानिनीनां चेतनानां देवतानामनुगतेश्च **"अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्"** (ऐ.आ.२।४।२।४) इत्यादिभ्यो वेदेतिहासपुराणादिवाक्येभ्योऽवगम्यमानत्वाच्च **"आपोऽब्रुवन्"** इत्यादिषु वाक्येषु अबाद्यभिमानिनीनां देवतानामेव चेतनोचितेषु व्यवहारेषूद्देशो वर्तते न तु भूतेन्द्रियमात्राणामिति विज्ञायते, एवं च भूतेन्द्रियादिजगतो-

ऽचेतनत्वाद् ब्रह्मविलक्षणत्वमेवेति न तयोः कार्योपादानकारणत्वसम्बन्धसम्भवः, तस्मात् पूर्वाध्यायोक्तः समन्वयो नोपपद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में जो *'जल ने कहा' 'फेन ने कहा' 'मृत्तिका ने कहा' 'तेज ने ईक्षण किया'* इत्यादि रूप से जड तत्त्वों में चेतन के व्यवहार का कथन है वह उन तत्त्वों की अभिमानिनी देवताओं को लेकर प्रयुक्त है। यह बात तेज प्रभृति तत्त्वों में देवताशब्दविशेष के प्रयोग से (छा.६।३।२, कौषी.२।९) और *'अग्नि वाणी हो कर मुख में प्रविष्ट हुआ'* (ऐ.आ.२।४।२।४) इत्यादि रूप में अनुगमन के वर्णन के देखे जाने से भी विदित होती है। अतः जल प्रभृति जगत् जड ही है, और चिद्घन ब्रह्म से जड जगत् की उत्पत्ति अनुपपन्न होने से ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में श्रुतिवाक्यों का समन्वय बताना ठीक नहीं है।

१४०. दृश्यते तु २।१।६॥

चेतनाऽचेतनत्वेन चैतन्यायतनचैतन्याऽनायतनत्वेन वा विलक्षणयोरपि पुरुषकेशयोः, गोमयवृश्चिकयोर् वाऽपि कर्योपादानकारणभावो लोके दृश्यते तु। वेदेऽपि **"यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्"** (मुण्डको. १।१।७) इत्यादौ तथा दृश्यते। अतः चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनस्य जगतो वैलक्षण्येऽपि जगद्ब्रह्मणोः कार्योपादानकारणभावो भवितुमर्हतीति तर्कतोऽपि पूर्वाध्यायोक्तः समन्वयः सुस्थित एवेति भावः।

हिन्दी – चेतन पुरुष और अचेतन केशों का, अचेतन गोमय और चेतन वृश्चिक का कार्य्कारणभाव लोक में भी देखा जाता है, वेद में भी "यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्" (मुण्डको.१।१।७) इत्यादि स्थल में पुरुष और केशलोमों का कार्यकारणभाव वर्णित देखा ही जाता है। अतः चेतन ब्रह्म का अचेतन जगत् के प्रति उपादानकारणत्व अनुपपन्न नहीं है।

१४१. असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् २।१।७॥

चेतने शब्दादिहीने ब्रह्मणि अचेतनस्य शब्दादिमतो जगत उपादानकारणत्वेन स्वीकृते सति उत्पत्तेः प्राग् जगद्रूपं कार्यम् असत् आसीत् इति स्वीकर्तव्यं स्यात् (तथा च असत्कार्यवादस्वीकारप्रसङ्गः) इति चेत्, कार्यस्य कारणात्मना सदैव सत्त्वात्, कारणात्मना हीनस्य कार्यस्य त्वनिर्वचनीयत्वात्, तस्य सद्भिन्नत्वेन तत्र 'असत् कार्यम्' इति निषेधस्य अप्राप्तनिषेधत्वान् निर्विषयत्वेन प्रतिषेधमात्रत्वाद् असत्कार्यवादप्रसञ्जनं न युज्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – चेतन और शब्दादिगुणहीन ब्रह्म को अचेतन और शब्दादिगुणयुक्त जगत् के उपादान कारण मान ने से ब्रह्म में असत् शब्दादि की उत्पत्ति माननी पडेगी और असत्कार्यवाद को मानना पडेगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि कार्य कारणात्मना सदा सत् ही होता है और उस का निषेध वस्तुतः हो नहीं सकता है; और कारणभिन्न रूप में कार्य सदा सद्भिन्न अनिर्वचनीय ही होता है, और उस में सद्भिन्नत्व के सिद्ध ही होने से उस में भी 'असत् कार्यम्' यह निषेध निर्विषय अर्थात् निरर्थक हो जाता है।

१४२. अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् २।१।८॥

ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे स्वीकृते स्थूलस्य जगतो ब्रह्मणि लये ब्रह्मणोऽपि स्थूलत्वादिमत्त्वस्य प्रसङ्गात्, प्रलये जगतोऽपि ब्रह्मभावापत्त्या निर्विशेषत्वप्रसङ्गात् पुनः सविशेषस्य जगत उत्पत्तेरसम्भावनायाः प्रसङ्गाद् वाऽपि प्रथमेऽध्याये प्रदर्शितं ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमयुक्तमित्यर्थः। एवं च ब्रह्मणो जगदुपादानतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयोऽसमञ्जस इति पूर्वपक्षवादिन आशयः।

हिन्दी – ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर प्रलयकाल में जगत् के ब्रह्म में लय होने से प्रलयकाल में ब्रह्म में भी जगत् के जडत्व-सुख-दुःखयुक्तत्वादि धर्म प्राप्त होंगे, अथवा प्रलयकाल में जगत् की ब्रह्मभावापत्ति होने से जगत् भी निर्विशेष हो जाएगा और फिर सविशेष जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, अतः ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानना युक्तियुक्त नहीं।

१४३. न तु दृष्टान्तभावात् २।१।९॥

विकाराणामुपादाने विलये विकारधर्मैरुपादानस्याऽसंसर्गे रुचकसुवर्णादि-दृष्टान्तानां सद्भावात्, सुषुप्तौ जीवस्य ब्रह्मणि विलयेऽपि पुनः प्रबोधे पूर्वधर्मक-जीवभावापत्तेर् दृष्टान्तस्य च सद्भावात् प्रथमेऽध्याये प्रदर्शितं ब्रह्मणो जगदुपादान-कारणत्वं नैव त्वसमञ्जसमित्यर्थः।

हिन्दी – विकारों का उपादान कारण में लीन होने पर भी उपादान में विकारधर्मों की अप्राप्ति में विविधआभूषण और सोने का दृष्टान्त और सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म में लय होने पर भी फिर जागरण में पूर्वधर्मों से युक्त जीव की ही आगति का दृष्टान्त भी लोक में सुलभ होने से ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने में पूर्व सूत्र में बताए हुए प्रकार के दोष नहीं आ सकते हैं।

१४४. स्वपक्षदोषाच्च २।१।१०॥

अस्य शब्दादिमतो जगतः शब्दादिहीनात् प्रधानाद् विलक्षणत्वात्, उत्पत्तेः प्राक् शब्दादिमतो जगतोऽभावाद् असत्कार्यवादस्वीकारप्रसङ्गात्, प्रलयकाले जगतः प्रधाने विलये प्रधानस्याऽपि शब्दादिमत्त्वस्य प्रसङ्गात्, प्रलये जगतः प्रधान-भावापत्त्या निर्विशेषत्वप्राप्तौ नानापुरुषविशेषकताऽभावे पुनः सविशेषस्य जगतः नानापुरुषविशेषकस्योत्पत्तेरसम्भावनायाः प्रसङ्गाद् वाऽपि प्रधानस्य जगत्कारणत्वं नोपपद्यते इति कापिलानां परिणामवादिनां साङ्ख्यानां स्वपक्षेऽपि दोषाणां प्रसङ्गाच् च तादृशान् दोषान् निर्दिश्य साङ्ख्यैर् ब्रह्मकारणवादे विरोध उपस्थापयितुं न शक्यते इत्यर्थः। वस्तुतस्तु जगत्सत्यत्ववादिनां परिणामवादे एव उक्ता दोषाः प्रसज्यन्ते न तु जगन्मिथ्यात्ववादिनां विवर्तवादे इति सूत्रकारस्याऽऽकूतं बोध्यम्।

हिन्दी – साङ्ख्यवादी ब्रह्म और जगत् के परस्पर विलक्षण होने से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता है इत्यादि जो दोष ब्रह्म कारणवाद में देते हैं वस्तुतः वे दोष विवर्तवादियों के ब्रह्मकारणवाद में नहीं हैं; शब्दादिगुणरहित प्रधान से शब्दादिगुणयुक्त जगत्

विलक्षण होने से परिणामवादी साङ्ख्यों के अपने मत के प्रधान के जगत्कारणत्व में ही वे दोष होते हैं; अतः साङ्ख्यों से ब्रह्मकारणवाद में विरोध उपस्थापित नहीं किया जा सकता है।

१४५. तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः २।१।११॥

यदि कैश्चन साङ्ख्यवादिभिः प्रस्तुतैस्तर्कैः प्रधानकारणवादः समर्थयितुं न शक्यते तर्ह्यपि तर्काणां विरामस्याऽभावात् कुशलतरैः साङ्ख्यवादिभिः समुचित-तरैस्तर्कैरन्यप्रकारेण जगतः प्रधानकारणकत्वमनुमेयम् इति चेत्, एवमपि स्वीकृते रूपलिङ्गादिरहिततया प्रत्यक्षाद्यविषये आगमगम्येऽर्थे केवलतर्केण सम्यग् ज्ञानस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सम्यग्ज्ञानाद् मोक्ष इत्यत्र सर्वेषां मोक्षवादिनामैकमत्याच् च तर्कमात्रशरणस्य संसाराऽविमोक्षप्रसङ्ग आपद्यते। तस्माद् देशकालादिनिरपेक्षेण नित्येनाऽऽगमेन वेदेन ज्ञापितं जगतश्चेतनब्रह्मोपादानकत्वं केवलतर्केण न विरोद्धुं शक्यत इति पूर्वाध्यायप्रदर्शितो ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे वेदान्तानां समन्वयः साङ्ख्ययोगादिस्मृतिमूलैस् तर्कैर् विरोद्धुमशक्योऽवतिष्ठत एवेति भावः।

हिन्दी – यदि किसी साङ्ख्यवादी से प्रस्तुत तर्कों से प्रधानकारणवाद का समर्थन नहीं हो सकता है तो भी तर्कों का विराम न होने से अन्य कुशलतर साङ्ख्यवादियों को अन्य युक्तियुक्त प्रकार से जगत् का प्रधानकारणकत्व का अनुमान करना चाहिए, ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि आगमगम्य अर्थ में केवल तर्क से यथार्थ ज्ञान असम्भव होने से और यथार्थ ज्ञान के विना मोक्ष सम्भव न होने से केवल अनुमानशरण पुरुष का कभी भी संसार से मोक्ष नहीं हो सकेगा।

अथ विलक्षणत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये कपिलप्रोक्त-साङ्ख्यसिद्धान्तमूलकेन 'आकाशादिकं न चेतनोपादानकं द्रव्यत्वाद् घटवद्' इत्यादि-केन तर्केण विरोध उपस्थापयितुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मात्मविद्याया अनुभवावसानत्वाद् अनुभवे च तर्कस्य प्रत्यासन्नत्वेन तर्कस्य बलवत्तरत्वात्, यद् यद्विलक्षणं तन् न तदुपादानकमिति नियमस्य तन्तुघटादिषु दर्शनाच्च अचेतनमशुद्धं च जगत् न चेतनशुद्धब्रह्मोपादानकं भवितुमर्हतीत्यादिकेन साङ्ख्यसम्मतेन तर्केण जगतो ब्रह्मोपादानकत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यत एवेति।

उत्तरम्– यद् यद्विलक्षणं तन् न तदुपादानकमिति तर्कस्य पुरुषकेश-गोमयवृश्चिकादिषु व्यभिचारात्, कार्यस्य कारणात्मनैव सत्त्वस्य स्वीकार्यत्वात्, कार्यस्य कारणे विलयेऽपि कार्यधर्माणां कारणे संसर्गस्य रुचकसुवर्णादावपि अदर्शनात्, परिणामवादिसाङ्ख्य-सम्मतप्रधानकारणवाद एव कार्यकारणवैलक्षण्यादिदोषस्य प्रसङ्गात्, विवर्तवादिवेदान्ति-

सम्मतब्रह्मकारणवादे तस्य दोषस्याऽप्रसङ्गात्, आगमैकगम्ये रूपलिङ्गादिरहिते ब्रह्मात्मनि स्वतन्त्रस्य तर्कस्याऽप्रसरात्, श्रुत्यनुकूलतर्कस्यैव तत्र प्रसराच्च कापिलसाङ्ख्यसिद्धान्त-मूलकेन स्वतन्त्रेण तर्केण जगतो ब्रह्मोपादानकत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्यत इति।

निर्णयः– जगतो ब्रह्मोपादानकत्वस्य प्रतिपादने पूर्वाध्यायप्रदर्शितो वेदान्तानां समन्वयः आगमनिरपेक्षेण साङ्ख्यसिद्धान्तमूलकेन तर्केण विरोद्धुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः कारणत्वे हि वेदान्तानां समन्वयः।
२. स स्वतन्त्रेण तर्केण बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. अनुभूत्यवसानत्वाद् ब्रह्मज्ञानस्य तत्र च।
तर्कस्य प्रत्यासन्नत्वाद् बाध्यः स इति के चन॥२॥
४. रूपलिङ्गादिरहिते प्रत्यक्षादेरगोचरे।
ब्रह्मण्यागमगम्ये हि सम्यग् ज्ञानं न तर्कतः॥३॥
५. तस्मात् स्वतन्त्रतर्केण कापिलाभिमतेन च।
बाध्यते ब्रह्मणि प्रोक्तो न वेदान्तसमन्वयः॥४॥

४३.(४) शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् (सू. १२)

साङ्ख्यसिद्धान्तनिराकरणं काणादादिसिद्धान्तेष्वप्यतिदिशति—

१४६. एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः २।१।१२॥ इति।

एतेन वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नस्य गुरुतरतर्कबलोपेतस्य वेदानुसारि-भिश्च कैश्चन केन चिदंशेन परिगृहीतस्य कापिलसाङ्ख्यसिद्धान्तस्याऽवष्टम्भेनो-त्थापितस्य तर्कस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्व-यस्य बाधनेऽशक्तत्वस्य प्रदर्शनेनैव वैदिकानां मनु-व्यासादि-शिष्टानामपरिग्रहा अन्येऽपि सर्वे अण्वादिकारणवादमूलकास्तर्का अपि ब्रह्मणो जगदुपादानकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयस्य बाधनेऽकिञ्चित्करत्वेन व्याख्याता भवन्तीत्यर्थः।

हिन्दी– इस प्रकार कापिल-साङ्ख्य-सिद्धान्त के आधार में उपस्थापित तर्क से ब्रह्म के जगदुपादानकारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों के समन्वय का विरोध न हो सकने की बात के प्रतिपादन से ही मनु-व्यासादि वैदिक शिष्टों से सर्वथा अस्वीकृत अण्वादिकारणवादमूलक तर्कों से भी ब्रह्म के जगदुपादानकारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों के समन्वय का विरोध न हो सकने की बात भी स्वतः प्रतिपादित हो जाती है।

शिष्टापरिग्रहाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– ब्रह्मणो जगदुपादनकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये कणभुगादिप्रोक्ताऽणुकारणवादादिसिद्धान्तमूलकेन तर्केण विरोध उपस्थापयितुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– प्रमाणपटुभिः कणादगोतमादिभिरुपस्थापितैः प्रबलतरैर् व्याप्त्यादिमूलकैस् तर्कैर् जगतोऽणुसमारब्धत्वस्य प्रतिपादितत्वात् तैर् जगतो ब्रह्मोपादानकत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यत इति।

उत्तरम्– आगमैकगम्ये ब्रह्मणि स्वतन्त्रस्य तर्कस्य गतेरसम्भवात् कापिलसाङ्ख्यसिद्धान्तमूलकेन स्वतन्त्रेण तर्केणेव काणादादिसिद्धान्तमूलकेन स्वतन्त्रेण तर्केणाऽपि जगतो ब्रह्मोपादानकत्वस्य प्रतिपादने पूर्वाध्यायप्रदर्शितो वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्यत इति।

निर्णयः– काणाद-गौतमादिसिद्धान्तमूलकेनाऽपि स्वतन्त्रेण तर्केण जगतो ब्रह्मोपादानकत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मकारणतावादे वेदान्तानां समन्वयः।
२. सोऽणुवादादितर्केण बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. कणादादिमानपटुतर्कैर् हि बलवत्तरैः।
व्याप्त्यादिमूलकैर् बाध्यः स भवेदिति के चन॥२॥
४-५. ब्रह्मण्यागमगम्ये हि तर्काद् ज्ञानं न निर्मलम्।
तस्मात् केनाऽपि तर्केणाऽबाध्यः प्रोक्तः समन्वयः॥३॥

४४.(५) भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् (सू. १३)

ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे श्रुतिमूलकतर्कविरोधमुद्भाव्य तं निराकुरुते-

१४७. भोक्त्रापत्तेरविभागश् चेत् स्याल् लोकवत् २।१।१३॥ इति।

चेतनस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे स्वीकृते भोग्यस्याऽपि जगतः चेतनभोक्त्रभिन्नतायाः प्राप्तेर् लोकप्रसिद्धा भोक्तृभोग्यविभागव्यवस्था न स्यात्, भोक्तृभोग्ययोरविभागः स्वीकर्तव्यः स्यादिति चेतनस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणतायाः प्रतिपादने पूर्वेऽध्याये प्रदर्शितो वेदान्तानां समन्वयोऽसमञ्जस इति चेत्, चेतनस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे स्वीकृतेऽपि लोके यथा उपादानाद् मृदो घटशरावादीनामभेदेऽपि तेषां परस्परं भेदो भवत्येव, यथा च समुद्रादुदकात्मनः फेन-वीची-तरङ्ग-बुद्बुदादीनामभेदेऽपि तेषां परस्परं भेदो भवत्येव, तेषामितरेतर-

संश्लेषणादिलक्षणो व्यवहारश्च उपलभ्यत एव, यथा चाऽऽकाशाद् घटाकाश-मठाकाशादीनां वस्तुतोऽभेदेऽपि तेषां घटमठाद्युपाधिनिमित्तो विभागश्चोपपद्यते तथैव भोक्तृभोग्यात्मकस्य जगतो वस्तुतश्चेतनब्रह्मोपादानकतया चेतनब्रह्मा-ऽनन्यत्वेऽपि व्यवहारे उपाधिकृतो भोक्तृभोग्यविभाग उपपन्नः स्यादेवेति पूर्वा-ध्यायोक्तः समन्वयो नाऽसमञ्जस इत्यर्थः।

हिन्दी – चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने से जगत् को भी चेतन भोक्ता से अभिन्न मानना पडेगा और लोकप्रसिद्ध भोक्ता और भोग्य का भेद बाधित होगा, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए, क्यों कि जैसे लोक में उपादान मृत्तिका से अभेद होने पर भी घट शराव इत्यादि वस्तुओं का परस्पर भेद होता है, अथवा जैसे लोक में घटाकाश-मठाकाशादि के महाकाश से वस्तुतः भेद नहोने पर भी उपाधिनिमित्तक परस्पर भेद व्यवहृत होता है, वैसे ही जगत् का उपादान ब्रह्म से वस्तुतः भेद नहोने पर भी जगत् में उपाधिभेद से भोक्ता और भोग्य का भेद व्यवहार में हो सकता है। अतः गजत् के चेतनब्रह्मोपादानकत्व के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का समन्वय भोक्तृभोग्या-ऽभेदापत्तिरूप तर्क के बल पर बाधित नहीं माना जा सकता है।

अथ भोक्त्रापत्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये दृष्टभोक्तृभोग्या-ऽभेदाऽऽपत्त्या विरोध उपस्थापयितुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– दृष्टान्यथानुपपत्तेः सर्वेषु प्रमाणेषु बलवत्तमतया दृंष्टभोक्तृभोग्यभेदान्यथाऽनुपपत्त्या ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थापयितुं शक्यत इति।

उत्तरम्– यद्यपि ब्रह्मज्ञानस्याऽनुभवावसानत्वादनुभवविरोधो ब्रह्मणो जगदुपादान-कारण-त्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोधमुपास्थापयितुं शक्नोतीत्यापाततः प्रतीयते तथापि पारमार्थिकमनुभूत्यवसानं ब्रह्मज्ञानं व्यपाश्रित्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने प्रदर्शितो वेदान्तानां समन्वयोऽपारमार्थिकिन लौकिकेन दृष्टज्ञानेन विरोद्धुं न शक्यते, लौकिकोऽपारमार्थिको भोक्तृभोग्यविभागश्च पारमार्थिकज्ञानाऽविरोधितयैवोप-पादयितुं च शक्यत इति पूर्वाध्यायोक्ते वेदान्तवाक्यानां समन्वये लौकिकदृष्टविरोधेन विरोध उपस्थापयितुं न शक्यते इति।

निर्णयः– पारमार्थिकज्ञानानुकूलतया प्रदर्शिते ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये लौकिकदृष्टविरोधेन विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मकारणतावादे वेदान्तानां समन्वयः।

२. लोकदृष्टविरोधन बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥

३. बाध्यो दृष्टविरोधस्य प्राबल्यादिति के चन।

४-५. अपारमार्थिकाद् भेददर्शनात् पारमार्थिकः॥२॥
जगतो ब्रह्मणोऽनन्यभावोऽबाध्य उदीरितः।
तस्मात् पूर्वाध्यायगतोऽबाध्यः श्रुतिसमन्वयः॥३॥

४५.(६) आरम्भणाधिकरणम् (सू. १४-२०)

भोक्तृभोग्य-कार्यकारणादि-भेददर्शन-तर्कमूलकं ब्रह्मणो जगदुपादान-कारणत्वे विरोधं निराकर्तुमारम्भणाधिकरणमारभते—

१४८. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः २।१।१४॥ इति।

ब्रह्मतो जगतो लोकदृष्टेऽपारमार्थिके भेदे सत्यपि श्रौतारम्भणशब्दादि-प्रमाणेभ्यः परमार्थतो जगतो ब्रह्मभिन्नत्वं नाऽवगम्यत इति जगतो ब्रह्मोपादान-कत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये खल्वपारमार्थिको भेदो विरोधमुत्थापयितुं नेष्ट इत्यर्थः। **"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"** (छा.६।१।१, ६।४।१) इत्यस्य श्रुति-वाक्यस्य च घटः शराव उदञ्चनमित्यादिको रुचक-कटक-कर्णिकादिको महा-भूतेन्द्रियभोक्तृभोग्यादिको वा विकारः खलु केवलं वाचैवाऽस्तीत्यारभ्यते, न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम उपादानात् पृथक् कश्चिदस्ति, नामधेयमात्रं ह्येतदनृतमुपा-दानवस्तुमात्रसारमित्यर्थः। एतेन श्रुतिवाक्येन कार्यस्योपादानकारणात् परमार्थतो व्यतिरेकेणाऽभावः स्फुटतया प्रतिपादितो भवति। एवमेवाऽऽदिशब्देन **"इद‍ꣳ सर्व्वय्ँ यदयमात्तँमा"** (मा.वा.शत.१४।५।४।६, १४।७।३।७; का.वा.बृह.२।४।६, ४।५।७), **"नेह नानाऽस्ति किञ्चन"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२१, का.वा.बृह.४।४।१९, कठो.२।१।११), **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"** (छा.६।८।७, ६।९।४ इत्यादिषु स्थलेषु), **"आत्मैवेदं सर्वम्"** (छा.७।२५।२), **"ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्"** (मुण्डको.२।२।११) इत्यादीनि श्रुतिवाक्यान्यपि सङ्गृहीतानि वेदितव्यानि।

हिन्दी– लौकिक दृष्टि में जगत् का कारणरूप ब्रह्म से भेद दिखाइदेने पर भी श्रौत आरम्भणशब्दादि प्रमाण से परमार्थतः जगत् का कारणरूप ब्रह्म से भिन्नत्व अवगत नहीं होता है। अतः जगत् का ब्रह्मोपादानकत्व के प्रतिपादन में पारमार्थिक ब्रह्मजगदभेद को लेकर प्रवृत्त वेदान्तवाक्यों का समन्वय अपारमार्थिक ब्रह्म-जगद्-भेद-दृष्टि से बाधित नहीं होता है, यह सूत्रका तात्पर्य है।

१४९. भावे चोपलब्धेः २।१।१५॥

कारणस्य भावे सत्येव कार्यस्योपलम्भात् कार्यस्य कारणाऽनन्यत्वं निश्चीयत इत्यर्थः।

हिन्दी– कारण के अस्तित्व होने पर ही कार्य के पाए जाने से कार्य का कारण से अनन्यत्व निश्चित होता है।

१५०. सत्त्वाच्चाऽवरस्य २।१।१६॥

"तद्धेदन् तर्ह्यव्याकृतमासीत्" (मा.वा.शत.१४।४।२।१५, का.वा.बृह. १।४।७), **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** (छा.३।१९।१) इत्यादौ श्रुतौ अवरकालभवस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः कारणात्मना कारणे सत्त्वस्य श्रवणात् प्रागुत्पत्तेः कारणादनन्यत् कार्यमुत्पत्तावपि कारणादनन्यदेवेत्यवगम्यत इत्यर्थः।

हिन्दी – "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुति में कार्य का उत्पत्ति से पूर्व भी कारण से अनन्यरूप में ही सत् होने की बात प्रतिपादित होने से कार्य उत्पन्न होने पर भी वस्तुतः कारण से अनन्यरूप में ही सत् होता है। अतः जगत् का कारणरूप ब्रह्म से पारमार्थिक रूप में भेद नहीं होता है।

१५१. असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् २।१।१७॥

"असद् वा इदमग्र आसीत्" (तै.२।७।१), **"असदेवेदमग्रआसीत्"** (छा. ३।१९।१) इत्यादौ श्रुतौ प्रागुत्पत्तेः कार्यस्याऽसत्त्वस्य चोच्यमानत्वाद् न कार्यस्य कारणाऽनन्यत्वमिति चेत्, न तस्याऽसद्व्यपदेशस्य कार्यस्योत्पत्तौ कार्ये उपलभ्याद् व्याकृतनामरूपत्वरूपाद् धर्माद् धर्मान्तरेण अव्याकृतनामरूपत्वमात्ररूपेण धर्मेण प्रवृत्तत्वस्य **"तदात्मानं स्वयमकुरुत"** (तै.२।७।१) इति **"तत् सदासीत् तत् समभवत्"** (छा.३।१९।१) इति च वाक्यशेषादवगम्यमानत्वात्। तस्माल् लोके नामरूपव्याकृते वस्तुनि सदिति व्यवहारात् प्रागुत्पत्तेः कार्यस्याऽव्याकृतनामरूपकत्वात् तदसदित्युपचर्यते इत्यवगम्यमानत्वात् प्रागुत्पत्तेरपि कार्यं नाऽत्यन्तमसत् किन्तु सदेव अव्याकृतनामरूपकम्, अतः कार्यस्य कारणाऽनन्यत्वं सुस्थमिति भावः।

हिन्दी – "असद् वा इदमग्र आसीत्" (तै.२।७।१) इत्यादि श्रुति में उत्पत्ति से पूर्व कार्य का असत्त्व भी बताए जाने से कार्य का कारण से अनन्यत्व नहीं माना जा सकता है, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए, क्यों कि कार्य में उपलभ्य व्याकृतनामरूपत्वरूप धर्म से भिन्न अव्याकृत-नामरूपकत्वमात्र रूप धर्म को लेकर ही वहाँ 'असत्' शब्द के प्रयुक्त होने की बात "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादि वाक्यशेष से अवगत होती है। अतः कार्य जगत् का कारण ब्रह्म से अनन्यत्व श्रुतिप्रतिपादित ही है।

१५२. युक्तेः शब्दान्तराच्च २।१।१८॥

दध्याद्यर्थिभिः क्षीरादीनामेवोपादानात्, क्षीरादीनामेव द्रव्याणां दध्यादिभावेनाऽवतिष्ठमानानां कार्यत्वेन प्रसिद्धत्वात्, कार्यकारणयोर् द्रव्यगुणादीनां चाऽश्वमहिषवद् भेदबुद्धेरभावात्, कार्यस्याऽवयविद्रव्यस्य कारणेषु अवयवद्रव्येषु समवायसम्बन्धेन वर्तमानत्वस्याऽनुपपन्नत्वात्, घट उत्पद्यते इति प्रयोगस्य विचारात्, कार्यजन्मव्यवहारात्, कार्यजन्मनि कारकव्यापारस्य दर्शनाच्च सत्कार्यवादस्य सिद्धेः, **"असदेवेदमग्र आसीत्"** (छा.३।१९।१) इत्यस्मात् शब्दाद् भिन्नात् **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** (छा.६।२।१,२) इत्यस्मात् शब्दाच्च कारणात् कार्यस्याऽनन्यत्वं सुस्थमित्यर्थः।

हिन्दी – दध्यादि को चाहने वालों से दुग्धादि उपादानों के ही ग्रहण करने की बात लोक में देखे जाने से, सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति न होने से और अन्य युक्तियों से तथा "असदेवेदमग्र आसीत्" (छा.३।१९।१) इस शब्द से भिन्न "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा.६।२।१,२) ऐसे शब्द भी श्रुति में पाये जाने से भी कारण से कार्य का अनन्यत्व ही सिद्ध होता है।

१५३. पटवच्च २।१।१९॥

संवेष्टितप्रसारितपटवद् व्यक्ताऽव्यक्ताऽवस्थाभेदेऽपि कार्यस्य कारणादनन्यत्वं ज्ञेयमित्यर्थः।

हिन्दी – जैसे वेष्टित और प्रसारित अवस्था में एक ही पट में भी भेद जैसा प्रतीत होता है, वस्तुतस्तु उस में अनन्यत्व ही होता है, उसी प्रकार से ब्रह्म में और जगत् में भेद प्रतीत होता है, वस्तुतस्तु जगत् ब्रह्म से अनन्य ही है।

१५४. यथा च प्राणादि २।१।२०॥

यथा च कार्यभेददर्शनेऽपि प्राणाऽपानव्यानोदानसमानाः प्राणादनन्ये तथैव कार्यं कारणादनन्यत्। एवं च जगतश्चेतनब्रह्मोपादानत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम्।

हिन्दी – जैसे कार्यभेद देखे जाने पर भी प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान सभी प्राण से अनन्य हैं, उसी प्रकार से जगत् भी ब्रह्म से अनन्य है। अत एव जगत् के चेतनब्रह्मोपादानकता के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का समन्वय होने में कोई विरोध नहीं होता है, यह सूत्र का तात्पर्य है।

अथाऽऽरम्भणाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये लोके कार्यकारणयोर् भेदस्य दर्शनाद् विरोध उपस्थितो भवति न वा ?

पूर्वपक्षः– कार्यकारणभेदनियमे लोकसिद्धे ब्रह्मणश्चेतनत्वस्य श्रुतावेव प्रतिज्ञातत्वात् जगतो जडत्वाच्च ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वं न सङ्गच्छते इति तत्र वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थितो भवति।

उत्तरम्– **"इदं सर्वं यदयमात्मा"** (का.वा.बृह.२।४।६) **"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"** (छा.६।१।१, ६।४।१) इत्यादिकया श्रुत्या 'कारणस्य भावे सत्येव कार्यस्योपलम्भः' इत्यादिकया युक्त्या च जगतः परमार्थतो ब्रह्मानन्यत्वमेवेति व्यवहारे कार्यकारणभेदस्य प्रतीतावपि परमार्थतस्तस्याऽभावात् परमार्थदृष्ट्या चेतनस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थितो न भवतीति।

निर्णयः– ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये कार्यकारणभेदतर्केण विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः कारणत्वे हि वेदान्तानां समन्वयः।
२. कार्यकारणभेदात् स बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. कार्यकारणयोर् भेदे ब्रह्मोपादानता खलु।
जगतो नोचिता तेन बाध्यः स इति के चन॥२॥
४-५. ब्रह्माऽनन्यत्वमुक्तं हि जगतः परमार्थतः।
श्रुत्या युक्त्या च तस्मान् नो बाध्यः प्रोक्तः समन्वयः॥३॥

---

४६. (७) इतरव्यपदेशाधिकरणम् (सू. २१-२३)

जीव-ब्रह्माऽभेदाऽनुपपत्ति-रूप-तर्केणोत्थापितं चेतनकारणता-वाद-रूपे ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे विरोधं निराकर्तुमितरव्यपदेशाधिकरणमारभते—

१५५. इतरव्यपदेशाद् धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः २।१।२१॥ इति।

चेतनकारणतावादे "तत् त्वमसि" (छा.६।८।७), "अनेन जीवेनाऽऽत्मना-ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा.६।३।२) इति जीवस्य ब्रह्मभावस्य ब्रह्मणो जीवभावस्य च निर्दिष्टत्वाज् जीवस्यैव स्रष्टृत्वस्य प्राप्तौ, जीवे जन्मजरामरणादि-परिहाररूपस्य स्वहितस्याऽकरणस्य प्रपञ्चस्रष्टृत्वप्रत्यभिज्ञानाभावस्य च दोषस्य प्रसङ्गो भवति। अतश्चेतनस्य जगदुपादानकारणत्वं नोपपद्यते इति पूर्वाध्यायोक्तः श्रुतिसमन्वयोऽनुपपत्त्या विरुध्यत इति भावः।

हिन्दी – श्रुति में जीव का ही ब्रह्मभाव उपदिष्ट होने से जीव को ही स्रष्टा मानना पडेगा और उस स्थिति में जीव में जन्म-जरा-मरण-नरक-दुःखादि-परिहाररूप स्वहित नकरने का दोष प्रसक्त होगा। अतः जीवाभिन्न ब्रह्म का जगदुपादानत्व के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का समन्वय अनुपपन्न है।

१५६. अधिकं तु भेदनिर्देशात् २।१।२२॥

"आत्त्माँ वाऽअरे द्द्रष्ट्टव्व्यः" (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६, का.वा.बृह.२।४।५, ४।४।६) "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा.६।८।१) इत्यादिकासु श्रुतिषु जीवब्रह्मणोर् भेदस्य निर्देशात्, सर्वज्ञं सर्वशक्ति च ब्रह्म जीवादधिकं जगन्निर्मातृ अस्ति। अत एव हिताकरणादिदोषप्रसक्तिर् न भवतीति भावः। परमार्थतो जीवब्रह्मणोरभेदेऽपि औपाधिकभेदस्य श्रुतिसम्मतत्वाद् लौकिकस्य दोषप्रसङ्गस्य लौकिकः परिहारोऽपि श्रुतिसम्मत एव ज्ञेयः। परमार्थतस्तु ब्रह्मणो नित्यमुक्तस्य हितमहितं च किमपि नास्तीति नैव स्वहिताकरणादिदोषप्रसङ्गः।

हिन्दी – श्रुति में जीव और ब्रह्म का भेद प्रतिपादित होने से और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जगत् का रचयिता होने से जीव में स्वहित नकरने का दोष नहीं आता है।

१५७. अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः २।१।२३॥

प्रतिबिम्बाधारविशेषे अश्मादाविव प्रतिबिम्बेषु आधारविशेषकृतदोषसम्बन्धे सत्यपि बिम्बे दोषाऽसम्बन्ध इव ब्रह्मणि तस्याः हिताकरणादिदोषप्रसक्तेरनुपपत्तिर् ज्ञेयेत्यर्थः। पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां यथा वज्र-वैडूर्य-सूर्यकान्तादीनामनेकविधं वैचित्र्यं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यते तथैव चेतनत्वेनाऽभिन्नस्याऽपि ब्रह्मणो जीवब्रह्मपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इति ब्रह्माभिन्नेऽपि जीवे शक्तिहीनत्वं प्राप्ते स्वहिताकरणादिदोषप्रसक्तिर् न भवतीति वाऽर्थः।

हिन्दी – जैसे पृथिवीत्वयुक्त रूप से समान होने पर भी हीरक सूर्यकान्त तथा सामान्य पत्थर में कार्य में भेद होता है उसी प्रकार से चेतन रूप में जीव और ब्रह्म समान होने पर भी शक्तिभेद और कार्यभेद हो सकता है। अतः जीव का ब्रह्म से पारमार्थिक रूप से भेद न होने पर भी जीव का अल्पशक्ति वाला होने से उस में स्वहिताकरणादि दोष नहीं आता है।

अथ इतरव्यपदेशाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जीवाभिन्नस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– जीवाभिन्नस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो जीवाभिन्नं ब्रह्म जगत्कारणं चेत् स्वानिष्टं जन्मजरारुजामरणनरकदुःखादिकं न जनयेत् इति तर्केण विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– जीवाभिन्नस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे ब्रह्मणि अपि स्वहिताकरणादिका जीवदोषाः प्रसज्येरन्निति तर्केण जीवाभिन्नस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यत इति।

उत्तरम्– परमार्थतो जीवब्रह्मणोः श्रुत्याऽभेदे बोधितेऽपि जीवब्रह्मणोरभेदे लौकिकदृष्ट्या विचारे ये जीवदोषा ब्रह्मणि प्रसज्यन्ते ते दोषा ब्रह्मणो लौकिकदृष्ट्या विचारे जीवादधिकत्वाद् जीवब्रह्मणोरौपाधिकभेदस्य श्रुतिसम्मतत्वाच्च ब्रह्मणि न प्रसज्यन्ते। तस्मात् परमार्थतो जीवाभिन्नस्याऽपि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वये कोऽपि तर्कविरोधो न भवतीति।

निर्णयः– परमार्थतो जीवाभिन्नस्याऽपि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये तर्कविरोधो नैव भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जगत्कारणतायास्तु शारीराभिन्नब्रह्मणः।
निर्धारणे दर्शितो हि वेदान्तानां समन्वयः॥१॥
२. तत्र तर्कविरोधः स्यान् न वेति खलु संशयः।
३. स हिताकरणादीनां प्रसक्त्या स्यादितीतरे॥२॥

४. लौकिकोऽयं हि दोषाणां प्रसङ्गो लोकदृष्टितः।
ब्रह्मणो जीवभिन्नत्वान् नेति नैव विरोधकः॥३॥
५. जीवाभिन्नत्वेऽपि परब्रह्मणः परमार्थतः।
ब्रह्मकारणतावादे न विरुद्धः समन्वयः॥४॥

४७.(८) उपसंहारदर्शनाधिकरणम् (सू. २४-२५,

उपकरणरहितस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे सामान्यतोदृष्ट-विरोधं परिहरन्नाह—

१५८. उपसंहारदर्शनान् नेति चेन् न क्षीरवद् धि २।१।२४॥ इति।

लोके घटपटादीनां कर्तृभिः कुलालादिभिः स्वस्वकार्यकरणाय क्रियमाण-स्य मृद्-दण्ड-चक्र-सूत्राद्यनेककारकाणां सम्मेलनस्य दर्शनाच् चेतनमसहायमेकं ब्रह्म उपकरणं विनैव विचित्रं जगज् जनयतीति ब्रह्म जगत्कारणमिति पूर्वाध्यायोक्तः सिद्धान्तो नोपपद्यते इति चेत्, न तथा वक्तव्यम्; यथा हि लोके क्षीरं स्वयमेव स्वभावतो दधिभावेन परिणमति तथैवाऽसहायमेकमपि ब्रह्म विचित्रशक्तिमत्-त्वाद् विचित्रप्रपञ्चरूपेण विवर्तते इति पूर्वाध्यायोक्तश् चेतनमसहायमेकं ब्रह्म जगतः कारणमिति सिद्धान्त उपपद्यत एवेत्यर्थः। परिणमते इत्यादिकः शङ्कराद‍ि-प्रयोगश्चिन्त्यः।

हिन्दी– लोक में घटपटादि बनाने वाले कुम्भकारादियों से अपने अपने कार्य के लिए मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत्रादि अनेक वस्तुओं का संयोजन किए जाने की बात दृष्टिगोचर होने से जगद् बनाने वाला ब्रह्म विना ही सहायक विना ही सामग्री जगद् बनाएगा, ऐसी बात अनुपपन्न दिखाई देने से पूर्वाध्यायोक्त चेतन असहाय एक मात्र ब्रह्म जगत्कारण है, यह सिद्धान्त तर्कविरुद्ध होने से स्वीकार्य नहीं हो सकता है, ऐसा आग्रह नहीं करना चाहिए; क्यों कि जैसा लोक में दूध स्वभाव से अपने आप दधिभाव में परिणत हो सकता है, वैसे ही विचित्र शक्तिवाला ब्रह्म स्वभाव से अपने आप विचित्र जगत् के रूप में विवर्तित हो सकता है।

१५९. देवादिवदपि लोके २।१।२५॥

मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिप्रमाणके लोके यथा चेतना देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो बाह्यं साधनं विनैव शरीर-प्रासाद-रथादीनि वस्तूनि सृजन्ति तथैव ब्रह्माऽपि विनैव बाह्यं साधनं विचित्रं जगत् स्रष्टुं शक्नोतीति च चेतनाऽद्वितीयब्रह्म-जगत्कारणतावादे न किमप्यनुपपन्नमित्यर्थः। यथा समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते, न देवादयः, तथैव चेतनं ब्रह्माऽपि जगत् स्रष्टुं किञ्चिदपि बाह्यं साधनं नाऽपेक्षते; यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथैव सर्वेषां सामर्थ्यं भव-तीति नैकान्तिको नियमोऽस्तीति ब्रह्मणो जगत्कारणतायां नास्त्यनुपपत्तिरिति भावः।

हिन्दी – मन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराण इत्यादि प्रमाण ग्रन्थों में जैसे चेतन देवता पितृ ऋषि बाह्यसाधन के विना ही शरीर प्रासाद रथ इत्यादि वस्तुओं की सृष्टि करने में समर्थ बताए गए हैं वैसे ही श्रुतियों मे ब्रह्म भी बाह्य साधन के विना ही विचित्र जगत् की सृष्टि करने में समर्थ बताया गया है। इस में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

अथोपसंहारदर्शनाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – असहायस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः – असहायस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये दृष्टविरोधरूपतर्केण विरोध उपस्थाप्यते न वेति।

पूर्वपक्षः – लोके घटपटादीनां कर्तृभिः कुलालादिभिः स्वस्वकार्यकरणाय क्रियमाणस्य रासभ-मृद्-दण्ड-चक्र-सूत्राद्यनेकोपकरणानामुपसंहारस्य दर्शनात् चेतनस्याऽसहायस्य निरुपकरणस्य ब्रह्मणो जगज्जनयितृत्वस्याऽसम्भवित्वात् असहायस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये दृष्टविरोधरूपतर्केण विरोध उपस्थाप्यते इति।

उत्तरम् – यथा लोके क्षीरं स्वयमेव स्वभावविशेषादेव दधिभावेन परिणमति तथैवाऽसहाय-मेव ब्रह्म स्वाभाविकविचित्रशक्तिमत्त्वाद् विचित्रप्रपञ्चरूपेण विवर्तते, यथा देवाः पितर ऋषयो योगिनश्च विनैव बाह्यमुपकरणं शरीरादिकं स्रष्टुं शक्नुवन्ति तथैव ब्रह्माऽपि विनैव बाह्यमुपकरणं जगत् स्रष्टुं शक्नोति, यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथैव सर्वेषां सामर्थ्यं भवतीति ऐकान्तिको नियमो नास्तीति च नैकदेशिकदृष्टविरोधमात्रेणाऽसहायस्या-ऽद्वितीयस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं शक्यते इति।

निर्णयः – ऐकदेशिकदृष्टविरोधरूपतर्केणाऽसहायस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अद्वितीयब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. स दृष्टप्रतिकूलत्वाद् बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. हित्वोपकरणं लोके शक्तः कार्यस्य जन्मनि।
कर्ता न दृष्टोऽतो बाध्यः स इत्याहुर् हि के चन॥२॥
४-५. एकत्र दृष्टं सर्वत्र तुल्यमेवेत्यनिश्चयात्।
युक्तो ब्रह्मण्यद्वितीये वेदान्तानां समन्वयः॥३॥

४८.(९) कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् (सू. २६-२९)

निरवयवस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वेऽनुपपत्तिमुद्भाव्य तां परिहर्तुमाह—

१६०. कृत्स्नप्रसक्तिर् निरवयवत्वशब्दकोपो वा २।१।२६॥ इति।

ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे स्वीकृते ब्रह्मणो निरवयवत्वात् सम्पूर्णस्य ब्रह्मणः कार्यजगद्रूपेण परिणामस्य प्रसङ्गः स्यात्, ततश्च मूलोच्छेदो द्रष्टव्यब्रह्मणोऽभावश्च स्यात्; ब्रह्मणः सावयवत्वे स्वीकृते तु **"अस्त्थूलमनणु"** (मा.वा.शत. १४।६।८।८, का.वा.बृह.३।८।८), **"इदम् महद्द् भूतमनन्तपारव् विज्जँ्ञानघनऽ एव"** (मा.वा.शत.१४।५।४।१२, का.वा.बृह.२।४।१२), **"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्"** (श्वेता.६।१९) इत्यादीनां निरवयवत्वप्रतिपादकानां वेदशब्दानां विरोधः स्यात्, अनित्यत्वप्रसङ्गश्च स्यात्। अतो निरवयस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो युक्त्या वा वेदशब्देन वाऽपि विरुध्यते इति भावः।

हिन्दी – ब्रह्म को जगत् के उपादानकारण के रूप में मानने पर ब्रह्म निरवयव होने से सम्पूर्ण ब्रह्म का जगद्रूप में परिणत होना और मूलोच्छेद तथा द्रष्टव्य ब्रह्म का अभाव मानना पडेगा; उक्त आपत्ति को देखकर ब्रह्म को सावयव मानने पर "अस्त्थूलमनणु", "इदम् महद्द् भूतमनन्तपारव् विज्जँ्ञानघन एव", "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादि श्रुतियों का विरोध हो जाएगा।

१६१. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् २।१।२७॥

श्रुतेस्तु तर्कमात्राऽविषयाऽचिन्त्यभावप्रतिपादकशब्दप्रमाणरूपत्वात् श्रुत्युक्तं सर्वमुपपद्यत इत्यर्थः। श्रुतिश्च **"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत् तेजोऽसृजत"** (छा.६।२।३), **"सेयं देवतैक्षत हन्ताऽहमितास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति"** (छा.६।३।२), **"एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि"** (शै.शा.ऋ. १०।९०।३, मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।३, छा.३।१२।६) इत्यादिका स्रष्टृस्रष्टव्यादिनिर्देशेन स्रष्टुः स्रष्टव्ये कृत्स्नरूपेण प्रसक्तेरभावं बोधयति। **"अस्त्थूलमनणु"** (मा.वा.शत. १४।६।८।८), **"विज्जँ्ञानघनऽएव"** (मा.वा.शत.१४।५।४।१२), **"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्"** (श्वेता.६।१९) इत्यादिका श्रुतिश्च ब्रह्मणो निरवयवत्वमपि बोधयत्येव। इन्द्रियाऽगोचरेऽचिन्त्ये ब्रह्मणि श्रुतिविरोधिनस् तर्कस्य प्रसरो न भवतीति ब्रह्मणो जगदुपादानकत्वं कृत्स्नप्रसक्तिदोषरहितत्वं निरवयवत्वं च सर्वं श्रुतिबलात् स्वीकर्तव्यमिति भावः। स्मृतिरपि तथैव प्रतिपादयति। तथा हि— **"अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण साधयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच् च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्"** इति (महाभारते भीष्मपर्वणि ५।१२, सातवलेकरसंस्करणे ६।११, ब्रह्माण्डपु. १।१५।७-८, मत्स्यपु.११३।६, वायुपु.१।३४।८)। एवं च व्यावहारिकदृष्ट्या ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वादिकम्, परमार्थतस्तु ब्रह्मणो निरवयवत्वमिति सर्वमुपपन्नमिति हृदयम्।

हिन्दी – इन्द्रिय के अविषय अचिन्त्य ब्रह्म के विषय में परम प्रमाण शब्दरूप श्रुति से ब्रह्म के आंशिक रूप में जगदुपादानत्व और आंशिक रूप में शुद्धस्वभावस्थितत्व तथा निरवयवत्व और प्रज्ञानघनत्व भी प्रतिपादित होने से इस तर्काऽविषय विषय में लौकिक तर्क मात्र से कोई विरोध नहीं उद्भावित किया जा सकता है।

१६२. आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि २।१।२८॥

सर्वैरनुभूयमाने स्वप्नदृशि प्रत्यगात्मनि च आत्मस्वरूपानुपमर्देन विचित्रा अनेकाकारा दृश्यसृष्टयोऽनुभूयन्ते, ताश्च **"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् न्रथयोगान्न् पथः सृजते"** (मा.वा.शत.१४।७।१।११, का.वा.बृह. ४।३।१०) इत्यादिकया श्रुत्या च प्रतिपाद्यन्ते, एवमेव ब्रह्मणि च सत्यज्ञानानन्त-निरवयवस्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा अनेकाकारा जगत्सृष्टयो लौकिकदृष्ट्या-ऽनुपपद्यमानतया प्रतीयमाना अपि भवन्त्येवेत्यर्थः।

हिन्दी – सब से अनुभूयमान स्वप्न देखने वाले अपने आत्मा में आत्मा के स्वरूप को नष्ट किये विना ही विचित्र और अनेक प्रकार के स्वाप्न दृश्य पदार्थों की सृष्टि होने की बात सभी लोगों से अनुभूयमान है; इसी प्रकार से ब्रह्म में भी ब्रह्म के सत्य ज्ञान अनन्त निरवयव रूप को नष्ट किये विना ही विचित्र अनेकाकार जगत् की सृष्टि होती है, इस में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

१६३. स्वपक्षदोषाच्च २।१।२९॥

पूर्वपक्षवादिनः स्वपक्षे परिणामिप्रधानकारणतावादे कृत्स्नप्रसक्तिदोषस्य प्रसङ्गाद्, वेदान्तिनां ब्रह्मविवर्तवादे कृत्स्नप्रसक्तिदोषप्रसङ्गस्याऽभावाच् च ब्रह्मणो जगदुपादानकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः केनाऽपि तर्केण नैव विरुध्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – पूर्वपक्षी साङ्ख्यों के अपने पक्ष के परिणामी प्रधान को जगत् का कारण मानने के सिद्धान्त में कृत्स्नप्रसक्ति दोष प्रसक्त होने से और वेदान्तियों के ब्रह्मविवर्तवाद में कृत्स्नप्रसक्ति दोष प्रसक्त नहोने से ब्रह्म की जगदुपादानकारणता के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का समन्वय किसी भी तर्क से बाधित नहीं होता है।

अथ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– निरवयवब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– निरवयवब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये युक्त्या विरोध उपस्थाप्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणो निरवयवत्वात् जगदाकारेण परिणतौ सम्पूर्णरूपेण परिणामस्य प्रसङ्गः स्यात्, ततश्च मूलोच्छेदो द्रष्टव्यब्रह्मणोऽभावश्च स्यात्, तद्दोषपरिहाराय अंशेन परिणामस्य अंशेनाऽविकारस्य कल्पनायां ब्रह्मणो निरवयवत्वस्य प्रतिपादकानाम् **"अस्थूलमनणु"**, **"विज्ज्ञानघनऽएव"**, **"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्"** इत्यादीनां वेदशब्दानां विरोधः

स्यादिति निरवयवब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये युक्त्या विरोध उपस्थाप्यत इति।

उत्तरम्– **"तदैक्षत", "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति", "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः"** इत्यादिकाः श्रुतयः स्रष्टुः स्रष्टव्ये कृत्स्नरूपेण प्रसक्तेरभावं बोधयन्ति, **"अस्थूलमनणु", "विज्ञानघनऽएव", "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्"** इत्यादिकाः श्रुतयश्च ब्रह्मणो निरवयवत्वमपि बोधयन्त्येव। इन्द्रियागोचरेऽचिन्त्ये ब्रह्मणि श्रुतिविरोधिनस् तर्कस्य प्रसरो न भवतीति ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं कृत्स्नप्रसक्तिदोषरहितत्वं निरवयवत्वं च सर्वमेव श्रुतिबलात् स्वीकर्तव्यमिति निरवयवस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये युक्त्या विरोध उपस्थापयितुं न शक्यत इति।

निर्णयः– व्यावहारिकदृष्ट्या तत्त्वाऽन्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन ब्रह्म जगत्कारणत्वादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते, पारमार्थिकेन रूपेण तु अचिन्त्यं तर्काविषयभूतं ब्रह्म सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमेवाऽवतिष्ठत इति ब्रह्मज्ञानोपायतया निरवयवस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये युक्त्या विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. निरंशस्य ब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. स हि युक्त्या विरोधेन बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. निरंशत्वे कृत्स्नब्रह्मपरिणामः प्रसज्यते।
सांशत्वे श्रुतिरोधोऽतस् स बाध्य इति के चन॥२॥
४-५. अचिन्त्ये ब्रह्मणि श्रुतेः प्रामाण्यं परमं भवेत्।
दृष्टान्तयुक्तियुक्ताऽत्र बलीयस्यस्ति च श्रुतिः॥३॥
तस्मात् कृत्स्नप्रसक्त्यादितर्केणोक्तः समन्वयः।
न विरोद्धुं शक्य इति बादरायणनिर्णयः॥४॥

४९.(१०) सर्वोपेताऽधिकरणम् (सू. ३०-३१)

ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे सर्वा अनुपपत्तीः परिहरन्नाह—

१६४. सर्वोपेता च तद्दर्शनात् २।१।३०॥ इति।

"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छा.३।१४।४), **"एतस्य वाऽअक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"** (मा.वा.शत.१४।६।८।९, का.वा.बृह.३।८।९) इत्यादिकासु श्रुतिषु ब्रह्माख्यायाः परस्या देवताया मायामयसर्वशक्तियुतत्वेन दर्शितत्वात् परा देवता मायामयसर्व-

शक्तियुतेति मायामयसर्वशक्तियुतस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वय उपपद्यत एवेत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुतियों में ब्रह्मरूप परा देवता मायामय सर्वशक्तियों से युक्त प्रतिपादित होने से सर्वशक्तियुक्त जानी जाती है। अतः मायामय शक्तियुक्त ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का समन्वय उपपन्न ही है।

१६५. विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम् २।१।३१॥

"अचक्षुष्ककमश्श्रोत्रमवागमनः" (मा.वा.शत.१४।६।८।८, का.वा.बृह. ३।८।८) इत्यादिकासु श्रुतिषु प्रतिपादिताद् ब्रह्मरूपायाः परस्या देवताया विकरणत्वाद् मायामयसर्वशक्तियुक्तस्याऽपि ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वं सम्भवतीति चेत्, तदुत्तरम् **"देवादिवदपि लोके"** (२।१।२५) इति सूत्रेण पूर्वमेवोक्तमित्यर्थः। कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भाय बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, देवादयो मनोरूपं साधनमपेक्षन्ते ब्रह्म तु तदपि नाऽपेक्षते, यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथैव सर्वेषां सामर्थ्यं भवतीति नास्त्येकान्ततो नियम इति भावः। श्रुतिरपि **"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"** (श्वेता.३।१९) इत्यादिकाऽकरणस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति।

हिन्दी – ब्रह्म को श्रुति में चक्षुःप्रभृति करणों (इन्द्रियों) से रहित बताया गया है। अतः ब्रह्म मायामयशक्ति से युक्त होने पर भी करणविहीन होने से उस का जगत्कर्तृत्व नहीं हो सकता है, ऐसी शङ्का पुनः नहीं उठानी चाहिए, क्यों कि उस शङ्का का समाधान "देवादिवदपि लोके" इस सूत्र से ही बताया जा चुका है। अर्थात् जैसे कुम्भकारादि को घटादि के निर्माण के लिए मृत्तिकादि बाह्य साधन अपेक्षित होने पर भी देवता-पितृ-ऋषि-योगियों को बाह्य साधन अपेक्षित नहीं होते हैं, वैसे ही दूसरे लोगों को काम करने के लिए करण आवश्यक होने पर भी मायामयशक्तियुक्त ब्रह्म को जगत् की सृष्टि करने के लिए कोई करण आवश्यक नहीं होता है।

अथ सर्वोपेताधिकरणस्वरूपम्

विषयः– मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये युक्त्या विरोध उपस्थाप्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– अशरीरस्य चक्षुरादीन्द्रियरहितस्य ब्रह्मणो मायाशक्तिमत्त्वं जगत्कर्तृत्वं च सामान्यतोदृष्टविरुद्धत्वान् नोपपद्यत इति मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये युक्त्या विरोध उपस्थाप्यत इति।

उत्तरम्– **"सर्वकर्मा सर्वकामः"** इत्यादिकासु श्रुतिषु ब्रह्मरूपायाः परस्या देवताया मायामयसर्वशक्तियुतत्वेन दर्शितत्वात्, तस्याः **"अचक्षुष्ककमश्श्रोत्रम्"** इत्यादिकासु श्रुतिषु विकरणत्वस्य प्रतिपादितत्वेऽपि तस्या जगत्कर्तृत्वे करणानपेक्षत्वस्य देवादिदृष्टान्तेन

प्रतिपादयितुं शक्यत्वात्, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" इत्यादिकया श्रुत्या तथा प्रतिपादितत्वात्, यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथैव सर्वेषां सामर्थ्यं भवतीति आत्यन्तिकस्य नियमस्याऽभावाच्च अशरीरस्याऽनिन्द्रियस्याऽपि मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वस्य सम्भवात् तत्प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये युक्त्या विरोध उपस्थापयितुं न शक्यत इति।

निर्णयः– 'अशरीरस्य न माया न च कर्तृत्वं भवितुमर्हति' इति दृष्टलोकस्वभावमुपजीवता सामान्येन तर्केणाऽपि अशरीरस्याऽपि मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. मायिनो ब्रह्मणो लोकहेतुत्वे हि समन्वयः।
२. सामान्यतोदृष्टबाध्यः स्यात् स वा नेति संशयः॥१॥
३. अमूर्तस्य ह्यमायित्वात् स रोध्य इति के चन।
४-५. शक्त्यसाम्याच् छ्रुतेश्चाऽपि सोऽरोध्य इति निर्णयः॥२॥

५०.(११) प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् (सू. ३२-३३)

जगद्विरचने ब्रह्मणः प्रयोजनस्याऽभावाद् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽनुपपत्तिं परिहरन्नाह—

१६६. न प्रयोजनवत्त्वात् २।१।३२॥ इति।

लोके चेतनप्रवृत्तीनां प्रयोजनवत्त्वस्य दर्शनात् न खलु चेतनं ब्रह्म स्वयमाप्तकामं सदिदं व्यर्थं जगद् विरचयितुमर्हति। परितृप्तस्य अनुन्मत्तस्य सर्वज्ञस्य च ब्रह्मणो जगद्विरचने प्रयोजनस्याऽदर्शनात् आप्तकामस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने प्रदर्शितो वेदान्तानां समन्वयो नोपपद्यत इति भावः।

हिन्दी– लोक में चेतनों की प्रवृत्ति प्रयोजनमूलक देखी जाने से और आप्तकाम सर्वज्ञ ब्रह्म का जगत् की सृष्टि में कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देने से आप्तकाम सर्वज्ञ ब्रह्म के जगत्कारणता के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का समन्वय उपपन्न नहीं माना जा सकता है।

१६७. लोकवत् तु लीलाकैवल्यम् २।१।३३॥

यथा लोके आप्तैषणस्य कस्य चिद् राजादेः क्रीडाविहारेषु केवलं लीलामात्ररूपाः प्रवृत्तयः स्वभावविशेषादेव सम्भवन्ति, एवमाप्तकामस्य सर्वज्ञस्याऽपि ब्रह्मणः केवलं लीलामात्ररूपाः सृष्टिस्थितिप्रलयविषयाः मायामय्यः प्रवृत्तयः स्वभावादेव भवितुमर्हन्ति। एवं च परितृप्तस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये नास्त्यनुपपत्तिरिति भावः।

हिन्दी – लोक में जैसे किसी सुसन्तुष्ट राजादि के खेलों में केवल लीलामात्ररूप चेष्टाएँ उन लोगों के स्वभावविशेष से ही होतीं हैं, उन में कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता है, वैसे ही आप्तकाम सर्वज्ञ ब्रह्म का भी केवल लीलामात्ररूप सृष्टि-स्थिति-प्रलय-सम्बन्धी मायामय चेष्टाएँ विना प्रयोजन ही स्वभावतः हो सकतीं हैं। अतः आप्तकाम सर्वज्ञ ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय अनुपपन्न नहीं है।

अथ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – परितृप्तस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः – परितृप्तस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये आप्तकामस्य चेतनस्य निष्प्रयोजना प्रवृत्तिर् नोपपद्यत इति तर्केण विरोध उपस्थाप्यते न वेति।

पूर्वपक्षः – आप्तकामस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः प्रयोजनरहिते गुरुतरायाससाध्ये विचित्रजगद्-विरचने प्रवृत्तिर् न घटते इति तर्केण ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थाप्यते इति।

उत्तरम् – लोकेऽपि आप्तैषणस्य स्वतः सुसन्तुष्टस्याऽपि कस्य चिद् राजादेः क्रीडाविहारेषु केवलं लीलामात्ररूपाः स्वभावविशेषादेव जाताः प्रवृत्तयोऽपि दृश्यन्त इति आप्तकामस्य चेतनस्य निष्प्रयोजना प्रवृत्तिर् नोपपद्यत इति तर्कस्य राजादि-क्रीडाविहारप्रवृत्तौ व्यभिचारिणोऽकिञ्चित्करत्वात् सर्वज्ञस्याऽऽप्तकामस्याऽपि ब्रह्मणः प्रयोजनरहितेऽपि उच्छ्वासनिश्श्वासन्यायेन स्वभावविशेषादेव जायमाने लीलामात्ररूपे जगद्रचने प्रवृत्तिर् भवितुमर्हतीति नास्ति ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयेऽनुप-पत्तिरिति।

निर्णयः – परितृप्तस्य सर्वज्ञस्याऽपि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये नास्त्यनुपपत्तिरिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आप्तकामब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. स दृष्टप्रातिकूल्येन रुद्धो वा नेति संशयः॥१॥
३. जगतो हि महायाससंसाध्ये रचने खलु।
अयुक्तो निष्फलायासोऽतो विरुद्धः स उच्यते॥२॥
४-५. ब्रह्मणस्तु कृते लोकरचनं निष्प्रयासकम्।
लीलामात्रमतो नाऽत्र विरुद्धः स समन्वयः॥३॥

५१.(१२) वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् (सू. ३४-३६)

वैषम्यनैर्घृण्यापत्त्या ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे सम्भावितं विरोधं परिहरन्नाह–

१६८. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति २।१।३४॥ इति।

जगतः स्रष्टुर् ब्रह्मणः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मसापेक्षत्वात् प्राणिषु विषमत्वं निर्दयत्वं च न प्रसज्येते; **"पुण्ण्यो वै पुण्ण्येन कर्म्मणा भवति पापः पापेन"** (मा.वा.शत.१४।६।२।१४, का.वा.बृह.३।२।१३) इत्यादिका हि श्रुतिः सापेक्षमेव ब्रह्म नीचमध्यमोत्तमान् प्राणिनो निर्मिमीते इति दर्शयति। अतो निर्दोषस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने प्रदर्शितो वेदान्तानां समन्वय उपपद्यत एवेति भावः।

हिन्दी – सृज्यमान प्राणियों के धर्माऽधर्म के दृष्टि से ही सृष्टिकार्य करने से जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्म में प्राणियों के प्रति पक्षपात और निर्दयत्व नहीं माने जा सकते हैं। *'पुण्य कर्म से समृद्ध और सुखी होता है, पाप कर्म से दीन और दुःखी होता है'* इत्यादि बताने वाली श्रुति सृष्टिकर्म में ब्रह्म का सृज्यमान प्राणियों के धर्माऽधर्म को देखकर ही प्रवृत्त होने की बात दिखाती ही है।

१६९. न कर्माऽविभागादिति चेन् नाऽनादित्वात् २।१।३५॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" (छा.६।२।१) इत्यादिकायाः श्रुतेर् दर्शनात् सृष्टेः प्राग् विभागाऽभावस्याऽवगम्यमानत्वाद् विषमसृष्टिहेतुभूतं धर्माऽधर्म-रूपं कर्म नाऽऽस्थातुं शक्यते, अतः कथं ब्रह्मणः सृज्यमानप्राणिकर्म-सापेक्षसृष्टिकर्तृत्वं सम्भवति? इति चेत्, संसारस्याऽनादित्वाद् बीजाङ्कुरवद् हेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य चोपपत्तेर् नैवंविधा शङ्कोपपद्यत इत्यर्थः।

हिन्दी – सृष्टि के पूर्व धर्माऽधर्मादि का विभाग न होने से धर्माऽधर्मरूप कर्म को विषम सृष्टि का हेतु नहीं माना जा सकता है, इस स्थिति में ब्रह्म सृज्यमान प्राणियों के कर्मों को देखकर तदनुरूप विषम सृष्टि करता है यह बात कैसे मानी जा सकती है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि संसार की सृष्टि अनादि चक्रप्रवाहरूप से चलने से पूर्व-पूर्व सृष्टि में पूर्वतर-पूर्वतर कर्मों को कारण माना ही जा सकता है।

१७०. उपपद्यते चाऽप्युपलभ्यते च २।१।३६॥

संसारस्य साऽऽदित्वे सृष्टेः प्रपञ्चवैषम्यस्य च निर्हेतुकतायाः प्रसङ्गात्, अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेन प्रपञ्चवैषम्यस्योपपद्यमानताया अवगमात् संसारस्य अनादित्वं हि उपपद्यते न साऽऽदित्वम्; **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** (शै.शा.ऋ.१०।१९०।३) इत्यादिकायां श्रुतौ, **"न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चादिर् न च सम्प्रतिष्ठा"** (गीता.१५।३) इत्यादिकायां स्मृतौ च संसारस्याऽनादित्वं प्रतिपाद्यमानमुपलभ्यते चेत्यर्थः।

हिन्दी – संसार को साऽऽदि मानने से सृष्टि को और प्रपञ्चवैषम्य को अहेतुक मानना पडता है, संसार को अनादि मानने पर तो बीजाऽङ्कुरन्याय से प्रपञ्चवैषम्य की उपपत्ति होती है, अतः संसार का अनादित्व हि युक्तिसङ्गत भी होता है; और *'विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा को पूर्व कल्प में जैसे बनाये थे वैसे ही बनाये'* इत्यादि बताने वाली श्रुति में तथा *'इस का अन्त और आदि भी नहीं है'* इत्यादि बताने वाली स्मृति में भी संसारका अनादित्व ही प्रतिपादित भी पाया जाता है।

अथ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणस्वरूपम्

विषयः– निर्दोषस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– निर्दोषस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तनां समन्वये निर्दोषस्य विषमकारित्वं नोपपद्यत इति तर्केण विरोध उपस्थाप्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणः सृष्टिकारणत्वे तत्र वैषम्यनैर्घृण्यदोषप्रसङ्गात्, सृष्टेः प्राक् कर्तृ-कर्म-क्रियादिविभागाऽभावेन वैषम्यहेतोर् धर्माऽधर्मरूपकर्मणः स्वीकर्तुमशक्यत्वाच्च निर्दोषस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं नोपपद्यते इति तर्केण तत्र वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थाप्यत इति।

उत्तरम्– संसारस्य सादित्वे सृष्टेः प्रपञ्चवैषम्यस्य च निर्हेतुकतायाः प्रसक्तेः, अनादित्वे तु बीजाङ्कुरवद् हेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य चोपपत्तेः, **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** इत्यादिकायां श्रुतौ स्मृतिषु च संसारस्याऽनादितायाः प्रतिपादन-स्योपलब्धेश्च सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मरूपकर्मसापेक्षस्य ब्रह्मणो विषमप्रपञ्चसृष्टिकर्तृत्वेऽपि वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्याऽप्रसङ्गात्, निर्दोषस्याऽपि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने पूर्वाध्याये प्रदर्शितो वेदान्तानां समन्वय उपपद्यत एवेति न पूर्वपक्षवादिप्रदर्शितेनोक्तेन तर्केण तत्र विरोध उपस्थापयितुं शक्यत इति।

निर्णयः– निर्दोषस्य विषमकारित्वं नोपपन्नमिति तर्केण निर्दोषस्य ब्रह्मणो जगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये विरोध उपस्थापयितुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. निर्दोषस्य ब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. वैषम्यदोषसङ्गात् स बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. सृष्टेः प्राक् कर्मणोऽभावादादौ वैषम्यदर्शनात्।
अस्ति दोषप्रसङ्गोऽतो बाध्यः स इति के चन॥२॥
४-५. अनादित्वात् संसृतेस्तु बीजाङ्कुरवदत्र च।
हेतुहेतुमतत्वदृष्ट्याऽदोषाद् बाधोऽत्र नोचितः॥३॥

५२.(१३) सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् (सू. ३७)

ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे श्रुतिस्मृतिमूलक-तर्कोत्थाप्य-सर्वविध-विरोधस्य परिहारं कुर्वन्नाह–

१७१. सर्वधर्मोपपत्तेश्च २।१।३७॥ इति।

निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि अविद्यादशायां परिकल्प्यमानाः सर्वेऽपि सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमतत्व-महामायत्वादिकाः कारणधर्मा उपपद्यन्त इति निर्गुणस्याऽपि

ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये नास्ति कोऽपि तर्कविरोध इत्यर्थः।

हिन्दी– परमार्थ रूप में निर्गुण ब्रह्म में भी सांसारिक अविद्या की दशा में परिकल्पित सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व महामायत्वादि सभी कारणधर्म उपपन्न होने से परमार्थतः निर्गुण ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्त के समन्वय में कोई तर्कविरोध नहीं होता है।

अथ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये निर्गुणस्य वस्तुन उपादानकारणत्वं न सम्भवति निर्गुणस्य रूपादेरुपादानत्वस्य लोकेऽद्दृश्यमानत्वाद् इति तर्केण विरोध उपस्थापयितुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– निर्गुणस्य वस्तुनः केनाऽपि प्रकारेण जायमानस्य विकारस्याऽदर्शनाद् निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये तर्केण विरोध उपस्थापयितुं शक्यत इति।

उत्तरम्– वस्तुतो निर्गुणस्यापि ब्रह्मणः अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारकाले सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्त्व-महामायत्वादि-सकलकारणधर्मयुक्तत्वात् तस्य जगदुपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये तर्केण कोऽपि विरोध उपस्थापयितुं न शक्यत इति।

निर्णयः– निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि अविद्यादशायां परिकल्प्यमानाः सर्वेऽपि कारणधर्मा उपपद्यन्त इति तस्य जगद्विवर्तोपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये नाऽस्ति कोऽपि तर्कविरोध इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. निर्धर्मस्य ब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. विकारासम्भवाद् बाध्यः स न वेति च संशयः॥१॥
३. निर्धर्मस्याऽविकारत्वाद् बाध्यः स इति के चन।
४-५. मायाधर्मोपपन्नत्वात् सोऽबाध्य इति निर्णयः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ द्वितीये श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽविरोधाऽध्याये प्रथमः
साङ्ख्ययोगकाणादादिस्मृतितन्मूलकयुक्तिविरोधा-
ऽभावप्रदर्शनपरः पादः समाप्तः॥

अथ द्वितीयः पादः

(साङ्ख्यादितर्कोत्थवेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारपरः
साङ्ख्यादितर्कनिराकरणात्मकस् तर्कपादः)

५३.(१) रचनानुपपत्त्यधिकरणम् (सू. १-१०)

प्रथमाध्यायप्रदर्शितवेदान्तवाक्यसमन्वये साङ्ख्यादिस्मृति-तन्मूलकतर्क-विरोधपरिहारः परतन्त्रप्रज्ञमुमुक्षुजनोपकाराय द्वितीयेऽध्याये प्रथमे पादे प्रदर्शितः। सर्वज्ञत्वादिख्यातिप्रतारित-युक्तिगाढत्वभ्रमव्यामूढ-मन्दमतिक-मुमुक्षुजनोपकारायाऽत्र द्वितीये पादे लौकिकतर्कमात्रावष्टम्भकसाङ्ख्यादिमतानां गाढतरलौकिक-तर्कमात्रावष्टम्भेनैव निराकरणं कृत्वा पूर्वाध्यायोक्तवेदान्तवाक्य-समन्वये स्वतन्त्रेणाऽपि तर्केण विरोध उपस्थापयितुं न शक्यते इति प्रदर्श्यते। तत्र क्रमेण साङ्ख्य-वैशेषिक-बौद्ध-जैन-पाशुपत-भागवत-सिद्धान्तसमर्थकतर्काणां तर्केणैव निराकरणं क्रियते। तत्राऽऽदौ साङ्ख्यमतसमर्थकतर्काणां निराकरणं कुर्वन्नाह—

१७२. रचनानुपपत्तेश्च नाऽनुमानम् २।२।१॥ इति।

अचेतनस्य प्रधानस्य जगद्रचनाकर्तृत्वस्याऽनुपपत्तेश्च अनुमानैकगम्य-त्वेनोच्यमानमचेतनं प्रधानं जगतः कर्तृ कारणं भवितुं नाऽर्हति।

हिन्दी – साङ्ख्यसिद्धान्तोक्त प्रधान अचेतन होने से उस से जगत् की रचना न हो सकने से अनुमान मात्र से ज्ञेय रूप में साङ्ख्यों से स्वीकृत अचेतन प्रधान जगत् का निर्माता कारण नहीं माना जा सकता है।

१७३. प्रवृत्तेश्च २।२।२॥

अचेतनस्य प्रधानस्य जगद्रचनासिद्ध्यर्थायाः गुणत्रयसाम्यप्रच्युति-रूपायाः प्रवृत्तेरनुपपत्तेश्च नाऽचेतनं प्रधानं जगतः कर्तृ कारणं भवितुमर्हति।

हिन्दी – अचेतन प्रधान की जगद्रचनासिद्धि के लिए सत्त्व-रजस्-तम-गुणों के साम्यावस्था से प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति ही अनुपपन्न होने से भी अचेतन प्रधान जगत् का निर्माता कारण नहीं माना जा सकता है।

१७४. पयोम्बुवच् चेत् तत्राऽपि २।२।३॥

यथा अचेतनमपि क्षीरं वत्सविवृद्ध्यर्थं मातुः स्तनात् प्रवर्तते, यथा चाऽचेतनमपि जलं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दते, तथैवाऽचेतनमपि प्रधानं पुरुषार्थसिद्धये स्वभावेनैव प्रवर्तते इति चेत्, तत्र पयसि चेतनाया धेन्वाः स्नेहेच्छायाः प्रवर्तकत्वस्य दर्शनात्, जले च **"सोऽपोऽन्तरो यमयति"** (मा.वा.शत.

१४।६।७।८, का.वा.बृह.३।७।४) इति श्रुतेरीश्वरस्यैव प्रवर्तकत्वस्याऽवगमात् पयोम्बुदृष्टान्तेनाऽपि अचेतने प्रधाने स्वतः प्रवृत्तेरुपपादनस्याऽशक्यत्वमेवेत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे अचेतन दूध बछडेके वृद्धि के लिए गाय के थन से निकल आता है, जैसे अचेतन जल स्वभाव से ही लोकोपकार के लिए वहता है, उसी प्रकार अचेतन होने पर भी प्रधान पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है, ऐसा कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्यों कि वहाँ भी दूध में चेतन गाय की बछडे के प्रति स्नेहपूर्ण इच्छा से ही प्रवृत्ति हुई है और जल में भी "योऽपोऽन्तरो यमयति" इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से चेतन ईश्वर की इच्छा से ही प्रवृत्ति होने की बात जानी जाती है। अतः दूध और जल के दृष्टान्त से भी अचेतन प्रधान में अपने आप प्रवृत्त होने की बात नहीं सिद्ध की जा सकती है।

१७५. व्यतिरेकाऽनवस्थितेश्चाऽनपेक्षत्वात् २।२।४॥

साङ्ख्याभिमतस्योदासीनस्य पुरुषस्याऽप्रवर्तकत्वाद् गुणत्रयव्यतिरेकेण कस्याऽपि बाह्यस्य प्रवर्तकस्याऽनवस्थितत्वाच् चाऽचेतनस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यो-रितरानपेक्षत्वात् तस्य व्यवस्थिता प्रवृत्तिर् न स्यादित्यर्थः।

हिन्दी – साङ्ख्यसिद्धान्त में सर्वथा उदासीन माने गए पुरुष में प्रवर्तकत्व नहीं माने जाने से तथा सत्त्व रज तम गुणों को छोडकर किसी भी बाह्य प्रवर्तक का भी साङ्ख्यसिद्धान्त में कोई व्यवस्था नहीं माने जाने से अचेतन की स्वतः प्रवृत्ति और निवृत्ति को अन्य सापेक्ष भी नहीं माने जा सकने से अचेतन प्रधान की सृष्टि के और प्रलय के लिए व्यवस्थित प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं मानी जा सक्नी हैं। अतः प्रधान का जगत्कर्तृत्व अनुपपन्न ही है।

१७६. अन्यत्राऽभावाच् च न तृणादिवत् २।२।५॥

धेन्वामेवोपयुक्तानां तृणपल्लवोदकादीनां क्षीरीभावस्य दर्शनात्, अन्यत्र प्रहीणानाम् अनडुहादिषूपयुक्तानां वा तृणादीनां तु क्षीरीभावस्याऽदर्शनाच्च यथा तृणपल्लवोदकादिकं निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणन्तुं प्रवर्तते तथैव प्रधानमपि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव महदाद्याकारेण परिणन्तुं प्रवर्तते इति च वक्तुं न शक्यते इत्यर्थः। अत्र परिणमते परिणंस्यते इत्यादयो-ऽपाणिनीयाः शङ्कर-वाचस्पत्यादिप्रयोगाश् चिन्त्याः।

हिन्दी – ब्यायी हुई गाय में उपयुक्त तृणादि का ही दूध के रूप में परिणाम दिखाइदेता है, अन्यत्र बैल प्रभृति में उपयुक्त तृणादि का तो दूध के रूप में परिणाम नहीं होता है। अतः जैसे तृणादि निमित्तान्तर के विना ही दूध के रूप में परिणत होते हैं वैसे ही प्रधान भी अन्य निमित्त के विना ही महत्तत्त्वादि के रूप में परिणत होता है, यह तर्क मान्य नहीं हो सकता है।

१७७. अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् २।२।६॥

अचेतनस्य प्रधानस्य स्वाभाविक्याः प्रवृत्तेः स्वीकारेऽपि साङ्ख्यसम्मतस्य अनाधेयातिशयस्य निर्मलस्य निष्कलस्य पुरुषस्य भोगरूपस्य प्रयोजनस्य अपवर्ग-रूपस्य प्रयोजनस्य चाभावात् प्रयोजनशून्यत्वात् प्रधानस्य प्रवृत्तेरनुपपत्तिरेवेत्यर्थः।

हिन्दी – अचेतन प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति को स्वीकार करने पर भी साङ्ख्यसम्मत निर्मल और निर्लेप पुरुष में कोई अतिशय का आधान असम्भव होने से पुरुष का भोगरूप वा मोक्षरूप कोई पुरुषार्थ ही नहीं हो सकता है। अतः निष्प्रयोजन होने से प्रधान की प्रवृत्ति अनुपपन्न ही है।

१७८. पुरुषाऽश्मवदिति चेत् तथाऽपि २।२।७॥

यथा चक्षुष्मान् पङ्गुः पुरुषोऽन्धमपङ्गुं पुरुषमधिष्ठाय प्रवर्तयति, यथा वा अयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽपि कालायसं प्रवर्तयति तथैव पुरुषः स्वयमप्रवर्तमानोऽपि प्रधानं प्रवर्तयतीति प्रधानस्य प्रवृत्तिरुपपद्यत एवेति चेत्, तथाऽपि निर्गुणस्य निष्क्रियस्य पुरुषस्य प्रवर्तनव्यापारस्याऽनुपपत्तिः, पुरुषस्य सन्निधिमात्रेण प्रवर्तकत्वेऽपि पुरुषसन्निधेर् नित्यत्वेन प्रवृत्तेरपि नित्यत्वस्याऽऽपातादनिर्मोक्षाऽऽपत्तिरिति प्रधानस्य प्रवृत्तेरनुपपत्तिरेवेत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे आँखों से अच्छी रीति से देखने वाला परन्तु दोनों पैरों से विकल पुरुष अन्धे किन्तु बलिष्ठ पुरुष के कन्धे पर चढ कर अन्धे को राह बताता हुआ उस अन्धे को रास्ते पर आगे बढा सकता है, जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) स्वयं निश्चल होता हुआ भी लोह को क्रियायुक्त बना सकता है वैसे ही चेतन पुरुष भी स्वयं निश्चल होता हुआ भी अचेतन प्रधान को सृष्टिक्रिया में प्रवृत्त करा सकता है, ऐसा तर्क ठीक नहीं है; क्यों कि पुरुष के सन्निधि मात्र से प्रधान की प्रवृत्ति मानने पर पुरुषसन्निधि सदाकाल समान होने से प्रधान की सदाकाल प्रवृत्ति होती रहेगी, निवृत्ति कभी भी नहीं होगी और इस प्रकार मोक्ष की सम्भावना ही दूर हो जाएगी।

१७९. अङ्गित्वाऽनुपपत्तेश्च २।२।८॥

समगुणके प्रधाने कस्य चन गुणस्याऽङ्गित्वं विना महदादीनामुत्पत्तेरसम्भवात्, कस्य चन गुणस्य अङ्गित्वस्य च तस्य गुणस्य अनपेक्षस्वभावकत्वस्य व्याकोपस्य प्रसङ्गाद् न स्वतः सम्भवः, पुरुषस्य त्वौदासीन्यात् परतश्च न सम्भव इति अङ्गित्वस्याऽनुपपत्तेश्च प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामे प्रवृत्तेरनुपपत्तिरेवेत्यर्थः।

हिन्दी – गुणों के साम्य से युक्त प्रधान से किसी गुण की प्रधानता के विना महदादि तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, किसी गुण की प्रधानता गुणों की अनपेक्षस्वभावता के कारण स्वतः नहीं हो सकती है, पुरुष में औदासीन्य रहने से परतः भी नहीं हो सकती है, अतः प्रधान के किसी एक गुण में प्रधानता (अङ्गित्व) न आ सकने से प्रधान का महदादि रूप से परिणत होने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

१८०. अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् २।२।९॥

प्रधानस्य प्रवृत्तेरुपपत्तये गुणानां पूर्वोक्ताऽनपेक्ष-कूटस्थस्वभावकभिन्नतया वैषम्योपगमयोग्यतया च युक्तानामनुमाने कृते कथञ्चित् प्रधानस्य प्रवृत्तेरुपपत्तावपि प्रधानस्य चेतनत्वशक्तेरभावाद् रचनानुपपत्त्यादयो दोषाः प्रधानकारणतावादे प्रसज्यन्त एवेत्यर्थः।

हिन्दी– प्रधान की जगद्रचना में प्रवृत्ति को उपपन्न दिखाने के लिए गुणों का अनपेक्षत्व-कूटस्थत्वादि स्वभाव से भिन्न स्वभाव वाले पदार्थों के रूप में अनुमान करने पर किसी प्रकार प्रधान की सृष्टिकार्य में प्रवृत्ति उपपन्न होने पर भी प्रधान में चेतनत्वरूप शक्ति नहीं होने से पूर्वोक्त रचनानुपपत्त्यादि दोष प्रधानकारणतावाद में प्रसक्त होते ही हैं।

१८१. विप्रतिषेधाच् चाऽसमञ्जसम् २।२।१०॥

साङ्ख्यानां ग्रन्थेषु क्वचित् त्वङ्मात्रमेकमेव ज्ञानेन्द्रियं गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दज्ञानकारणं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति सप्त इन्द्रियाणीति वर्ण्यते, क्वचिच्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च पञ्च, मनश्चेति एकादशेन्द्रियाणि स्वीक्रियन्ते क्वचिद् बुद्धिरहङ्कारो मन इति त्रीणि अन्तःकरणानि वर्ण्यन्ते, क्वचिच्च बुद्धिरेवैकमन्तःकरणं वर्ण्यते, क्वचिद् महतस् तन्मात्रसर्ग उपदिश्यते क्वचिच्चाऽहङ्कारादिति परस्परविरोधाच्च साङ्ख्यदर्शनमसमञ्जसमित्यर्थः।

शङ्करवर्णितोऽयं विप्रतिषेधः साङ्ख्यानां कस्मिन् ग्रन्थे दृश्यते इति तु शाङ्करभाष्यव्याख्याकारेण केनाऽपि स्फुटीकृतमस्माभिर् न दृष्टम्। रामानुजादिभिः कैश्चित् तु पुरुषस्वभावविशेषविषयतयाऽन्यथैव विप्रतिषेधो वर्णितो दृश्यते। श्रुति-स्मृतिविप्रतिषेधस्तु शङ्करप्रदर्शितोऽपि पादसङ्गतिप्रतिकूलत्वादुपेक्ष्य एव प्रतीयते।

हिन्दी– साङ्ख्यों के ग्रन्थों में इन्द्रियसङ्ख्यादि के विषय में परस्पर विरोध देखे जाने से साङ्ख्यदर्शन असमञ्जस है। रामानुजादिव्याख्यानुसार तो साङ्ख्यवर्णित पुरुषस्वभाव में परस्पर विरोध देखे जाने से साङ्ख्यदर्शन असमञ्जस है।

अथ रचनाऽनुपपत्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो जडप्रधान-कारणवादेन विरोद्धुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– जडप्रधानकारणवादस्य मानवबुद्धिप्रसूतप्रबलतर्कप्रतिष्ठितत्वात् तेन चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं शक्यते इति।

उत्तरम्– जडस्य प्रधानस्य जगद्रचनाकर्तृत्वस्य सामान्यतोदृष्टविरुद्धत्वात्, चेतना-ऽप्रवर्तितस्य जडस्य प्रवृत्तेरनुपपन्नत्वात्, जडस्य प्रवृत्तौ प्रयोजनस्याऽप्यदृश्यमानत्वात्, पुरुषस्य सन्निधिमात्रेण प्रवर्तकताया अभ्युपगमेऽपि अनिर्मोक्षस्य प्रसङ्गात्, गुणानामेक-तमस्य प्राधान्यस्य प्राप्तेः कारणस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्, साङ्ख्यानामिन्द्रियसङ्ख्या-दिविषयेषु परस्परविरुद्धानामुक्तीनां दर्शनाच्चाऽसमञ्जसं साङ्ख्यदर्शनमिति तर्क-विरुद्धत्वात् स्वतो दुर्बलेन जडप्रधानकारणवादेन चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्यते इति।

निर्णयः– तर्कविरुद्धेन जडप्रधानकारणवादेन चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं नैव शक्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणश्चेतनस्यैव कारणत्वे समन्वयः।
२. जडकारणवादेन विरोद्धुं शक्यते न वा ॥१॥
३. साङ्ख्यस्य बलवत्तर्कपुष्टत्वात् तेन रुध्यते।
चेतने ब्रह्मणि समन्वय इत्यपि के चन ॥२॥
४-५. जडस्य सृष्टिकर्तृत्वं न तर्केणाऽवतिष्ठते।
अतो न जडवादेन रोध्यो ब्रह्मसमन्वयः ॥३॥

५४.(२) महद्दीर्घाधिकरणम् (सू. ११)

परमाणुवादं निराकरिष्यन् प्रथमं ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वे परमाणुकारणतावादिभिः काणादैरुद्भावितं दोषं निराकर्तुमाह–

१८२. महद्दीर्घवद् वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् २।२।११॥ इति।

ह्रस्वाद् द्व्यणुकात् परिमण्डलात् परमाणोश्च यथा दीर्घं त्र्यणुकं महद् (परिमण्डलभिन्नमणु) द्व्यणुकं च जायते तथैव चेतनाद् ब्रह्मणोऽपि अचेतनं जगत् जायते इत्यर्थः। एवं चैतेन सूत्रेण प्रसङ्गाद् ब्रह्मकारणतावादे वैशेषिकैः प्रसञ्जितो दोषो वैशेषिक-सिद्धान्तावष्टम्भेनैव परिहृत इति शङ्करव्याख्या।

रामानुजव्याख्या तु यथा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां दीर्घस्य त्र्यणुकस्य महतो द्व्यणुकस्य चोत्पत्तिरिति वैशेषिकाणां कथनमसमञ्जसम्, तथैव तेषां सर्वमेव दर्शनमसमञ्जसमिति। रामानुजमते एतत्सूत्रमुत्तराधिकरणाङ्गमेव न स्वतन्त्रमधिकरणम्। तत्र रामानुजव्याख्या पादसङ्गत्यनुकूला पूर्वसूत्रपदानुवृत्तियोगानुकूला च दृश्यते। शङ्करोक्तोऽर्थस्तु विलक्षणत्वाधिकरणेनैव गतार्थः।

हिन्दी – जैसे ह्रस्व द्व्यणुक से दीर्घ त्र्यणुक का बनना और परिमण्डल परमाणु से महत् (अणु) द्व्यणुक का बनना वैशेषिकों के मत में उपपन्न माना जाता है वैसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति उपपन्न मानी जा सकती है।

अथ महद्दीर्घाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– चेतनस्य ब्रह्मणो जडजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– चेतनस्य ब्रह्मणो जडजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः 'समवायिकारणगुणः कार्यद्रव्ये स्वसमानजातीय-गुणारम्भकस् तन्तुशौक्ल्यवत्' इति तर्केण विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– 'समवायिकारणगुणः कार्यद्रव्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकस् तन्तुशौक्ल्यवत्' इति तर्कस्य लोके व्यभिचारस्याऽदृष्टत्वात् तेन तर्केण चेतनस्य ब्रह्मणो जडजगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यत इति।

उत्तरम्– ह्रस्वाद् द्व्यणुकाद् दीर्घस्य त्र्यणुकस्योत्पत्तेः, परिमण्डलात् परमाणोः परिमण्डल-भिन्नस्य महतः (अणोः) द्व्यणुकस्योत्पत्तेश्च वैशेषिकैरेव स्वीकृतत्वात् 'समवायिकारण-गुणः कार्यद्रव्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकस् तन्तुशौक्ल्यवद्' इति तर्कस्य व्यभिचारस्य दर्शनाद् व्यभिचारिणा दुर्बलेनाऽनेन तर्केण चेतनस्य ब्रह्मणो जडजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्यते इति।

निर्णयः– समवायिकारणगुणः कार्यद्रव्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भकस् तन्तुशौक्ल्यवद् इति वैशेषिकाणां तर्केण वैशेषिकसृष्टिप्रक्रियायामेवाऽनैकान्तिकेन चेतनस्य ब्रह्मणो जडजगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरोद्धुं शक्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. चेतनस्य जडजगत्कारणत्वे समन्वयः।
२. रोध्यः कार्ये हेतुगुणान्वितेर् दृष्ट्या स वा न वा ॥१॥
३. तर्कस्य दार्ढ्याद् रोध्यः स इत्याहुः पूर्वपक्षिणः।
४-५. व्यभिचारात् तु तर्कस्य सोऽरोध्य इति वैदिकाः ॥२॥

५५.(३) परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् (सू. १२-१७)

जडस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य जगत्कारणत्वं न सम्भवति चेत् चेतना-ऽधिष्ठितानां परमाणूनां जगत्कारणत्वं स्यादिति तर्कं निराकर्तुमाह—

१८३. उभयथाऽपि न कर्माऽतस् तदभावः २।२।१२॥ इति।

आदिसर्गे परमाणुसंयोगार्थमावश्यकस्य कर्मणो निमित्तमभिघातादिकं स्यादिति स्वीकारेऽपि तस्यामवस्थायां जीवशरीरस्याऽभावेनाऽऽत्मगुणस्य प्रयत्न-स्याऽसम्भवाद् अभिघातादेरनुत्पत्तेः कर्मणोऽनुत्पत्तिः, आदिसर्गे परमाणुसंयोगार्थ-मावश्यकस्य कर्मणो निमित्तमदृष्टं स्यादिति स्वीकारेऽपि वैशेषिकसिद्धान्ते तदानी-मात्मनोऽप्यनुत्पन्नचैतन्यत्वादात्मसमवायिना अचेतनपरमाणुसमवायिना वाऽप्य-चेतनेनाऽदृष्टेन च न परमाणुषु कर्मण उत्पत्तेः सम्भव इत्युभयथाऽपि न परमाणुषु कर्म, कर्माभावे परमाणुसंयोगाभावः, परमाणुसंयोगाभावे च वैशेषिकनये सर्गा-ऽभाव इति वैशेषिकसम्मतः परमाणुकारणवादोऽनुपपन्न इत्यर्थः। ईश्वरकारणवादश्च पश्चाद् निराकरिष्यत इति न विस्मर्तव्यम्।

हिन्दी – आदिसर्ग में परमाणुओं के कर्म का निमित्त अभिघातादिको मानने पर और अदृष्ट को मानने पर भी दोनों पक्षों में परमाणुओं में कर्म उत्पन्न न हो सकने से परमाणुओं का संयोग नहीं हो सकता है, परमाणुओं के संयोग के विना वैशेषिकसिद्धान्त में सृष्टि नहीं हो सकती है। अतः वैशेषिकों का परमाणुकारणता का सिद्धान्त अनुपपन्न है। इस स्वयम् अनुपपन्न सिद्धान्त से वेदान्त के समन्वय में विरोध नहीं उपस्थापित किया जा सकता है।

१८४. समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।२।१३॥

द्वयोरण्वोः संयोगेनोत्पद्यमानस्य ताभ्यामत्यन्तभिन्नस्य द्व्यणुकस्य ताभ्यामणुभ्यां सह समवायसम्बन्धस्य वैशेषिकैरभ्युपगम्यमानत्वात्, यथा ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवायलक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्यां सम्बध्यते तथैव समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन् अत्यन्तभेदसाम्यात् समवायिभिः समवायलक्षणेनाऽन्येनैव सम्बन्धेन सम्बध्येत, ततश्च तस्यतस्य समवायस्याऽन्योऽन्यः समवायसम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थायाः प्रसङ्गात् समवायशृङ्खलाविरामे च पूर्वपूर्वसमवायासिद्धेः प्रसङ्गात् परमाणुकारणवादोऽनुपपन्न इत्यर्थः।

हिन्दी – दो अणुओं के संयोग से उत्पन्न और उन अणुओं से अत्यन्त भिन्न द्व्यणुक का उन अणुओं से समवाय सम्बन्ध माने जाने से समवायी तथा समवाय सम्बन्ध में भी अत्यन्त भेद होने से इन का भी समवाय सम्बन्ध मानना पडेगा, इस समवाय सम्बन्ध का भी इस के समवायियों से फिर दूसरा समवाय सम्बन्ध मानना पडेगा और इस प्रकार फिर दूसरा फिर दूसरा समवाय सम्बन्ध मानना पडेगा और इस कल्पना का विराम नहोने से अनवस्था दोष आ जायगा। कहीं जाकर विराम मानने पर तत्पूर्व समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा और फिर तत्पूर्व भी सिद्ध नहीं होगा और इसी प्रकार प्रथम समवायसम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकेगा और वैशेषिकसम्मत प्रक्रिया से सृष्टि ही सिद्ध नहीं हो सकेगी।

१८५. नित्यमेव च भावात् २।२।१४॥

परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावकत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर् भावात् नित्यमेव सर्गः स्यात्, प्रलयो न स्यात्; परमाणूनां निवृत्तिस्वभावकत्वे नित्यमेव प्रलयः स्यात्, सर्गो न स्यात्; परमाणूनां प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयस्वभावकत्वस्य तु विरोधादसामञ्जस्याद् अस्वीकार्यत्वम्; परमाणूनामनुभयस्वभावकत्वे च कालादृष्टादीनां प्रवृत्तिनिमित्तानां निवृत्तिनिमित्तानां वाऽपि स्वीकारे तेषां नित्यमेव सन्निधानस्य भावात् सर्वदा सर्ग एव स्यात् प्रलय एव वा स्यादिति अनुपपन्न एव परमाणुकारणतावाद इत्यर्थः।

हिन्दी – परमाणुओं को प्रवृत्तिस्वभाव वाले वा निवृत्तिस्वभाव वाले मानने पर सदा सृष्टि वा सदा प्रलय ही होगा, विरोध होने से परमाणु प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय स्वभाव वाले तो नहीं माने जा सकते हैं, कालादि को परमाणुओं के प्रवृत्ति में वा निवृत्ति में निमित्त मानने पर भी कालादि का नित्य सन्निधान होने से नित्य प्रवृत्ति वा नित्य निवृत्ति होने से नित्य सर्ग वा नित्य प्रलय होगा, सृष्टि-प्रलय की व्यवस्था नहीं होगी। अतः वैशेषिकसम्मत परमाणुकारणतावाद अनुपपन्न ही है। (वैशेषिकादिसम्मत ईश्वरकारणतावाद का निराकरण तो पीछे किया जा रहा है)।

१८६. रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् २।२।१५॥

लोके रूपादिमतो घटादेर् वस्तुनः स्वकारणापेक्षया स्थूलत्वस्याऽनित्यत्वस्य च दर्शनात्, वैशेषिकसिद्धान्ते चतुर्विधानां परमाणूनामपि रूपादिमत्त्वाद् वैशेषिकप्रतिज्ञातयोः परमाणूनामणुत्वनित्यत्वयोर् विपर्ययः स्थूलत्वाऽनित्यत्वरूपः प्रसज्यत इति परमाणुकारणतावादोऽनुपपन्न इत्यर्थः।

हिन्दी – लोक में रूपादियुक्त घटादि वस्तुओं का स्वस्वकारण की अपेक्षा स्थूलत्व और अनित्यत्व देखे जाने से और वैशेषिकसिद्धान्त में पृथिव्यादि के चार प्रकार के परमाणुओं में रूपादिमत्त्व माने जाने से परमाणुओं में वैशेषिकाभिमत अणुत्व तथा नित्यत्व का विपर्यय अर्थात् स्थूलत्व और अनित्यत्व प्रसक्त होता है। अतः वैशेषिक सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है।

१८७. उभयथा च दोषात् २।२।१६॥

चतुर्विधानां पृथिव्यादिपरमाणूनाम् उपचिताऽपचितगुणत्वस्य कल्पने पृथिव्यादिपरमाणूनामपरमाणुत्वस्य प्रसङ्गात्, अकल्पने च परमाणूनामेकगुणत्वे तेजःप्रभृतिषु स्पर्शादीनामनुपलब्धेः प्रसङ्गात्, परमाणूनां सर्वविधानामेव चतुर्गुणत्वे चाऽबादिषु गन्धादीनामुपलब्धेः प्रसङ्गाच्चेति पृथिव्यादिपरमाणूनाम् उपचिताऽपचितगुणत्वस्य कल्पनेऽकल्पने चेत्युभयथाऽपि दोषात् परमाणुकारणतावादोऽनुपपन्न इत्यर्थः।

हिन्दी – चार प्रकार के पृथिव्यादिपरमाणुओं के न्यूनाऽधिक-गुणयुक्तत्व की कल्पना करने पर अधिकगुण वाले परमाणु वस्तुतः परमाणु नहीं माने जा सकेंगे, सभी परमाणुओं को समान गुणयुक्त मानने पर तेजःप्रभृति के परमाणुओं में भी स्पर्शादि की अनुपलब्धि होगी अथवा जलप्रभृति के अणुओं में भी गन्धादि की उपलब्धि होगी। अतः पृथिव्यादिपरमाणुओं के न्यूनाधिक गुणयुक्तत्व की कल्पना करने में और समानगुणयुक्तत्व की कल्पना करने में भी दोनों पक्षों में दोष दिखाई देने से परमाणुकारणतावाद अनुपपन्न ही दिखाई देता है।

१८८. अपरिग्रहाच्चाऽत्यन्तमनपेक्षा २।२।१७॥

परमाणुकारणवादितर्काणां वेदवादिभिः शिष्टैरपरिगृहीतत्वात् श्रेयोर्थिभिर् वैदिकैर् जनैः परमाणुकारणवादे अत्यन्तमेवाऽनपेक्षा कर्तव्येत्यर्थः।

हिन्दी – परमाणुकारणवाद के तर्क वेदवादी शिष्टों से अपरिगृहीत (अस्वीकृत) होने से मोक्षार्थी वैदिक जनों को परमाणुकारणवाद की कोई अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अथ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः – चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः परमाणुकारणवादिवैशेषिकसिद्धान्तेन विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– परमाणुकारणवादिवैशेषिकसिद्धान्तस्य बुद्धिगम्यतर्कपुष्टतया प्रबलत्वात् तेन चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– परमाणुकारणवादे सर्गादावावश्यकस्य कर्मणोऽनुपपत्तेः सर्गस्याऽसम्भवात्, परमाणुद्व्यणुकयोः समवायसम्बन्धस्याऽऽवश्यकतायाः स्वीकारे समवायि-समवाययोरपि समवायस्य स्वीकारस्याऽऽवश्यकत्वेनाऽनवस्थायाः प्रसङ्गात्, नित्यसर्ग-नित्यप्रलयप्रसङ्गस्य परिहारस्योपायस्याऽभावात्, परमाणूनापि स्थूलत्वस्याऽनित्यत्वस्य च स्वीकार्यतायाः प्रसङ्गात्, परमाणूनामुपचितापचितगुणवत्त्वस्य कल्पनेऽकल्पने च दोषात्, वैदिकैः शिष्टैर् वैशेषिकसिद्धान्तेऽत्यन्तमेवाऽनादरस्य क्रियमाणत्वाच्च परमाणुकारणवादोऽनुपपन्न इति सुदुर्बलेन तेन चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्यत इति।

निर्णयः– स्वयं तर्कविरुद्धेन परमाणुकारणवादिवैशेषिकसिद्धान्तेन चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं नैव शक्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मकारणवादे हि वेदान्तानां समन्वयः।
२. सोऽणुकारणवादेन रोध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. स रोध्यो युक्तिप्राबल्यादित्याहुः पूर्वपक्षिणः।
४-५. युक्तिहीनाऽणुवादेन सोऽरोध्य इति निर्णयः॥२॥

५६.(४) समुदायाधिकरणम् (सू. १८-२७)

परमाण्वादीनामविनाशं देहादीनां निरन्वयं विनाशं च वदतामर्धवैनाशिकानां काणादानां वैशेषिकाणां मतेन ब्रह्मकारणतावादस्य विरोद्धुमशक्यत्वं प्रतिपाद्य सर्ववैनाशिकानां क्षणिकभाववादिनां सौगतानां मतेनाऽपि ब्रह्मकारणतावादस्य विरोद्धुमशक्यत्वं प्रतिपादयितुमाह–

१८९. समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः २।२।१८॥ इति।

सर्वास्तिवादिभिर् बौद्धैरभिप्रेयमाणे पृथिव्याद्यणुहेतुके बाह्ये पृथिव्यादि-भूतसङ्घाते रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-स्कन्धहेतुके पञ्चस्कन्धीरूपे आध्यात्मिके सङ्घाते च सङ्घातिनामचेतनत्वात्, बौद्धाभिमतचित्ताभिज्वलनस्य च सङ्घातसिद्ध्यधीनत्वात्, अन्यस्य च कस्य चिच् चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर् वा स्थिरस्य सङ्घातकर्तुर् बौद्धैरनभ्युपगमात् सङ्घातभावानुपपत्तिर् भवतीत्यर्थः। समुदायानुपपत्तौ च लोकयात्राया अपि अनुपपत्तेः सर्वास्तिवादिबौद्धदर्शनमनुपपन्नम्, अतश्च तेन वेदान्तानां ब्रह्मकारणवादे समन्वये विरोध उपस्थापयितुं न शक्यते इति भावः।

हिन्दी – सर्वास्तिवादि बौद्धों से माना गया पृथिव्यादिभूतसङ्घात और रूपादि स्कन्धों का आध्यात्मिक सङ्घात भी सङ्घात में सम्मिलित होने वाले तत्त्वों का अचेतन होने से और सङ्घात सम्पन्न करने वाला अन्य कोइ भोक्ता वा प्रशासिता भी बौद्धों के मत में स्वीकृत न होने से बन ही नहीं सकता है।

१९०. इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् २।२।१९॥

अविद्या-संस्कार-विज्ञान-नाम-रूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना-तृष्णानाम् उपादान-भव-जाति-जरा-मरण-शोक-परिदेवना-दुःख-दुर्मनस्त्वादीनां चेतरेतर-कारणत्वाद् लोकयात्रोपपद्यत इति तया लोकयात्रयाऽर्थाक्षिप्तः सङ्घातः सिध्यतीति चेत्, न अविद्यादीनाम् इतरेतरकारणत्वेऽपि पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रे निमित्तं भवेत् न तु सङ्घातोत्पत्तौ। अतः सङ्घातभावस्य तु बौद्धमते भोक्त्रभावात् प्रशासित्र-भावाच्चाऽनुपपत्तिरेवेति भावः।

हिन्दी – अविद्या संस्कार विज्ञान नाम रूप नाम-रूपमिश्रित इन्द्रियरूप षडायतन इत्यादि का परस्परोत्पत्तिकारण होने से लोकयात्रा उपपन्न होती है और लोकयात्रा सिद्ध होने से सङ्घात अर्थाक्षिप्त रूप में सिद्ध होता है, ऐसी बात नहीं मानी जा सकती है, क्यों कि अविद्यादि के परस्पर कारण होने पर भी अविद्यादि में पूर्वपूर्व वस्तु उत्तरउत्तर वस्तु की उत्पत्ति में ही निमित्त माना जा सकता है, सङ्घात की उत्पत्ति में नहीं। अतः बौद्धों के सिद्धान्त में स्थिर भोक्ता के और प्रशासिता के भी अभाव होने से सङ्घात की तो अनुपपत्ति ही होती है।

१९१. उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् २।२।२०॥

क्षणभङ्गवादिनो बौद्धस्य मते उत्तरस्य क्षणस्य उत्पादे पूर्वस्य क्षणस्य विनाशाद् उत्तरोत्तरस्योत्पत्तौ पूर्वपूर्वस्य निमित्तत्वमपि नोपपद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – क्षणभङ्गवादी बौद्धों के मत में उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्वक्षण के विनाश माने जाने से उत्तरउत्तर के उत्पत्ति में पूर्वपूर्व के निमित्तत्व भी उपपन्न नहीं माना जा सकता है।

१९२. असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा २।२।२१॥

यदि बौद्धोऽसत्येव हेतौ फलोत्पत्तिर् भवतीति वदति तदा तस्य आलम्बन-प्रत्यय-समनन्तरप्रत्यया-ऽधिपतिप्रत्यय-सहकारिप्रत्यय-रूपाँश्चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता भावा उत्पद्यन्ते इति प्रतिज्ञाया हानिर् भवति, हेतुहेतुमद्भावप्रतिज्ञा-परिपालनाय कारणस्य कार्यकाले सत्त्वमङ्गीकृत्य प्रकारान्तरेण कार्यकारणभाव-स्योपपादने च कार्यकारणयोरेककालवृत्तिता प्रसज्यते इत्यर्थः। कार्यकारणयोर् यौगपद्ये स्वीकृते च कारणस्याऽनेकक्षणस्थायित्वस्य प्रसङ्गात् 'सर्वं क्षणिकम्' इति बौद्धस्य प्रतिज्ञाया उपरोध एव भवति। प्रतिज्ञाहानौ च तन्मतस्याऽनुपपन्नत्वं स्फुटं भवति।

हिन्दी – बौद्ध यदि हेतु के विना ही फल की उत्पत्ति होने की बात मानते हैं तो उन की *'आलम्बनप्रत्यय (=विषय), समनन्तरप्रत्यय (=मनोयोग), अधिपतिप्रत्यय (=इन्द्रिय) और सहकारि-*

प्रत्यय (=आलोकादि) इन चार प्रकार के हेतुओं को पाकर ही चित्त (=विज्ञान) और चैत्त (=सुखादि) भाव उत्पन्न होते हैं' इस प्रतिज्ञा की हानि होगी, यदि इस प्रतिज्ञाहानि के परिहार के लिए कारण का कार्यकाल में सत्त्व मानकर प्रकारान्तर से कार्य-कारणभाव का उपपादन करने का प्रयास बौद्ध करते हैं तो इस पक्ष में भी कार्य और कारण की एककालवृत्तिता माननी पडेगी और कारण की अनेकक्षण-वृत्तिता भी माननी पडेगी। (इस पक्ष में भी बौद्धों की *'सभी पदार्थ क्षणिक हैं'* इस प्रतिज्ञा की हानि हो जाएगी)।

१९३. प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् २।२।२२।

प्रति=भावप्रातिकूल्येन, सङ्ख्या=बुद्धिः, निरोधः=नाशः। एवं च इदं नाशयिष्यामीति बुद्ध्या कृतो भावनिरोधः प्रतिसङ्ख्यानिरोधः, ज्ञानकृत आत्यन्तिकः प्रलयः। अबुद्धिपूर्वकः स्तम्भादीनां प्रतिक्षणं स्वारसिको निरोधः अप्रतिसङ्ख्या-निरोधः, स्वाभाविकः प्रलयः। प्रतिसङ्ख्यानिरोधा-ऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधा-ऽऽकाश-त्रयाद् अन्यद् बुद्धिबोध्यं क्षणिकं चेति सर्वास्तिवादिवैनाशिकमते कार्यकारण-सन्तानस्याऽविच्छेदात्, विच्छेदे वा निरुपाख्यतायाः प्राप्तेः, निरुपाख्यस्य च विनाशायोगात् प्रतिसङ्ख्यानिरोधाऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरसम्भव इत्यर्थः। एवं च सर्वास्तिवादिवैनाशिकदर्शनमनुपपन्नमिति भावः।

हिन्दी – सर्वास्तिवादी बौद्धों के मत में कार्य-कारणभाव की शृङ्खला न टूटने से उन के अभिमत प्रतिसङ्ख्यानिरोध (बुद्धिपूर्वक विनाश=ज्ञानकृत आत्यन्तिक प्रलय) और अप्रतिसङ्ख्या-निरोध (अबुद्धिपूर्वक विनाश=स्वाभाविक प्रलय) हो ही नहीं सकते हैं।

१९४. उभयथा च दोषात् २।२।२३॥

सर्वास्तिवादिभिर् बौद्धैः परिकल्पितस्य प्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तर्गतस्य अविद्यादिनिरोधस्य सम्यग्ज्ञानजत्वे स्वीकृते सर्वस्य वस्तुनो निर्हेतुको नाशो भवतीति तेषां सिद्धान्तस्य हानिः स्यात्, अविद्यादिनिरोधस्य निर्हेतुकत्वे स्वीकृते तु तेषां सम्यग्दृष्ट्याद्यष्टाङ्गमार्गोपदेशोऽनर्थकः स्यादिति उभयथाऽपि दोषादसम-ञ्जसं सर्वास्तिवादिबौद्धदर्शनमित्यर्थः।

हिन्दी – सर्वास्तिवादी बौद्धों से परिकल्पित प्रतिसङ्ख्यानिरोध के अन्तर्गत अविद्यादि-निरोध को सम्यग्ज्ञान से होने वाला मानने पर सभी वस्तुओं का निर्हेतुक नाश होने का उन का सिद्धान्त बाधित होता है, अविद्यादिनिरोध को निर्हेतुक मानने पर उन का सम्यग्दृष्ट्यादि अष्टाङ्गसाधनामार्ग का उपदेश निरर्थक होता है; अतः दोनों पक्षों में दोष होने से सर्वास्तिवादी बौद्धों का दर्शन अनुपपन्न है।

१९५. आकाशे चाऽविशेषात् २।२।२४॥

प्रतिसङ्ख्यानिरोधः अप्रतिसङ्ख्यानिरोधः आकाशश्च निरुपाख्या इति सर्वास्तिवादिबौद्धमतं प्रतिसङ्ख्यानिरोधाऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरिव आकाशेऽपि वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषाद् असमञ्जसमित्यर्थः।

हिन्दी – प्रतिसङ्ख्यानिरोध, अप्रतिसङ्ख्यानिरोध और आकाश को निरुपाख्य (=शशशृङ्गवत् स्वरूपरहित वाच्यार्थ, अलीक, तुच्छ) मानने का सर्वास्तिवादियों का मत प्रतिसङ्ख्यानिरोध और अप्रतिसङ्ख्यानिरोध की भाँती आकाश में भी तुल्य रूप में वस्तुत्व की प्रतिपत्ति (बुद्धि) होने से अनुपपन्न ही है।

१९६. अनुस्मृतेश्च २।२।२५॥

ज्ञेयस्य सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकत्वमभ्युपगच्छद्भिः सर्वास्तिवादिभिर् बौद्धैः स्वीकर्तव्यं ज्ञातुरात्मनः क्षणिकत्वं ज्ञानानन्तरं जायमानायाः समानकर्तृकायाः स्मृतेर् दर्शनाद् ज्ञातुरनेकक्षणस्थायित्वस्य सिद्धत्वादनुपपन्नं भवतीति सर्वास्तिवादिबौद्धमतमसमञ्जसमित्यर्थः।

हिन्दी – ज्ञेय सभी वस्तुओं को क्षणिक मानने वाले सर्वास्तिवादी बौद्ध ज्ञाता आत्मा को भी क्षणिक मानते हैं, किन्तु ज्ञानानन्तर ज्ञाता को होने वाली स्मृति से ज्ञाता आत्मा का अनेकक्षणस्थायित्व सिद्ध होने से आत्मा का क्षणिकत्व अनुपपन्न होता है, अतः सर्वास्तिवादिबौद्धदर्शन युक्तिसङ्गत नहीं है।

१९७. नाऽसतोऽदृष्टत्वात् २।२।२६॥

'सर्वं क्षणिकम्' इति सर्वास्तिवादिबौद्धमते स्वीकृतः कारणवस्तुनः कार्यवस्तुना सहभावेन उपादानत्वस्याऽसम्भवाद् असत एव कारणत्वमिति सिद्धान्तः असतः शशविषाणादिकस्य कारणत्वस्य लोकेऽदर्शनाद् नोपपद्यत इति असमञ्जसमेव सर्वास्तिवादिबौद्धंदर्शनमित्यर्थः।

हिन्दी – सभी वस्तुओं को क्षणिक मानने वाले सर्वास्तिवादी बौद्धों से स्वीकृत कारण वस्तु का कार्य वस्तु के साथ सहभाव से उपादानत्व सम्भव नहोने से असत् को ही कारण मानने का सिद्धान्त असत् शशशृङ्गादि का कारणत्व लोक में नहीं देखे जाने से अनुपपन्न ही दिखाई देता है। अतः सर्वास्तिवादी बौद्धों का दर्शन असमञ्जस ही है।

१९८. उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः २।२।२७॥

सर्वास्तिवादिबौद्धमतानुसारम् असत एव कारणत्वमित्येवं स्वीकृते सर्वस्यैव कार्यजातस्य कारणत्वेन बौद्धानामभिमतस्य असतः सर्वत्र सुलभत्वात् फलनिष्पत्तये प्रयत्नमकुर्वाणानामुदासीनानामपि अभिमतफलसिद्धिः स्यात्, न चैवं भवति, कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्य सस्यनिष्पत्तेरदर्शनात्। तस्माद् अभावाद् भावस्योत्पत्तिं स्वीकुर्वाणानां वैनाशिकानां सर्वास्तिवादिबौद्धानां दर्शनमसमञ्जसमेवेति भावः।

हिन्दी – सर्वास्तिवादी बौद्धों के मत में असत् को ही सभी कार्यों का कारण माने जाने से और असत् सर्वत्र सुलभ होने से कार्योत्पादन के प्रयत्न में उदासीन लोगों की भी कार्यसिद्धि वा

फलप्राप्ति हो जायगी। ऐसी बात तो लोक में नहीं देखी जाती है, विना प्रयास फसल तो नहीं होता है। अतः सर्वास्तिवादी बौद्धों का असत्कारणवाद अनुपपन्न ही है।

अथ समुदायाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– सच्चिद्रूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– सच्चिद्रूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः अचेतनहेतुकबाह्याभ्यन्तरसङ्घातवादिनां सर्वास्तिवादिबौद्धानां मतेन विरोद्धुं शक्यो न वेति।

पूर्वपक्षः– अचेतनहेतुकबाह्याभ्यन्तरसङ्घातवादिनां सर्वास्तिवादिबौद्धानां सिद्धान्तस्य दृढतर्कमूलकत्वात् तेन सच्चिद्रूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं शक्य इति।

उत्तरम्– सङ्घातिनामचेतनत्वात्, अन्यस्य च कस्य चिच्चेतनस्य स्थिरस्य भोक्तुः प्रशासितुर् वा सङ्घातस्य कर्तुर् बौद्धैरस्वीकृतत्वाच्च पृथिव्याद्यणुहेतुकस्य बाह्यस्य पृथिव्यादिभूतसङ्घातस्य, रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-स्कन्धहेतुकस्य स्कन्धपञ्चकरूपस्य आध्यात्मिकस्य सङ्घातस्य चाऽसम्भवात्, प्रतीत्यसमुत्पादसिद्धान्तस्य च क्षणिकत्वसिद्धान्तविरोधेनाऽनुपपन्नत्वात्, प्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तर्गतस्याऽविद्यादिनिरोधस्य चाऽसम्भवात्, सम्भवे वाऽपि तस्य निरोधस्य सहेतुकत्वे निर्हेतुकत्वे चाऽपि तदीयसिद्धान्तान्तरस्य विरोधात्, ज्ञानानन्तरं जायमानात् स्मरणाद् ज्ञातुरात्मनः स्थिरत्वस्याऽवगम्यमानत्वेन बौद्धक्षणिकवादस्याऽसङ्गतत्वस्य सिद्धत्वात्, बौद्धसम्मताऽसत्कारणवादस्य दृष्टविरुद्धत्वाच्च अचेतनहेतुकबाह्याऽऽभ्यन्तरसङ्घातवादिनां वैनाशिकानां सर्वास्तिवादिबौद्धानां सिद्धान्तस्य सर्वतर्कविरुद्धत्वेन सर्वथा दुर्बलत्वाद् हेयत्वाच्च तेन सच्चिद्रूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्य इति।

निर्णयः– अनेकतर्कविरुद्धेन अचेतनहेतुकबाह्याऽऽभ्यन्तरसङ्घातवादिनां वैनाशिकानां सर्वास्तिवादिबौद्धानां सिद्धान्तेन सच्चिद्रूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं नैव शक्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सतश्चितो ब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. वैभाषिकोक्त्या रोध्यो वा न रोध्यो वेति संशयः॥१॥
३. रोध्यस् तदुक्त्या सुदृढतर्कयेत्यपि के चन।
४-५. शैथिल्यात् तस्य तर्काणां न रोध्य इति निर्णयः॥२॥

५७.(५) अभावाधिकरणम् (सू. २८-३२)

क्षणिकबाह्यार्थवादिमतेन ब्रह्मणो जगदुपादानताया विरोद्धुमशक्यत्वं प्रदर्श्य क्षणिक-बाह्यार्थवादोपजीवि-क्षणिकविज्ञानवादि-मतेनाऽपि ब्रह्मणो जगदुपादानताया विरोद्धुमशक्यत्वं प्रतिपादयितुमाह–

१९९. नाऽभाव उपलब्धेः २।२।२८॥ इति।

बाह्यानां स्तम्भादीनां परमाणुरूपतायाः तत्समूहरूपतायाश्चाऽनुपपद्यमानत्वात्, ज्ञानस्यैव विषयाकारतायाः स्वीकर्तुं शक्यत्वात्, स्वप्न-माया-मरीच्युदक-गन्धर्वनगरादिप्रत्ययानामिव जागरितप्रत्ययानामपि बाह्यार्थेन विनैवोपपद्यमानत्वात्, वासनावैचित्र्यादेव प्रत्ययवैचित्र्यस्य सम्भवाच्च बाह्यार्थानाम् अभाव इति विज्ञानवादिबौद्धपक्षः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति प्रतिप्रत्ययं प्रत्ययविषयत्वेन बाह्यार्थानामुपलभ्यमानत्वाद् नोपपद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – स्वप्न, माया, मरीच्युदक, गन्धर्वनगर इत्यादि के प्रत्यय जैसे विना बाह्य विषय उपपन्न होते हैं उसी प्रकार स्तम्भ-कुड्य-घट-पटादि के प्रत्यय भी उपपन्न होते हैं, अतः बाह्य अर्थों का अभाव है, केवल विज्ञान ही वासनावश बाह्यार्थों के रूप में प्रतीत होता है यह विज्ञानवादी बौद्धों का पक्ष स्तम्भ-कुड्य-घट-पटादि के प्रत्ययों में प्रत्यय-विषयों के रूप में स्तम्भ-कुड्यादिरूप बाह्यार्थ उपलभ्यमान होने से उपपन्न नहीं माना जा सकता है।

२००. वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् २।२।२९॥

स्वप्न-माया-मरीच्युदक-गन्धर्वनगरादीनां बाधः सर्वैरनुभूयते, जागरितप्रत्ययविषयाणां तु न तथा बाधोऽनुभूयत इति वैधर्म्यात् जागरितप्रत्ययः स्वप्न-माया-मरीच्युदक-गन्धर्वनगरादिप्रत्ययवद् बाह्यार्थं विनैव भवितुं नाऽर्हतीत्यर्थः।

हिन्दी – स्वप्नादि का बाध होने से और जागरितप्रत्यय-विषय स्तम्भादि का वैसे बाध नहोने से उन में वैधर्म्य होने से जागरितप्रत्यय स्वप्नादिप्रत्ययवत् बाह्यार्थ विना उपपन्न नहीं हो सकते हैं।

२०१. न भावोऽनुपलब्धेः २।२।३०॥

विज्ञानवादिबौद्धाभिमतानां प्रत्ययवैचित्र्यहेतुभूतानां वासनानां भावस् तन्मते बाह्यानामर्थानामनुपलब्धेः, बाह्यार्थोपलब्ध्यभावे च वासनावैचित्र्यस्याऽपि अनुपपत्तेश्च नैवोपपद्यत इत्यर्थः।

हिन्दी – विज्ञानवादी बौद्धों के मत में बाह्य अर्थों की उपलब्धि नहोने से और बाह्य अर्थों की उपलब्धि के अभाव में वासना का वैचित्र्य भी अनुपपन्न होने से विज्ञानवादी बौद्धों की अभिमत प्रत्ययवैचित्र्यहेतुभूत वासनाओं की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती है।

२०२. क्षणिकत्वाच्च २।२।३१॥

विज्ञानवादिबौद्धाभिमतस्य अहमहमिति-ज्ञानप्रवाहरूपस्य आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वाच्च तस्य वासनाऽधिकरणत्वासम्भवात् प्रत्ययवैचित्र्यसम्पादनसमर्थानां वासनानां निराश्रयत्वेन च भावो नोपपद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – विज्ञानवादी बौद्धों का अभिमत आलयविज्ञान क्षणिक होने से और उस में वासना का अधिरणत्व ही असम्भव होने से निराश्रय वासनाओं में प्रत्ययवैचित्र्यसम्पादन का सामर्थ्य ही नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रत्ययवैचित्र्यसम्पादन में समर्थ वासनाओं की सत्ता ही अनुपपन्न है।

२०३. सर्वथाऽनुपपत्तेश्च २।२।३२॥

क्षणिकविज्ञानवादे देशकालनिमित्तापेक्षसंस्काराधान-स्मृति-प्रत्यभिज्ञादि-मूलक-व्यवहाराणां सर्वथाऽनुपपत्तेश्च क्षणिकविज्ञानवादिबौद्धदर्शनमसमञ्जस-मित्यर्थः।

उक्ताभिर् युक्तिभिरेव शून्यवादिबौद्धमतमपि निराकृतं वेदितव्यम्। तत्र नाऽभाव उपलब्धेरित्यादिषु सूत्रेषु ज्ञेयानामर्थानामुपलब्धेस् तेषामभावो नोपपद्यते इत्यादिरूपेणार्थः प्रतिपादनीयः।

हिन्दी – क्षणिकविज्ञानवाद में देश-काल-निमित्तापेक्ष संस्काराऽऽधान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा इत्यादि के आधार में होने वाले व्यवहारों की अनुपपत्ति होने से भी क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त सर्वथा अनुपपन्न है।

उक्त युक्तियों से ही शून्यवादी बौद्धों का सिद्धान्त भी निरस्त हो जाता है।

अथाऽभावाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– अखण्डनिर्विशेषज्ञानरूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– अखण्डनिर्विशेषज्ञानरूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विभिन्नाकारकक्षणिकविज्ञानस्य प्रतीयमानबाह्यार्थोपादानतायाः प्रतिपादकेन क्षणिकविज्ञानवादिबौद्धमतेन (योगाचारबौद्धमतेन) विरोद्धुं शक्यो न वेति।

पूर्वपक्षः– विभिन्नाकारकक्षणिकविज्ञानस्य प्रतीयमानबाह्यार्थोपादानतायाः प्रतिपादकस्य क्षणिकविज्ञानवादिबौद्धमतस्य (योगाचारबौद्धमतस्य) सुदृढतर्कमूलकत्वात् तेन अखण्डनिर्विशेषज्ञानरूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं शक्य इति।

उत्तरम्– स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति प्रतिप्रत्ययं प्रत्ययविषयत्वेन स्तम्भादीनां बाह्याना-मर्थानामुपलभ्यमानत्वात्, जागरितप्रत्ययविषयाणां स्वप्न-माया-मरीच्युदक-गन्धर्व-नगरादीनां च अबाधबाधाभ्यां वैधर्म्यात्; क्षणिकविज्ञानवादिबौद्धानां मते प्रत्ययवैचित्र्य-हेतुभूतानां वासनानां सत्ताया निर्निमित्तत्वेन अनुपपन्नत्वात्, स्थिरस्य वासनाधिकरण-स्याऽभावात्, देशकालनिमित्तापेक्षसंस्काराधान-स्मृतिप्रत्यभिज्ञादिमूलकव्यवहाराणां सर्व-थाऽनुपपत्तेश्च तेषां मतस्य तर्कविरुद्धत्वेन सर्वथा दुर्बलत्वात् तेन अखण्डनिर्विशेषज्ञान-रूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्य इति।

निर्णयः– अनेकतर्कप्रतिकूलेन सुदुर्बलेन विभिन्नाकारकक्षणिकविज्ञानवादिमतेन अखण्ड-निर्विशेषज्ञानरूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं नैव शक्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. निर्विशेषाखण्डचितः कारणत्वे समन्वयः।
२. बौद्धक्षणिकविज्ञानमतरोध्यो न वा मतः॥१॥
३. तत्तर्काणां बलीयस्त्वाद् रोध्यः स इति के चन।
४-५. अमूलत्वात् तु तर्काणां न रोध्य इति निर्णयः॥२॥

५८.(६) एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् (सू. ३३-३६)

उपलब्ध्यादिभिः क्षणिकविज्ञानास्तित्ववादिमुक्तकच्छबौद्धमतस्य वैतथ्यं प्रतिपाद्य तेन ब्रह्मणो जगत्कारणताया विरोद्धुमशक्यत्वे प्रतिपादिते जड-चेतन-सकलजगतोऽनियतमस्तित्वं प्रतिपादयतां मुक्ताम्बराणां स्याद्वादिनां जैनानां मतेनाऽपि चेतनस्य एकान्तसत्यस्य ब्रह्मणो जगत्कारणताया विरोद्धुमशक्यत्वं प्रतिपादयितुमाह—

२०४. नैकस्मिन्नसम्भवात् २।२।३३॥ इति।

जैनसम्मते जीवा-ऽजीवा-ऽऽस्रव-निर्जर-बन्ध-मोक्षाणां तदवान्तरभेदरूपाणां च पदार्थानामन्यतमस्मिन् कस्मिँश्चिदपि एकस्मिन् पदार्थेऽन्यत्र चाऽपि एकस्मिँस् तत्त्वे **'स्यादस्ति, स्यान् नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यान् नास्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्च'** इति अनेकान्तवादिजैनसम्मतसप्तभङ्गीनयाऽनुकूलस्य सदसत्त्वादिपरस्परविरुद्ध-धर्मसमावेशस्य असम्भवाज् जैनमतमसमञ्जसमित्यर्थः। ब्रह्मणि च जैनसप्तभङ्गी-नययोजनस्याऽसम्भवाद् एकरूपं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो जैनतर्केण रोद्धुं न शक्यते इति भावः।

हिन्दी – जैनसम्मत जीवादि वा अन्य किसी भी एक पदार्थ में "स्यादस्ति, स्यान् नास्ति" इत्यादि अनेकान्तवादिजैनसम्मत सप्तभङ्गीनय के अनुकूल रूप में सत्त्व असत्त्व इत्यादि परस्पर विरुद्ध धर्मों का समावेश होना असम्भव होने से जैनमत अनुपपन्न है। ब्रह्म में भी सप्तभङ्गीनययोजन असम्भव होने से एकरूप ब्रह्म का जगत् के कारण के रूप में प्रतिपादन करने में वेदान्तवाक्यों के समन्वय को जैनतर्क से बाधित नहीं किया जा सकता है, यह भाव है।

२०५. एवं चाऽऽत्माऽकार्त्स्न्यम् २।२।३४॥

यथा एकस्मिन् विरुद्धधर्मसमावेशो न युज्यते एवमेव जैनैर्नित्यत्वेन स्वीकृतस्य जीवस्य मध्यमपरिमाणकताया असम्भवात् जैनैः स्वीकृतं जीवात्मनस् तत्तद्देहविशेषपरिमाणपरिच्छिन्नत्वेनाऽव्यापकत्वं च न युज्यते इत्यर्थः। न इति असम्भवाद् इति च पूर्वसूत्रादनुवर्तते। अकार्त्स्न्यम्=अव्यापकत्वम्।

हिन्दी – जैसे एक धर्मि में अस्तित्व-नास्तित्वादि विरुद्धधर्मों का समावेश युक्तियुक्त नहीं वैसे ही जैनों से नित्य रूप में स्वीकृत जीव का मध्यमपरिमाणकत्व असम्भव होने से जीवात्मा का तत्तद्देहविशेषपरिमाणपरिच्छिन्नत्वमूलक अव्यापकत्व (अकार्त्स्न्य) युक्तियुक्त नहीं है।

२०६. न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः २।२।३५॥

प्लुषिप्रभृति-तिमिङ्गिलगिलान्तानां प्राणिनां शरीराणां नानापरिमाणवत्त्वात् कर्मवशेन पर्यायेण तत्तच्छरीरं गृहीतवतो जीवस्य तत्तच्छरीराऽव्याप्तेस् तत्तच्-छरीराऽसम्मितेर् वाऽपि प्रसङ्गात् जैनसम्मते जीवस्य मध्यमपरिमाणवत्त्वे जीवदेहान्तरप्राप्तिनियमस्य विरोधः प्रसज्यते। अनिशमापूर्यमाणस्याऽपक्षीयमाणस्य च जीवस्य विकारस्य प्रसङ्गात् ततश्च बन्धमोक्षव्यवस्थाया असम्भवात्, उपागच्छतां जीवावयवानामुत्पत्तेरपगच्छतां जीवावयवानां लयस्य च स्थानस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्, जीवस्याऽनवधृतस्वरूपतायाः प्रसङ्गाच् च पर्यायादवयवानामुपागमस्याऽपगमस्य च व्यवस्थायाः प्रतिपादनेन जीवस्य जन्मान्तरेषु नानापरिमाणशरीराणां व्याप्तेस् तेषु सम्मितेश् च प्रतिपादनेन अविरोध उपपादयितुं न च शक्यत इत्यर्थः।

हिन्दी – जीव का मध्यमपरिमाणत्व माने जाने पर भी बारीबारी से जीवावयवों का उपागमन और अपगमन मान कर जीव से स्थूल शरीरों की व्याप्ति और सूक्ष्म शरीरों में जीव की सम्मिति उपपादित की जा सकती है, ऐसा मानकर भी अविरोध नहीं माना जा सकता है, क्यों कि जीव के अवयवों के उपागमन और अपगमन को मानने से जीव में विकार मानना पडेगा और उस में अनित्यता आ जायगी, फलतः जीव मोक्ष के लिए योग्य नहीं रहेगा।

२०७. अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः २।२।३६॥

जैनैरन्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य व्यवस्थितेः स्वीक्रियमाणत्वाद् आद्यमध्यमकालयोरुभयोरपि जीवपरिमाणयोर् व्यवस्थितनियत-परिमाणकत्वस्यैव स्वीकार्यत्वाद्, अन्यथा अन्त्यपरिमाणस्योत्पत्तिमत्त्वस्य प्रसङ्गेन नित्यताया भङ्गस्य प्रसङ्गाद् आद्य-मध्यमा-ऽन्त्यजीवपरिमाणेषु अविशेष एव स्वीकर्तुमुचितो न जैनाऽभिमतो विशेष इति जीवात्मविषयको जैनानामभ्युपगमः सर्वथा युक्तिशून्य इत्यर्थः। एवञ्च युक्तिशून्याभ्युपगमवता जैनानामनेकान्तवादेन एकरूपं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न रोद्धुं शक्य इति भावः।

हिन्दी – जैनों से अन्त्य मोक्षावस्था में रहने वाले जीवपरिमाण को व्यवस्थित माने जाने से आद्य और मध्यम काल के जीवपरिमाण को भी व्यवस्थित मानना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा अन्त्य जीवपरिमाण का उत्पत्तिमत्त्व मानना पडेगा और जीव को अनित्य मानने में बाध्य होना पडेगा। अत एव जैनों को आद्य-मध्यम-अन्त्य-जीवपरिमाणों में अविशेष (=समानता) ही मानना उचित है।

किन्तु वे वैसा नहीं मानते हैं। इस लिए उन का जीवविषयक सिद्धान्त युक्तिशून्य है। इस प्रकार युक्तिशून्य सिद्धान्त वाले जैनों के अनेकान्तवाद से एकरूप ब्रह्म को जगत् का कारण बताने में वेदान्तों का समन्वय बाधित नहीं हो सकता है।

अथ एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– एकरूपं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– एकरूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयोऽनेकान्तवादिजैनतर्कैर् विरोद्धुं शक्यो न वेति।

पूर्वपक्षः– अनेकान्तवादिजैनतर्काणां लोकस्थित्यनुकूलत्वेन प्रबलत्वात् तैरेकरूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं शक्य इति।

उत्तरम्– एकस्मिन् वस्तुनि अनेकान्तवादिजैनसम्मतस्य सदसत्त्वादिपरस्परविरुद्धधर्मसमावेशस्याऽसम्भवात्, जैनसम्मतजीवमध्यमपरिमाणस्य च बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिकूलत्वेनाऽनौचित्यात्, संसृत्यवस्थायामपि जन्मान्तरेषु नानापरिमाणकशरीरग्रहणेषु जीवमध्यमपरिमाणस्य सर्वशरीरव्याप्तेः सर्वशरीरसम्मितेर् वाऽप्यसम्भवेन उपपादयितुमशक्यत्वात्, जैनसम्मतस्य संसृत्यवस्था-मोक्षावस्थागतजीवपरिमाणभेदस्य चाऽनुपपन्नत्वाच्च जैनतर्काणां भ्रान्तिमूलकताया अवसीयमानत्वात्, तादृशैर् भ्रान्तिमूलकैरनेकान्तवादिजैनतर्कैरेकरूपस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्य इति।

निर्णयः– अनेकान्तवादिजैनतर्काणां भ्रान्तिमूलकत्वात् तैरेकरूपस्य ब्रह्मणो जगतः कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं नैव शक्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. एकरूपब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. अनेकान्तिजैनतर्कै रोध्यो वा नेति संशयः।।१।।
३. प्राबल्याज् जैनतर्काणां स रोध्य इति के चन।
४-५. तत्तर्काणां भ्रमोत्थत्वान् नो रोध्य इति निर्णयः।।२।।

५९.(७) पत्यधिकरणम् (सू. ३७-४१)

लुञ्चितकेशानां स्याद्वादिनां जैनानां मतेन एकान्तसत्यस्य ब्रह्मण जगदुपादानताया विरोद्धमशक्यत्वे प्रतिपादिते सत्त्वाऽसत्त्वादीनां मिथो विरुद्धानां धर्माणामेकत्राऽसम्भवाद् यथाऽनैकान्तिकजैनमतमनुपपन्नं तथैव एकस्मिन्नद्वितीये चेतने ब्रह्मण्यपि सकलजगत उपादानत्वं निमित्तकारणत्वं चैकत्राऽनुपपन्नमिति वदतां जटाधारिणां पाशुपतादीनां माहेश्वराणाम् ईश्वरवादिसाङ्ख्य-वैशेषिकादीनां च मतेन ब्रह्मणो जगदुपादानताया विरोद्धमशक्यत्वं प्रतिपादयितुमाह—

२०८. पत्युरसामञ्जस्यात् २।२।३७॥ इति।

ईश्वरवादिसाङ्ख्य-शैवपाशुपतादिमाहेश्वर-वैशेषिकादिसम्मते केवलाधिष्ठात्रधिपतिरूपेश्वरवादे स्वीकृतस्य केवलनिमित्तकारणरूपस्य पत्युर् हीनमध्यमोत्तमभावेन प्राणिभेदान् विदधतो रागद्वेषस्वार्थप्रवृत्तिमत्त्वादिदोषाऽऽकरत्वापाताद् ईश्वरत्वस्यैवाऽसम्भवेनाऽसामञ्जस्यात् केवलाधिष्ठात्रीश्वरवादिनां दर्शनमनुपपन्नमित्यर्थः। तेन केवलाधिष्ठात्रधिपतिरूपेश्वरवादेन ब्रह्मणः जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं न शक्यते इति, औपनिषदानां तु यथाश्रुति अभिन्ननिमित्तोपादानरूपेण ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः स्वीकारे तर्कविरोधोऽकिञ्चित्कर आगमविरोधेऽनुमानादीनामप्रसरादिति च भावः।

हिन्दी – ईश्वरवादिसाङ्ख्ययोग-शैवपाशुपतादिमाहेश्वर-वैशेषिकादिसम्मत केवल अधिष्ठातृ अधिपतिरूप ईश्वरवाद में स्वीकृत केवल निमित्तकारणरूप ईश्वर में प्राणियों को हीन-मध्यम-उत्तम बनाने के और राग-द्वेष-स्वार्थपूर्ण क्रियाकलाप करने के दोष आने से उस में से ईश्वरत्व ही चले जाने की नौवत आ जाने से उक्त ईश्वरवाद युक्तिरहित है। अतः इस युक्तिरहित ईश्वरवाद से ब्रह्म का जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान के रूप में प्रतिपादन करने में वेदान्तों का समन्वय बाधित नहीं हो सकता है।

२०९. सम्बन्धाऽनुपपत्तेश्च २।२।३८॥

ईश्वरवादिसाङ्ख्ययोगमते प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वेषामेव सर्वगतत्वाद् निरवयवत्वाच्च प्रधानपुरुषयोरीशितृत्वेनाऽभिमतस्येश्वरस्य प्रधानपुरुषाभ्यां सह वैशेषिकादिमते चेश्वरस्य जीवैः सह च संयोग-समवायादिसम्बन्धानामनुपपत्तेश्च पत्युरसामञ्जस्यात् केवलनिमित्तकारणरूपेश्वरवादिमतमनुपपन्नमेवेत्यर्थः।

हिन्दी – ईश्वरवादिसाङ्ख्ययोग के मत में प्रधान, पुरुष और ईश्वर, वैशेषिकादिमत में जीव और ईश्वर सभी सर्वगत निरवयव होने से नियन्ता ईश्वर का प्रधान, पुरुष और जीव से संयोग-समवायादि कोई भी सम्बन्ध न हो सकने से भी उन का ईश्वरवाद अनुपपन्न है।

२१०. अधिष्ठानानुपपत्तेश्च २।२।३९।

लोकदृष्टकुम्भकारादिदृष्टान्तबलेन साङ्ख्ययोगादिवादिभिः परिकल्पितस्येश्वरस्य रूपादिहीनाऽप्रत्यक्षालौकिकप्रधानाद्यधिष्ठानस्याऽनुपपत्तेश्च पत्युरसामञ्जस्यात् तेषां मतमनुपपन्नमित्यर्थः। तेन वेदान्तसमन्वयो न बाध्यते इति भावः।

हिन्दी – लोक में दृश्यमान कुम्भकारादि के दृष्टान्त के बल पर साङ्ख्ययोगादि वादियों से परिकल्पित ईश्वर से रूपादिहीन अप्रत्यक्ष अलौकिक प्रधान इत्यादि का अधिष्ठान न हो सकने से उन का अधिष्ठात्रीश्वरवाद अनुपपन्न है। अतः उन के अधिष्ठात्रीश्वरवाद से वेदान्तों का उक्त समन्वय बाधित नहीं हो सकता है।

२११. करणवच् चेन् न भोगादिभ्यः २।२।४०॥

रूपादिहीनस्य चक्षुरादेः करणस्य पुरुषेणाऽधिष्ठानमिव प्रधानस्याऽपीश्वरेणाऽधिष्ठानं स्यादिति चेत्, तथा स्वीकारे यथा पुरुषस्य भोगादेर् दर्शनात् करणानां पुरुषाधिष्ठितत्वं तथैव ईश्वरस्य भोगादेः स्वीकारेण प्रधानस्य ईश्वराधिष्ठितत्वं कल्पयितव्यमिति प्रधानस्याऽधिष्ठातुरीश्वरस्यापि भोगादीनां स्वीकारस्य प्रसङ्गात्, भोगादीनां प्रसक्तौ चेश्वरस्य लौकिकपुरुषतुल्यताया आपत्तेस् तथा स्वीकर्तुं न युज्यत इति पत्युरसामञ्जस्यात् तेषां मतमनुपपन्नमेवेत्यर्थः। तेन वेदान्तसमन्वयो बाधितो न भवतीति भावः।

हिन्दी – यदि पूर्वपक्षी मानता है कि रूपादिहीन चक्षुरादि करणों का पुरुष से जैसे अधिष्ठान हो सकता है वैसे ही रूपादिहीन प्रधान का भी ईश्वर से अधिष्ठान हो सकता है, तो इस पक्ष में ईश्वर में भी पुरुष के समान भोगादि प्रसक्त होने से उनका ईश्वर ईश्वर नहीं रहेगा, लौकिक पुरुषतुल्य हो जायगा, अतः यह मत अनुपपन्न है। इस से वेदान्तों का समन्वय बाधित नहीं हो सकता है, यह भाव है।

२१२. अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा २।२।४१॥

अनुमानप्रधानैः साङ्ख्यादितार्किकैः सर्वज्ञत्वेन अनन्तत्वेन च कल्पितस्येश्वरस्य आत्मनः प्रधानस्य पुरुषाणां चेयत्ताया ज्ञाने ईश्वरस्याऽपि परिच्छिन्नत्वस्याऽऽपाताद् अन्तवत्त्वं स्यात् अज्ञाने त्वीश्वरस्य असर्वज्ञता प्रसज्येतेत्यर्थः। एवं च पत्युरसामञ्जस्याद् अनुपपन्नेन अधिष्ठात्रीश्वरवादेन उक्तो वेदान्तानां समन्वयो विरोद्धुं नैव शक्यत इति भावः।

हिन्दी – अनुमानप्रधान साङ्ख्यादि तार्किकों से सर्वज्ञ और अनन्त रूप में परिकल्पित ईश्वर से यदि अपनी, प्रधान की और पुरुषों की इयत्ता जानी जाती है तो उस की अपनी भी परिच्छिन्नता ज्ञात होने से वह अन्तवान् माना जाएगा, यदि वह इयत्ता नहीं जानी जाती है तो ईश्वर की असर्वज्ञता माननी पडेगी। अतः साङ्ख्यादि वादियों के केवलाधिष्ठात्रीश्वरवाद में उक्त प्रकारके विविध असामञ्जस्य होने से उस से वेदान्तों का उक्त समन्वय बाधित नहीं हो सकता है।

अथ पत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– अद्वयस्य ब्रह्मणः प्रकृतित्वेनाऽधिष्ठातृत्वेन च जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– अद्वयस्य ब्रह्मणः प्रकृतित्वेनाऽधिष्ठातृत्वेन च जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः अधिष्ठातृत्वेनैव ईश्वरस्य जगत्कारणतां प्रतिपादयतां सेश्वरसाङ्ख्य-शैवपाशुपतादिमाहेश्वर-वैशेषिकादीनामभिमतेन केवलाधिष्ठात्रीश्वरवादेन रोद्धुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– चेतनस्य कुम्भकारादेः कुम्भादिकार्येऽधिष्ठातृत्वमात्रं दृश्यते इति चेतनस्य सर्वज्ञस्येश्वरस्याऽपि जगन्निर्माणेऽधिष्ठातृत्वमात्रं युज्यते नोपादानत्वमिति ब्रह्मणो जगदुत्पत्तौ अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वय आस्थातुं

न शक्यत इति सेश्वरसाङ्ख्यादिसम्मतेन केवलाधिष्ठात्रीश्वरवादेन जगदुत्पत्तौ ब्रह्मणः अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो रुध्यते इति।

उत्तरम्– श्रुतिमनपाश्रित्य तर्कमात्रेणेश्वरस्य कल्पने ईश्वरे राग-द्वेष-स्वार्थप्रवृत्तिमत्त्व-प्रसङ्गस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, ईश्वरस्य प्रधानपुरुषाभ्यां जीवैः परमाणुभिर्वा सह संयोगसमवायादि-सम्बन्धानाम्, प्रधानाद्यधिष्ठातृत्वस्य, सर्वज्ञत्वस्य चोपपादयितुमशक्यत्वाच् च सेश्वर-साङ्ख्य-शैवपाशुपतादिमाहेश्वर-वैशेषिकादीनामभिमतस्य केवलाधिष्ठात्रीश्वरवादस्याऽनु-पपन्नत्वात् तेषां सम्मतेन केवलाधिष्ठात्रीश्वरवादेन अद्वयस्य ब्रह्मणः प्रकृतित्वेनाऽधि-ष्ठातृत्वेन च जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो रोद्धुं न शक्यते इति।

निर्णयः– सेश्वरसाङ्ख्याद्यभिमतेन केवलाधिष्ठात्रीश्वरवादेन अद्वयस्य ब्रह्मणः प्रकृतित्वेना-ऽधिष्ठातृत्वेन च जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो रोद्धुं नैव शक्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. निमित्तोपादानहेतावीशे श्रुतिसमन्वयः।
२. ईशो निमित्तमेवेति मतै रोध्यो न वा मतः॥१॥
३. रोध्य ईशस्य दृष्टान्तान् निमित्तत्वस्य साधनात्।
४-५. नो रोध्यः कल्पिते तर्कैरीशे दूषणदर्शनात्॥२॥

६०.(८) उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् (सू. ४२-४५)

परमेश्वरं जगतः केवलं निमित्तकारणं प्रतिपादयतां सेश्वरसाङ्ख्य-योग-शैवपाशुपत-वैशेषिकादीनां मतेन ब्रह्मणो जगदुपादानताया विरोद्धुमशक्यत्वे प्रतिपादिते परमेश्वरं जगत उपादानकारणं निमित्तकारणं च स्वीकुर्वाणानामपि जीवस्याऽप्युत्पत्तिं प्रतिपादयतां पाञ्चरात्रिकाणां भागवतानां वैष्णवानां मतेनाऽपि जीवाऽभिन्नस्य ब्रह्मणो जगदुपादानताया विरोद्धुमशक्यत्वं प्रतिपादयितुमाह—

२१३. उत्पत्त्यसम्भवात् २।२।४२॥ इति।

वासुदेवाऽपरनामकात् परमात्मनः सङ्कर्षणापरपर्यायस्य अविनाशिमोक्ष-भागिणो जीवस्य विष्णुभागवतानां पाञ्चरात्रिकाणामभिमताया उत्पत्तेरसम्भवात्, उत्पत्तिमत्त्वे जीवस्य विनाशित्वस्य प्रसङ्गात् तस्याऽविनाशिमोक्षभागित्वस्या-ऽसम्भवाज् जीव-भिन्नाऽऽराधनीयवासुदेवस्य जीवादिजगत्कारणत्वमसमञ्जस-मित्यर्थः। तस्माद् विष्णुभागवतानां पञ्चरात्रसिद्धान्तेन जीवाऽभिन्नज्ञेयब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो रोद्धुं न शक्यते इति भावः।

हिन्दी– वासुदेवाख्य परमात्मा से अविनाशिमोक्षभागी सङ्कर्षणाख्य जीव का पाञ्चरात्रिक विष्णुभागवतों की सम्मत उत्पत्ति असम्भव होने से, जीव के उत्पत्तिमान् होने पर उस में विनाशित्व आ

जाने से उस का अविनाशिमोक्षभागित्व असम्भव होने से जीवभिन्न आराधनीय वासुदेव का जीवादि-जगत्कारणत्व अनुपपन्न है। अतः पञ्चरात्रसिद्धान्त से जीव से अभिन्न ज्ञेय ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय बाधित नहीं हो सकता है।

२१४. न च कर्तुः करणम् २।२।४३॥

विष्णुभागवतानां पाञ्चरात्रिकाणां कर्तुः सङ्कर्षणापरपर्यायाज् जीवात् करणं प्रद्युम्नापरपर्यायं मन उत्पद्यते इति कथनं च लोके कर्तुः करणस्योत्पत्ते-रदृश्यमानत्वेन दृष्टप्रतिकूलत्वान् न विचारसहमिति असमञ्जसमित्यर्थः। असङ्गतया पाञ्चरात्रिककल्पनया न ह्युक्तो वेदान्तानां समन्वयो रोद्धुं शक्यत इति भावः।

हिन्दी – कर्ता सङ्कर्षणाख्य जीव से करणरूप प्रद्युम्नाख्य मन उत्पन्न होने का पाञ्चरात्रिकों का सिद्धान्त भी लोक में कर्ता से करण की उत्पत्ति होने की बात नहीं पायी जाने से उपपन्न नहीं माना जा सकता है। अतः असङ्गत कल्पना वाले पाञ्चरात्रिक सिद्धान्त से वेदान्तों का उक्त समन्वय बाधित नहीं होता है।

२१५. विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः २।२।४४॥

उक्तस्योत्पत्त्यसम्भवस्य दोषस्य परिहाराय सङ्कर्षण-प्रद्युम्ना-ऽनिरुद्धाना-मपि सर्वेषां वासुदेवतुल्ये विज्ञानैश्वर्यबलादिशालित्वे स्वीकृतेऽपि अनेकेश्वरकल्प-नानर्थक्यवारणाय वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्ना-ऽनिरुद्धानां सर्वेषामेव एकस्यैव भग-वतः परमेश्वरस्य अतिशयरहितव्यूहविशेषत्वं स्वीकार्यम्, तथा च निरतिशयादेक-स्मान् निरतिशयस्याऽन्यस्योत्पत्तेरसम्भवस्य पूर्वोक्तस्य दोषस्याऽनिरास एवेत्यर्थः।

हिन्दी – उक्त उत्पत्त्यसम्भव दोष के परिहार के लिए वासुदेव सङ्कर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध सभी को तुल्य रूप में विज्ञान ऐश्वर्य बलादि से युक्त मानने पर भी और अनेक ईश्वरों की कल्पना की व्यर्थता के परिहार के लिए वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध सभी ही एक ही भगवान् परमेश्वर के परस्पर में अतिशय से रहित अनेक व्यूहविशेष ही माने जाने पर भी निरतिशय वासुदेवादि में से एक से निरतिशय सङ्कर्षणादि दूसरे की उत्पत्ति का असम्भवत्व रूप दोष तो ज्यों का त्यों ही रहता है।

२१६. विप्रतिषेधाच् च २।२।४५॥

पञ्चरात्रागमे एकत्र ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि वासुदेवगुणा उच्यन्ते, अन्यत्र पुनस् तान्येव भगवन्तो वासुदेवा उच्यन्ते इति पञ्चरात्रागमोक्तीनां परस्परं विप्रतिषेधाच्च पाञ्चरात्रिकमतम् असमञ्जसमिति न ह्युक्तो वेदान्तानां समन्वयो पाञ्चरात्रिकमतेन रोद्धुं शक्यत इति शङ्करोक्तोऽर्थः। शङ्करवर्णितोऽयं विप्रतिषेधः पञ्चरात्रागमग्रन्थेषु कतमस्मिन् ग्रन्थे कस्मिन् स्थले वर्तत इति तु शाङ्करभाष्य-व्याख्याकारेण केनाऽपि स्फुटीकृतं नोपलभ्यते। तथापि वैष्णवाः प्रायेण गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाऽभिन्नमिति तु वदन्त्येव। शङ्करवर्णितो वेदविप्रतिषेधस्तु पाद-सङ्गतिप्रतिकूलत्वादुपेक्षणीयः प्रतीयते।

अत्र रामानुजीयादयो महाभारते शान्तिपर्वणि नारायणीयोपाख्याने पञ्चरात्रसिद्धान्तस्य प्रतिपादकेन व्यासेनैव विरचिते ब्रह्ममीमांसासूत्रे पञ्चरात्रसिद्धान्तस्य निराकृतत्वं स्वीकर्तुं न युज्यत इति वदन्ति। किन्तु महाभारतस्य नानामतसङ्ग्रहपरत्वात् ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य तु श्रुत्यर्थमात्रनिर्णयपरत्वात् महाभारतब्रह्मसूत्रयोरेककर्तृकत्वेऽपि महाभारते पञ्चरात्रसिद्धान्तस्य प्रतिपादनं ब्रह्ममीमांसासूत्रे तस्य निराकरणं च न विरुध्यते। पूर्वेषु अधिकरणेषु परमतानां निराकरणमेतस्मिन्नधिकरणे च स्वमतत्वेन पञ्चरात्रसिद्धान्तस्य स्थापनं कृतमिति रामानुजादीनां कथनमपि पादसङ्गतिप्रतिकूलत्वाद् अध्यायसङ्गतिप्रतिकूलत्वाच् च अग्राह्यमेवेति बोध्यम्। श्रौतब्रह्मवाक्यार्थविचारपरे शास्त्रे पाञ्चरात्रार्थोपपादनपरमधिकरणं शास्त्रसङ्गतेरपि प्रतिकूलमेवेति रामानुजादिपक्षः सर्वथाऽसङ्गतोऽवसीयते।

हिन्दी – पाञ्चरात्र आगम में कहीं पर ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज वासुदेव के गुण बताए गए हैं, कहीं पर फिर ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज ही भगवान् वासुदेव बताए गए हैं, अतः पाञ्चरात्र आगम की उक्तियों में परस्परविरोध होने से पाञ्चरात्र आगम का सिद्धान्त अनुपपन्न है। ऐसे अनुपपन्न सिद्धान्त से वेदान्तवाक्यों का जीवाऽभिन्न ज्ञेय ब्रह्म में समन्वय बाधित नहीं हो सकता है, यह भाव है।

इस अधिकरण को पाञ्चरात्रसिद्धान्त के समर्थन में लगाना पादसङ्गति का अध्यायसङ्गति का और शास्त्रसङ्गति का भी प्रतिकूल काम है। यह पाद परसिद्धान्तनिराकरणपरक है। यह अध्याय अविरोधप्रदर्शनपरक है। यह शास्त्र श्रौतब्रह्मवाक्यविचारपरक है, पाञ्चरात्रागमविचारपरक नहीं।

अथ उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जीवाऽभिन्नज्ञेयब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– जीव-भिन्नाऽऽराधनीयवासुदेवस्य जीवादिजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादकेन विष्णुभागवतानां पञ्चरात्रसिद्धान्तेन जीवाऽभिन्नज्ञेयब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो रोद्धुं शक्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– विष्णुभागवतानां पाञ्चरात्रसिद्धान्तेऽपि भगवतो वासुदेवस्य जीवादिजगत् प्रति प्रकृतित्वस्य निमित्तकारणत्वस्य च स्वीकृतत्वात्, श्रुतावपि ब्रह्मणो जगत् प्रति प्रकृतित्वस्य निमित्तकारणत्वस्य च प्रतिपादितत्वात्, श्रुत्यनुकूलायाः स्मृतेश्च प्रमाणत्वात्, प्रामाणिकेन जीवभिन्नाऽऽराधनीयवासुदेवोपासनविधायकपञ्चरात्रागमसिद्धान्तेन जीवाऽभिन्नज्ञेयब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यत इति।

उत्तरम्– पाञ्चरात्रिकैः स्वीकृताया वासुदेवापरपर्यायात् परमात्मनः सङ्कर्षणापरपर्यायस्य जीवस्योत्पत्तेरसम्भवात्, सम्भवे वा जीवस्य विनाशित्वस्य प्रसङ्गाद् मोक्षस्याऽनुपपत्तेः, सङ्कर्षणापरपर्यायात् जीवात् कर्तुः प्रद्युम्नापरपर्यायस्य करणरूपस्य मनसः पाञ्चरात्रिकसम्मताया उत्पत्तेश्च दृष्टप्रतिकूलत्वेनाऽसङ्गतत्वात्, सङ्कर्षणादीनामपि वासुदेवतुल्यविज्ञानैश्वर्यबलादिशालित्वे स्वीकृतेऽपि तेषामेकस्मादन्यस्योत्पत्तेरसम्भवस्याऽपरि-

हारात्, पञ्चरात्राऽऽगमे क्वचिद् ज्ञानैश्वर्यादयो वासुदेवगुणा उक्ताः क्वचिच्च पुनर् ज्ञानैश्वर्यादय एव वासुदेवा उक्ता इति परस्परविरोधिनीनामुक्तीनां दर्शनाच्च दोषपूर्णेन जीवभिन्नाऽऽराधनीयवासुदेवस्य जीवादिजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादकेन विष्णुभागवतानां पञ्चरात्रसिद्धान्तेन जीवाभिन्नज्ञेयब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो रोद्धुं न शक्यत इति।

निर्णयः– जीवाऽभिन्नज्ञेयब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो जीवोत्पत्त्यादिवादिनां विष्णुभागवतानां पाञ्चरात्रिकाणां जीवभिन्नाऽऽराधनीयवासुदेवस्य जीवादिजगत्कारणतायाः प्रतिपादकेन सिद्धान्तेन विरोद्धुं नैव शक्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवाभिन्नब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. वैष्णवोक्तोपास्यब्रह्मवादाद् रोध्यो न वा मतः॥१॥
३. तस्य वेदानुकूलत्वाद् रोध्यः स इति के चन।
४-५. न रोध्यो युक्तिहीनत्वात् तद्वादस्येति वैदिकाः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ द्वितीये श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽविरोधाऽध्याये
द्वितीयः साङ्ख्यकाणादबौद्धादियुक्तिविरोधा-
ऽभावप्रदर्शनपरः पादः समाप्तः॥

अथ तृतीयः पादः

(पञ्चमहाभूतसृष्टिश्रुति-जीवोत्पत्त्यादिश्रुति-गत-श्रुतिविरोधाभावप्रदर्शनपरः)

६१.(१) वियदधिकरणम् (सू. १-७)

अथ ब्रह्ममीमांसासूत्रद्वितीयाध्यायस्य तृतीय-चतुर्थाभ्यां पादाभ्यां नाना-शाखागतानां सृष्टिवाक्यानां परस्परविरोधस्य जगतो ब्रह्मोपादानकतायाः प्रतिपादने विविधानां श्रुतिवाक्यानां विरोधस्य च प्रसङ्गानां परिहारः प्रदर्श्यते। तत्र प्रथमं सृष्टिवाक्यानां परस्परविरोधं परिहरन्नाह–

२१७. न वियदश्रुतेः २।३।१॥ इति।

छान्दोग्योपनिषदि सृष्टिप्रकरणे **"तत् तेजोऽसृजत"** (६।२।३) इत्यादिके तेजोऽबन्नानामेवोत्पत्तेः श्रुतत्वात्, आकाशस्योत्पत्तेरश्रुतत्वाद् आकाशो ब्रह्मणो

नोत्पद्यते इत्यर्थः। एवं च निखिलस्य जगतो ब्रह्मोपादानकतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्ध इति भावः।

हिन्दी – छान्दोग्योपनिषद् में सृष्टिप्रकरण में तेज, जल और पृथिवी की ही सृष्टि बताई गई है, आकाश की उत्पत्ति नहीं बताई गई है, अतः आकाश ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होता है। इस वस्तुस्थिति से सम्पूर्ण जगत् की ब्रह्मोपादानकता के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय श्रुतिविरुद्ध ज्ञात होता है।

२१८. अस्ति तु २।३।२॥

छान्दोग्योपनिषदि आकाशस्य ब्रह्मण उत्पत्तेः प्रतिपादिकायाः श्रुतेरभावेऽपि ब्रह्मण उपादानादाकाशस्योत्पत्तेः प्रतिपादिका **"आत्मन आकाशः सम्भूतः"** इति श्रुतिस् तैत्तिरीयोपनिषदि (२।१।१) त्वस्त्येवेत्यर्थः।

हिन्दी – छान्दोग्योपनिषद् में आकाश की ब्रह्म से उत्पत्ति की प्रतिपादिका श्रुति नहोने पर भी उपादानकारणरूप ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति की प्रतिपादिका "आत्मन आकाशः सम्भूतः" यह श्रुति है ही तो।

२१९. गौण्यसम्भवात् २।३।३॥

निरवयवस्य व्यापकस्य कालविशेषसम्बन्धरहितस्य आकाशस्य उत्पत्तेरसम्भवादाकाशस्योत्पत्तेः प्रतिपादिका श्रुतिर् गौणी मन्तव्या, अतो नाऽऽकाशो ब्रह्मण उत्पन्नो मन्तव्य इत्यर्थः।

हिन्दी – अवयवरहित, व्यापक और कालसम्बन्ध से रहित आकाश की उत्पत्ति असम्भव होने से आकाश की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति लाक्षणिक है। अतः आकाश ब्रह्म से उत्पन्न नहीं माना जा सकता है।

२२०. शब्दाच् च २।३।४॥

"वायुश्चान्तरिक्षञ् चैतदमृतम्" (मा.वा.शत.१४।५।३।४, का.वा.बृह. २।३।३) इत्यादिकाच् छब्दाच् चाऽऽकाशस्याऽविनाशित्वस्याऽवगतत्वात् तस्योत्पत्तेरनुपपन्नत्वादाकाशो नोत्पन्नो मन्तव्य इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में अन्तरिक्ष (आकाश) को अमृत बताये जाने से आकाश का अविनाशित्व ज्ञात होता है, अविनाशी भाव की उत्पत्ति अनुपपन्न है; अतः आकाश को ब्रह्म से उत्पन्न नहीं माना जा सकता है।

२२१. स्याच् चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् २।३।५॥

"एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै.२।१।१) इत्यत्र श्रुतस्य वायुप्रभृतिषु अनुवर्तमानस्य एकस्यैवाऽपि सम्भूतशब्दस्य यथा **"अन्नं ब्रह्म"** (तै.३।२), **"प्राणो ब्रह्म"**, **"मनो ब्रह्म"**, **"विज्ञानं ब्रह्म"**, **"आनन्दो ब्रह्म"** इत्यत्र समाने प्रकरणे (तै.३।२,३,४,५,६) प्रयुक्तस्य ब्रह्मशब्दस्यैकस्याऽपि **"अन्नं ब्रह्म"** इत्यादिषु गौण-

त्वम् "आनन्दो ब्रह्म" इत्यत्र तु मुख्यत्वम्, तथैव "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै. २।१।१) इत्यत्र गौणत्वम्, "आकाशाद् वायुः (सम्भूतः)" (तै.२।१।१) इत्यादिषु तु मुख्यत्वं स्यादिति आकाशस्योत्पत्तेः प्रतिपादिका श्रुतिर् गौणीति वक्तुं शक्यते। तस्मादाकाश उत्पन्नो न मन्तव्य इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे एक ही ब्रह्मशब्द का सम्भवित्व वा असम्भवित्व के विचार से "अन्नं ब्रह्म" इत्यादि में लाक्षणिकत्व और "आनन्दो ब्रह्म" इस स्थल में मुख्यत्व माना जाता है, वैसे ही "सम्भूतः" इस शब्द का भी "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै.२।१।१) इस स्थल में लाक्षणिकत्व और "आकाशाद् वायुः (सम्भूतः)", "वायोरग्निः (सम्भूतः)" इत्यादि स्थल में मुख्यत्व माना जा सकता है। अतः असम्भव होने से आकाश को ब्रह्म से उत्पन्न नहीं माना जा सकता है।

२२२. प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः २।३।६॥

"आत्त्मनो वाऽअरे दर्शनेन श्श्रवणेन मत्त्या विज्ज्ञानेनेद सर्व्वं विदितम्" (मा.वा.शत.१४।५।४।५, का.वा.बृह.२।४।५), "आत्त्मनि वाऽअरे दृष्टे श्श्रुते मते विज्ज्ञातऽइद सर्व्वं विदितम्" (मा.वा.शत.१४।७।३।६, का.वा. बृह.४।५।६) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणायाः प्रतिज्ञायाः अहानिः खलु कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मणोऽव्यतिरेकाद् "इद सर्व्वं यदयमात्त्मा" (मा.वा.शत.१४।५।४।६, का.वा.बृह.२।४।६), "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छा.६।८।७) इत्यादिकेभ्यो वेद-शब्देभ्योऽवगम्यमानाद् भवति। अतः श्रुतेः प्रतिज्ञाया अहानये कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मणोऽव्यतिरेकः स्वीकर्तव्यः। यदि कृत्स्नं जगद् ब्रह्मण उत्पद्येत तदा कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मणोऽव्यतिरेकः सिध्यति। तस्मात् कृत्स्नजगदन्तःपाती आकाशोऽपि ब्रह्मण उत्पन्न इति मन्तव्यमेवेति भावः।

हिन्दी – *'आत्मा के दर्शन, श्रवण मनन और विज्ञान से यह सम्पूर्ण जगत् विदित होता है'* इत्यादि प्रतिज्ञा की उपपत्ति *'यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा है'* इत्यादि बताने वाले वेदशब्दों से सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म से अव्यतिरेक जाने जाने से होती है। अतः वेद की प्रतिज्ञा की उपपत्ति के लिए सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म से अव्यतिरेक मानना आवश्यक है। यदि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होगा तभी सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म से अव्यतिरेक सिद्ध होगा। अत एव सम्पूर्ण जगत् के अन्तर्गत आकाश का भी ब्रह्म से उत्पत्ति श्रुति से सिद्ध ही माननी पडेगी।

२२३. यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् २।३।७॥

यावद् विकारत्वं तावद् विभक्तत्वमिति तु आकाशस्याऽपि पृथिव्यादिभ्यो विभक्तत्वाद् घटघटिकोदञ्चनादि-लोकवद् विकारत्वमेवेत्यर्थः। एवं चाऽऽकाश-स्याऽपि विभक्तत्वाद् विकारत्वम्, विकारत्वाच् च ब्रह्मण उत्पत्तिः सम्भाव्यत एव, अत आकाशोत्पत्तिश्रुतिर् न गौणी किन्तु मुख्यैवेति भावः।

आत्मनस्तु विभक्तत्वेऽपि कारणान्तरस्याऽश्रूयमाणत्वात् शून्यवाद-स्वीकारप्रसाङ्गाच्च न विकारत्वमिति नैवोत्पन्नत्वमपीति च बोध्यम्।

हिन्दी– जो विभक्त है वह विकार ही होता है, आकाश भी पृथिव्यादि से विभक्त है, अतः वह भी घट, घटिका, शराव इत्यादि लोक की तरह विकार ही है। विकार होने से आकाश का भी ब्रह्म से उत्पत्ति हो सकने से आकाश की उत्पत्ति की प्रतिपादिका श्रुति गौणी नहीं है, मुख्य ही है।

अथ वियदधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– आकाशस्य उत्पत्तेश्छान्दोग्येऽश्रूयमाणत्वाद् आकाशस्य ब्रह्मोपादानकताया अभावाद् ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुति-विरुद्धो न वेति।

पूर्वपक्षः– आकाशस्योत्पत्तेः प्रतिपादिकायाः श्रुतेरभावात्, आकाशस्याऽमृततायाश्च श्रुतत्वात्, निरवयवस्य व्यापकस्य कालसम्बन्धरहितस्य आकाशस्योत्पत्तेरसम्भवाच्च ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्धोऽवगम्यत इति।

उत्तरम्– आकाशस्य ब्रह्मत उत्पत्तेः प्रतिपादिकायास् तैत्तिरीयश्रुतेर् दर्शनात्, छान्दोग्य-तैत्तिरीयकश्रुत्योरेकवाक्यताया आश्रयणीयत्वात्, आकाशस्य ब्रह्मत उत्पत्तेरभावे श्रुतिषु (का.वा.बृह.२।४।५, छा.६।१।१, मुण्डको.१।१।३) श्रुताया आत्मज्ञानेन सर्वज्ञानस्य प्रतिज्ञायाः हानेः प्रसङ्गाच्च श्रुत्या मुख्यतयैव आकाशस्याऽऽत्मन उत्पत्तेः प्रतिपाद्यमान-ताया अवगमात्, पृथिव्यादितो विभक्तत्वेनाऽऽकाशस्याऽपि विकारत्वस्याऽवगमात् तस्य ब्रह्मत उत्पत्तेः सम्भवाच् च ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्धो नाऽवगम्यते।

निर्णयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्धो नास्त्येवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः सर्वहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. वियतो जन्मनोऽश्रुत्या बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. बाध्यो वियज्जन्मनो हि श्रुतिवाक्यविरोधतः।
४-५. श्रुतिवाक्याऽविरोधात् तु न बाध्य इति निर्णयः॥२॥

६२.(२) मातरिश्वाधिकरणम् (सू. ८)

आकाशोत्पत्तिनिर्णयन्यायं वायूत्पत्तावतिदिशति–

२२४. एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः २।३।८॥ इति।

एतेन आकाशोत्पत्तिव्याख्यानेन तुल्यन्यायत्वाद् मातरिश्वाऽपि उत्पत्तिमत्त्वेन व्याख्यातो भवतीत्यर्थः।

हिन्दी– आकाश की उत्पत्ति के उक्त व्याख्यान से तुल्यन्याय होने से वायु भी उत्पत्तिमान् तत्त्व के रूप में व्याख्यात होता है।

अथ मातरिश्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– वायोरुत्पत्तेश्छान्दोग्येऽश्रूयमाणत्वाद् वायोर् ब्रह्मोपादानताया अभावाद् ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्धो भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– छान्दोग्ये वायोरुत्पत्तेरप्रतिपादितत्वात्, **"वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्"** (मा.वा.शत.१४।५।३।४, का.वा.बृह.२।३।३) इति श्रुतौ वायोरमृतत्वस्य श्रुतत्वात्, **"सैषाऽनस्तमिता देवता यद् द्वायुः" (मा.वा.शत.१४।४।३।३३,** का.वा.बृह.१।५।२२) इति श्रुतौ वायोरस्तमयस्याऽभावस्योक्तत्वाच्च **वायोरुत्पत्तेः स्वीकर्तुमशक्यत्वाद्** ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने **वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्धो** भवतीति।

उत्तरम्– वायोरुत्पत्तेश्छान्दोग्येऽश्रूयमाणत्वेऽपि **तैत्तिरीयके "आकाशाद् वायुः** (सम्भूतः)" (२।१।१) इति श्रूयमाणत्वात्, छान्दोग्य-तैत्तिरीयकश्रुत्योरेकवाक्यताया आश्रयणीयत्वात्, आकाशरूपतां प्राप्ताद् ब्रह्मणो वायोर् मुख्याया एव उत्पत्तेः स्वीकारस्य एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिज्ञाया शतपथंब्राह्मणादिश्रुतिकृताया अहान्यै अत्यावश्यकत्वात्, पृथिव्यादिभ्यो विभक्तत्वेन वायोरपि विकारत्वस्याऽनुमानाच्च ब्रह्मण आकाशद्वारा वायुकारणत्वस्याऽपि सिद्धत्वाद् वायोरस्तमयस्याऽभावस्योक्तेरपरविद्याविषयकत्वेनाऽऽपेक्षिकत्वाच्च ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्धो नाऽवगम्यत इति।

निर्णयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिविरुद्धो नास्त्येवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणोऽखिलहेतुत्वे श्रुत्यन्तानां समन्वयः।
२. वायोस् तु जन्मनोऽश्रुत्या बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. बाध्यो वायोर् जन्मनो हि श्रुतिवाक्यविरोधतः।
४-५. तत्र श्रुत्यविरोधात् तु बाध्यो नैवेति निर्णयः।

६३.(३) असम्भवाधिकरणम् (सू. ९)

सत आकाशस्येव सतो ब्रह्मणोऽपि उत्पत्तिर् भवेदितिशङ्कां निरसितुमाह-

२२५. असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः २।३।९॥ इति।

सत उत्पत्तेरनुपपन्नत्वात् सतो ब्रह्मणस्तु उत्पत्तेरसम्भवो बोद्धव्य इत्यर्थः। ब्रह्मण उत्पत्तेः स्वीकारे तत्कारणस्याऽपि उत्पत्तेः स्वीकारस्याऽऽवश्यकता स्यादिति अप्रामाणिकानवस्थाप्रसङ्गात्, सन्मात्रस्य ब्रह्मणः सन्मात्रात् सद्विशेषाद् असतश्चोत्पत्तेरसम्भवात्, **"न चाऽस्य कश्चिज् जनिता न चाऽधिपः"** (श्वेता.६।९) इति श्रुतौ ब्रह्मणो जनयितुरभावस्य प्रतिपादितत्वाच्च सतो ब्रह्मण उत्पत्तेरनुपपत्तिर् बोध्या। अतोऽनादेरनन्तस्य चाऽजस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वये नास्ति काऽपि अनुपपत्तिरिति भावः।

हिन्दी – सद्ब्रह्म की किसी दूसरे तत्त्व से उत्पत्ति मानने पर उस की भी किसी दूसरे तत्त्व से उत्पत्ति मानने की आवश्यकता पडने से अप्रामाणिक अनवस्था प्रसक्त होने से, सन्मात्र ब्रह्म का दूसरे सन्मात्र तत्त्व से वा सद्विशेष तत्त्व से वा असत् से भी उत्पत्ति न हो सकने से, और श्रुति में ब्रह्म के जनक का अभाव प्रतिपादित होने से भी सद्ब्रह्म की उत्पत्ति अनुपपन्न होने से सद्ब्रह्म की उत्पत्ति तो असम्भव है। अतः अनादि, अनन्त, जन्मरहित ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों के समन्वय में कोई अनुपपत्ति नहीं है, यह भाव है।

अथाऽसम्भवाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– अनादेरनन्तस्याऽजस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– अनादेरनन्तस्याऽजस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः **"त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः"** (श्वेता.४।३) इत्यादिकया उत्पत्तिश्रुत्या विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– विकारेभ्य एवाऽऽकाशादिभ्य उत्तरेषां विकाराणां वाय्वादीनामुत्पत्तेः श्रूयमाणत्वात्, आकाशस्याऽपि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तेः सम्भाव्यमानत्वात्, **"त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः"** (श्वेता.४।३) इति श्रुत्या ब्रह्मणोऽपि जन्मनः प्रतिपादितत्वात्, **"यथोर्ण्णवाभिस्तन्तुनोच्चरेद् य्यथाग्ग्नेः क्क्षुद्द्रा विस्फ्फुलिङ्गा व्व्युच्चरन्त्येवमेवास्म्मादात्त्मनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वऽएतऽ आत्त्मानो व्व्युच्चरन्ति"** (मा.वा.शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०), **"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवाऽपि यन्ति"** (मुण्डको.२।१।१) इति समानजातीयकादग्नेः समानजातीयकानां विस्फुलिङ्गानामुत्पत्तेर् दृष्टान्तस्य च श्रूयमाणत्वाच्च अनादेरनन्तस्याऽजस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो ब्रह्मजन्मादिश्रुत्या विरुध्यते इति।

उत्तरम्– असत्यातिशये प्रकृतिविकारभावस्याऽसम्भवात् सन्मात्रस्य ब्रह्मणः सन्मात्रादेवोत्पत्तेरसम्भवात्; विशेषात् सामान्यस्योत्पत्तेरदृश्यमानत्वात् सद्विशेषादपि ब्रह्मण उत्पत्तेरसम्भवात्; असतो निरात्मकत्वात्, **"कथमसतः सज्जायेत"** (छा.८।७।१) इति श्रुतौ असतः सत उत्पत्तेरसम्भवस्य प्रतिपादितत्वाच्च असतोऽपि ब्रह्मण उत्पत्तेरसम्भवाच्च जन्मश्रुत्या ब्रह्मणोऽनाद्यनन्तताया अजतायाश्च प्रतिपादिका श्रुतिर् न बाध्यते। जन्मश्रुतिः अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुतिश्च औपाधिकरूपापेक्षया व्याख्येया। तस्माद् अनादेरनन्तस्याऽजस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुत्या न बाध्यत इति।

निर्णयः– अनादेरनन्तस्याऽजस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः कयाऽपि श्रुत्या न विरुध्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अजस्य ब्रह्मणो लोककारणत्वे समन्वयः।
२. बाध्यो न वा ब्रह्मजन्म-श्रुत्येति खलु संशयः॥१॥
३. दृष्टान्ताच्च श्रुतेश्चाऽपि स बाध्य इति के चन।
४-५. न बाध्योऽसम्भवाद् ब्रह्मजनेरित्येव निर्णयः॥२॥

६४.(४) तेजोऽधिकरणम् (सू. १०)

सामान्यस्य सामान्यादुत्पत्तेरसम्भवेऽपि सामान्याद् ब्रह्मणो विशेषस्य तेजसस्तूत्पत्तिः स्यादिति शङ्कां निरस्यन्नाह–

२२६. तेजोऽतस्तथा ह्याह २।३।१०॥ इति।

तेजः खुल अस्माद् अनन्तरे सूत्रे उपात्ताद् वायुभावापन्नात् सत उत्पद्यते, यतो हि **"तत् तेजोऽसृजत"** (छा.६।२।३) इति श्रुतिस्तत् सद् ब्रह्म तेज उदपादयत् इत्याहेत्यर्थः।

हिन्दी– तेज तत्त्व इसी वायुभावापन्न सद् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, क्यों कि "तत् तेजोऽसृजत" (छा.६।२।३) यह श्रुति वैसी ही बात कहती है।

अथ तेजोऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– तेजसो वायुजत्वस्य प्रतिपादिकया **"वायोरग्निः (सम्भूतः)"** इत्येतया तैत्तिरीय-श्रुत्या (२।१।१) ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– तेजसो वायुजत्वस्य प्रतिपादिकया श्रुत्या तेजसो ब्रह्मजत्वस्य प्रतिपादिकायाः श्रुतेर् विरोधात् तेजसो वायुजत्वस्य प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– विशेषं प्रतिपादयन्त्या **"वायोरग्निः"** इति श्रुत्याऽपि आकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावमापन्नाद् ब्रह्मण एव तेजस उत्पत्तेः प्रतिपादितत्वात् सामान्यायाः **"तत् तेजोऽसृजत"** इत्यस्याः श्रुतेरपि आकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजत इत्यस्याऽर्थस्य कल्प्यत्वात् तयोर् वस्तुतो विरोधस्याऽभावेन तेजसो ब्रह्मजत्वे विगानस्याऽभावात् **"वायोरग्निः"** इति श्रुत्याऽपि ब्रह्मणो निखिलजगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– "वायोरग्निः" इति श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणोऽखिलहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. वायोरग्निरिति श्रुत्या रोध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. रोध्यः श्रुतिविरोधाच्च विगानाच्चेति के चन।
४-५. श्रुत्योः समन्वयान् नैव रोध्यः स इति निर्णयः॥२॥

६५.(५) अबधिकरणम् (सू. ११)

तेजस उत्पत्तौ श्रुत्योर् विरोधं परिहृत्याऽपामुत्पत्तौ श्रुत्योर् विरोधं परि-हर्तुमाह–

२२७. आपः २।३।११॥ इति।

आपः खल्वपि अतः तेजोभावापन्नात् सत उत्पद्यन्ते यतो हि **"तदपो-ऽसृजत"** (छा.६।२।३) इति श्रुतिस्तत् सद् ब्रह्म अप उदपादयत् इत्याह। अत्र पूर्वसूत्राद् **"अतस्तथा ह्याह"** इत्यंशोऽनुवर्तते।

हिन्दी– अप् (जल) तत्त्व इसी तेजोभावापन्न सद् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, क्यों कि "तदपोऽसृजत" (छा.६।२।३) यह श्रुति वैसी ही बात कहती है।

अथाऽबधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– अपामग्निजत्वस्य प्रतिपादिकया "अग्नेरापः (सम्भूताः) (तै.२।१।१) इत्येतया तैत्तिरीयश्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– अपां तेजोजत्वस्य प्रतिपादिकया श्रुत्या अपां ब्रह्मजत्वस्य प्रतिपादिकायाः श्रुतेर् विरोधाद् अपां तेजोजत्त्वस्य प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– "अग्नेरापः (सम्भूताः)" इति श्रुत्याऽपि आकाशं वायुं तेजश्च सृष्ट्वा तेजोभावमापन्नाद् ब्रह्मण एव अपामुत्पत्तेः प्रतिपादितत्वात्, सामान्याया "**एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**" (मुण्डको.२।१।३; कैवल्यो.१५) इत्यस्याः श्रुतेरपि आकाशं वायुं तेजश्च सृष्ट्वा तेजोभावापन्नं ब्रह्म अपोऽसृजत इत्यस्याऽर्थस्य कल्प्यत्वात् श्रुत्योर् वस्तुतो विरोधस्याऽभावेन अपां ब्रह्मजत्वे विगानस्याऽभावात् "**तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते**" (६।२।३) इति छान्दोग्यश्रुतौ तेजस ईक्षणस्य प्रतिपादितत्वात् तेन च ब्रह्मणस्तेजोभावापत्तेः सूचितत्वात् तस्याः श्रुतेरपि उक्तस्य कल्प्यस्याऽर्थस्यैवाऽनुकूलत्वाद् "**अग्नेरापः**" इति श्रुत्याऽपि ब्रह्मणो निखिलजगत्-कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– "अग्नेरापः (सम्भूताः)" इति श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः कारणत्वे हि वेदान्तानां समन्वयः।
२. अग्नेराप इति श्रुत्या बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. बाध्यः श्रुतिगतौ भेदादित्याहुः पूर्वपक्षिणः।
४-५. श्रुत्योः समन्वयान् नैव बाध्यः स इति वैदिकाः॥२॥

६६.(६) पृथिव्यधिकरणम् (सू. १२)

अपामुत्पत्तौ श्रुत्योर् विरोधं परिहृत्य पृथिव्या उत्पत्तौ श्रुतिविरोधं परिहरन्नाह—

२२८. पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः २।३।१२॥ इति।

महाभूतसृष्टिप्रतिपादनाधिकारात्, वाक्यशेषे "**यत् कृष्णं तदन्नस्य**" (छा. ६।४।१-४) इति पृथिवीरूपस्य कृष्णत्वस्य अन्नरूपत्वेन वर्णनात्, "**तद् यदपाᳫं शरऽआसीत् तत् त्समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्**" (मा.वा.शत.१०।६।५।२, का.वा. बृह.१।२।२), "**अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधय ओषधिभ्योऽन्नम्**" (तै.२।१।१) इत्यादिकात् शब्दान्तराच्च "**ता अन्नमसृजन्त**" (छा.६।२।४) इति श्रुतौ अन्नं पृथिवी

अस्तीत्यर्थः। अतः पृथिव्या अपि अब्रूपापन्नब्रह्मण उत्पत्तेः श्रवणाद् ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयः छान्दोग्यसृष्टिप्रकरणेन न विरुध्यते इति भावः।

हिन्दी – महाभूतों की सृष्टि के प्रकरण में पढे जाने से, वाक्यशेष में कृष्णत्वरूप पृथिवी के रूप को अन्न का रूप कहे जाने से, शतपथश्रुति प्रभृति के वाक्यों में अप् (जल) से पृथिवी की सृष्टि का प्रतिपादन पाये जाने से भी "ता अन्नमसृजन्त" (सत् से भावित अप् ने पृथिवी की सृष्टि की) इस श्रुति में श्रुत अन्न पृथिवी ही है। अतः पृथिवी की भी ब्रह्म से ही उत्पत्ति होने से ब्रह्म के निखिलजगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय छान्दोग्योपनिषत् के सृष्टिप्रकरण से बाधित नहीं होता है।

अथ पृथिव्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे (६।२।४) पृथिव्याः सृष्टेरप्रतिपादितत्वात् पृथिवीं प्रति ब्रह्मणः कारणत्वस्याऽसिद्धेर् ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः छान्दोग्यसृष्टिप्रकरणेन विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे पृथिव्याः सृष्टेरनुक्तत्वात्, तत्र सृष्टत्वेनोक्तस्याऽन्नस्य तु प्रसिद्धिबलात् **"तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति"** (६।२।४) इति वाक्यशेषस्वरसाच्च व्रीहियवाद्योदनादित्वात् पृथिवीं प्रति ब्रह्मणः कारणत्वस्याऽसिद्धेः ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः छान्दोग्यसृष्टिप्रकरणेन विरुध्यते इति।

उत्तरम्– छान्दोग्ये **"ता अन्नमसृजन्त"** (६।२।४) इति श्रुतौ अद्भ्यो जातत्वेन श्रूयमाणस्याऽन्नस्य महाभूतसृष्टिप्रतिपादनाधिकारे श्रुतत्वात्, तत्प्रकरणे पृथिवीरूपस्य कृष्णत्वस्याऽन्नरूपत्वेन वर्णितत्वात्, **"तद् यदपा॑ शरऽआसीत् तत् त्समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्"** (मा.वा.शत.१०।६।५।२, का.वा.बृह.१।२।२) इत्यादिकानां श्रुत्यन्तराणां दर्शनाच्च पृथिवीत्वस्य निश्चयात् छान्दोग्येऽपि सृष्टिप्रकरणे पृथिव्याः सृष्टेः प्रतिपादितत्वस्य निर्णयात् तेन प्रकरणेन ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यत इति।

निर्णयः– छान्दोग्यसृष्टिप्रकरणे पृथिव्या अपि अब्भावापन्नाद् ब्रह्मणः सृष्टेः प्रतिपादितत्वात् तेन प्रकरणेन ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यत इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः सर्वस्रष्टृत्वे वेदान्तानां समन्वयः।

२. छान्दोग्ये पृथिवीसृष्टेरभावाद् रुध्यते न वा॥१॥

३. रुध्यते पृथिवीसृष्टेश्छान्दोग्येऽश्रवणत् किल।
४-५. न रुध्यतेऽत्राऽन्नरूपपृथ्व्याः सृष्टेरुदीरणात्॥२॥

६७.(७) तदभिध्यानाधिकरणम् (सू. १३)

महाभूतानामुत्पत्तेः प्रतिपादने श्रुतिविगानस्य शङ्कां निरस्य तत्रैव विशेषं प्रतिपादयितुमाह—

२२९. तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः २।३।१३॥ इति।

तत्तत्कार्यगोचरेक्षणात्मकाभिध्यानरूपाद् हि तस्य परमात्मनो द्रष्टुर् लिङ्गात् तु स एव परमात्मा वाय्वादिसर्वविकारजातस्य मूलकारणमिति निश्चीयते इत्यर्थः।

हिन्दी– वही परमात्मा वायुप्रभृति सभी विकारों के मूल कारण है, यह बात तत्तत् कार्यविषयक ईक्षणात्मक अभिध्यानरूप द्रष्टा परमात्मा के लिङ्ग से निश्चित होती है।

अथ तदभिध्यानाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– छान्दोग्ये **"तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत"** (६।२।४) इत्यादिषु तेजःप्रभृतीनां सृष्टिकर्तृत्वस्य श्रवणात् तेन ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– तेजःप्रभृतिशब्देन तेजःप्रभृत्यभिमानिदेवतानां गृह्यमाणत्वात् तासां स्वकार्ये अबादौ कर्तृत्वस्य सम्भवात् तेजःप्रभृतीनां सृष्टिकर्तृत्वस्य श्रवणेन ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"नाऽन्योऽस्ति द्द्रष्टा"** (मा.वा.शत.१४।६।७।३१, द्र.-का.वा.बृह.३।७।२३) इत्यादिकानां श्रुत्यन्तराणां दर्शनाच्च निश्चितात् **"तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति"** (छा.६।२।४) इत्यादौ श्रूयमाणात् तत्तत्कार्यगोचरेक्षणात्मकाभिध्यानरूपात् परमात्मनो लिङ्गात् तेजःप्रभृत्यात्मनाऽवतिष्ठमानः परमात्मा एव **"स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"** (ऐ.१।१) इत्यादाविव **"तत् तेज ऐक्षत"** (छा.६।२।४) इत्यादावपि स्रष्टृत्वेन प्रतिपादितः, तेजःप्रभृतीनामीक्षणस्य प्रतिपादनं च तेजःप्रभृतिषु परमात्मन आवेशं स्वीकृत्यैव प्रवृत्तमिति चाऽवगम्यत इति तेजःप्रभृतीनां सृष्टिकर्तृत्वस्य श्रवणेन ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– छान्दोग्ये श्रुतेन तेजःप्रभृतीनां सृष्टिकर्तृत्वस्य श्रवणेन ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. तेजःप्रभृतिस्रष्टृत्वश्रवणाद् रुध्यते न वा॥१॥
३. तेजःप्रभृतिदेवानां स्रष्टृत्वाद् रुध्यते ननु।
४-५. तेजःप्रभृतयस् त्वात्माऽऽविष्टास् तस्मान् न रुध्यते॥२॥

६८.(८) विपर्ययाधिकरणम् (सू. १४)

महाभूतानामुत्पत्तेः क्रमे श्रुतीनामविरोधं प्रतिपाद्य लयस्य क्रमेऽपि तं प्रतिपादयति—

२३०. विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च २।३।१४॥ इति।

अत उत्पत्तिक्रमाद् विपर्ययेण प्रलयस्य क्रमो भवति, उपपद्यते चैष लयस्य क्रमो न तु सर्गक्रमानुसारी क्रम इत्यर्थः।

हिन्दी– इस उत्पत्ति के क्रम से विपरीत ही प्रलयका क्रम होता है, यही सर्गक्रम से विपरीत प्रलय का क्रम उपन्न भी होता है, सर्गक्रमानुसारी प्रलयक्रम उपपन्न नहीं हो सकता है।

अथ विपर्ययाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जगल्लयाधारब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– श्रुत्युक्तसर्गक्रमानुरोधात् स्वीकर्तव्येन तादृशेनैव लयक्रमेण जगल्लयाधारब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– महाभूतलयस्य श्रुतौ पृथक् क्रमस्याऽप्रतिपादितत्वात् तस्य सन्निहितश्रौतसृष्टिक्रमानुसारिताया आश्रयणीयत्वात् तदा च 'कारणनाशे सति कार्यनाशः' इति न्यायाद् आकाशादिरूपकारणनाशकालेऽपि वाय्वादिरूपकार्यस्थितेः प्रसङ्गाद् वाय्वादीनां ब्रह्मणि लयस्याऽसिद्धेः सर्वजगल्लयाधारब्रह्माऽसिद्धेः सर्वजगल्लयाधारब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– श्रुतिसन्निहितादपि उत्पत्तिक्रमाद् घटशरावादिकस्य कार्यस्याप्ययस्य काले मृदादिभावापत्तौ लोके दृश्यमानस्य विपर्ययक्रमस्य लयविषये उपपन्नतरत्वेन स्वीकर्तव्यत्वात्, एवं च पृथिव्यादिकं कार्यजातं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चाऽनन्तरमनन्तरं कारणमप्येति, तथा च सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माऽप्येतीति च स्वीकर्तव्यत्वाद् अशेषजगल्लयाधारब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– जगल्लयाधारब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुतिसन्निहितोत्पत्तिक्रमानुसारितया स्वीकर्तव्यत्वेनाऽऽपाततः प्रतीतेन लयक्रमेण न विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. लयाधारब्रह्मणि हि वेदान्तानां समन्वयः।

२. लयक्रमविरोधेन रोध्यो वा नेति संशयः॥१॥

३. श्रौताल् लयक्रमात् कल्प्यात् स रोध्य इति के चन।

४-५. विपर्ययक्रमाद् युक्तान् नो रोध्य इति निर्णयः॥२॥

६९.(९) अन्तराविज्ञानाधिकरणम् (सू. १५)

भूतोत्पत्तिलयक्रमे श्रुतिविरोधे निराकृते करणोत्पत्तिक्रमे श्रुतिविरोधं परिहरन्नाह—

२३१. अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन् नाऽविशेषात् २।३।१५॥ इति।

"एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मुण्डको.२।१।३) इत्यादिकाद् लिङ्गाद् आत्मानं महाभूतानि चाऽन्तरा सेन्द्रियबुद्धिरूपं विज्ञानं मनश्च क्रमेणोत्पद्येते इति चेत् न, महाभूतोत्पत्त्यैव विज्ञानमनसोरप्युत्पत्तेः सिद्धत्वेनाऽविशेषाद् विज्ञानमनसोरुत्पत्तेः क्रमो न विशेषेण निरूपणीयो भवतीत्यर्थः।

हिन्दी– "एतस्माज् जायते प्राणः" इत्यादि श्रुति में देखे गये लिङ्ग से आत्मा और महाभूतों के बीच में विज्ञान और मन की क्रम से उत्पत्ति होने की बात जानी जाती है, यदि ऐसा कोई समझे तो वह ठीक नहीं है, क्यों कि महाभूतों की उत्पत्ति से ही विज्ञान और मन की उत्पत्ति भी सिद्ध होने से उस में कोई विशेष न होने से विज्ञान और मन की उत्पत्ति का क्रम विशेष रूप में निरूपणीय नहीं है।

अथाऽन्तराविज्ञानाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– क्रमबद्धमहाभूतोत्पत्तिप्रलयाधारस्य ब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– करणसृष्टिश्रुत्या क्रमबद्धानां महाभूतानामुत्पत्तेर् हेतोः प्रलयस्य चाऽऽधारस्य ब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद् वायुः"** (तै.२।१।१) इत्यादिकया श्रुत्या प्रतिपादितायाम् आत्मन आकाशादीनां महाभूतानामुत्पत्तौ **"एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी"** (मुण्डको.२।१।३) इति श्रुत्या विरोध उपस्थाप्यत इति करणसृष्टिश्रुत्या क्रमबद्धानां महाभूतानामुत्पत्तेः साक्षात् कारणस्य तेषां प्रलयस्य चाऽऽधारस्य ब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– महाभूतानामुत्पत्त्यैव करणानामप्युत्पत्तेः सिद्धत्वेनाऽविशेषात्, **"एतस्माज् जायते प्राणः"** इत्यादिकायां श्रुतावपि करणानामुत्पत्तेरेवोक्तत्वात्, उत्पत्तेः क्रमस्याऽविवक्षितत्वाच्च एतया श्रुत्या आत्मन आकाशादीनां महाभूतानामुत्पत्तेः क्रमे कोऽपि विरोधो नोपस्थाप्यते इति नाऽनया श्रुत्या क्रमबद्धानां महाभूतानामुत्पत्तेः साक्षात् कारणस्य तेषां प्रलयस्य चाऽऽधारस्य ब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

निर्णयः– करणसृष्टिश्रुत्या क्रमबद्धानां महाभूतानामुत्पत्तेः साक्षात् कारणस्य तेषां प्रलयस्य चाऽऽधारस्य ब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. क्रमबद्धमहाभूतसृष्टिहेतौ समन्वयः।
२. करणोत्पत्तिश्रुत्या स बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. श्रुत्योर् विरोधाद् बाध्यः स इत्याहुः पूर्वपक्षिणः।
४-५. करणानामवैशेष्यान् न बाध्य इति निर्णयः॥२॥

७०.(१०) चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् (सू. १६)

महाभूत-करणोत्पत्तिप्रतिपादकश्रुतिविरोधे परिहृते जीवजन्मादिश्रुतिविरोधं परिहर्तुमाह–

२३२. चराचरव्यपाश्रयस् तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस् तद्भावभावित्वात् २।३।१६॥ इति।

शरीरस्य भावे एव जन्ममरणव्यपदेशस्य भावित्वाद् आगमापायिशरीराश्रयः खलु शास्त्रलोकप्रसिद्धो जन्ममरणव्यपदेशो जीवे तु भक्त्या प्रवृत्तः स्यादित्यर्थः। भक्त्या गुणयोगेन प्रवृत्तो भाक्तः, लाक्षणिक इत्यर्थः। एवञ्च नित्यसिद्धप्रत्यगात्माऽभिन्नब्रह्मणः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो जीवजातकर्मादिविधायकशास्त्रेण न विरुध्यते इति भावः।

हिन्दी– शरीर होने पर ही जन्म-मरण का व्यवहार होने से आने-जाने वाले शरीर में आश्रित और लोक में और शास्त्र में प्रसिद्ध जन्म-मरण-व्यवहार जीव में गौण रूप में ही प्रवृत्त होता है।

अथ चराचरव्यपाश्रयाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– नित्यसिद्धप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– जीवजातकर्मादिविधायकशास्त्रेण नित्यसिद्धप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मणः जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"जातेऽग्ग्ँनिमुपसमाधायाऽङ्क ऽआधाय कᳬसे पृषदाज्ज्यमानीय पृषदाज्ज्यस्योपघातञ् जुहोति"** (मा.वा.शत.१४।९।४।२३, का.वा.बृह.६।४।२४) इत्यादिकया

जातकर्मविधायिकया श्रुत्या **"अथास्मै श्मशानङ् कुर्ब्वन्ति गृहान् न्वा प्रजज्ञँ३ानवं वा यो वै कश्चन म्म्रियते स शवः"** (मा.वा.शत.१३।८।१।१) इत्यादिकया मृतश्मशान-कर्मविधायिकया श्रुत्या च प्रत्यक्षोपोद्बलितया जीवजन्ममरणयोः प्रतिपादितत्वात् प्रत्यगात्मरूप-जीवजन्ममरण-प्रतिपादिकया श्रुत्या नित्यसिद्धप्रत्यगात्माऽभिन्नब्रह्मणः जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– शास्त्रलोकसिद्धस्य जीवजन्ममरणव्यवहारस्य आगमापायिशरीराश्रयत्वात्, जीव-जन्ममरणव्यवहारस्य शरीरसम्बन्धसहभावित्वेन जीवे गौणत्वात्, **"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते"** (छा.६।११।३) इति श्रुतेः प्रत्यगात्मनो जन्ममरणयो-रभावस्याऽवगमाद् गौणजीवजन्ममरणव्यवहारोपजीविनीभिः श्रुतिभिर् मुख्यनित्यसिद्ध-प्रत्यगात्माऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– गौणजीवजन्ममरणव्यवहारोपजीविनीभिः श्रुतिभिर् मुख्यनित्यसिद्ध-प्रत्यगात्मा-ऽभिन्नब्रह्मणः जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. प्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मनिष्ठश्रुतिसमन्वयः।
२. जीवजन्मादिकश्रुत्या बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. बाध्यो जीवोद्भवश्रुत्याः प्रामाण्यादिति के चन।
४-५. गौणत्वाज् जीवजन्मादेर् न बाध्य इति निर्णयः॥२॥

७१.(११) आत्माधिकरणम् (सू. १७)

जीवोत्पत्तिश्रुत्याऽपि प्रत्यगात्माऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयितुमाह–

२३३. नाऽऽत्माऽश्रुतेर् नित्यत्वाच् च ताभ्यः २।३।१७॥ इति।

श्रुतिषु भूयस्सु सृष्टिप्रकरणेषु जीवस्याऽऽत्मन उत्पत्तेरश्रुतत्वात्, **"स वा ऽएष महानजऽआत्त्वँमाऽजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्रह्म"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३०, का.वा.बृह.४।४।२५), **"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"** (कठो.१।२।१८), **"न जीवो म्रियते"** (छा.६।११।३) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्यो जीवस्याऽऽत्मनो नित्यत्वस्याऽवगम्य-मानत्वाच्च जीव आत्मा न उत्पद्यते इत्यर्थः। एवं च जीवोत्पत्तिप्रतिपादिकानां श्रुतीनाम् औपाधिकोत्पत्तिविषयकत्वात् ताभिर् नित्यसिद्धप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति भावः।

हिन्दी– अधिकतर श्रुतियों में सृष्टिप्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति प्रतिपादित न होने से और "स वा एष महानज आत्मा" इत्यादि श्रुतियों से जीवात्मा की नित्यता अवगत होने से भी

जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है। अतः जीवोत्पत्ति प्रतिपादक श्रुतिवचन औपाधिक जीवोत्पत्तिविषयक होने से उस से नित्यसिद्ध-प्रत्यगात्मा-ऽभिन्न ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय बाधित नहीं होता है, यह तात्पर्य है।

अथाऽऽत्माधिकरणस्वरूपम्

विषयः– नित्यसिद्धप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– अग्निविस्फुलिङ्गादिन्यायेन जीवोत्पत्तिं प्रतिपादयन्तीभिः श्रुतिभिर् नित्यसिद्ध-प्रत्यगात्माऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"यथोर्ण्णवाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्ग्ँनेः क्षुद्द्रा विंस्फुलिङ्गा ब्व्युच्चरन्त्येवमेवास्म्मादात्तँमनः सर्ब्वे प्प्राणाः सर्ब्वे लोकाः सर्ब्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि ब्व्युच्चरन्ति"** (मा.वा.शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०), **"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवाऽपि यन्ति"** (मुण्डको.२।१।१), **"त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः"** (श्वेता.४।३) इत्यादिकाभिः श्रुतिभिर् जीवस्याऽऽत्मन उत्पत्तेः प्रतिपादितत्वात्, प्रतिशरीरं प्रविभक्तस्य जीवस्याऽपि प्रविभक्तानामाकाशादीनामिवोत्पत्तेः सम्भवात् प्रत्यगात्मरूपो जीवोऽपि उत्पद्यते इति उक्ताभिः श्रुतिभिर् नित्यसिद्धप्रत्यगात्माऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– उपनिषत्सु श्रुतेषु भूयस्सु सृष्टिप्रकरणेषु जीवस्याऽऽत्मन उत्पत्तेरप्रतिपादितत्वात्, श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनोऽजाऽजराऽमरनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपतायाः प्रतिपादितत्वात्, **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"** (श्वेता.६।११) इत्यादिकया श्रुत्या जीवस्य वस्तुतः प्रतिशरीरं विभक्ततताया अभावस्य बोधितत्वाच्च जीवस्योत्पत्तेरभावस्याऽवगमात्, विस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तेन जीवोत्पत्तेः प्रतिपादनस्य त्वौपाधिकत्वेनाऽपारमार्थिकत्वाच्च नित्यसिद्धप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न कयाऽपि श्रुत्या विरुध्यते इति।

निर्णयः– नित्यसिद्धप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः कयाऽपि श्रुत्या नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. नित्यसिद्धप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मसमन्वयः।
२. कल्पादिजीवोत्पत्त्यादिश्रुत्या बाध्यो न वा मतः॥१॥
३. बाध्योऽग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तादिति के चन।
४-५. न बाध्यो वस्तुतो जीवाऽनुत्पत्तेरिति निर्णयः॥२॥

७२.(१२) ज्ञाऽधिकरणम् (सू. १८)

जीवस्य चेतनाया आगन्तुकत्वं प्रतिपादयन्त्या श्रुत्या चेतनजीवाऽभिन्न-ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयन्नाह—

२३४. ज्ञोऽत एव २।३।१८॥ इति।

अनुत्पत्तेर् नित्यत्वादिभ्यो ब्रह्मणो वस्तुतोऽविभक्तत्वाच्च जीवो नित्य-चेतनोऽस्तीत्यर्थः। नित्यचेतनजीवाऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्त-समन्वयो जीवस्याऽनित्यज्ञानतायाः प्रदर्शिकाभिः श्रुतिभिर् न विरुध्यते इति भावः।

हिन्दी– उत्पत्तिमान् न होने से, श्रुतियों से नित्यरूप अवगत होने से और वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न हाने से भी जीव नित्यचैतन्यस्वरूप है। अत एव नित्यचैतन्यस्वरूप जीव से अभिन्न ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय जीव को अनित्य ज्ञान वाला दिखाने वाली श्रुतियों से बाधित नहीं होता है।

अथ ज्ञाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– नित्यचेतनजीवाभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– **"प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, बदन् न्वाक्क् पश्श्यँश्च्चक्षुः श्रृण्वञ् छ्रोत्रम् मन्वानो मनः"** (मा.वा.शत.१४।४।२।१७, का.वा.बृह.१।४।७), **"अथ यत्रैत-दाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः"** (छा.८।१२।४) इत्यादि-काभिर् जीवस्याऽनित्यज्ञानतायाः प्रदर्शिकाभिः श्रुतिभिः **"बिज्ञ्ँज्ञानमानन्दम् ब्रह्म्म"** (मा.वा.शत.१४।६।९।३४, का.वा.बृह.३।९।२८), **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तै.२।१।१) इत्यादिकाभिः श्रुतिभिर् निरूपितस्य चेतनस्वरूपजीवाभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– सुप्तमूर्छितग्रहाविष्टानां जीवानां चैतन्यस्याऽदर्शनात्, जागरितानां स्वस्थानां जीवानां चेतयमानत्वस्य दर्शनाच्च जीवः स्वतोऽचेतन आगन्तुकचैतन्योऽवगम्यते, **"पश्श्यँश्च्चक्षुः"** (मा.वा.शत.१४।४।२।१७, का.वा.बृह.१।४।७), **"दर्शनाय चक्षुः"** (छा.८।१२।४) इत्यादिकाः श्रुतयश्च जीवस्याऽऽगन्तुकचैतन्यत्वमवगमयन्ति। एवं च नित्यचेतनजीवाभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयस् तर्केण श्रुत्या च विरुध्यते इति।

उत्तरम्– जीवस्याऽनुत्पन्नत्वाद् ब्रह्मण एवाऽविकृतस्योपाधिसम्पर्काज् जीवभावेनावस्थानात्; परस्य ब्रह्मणश्च **"बिज्ञ्ँज्ञानमानन्दम् ब्रह्म्म"** (मा.वा.शत.१४।६।९।३४), **"इदम् महद्द् भूतमनन्तपारव्ँ विज्ञ्ँज्ञानघनऽएव"** (मा.वा.शत.१४।५।४।१२, का.वा.बृह. २।४।१२), **"इदम् महद्द् भूतमनन्तपारङ् कृत्स्नः प्प्रज्ञ्ँज्ञानघनऽएव"** (मा.वा.शत. १४।७।३।१३), **"अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनऽएव"** (का.वा.बृह. ४।५।१३), **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तै.२।१।१) इत्यादिकाभिः श्रुतिभिश् चैतन्यस्वरूप-तायाः प्रतिपादितत्वात्, सुषुप्तादीनां जीवानामचेतयमानतायाश्च **"यद् वै तन् न**

पश्यति पश्यन् न्वै तद् द्रष्टव्यन् न पश्यति न हि द्द्रष्टुर् दृष्टेर् व्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् द्विभक्तयं यत्त् पश्येत्" (मा.वा.शत.१४।७।१।२३, १४।७।३।१६; का.वा.बृह.४।३।२३) इत्यादिकाभिः श्रुतिभिरेव विषयाऽभावमूलकतायाः प्रतिपादितत्वात्, ततश्च जीवस्य चैतन्यस्वरूपत्वस्य ज्ञायमानत्वात्, वैशेषिकादितर्कस्य च श्रुतिविरोधेनाऽऽभासीभावाच्च नित्यचेतनजीवाभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुत्या तर्केण च न विरुध्यते इति।

निर्णयः– नित्यचेतनजीवाभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः श्रुत्या तर्केण च नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. चिद्रूपात्माभिन्नब्रह्मपरः श्रुतिसमन्वयः।
२. जीवाऽनित्यज्ञानतायाः श्रुत्या बाध्यो न वा मतः॥१॥
३. बाध्यः श्रुत्या तर्कबलयुतयेति हि के चन।
४-५. तस्या औपाधिकार्थत्वान्न बाध्य इति निर्णयः॥२॥

७३.(१३) उत्क्रान्त्यधिकरणम् (सू. १९-३२)

जीवस्योत्क्रान्त्यादीनां प्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिर् जीवात्माऽभिन्नस्य विभोः ब्रह्मणः जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयितुमाह–

२३५. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् २।३।१९॥ इति।

"स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति" (कौषी.३।४) इत्यत्र, **"ये वै के चाऽस्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"** (कौषी. १।२) इत्यत्र, **"तस्माल्लोकात्त् पुनरेत्त्यस्म्मै लोकाय कर्म्मणे"** (मा.वा.शत. १४।७।२।८, का.वा.बृह.४।४।६) इत्यादिकासु श्रुतिषु च जीवस्योत्क्रान्तेर् गतेरागतेश्च श्रवणाज् जीवः परिच्छिन्नोऽणुरवगम्यते इत्यर्थः। नाऽणुरतच्छ्रुतेरित्यादिकस्योत्तरसूत्रस्य (२।३।२१) दर्शनात् श्रुतेरणुरिति पदद्वयमध्याहृत्य **'उत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रुतेर् जीवोऽणुरवगम्यते'** इति सूत्रवाक्यं रचनीयम्।

हिन्दी– श्रुतियों में जीवात्मा के शरीर से निकलने, परलोक में जाने और परलोक से इस लोक में आने की बात प्रतिपादित होने से जीवात्मा परिच्छिन्न तथा अणुपरिमाणक अवगत होता है।

२३६. स्वात्मना चोत्तरयोः २।३।२०॥

पूर्वसूत्रोक्तयोरुत्तरयोर् गत्यागत्योः कर्तृस्थक्रियात्वात् स्वात्मना सम्बन्धात्, नित्यस्य जीवस्य अणुत्वे एव गत्यागत्योः सम्भवाच्च जीवोऽणुरवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – पूर्वसूत्र में उक्त गमन-आगमनरूप पिछली दो क्रियाओं का कर्तृस्थ क्रिया होने से स्वात्मा से सम्बन्ध होने से और नित्य जीव अणु होने पर ही उस की गमन और आगमन सम्भव होने से भी जीवात्मा अणुपरिमाणक अवगत होता है।

२३७. नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन् नेतराधिकारात् २।३।२१॥

"स वाऽएष महानजऽआतत्तँमा" (मा.वा.शत.१४।७।२।२९,३०,३१, का.वा.बृह.४।४।२२,२४,२५) इत्यादिकासु श्रुतिषु जीवस्य अणुत्वविपरीतपरिमाणस्य श्रुतत्वाज् जीवो नाणुरिति चेत्, अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणस्य जीवेतर-परमात्मविषयत्वान् न तथा मन्तव्यमित्यर्थः। एवं च परमात्मनो महत्त्वेऽपि जीवस् त्वणुरेवेति भावः।

हिन्दी – श्रुति में जीव का अणुत्व विपरीत महत्त्वरूप परिमाण प्रतिपादित होने से जीव को अणु नहीं माना जा सकता है, यह शङ्का ठीक नहीं, क्यों कि श्रुति में जो महत्त्व परिमाण बताया गया है वह जीवविषयक नहीं, किन्तु परमात्मविषयक है; अतः जीव तो अणु ही अवगत होता है।

२३८. स्वशब्दोन्मानाभ्यां च २।३।२२॥

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" (मुण्डको.३।१।९) इत्यादौ अणुत्ववाचकस्य स्वशब्दस्य अणुरित्यस्य श्रवणात्, "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" (श्वेता.५।८) इत्यादौ जीवस्य अणुत्वस्याऽनुकूलस्य उन्मानस्य श्रवणाच्च जीवोऽणुरवगम्यते इत्यर्थः। उन्मानशब्दोऽन्यत्रोर्ध्वमानवाच्यप्यत्र परिमाणवाची।

हिन्दी – श्रुति में जीव के अणुत्व परिमाण को अणुत्व का वाचक स्वशब्द अणु से ही बताये जाने से और जीव का अणुत्व का अनुकूल उन्मान (परिमाण) बताये जाने से भी जीव अणु ही अवगत होता है।

२३९. अविरोधश् चन्दनवत् २।३।२३॥

यथा चन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशस्थोऽपि सकलशरीरव्यापिनमाह्लादं करोति एवं जीवोऽपि शरीरैकदेशस्थोऽपि सकलशरीरव्यापिनीं चेतनां सम्पादयितुं शक्नोतीति जीवस्याऽणुत्वे स्वीकृतेऽपि सकलशरीरव्यापिन्याश् चेतनाया विरोधोऽनुपपत्तिर् वाऽपि न भवतीति जीवोऽणुपरिमाण आस्थातुं शक्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे शरीर के एकदेश ललाटादि में रहने पर भी चन्दनबिन्दु सम्पूर्णशरीरव्यापी आह्लाद उत्पन्न कर सकता है वैसे ही शरीर के एकदेश में रहने पर भी जीव सम्पूर्णशरीरव्यापी चेतना सम्पन्न कर सकता है। अतः जीव के अणुत्व को मानने पर भी सकलशरीरव्यापी चेतना का विरोध वा अनुपपत्ति न होने से जीव को अणु माना जा सकता ही है।

२४०. अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन् नाऽभ्युपगमाद् धृदि हि २।३।२४॥

चन्दनबिन्दोस्तु शरीरैकदेशेऽवस्थितेर् वैशेष्यात् सकलशरीरव्यापकाऽऽह्लादजनकत्वं युज्यते, जीवात्मनस्तु शरीरैकदेशेऽवस्थितेर् वैशेष्यस्याऽभावान् न

सकलशरीर-व्यापकचेतनासम्पादकत्वं सम्भवतीति चेत्, **"हृद्यन्तर्ज्ज्योतिः (पुरुषः)"** (मा.वा.शत.१४।७।१।७, का.वा.बृह.४।३।७), **"स वा एष आत्मा हृदि"** (छा.८।३।३), **"हृदि ह्येष आत्मा"** (प्रश्नो.३।६) इत्यादिकासु श्रुतिषु जीवात्मनोऽपि शरीरैकदेशे हृदि हि अवस्थितेर् वैशेष्यस्य स्वीकृतत्वान् न तथा मन्तव्यमित्यर्थः।

हिन्दी – चन्दनबिन्दु का तो शरीर के एकदेश में विशेष प्रकार की अवस्थिति से सम्पूर्ण शरीर को आह्लादित करना सम्भव हो सकता है, जीवात्मा की तो शरीर के एक देश में विशेष प्रकार की अवस्थिति नहीं होने से वह कैसे सम्पूर्ण शरीर में चेतना को सम्पन्न कर सकेगा? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि जीवात्मा का भी शरीर के एकदेश हृदय में विशेष प्रकार से अवस्थिति मानी ही जाती है। अतः हृदय में स्थित जीवात्मा सम्पूर्ण शरीर में चेतना सम्पादित कर ही सकता है।

२४१. गुणाद् वा लोकवत् २।३।२५॥

यथा लोके मणिप्रदीपादीनाम् अपवरकैकदेशस्थानामपि प्रभारूपाद् गुणात् सर्वापवरकव्यापकत्वेऽविरोधस् तथा निरवयवस्य जीवस्याऽपि शरीरैक-देशस्थस्याऽपि चैतन्यरूपात् स्वाभाविकगुणात् सकल-शरीर-व्यापक-चेतना-सम्पादकत्वेऽविरोध एवेत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे लोक में मणि-प्रदीप आदि का कमरे के एक देश में रहते हुए भी प्रभारूप गुण से सम्पूर्ण कमरे को व्याप्त करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है, वैसे ही शरीर के एकदेश में रहने वाला और निरवयव होने पर भी जीव का भी चैतन्यरूप स्वाभाविक गुण से सकलशरीरव्यापी चेतना को सम्पन्न करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

२४२. व्यतिरेको गन्धवत् २।३।२६॥

यथा द्रव्यगुणस्य गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण स्थितिर् भवति, तथैव जीवगुणस्य चैतन्यस्याऽपि हृदयस्थजीवव्यतिरेकेण सर्वशरीरव्यापकतया स्थिति-रुपपद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे द्रव्य के गुण गन्ध का गन्ध वाले द्रव्य से पृथक् भी स्थिति होती है वैसे ही जीव के गुण चैतन्य का भी हृदयस्थ जीव से पृथक् शरीर के सभी भागों में स्थिति हो सकती है। अतः जीव को अणु मानने में काई अनुपपत्ति नहीं है।

२४३. तथा च दर्शयति २।३।२७॥

"हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद् यथा सहस्रधा केशो विपाटितस् तावदण्व्यः पिङ्गलस्याऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्य तासु तदा भवति" (कौषी.४।१९), **"प्राण एवैकधा भवति"** (कौषी.४।१९), **"एषोऽन्तर्हृदयऽआकाशस्तस्मिञ्छेते"** (मा.वा.शत. १४।५।१।१७, का.वा.बृह.२।१।१७), **"ताभिः प्रत्त्यवसृत्त्य पुरीतति शेते"** (मा.वा.

शत.१४।५।१।२१, का.वा.बृह.२।१।१९) इत्यादिभिर् वाक्यैरात्मनो हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चाऽभिधाय श्रुतिस् तस्यैव **"स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर् ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते"** (कौषी. ४।२०), **"एष प्रज्ञ आत्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ नखेभ्यः"** (कौषी.४।२०), **"सऽएषऽइह प्प्रविष्टऽआ नखाग्ग्रेब्भ्यः"** (मा.वा.शत. १४।४।२।१५, का.वा.बृह.१।४।७) इत्यादिभिर् वाक्यैश् चैतन्येन गुणेन सम्पूर्णशरीरव्यापित्वं दर्शयति। अत आत्मनोऽणुत्वे नास्ति श्रुतिविरोधोऽपीति भावः।

हिन्दी – श्रुति भी आत्मा का हृदयायतनत्व और अणुपरिमाणत्व दिखा कर आत्मा के चैतन्यगुण से सम्पूर्ण शरीर का व्यापन दिखाती है। अतः आत्मा के अणुत्व को स्वीकारने में श्रुतिविरोध भी नहीं है।

२४४. पृथगुपदेशात् २।३।२८॥

"प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" (कौषी.३।६) इत्यादिकैः शब्दैः आत्मप्रज्ञयोः कर्तृ-करण-भावेन पार्थक्येनोपदेशाच्च चैतन्यगुणेनैव जीवात्मनः शरीरव्यापित्वमिति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में आत्मा और प्रज्ञा का कर्तृरूप में और करणरूप में पृथक् कर के उपदेश किये जाने से भी जीवात्मा का चैतन्यगुण से ही शरीरव्यापित्व होने की बात अवगत होती है।

२४५. तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् २।३।२९॥

यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः संसारावस्थायामुपाधिसम्बन्धात् सगुणोपासनेषु **"अणीयान् व्रीहेर् वा यवाद् वा"** (छा.३।१४।३) इत्यादौ अणीयस्त्वेन व्यपदेशस् तथैव बुद्धिगुणप्रधानत्वात् तु ब्रह्माऽभिन्नस्य विभोर् जीवस्याऽपि बुद्धिपरिमाणेनाऽणुत्वेन व्यपदेश उपाधिसम्बन्धादेवेत्यर्थः। **"बुद्धेर् गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः"** (श्वेता.५।८) इति श्रुतेर् जीव उपाधिसम्बन्धेनैवाऽणुरिव भाति, वस्तुतस्तु ब्रह्माभिन्नो जीवो विभुरेवेति श्रुतित एव स्पष्टतयाऽवगम्यते इति भावः। तुशब्दोऽत्रोत्तरपक्षारम्भसूचकः।

हिन्दी – जैसे विभु प्राज्ञ परमात्मा का भी संसारावस्था में उपाधिसम्बन्ध से सगुण उपासना में अणीयस्त्वगुणयुक्त रूप में व्यवहार होता है वैसे ही जीव का भी बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से बुद्धि के परिमाण अणुत्व से व्यवहार होता है, वस्तुतस्तु जीव विभु ही है।

२४६. यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् २।३।३०॥

"सोऽयवं विज्ज्ञानमयः पुरुषः प्प्राणेषु हृद्द्यन्तर्ज्ज्योतिः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति" (मा.वा.शत.१४।७।१।७, का.वा.बृह.४।३।७) इति

लोकान्तरगमनेऽपि बुद्धिगुणप्रधानत्वस्य दर्शनाद् बुद्धिगुणप्रधानत्वस्य जीवात्मभावस्थितिपर्यन्तस्थायित्वस्याऽवगमाद् मुक्तेः पूर्वमपि बुद्धिगुणप्रधानत्वस्य निवृत्त्या जीवस्याऽसंसारितायाः प्राप्तिः, सर्वशरीरभोक्तृत्वादेः प्राप्तिश् चेत्यादिको दोषो न भवतीत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में लोकान्तरगमन में भी जीव का बुद्धिगुणप्रधानत्व देखे जाने से जीव का बुद्धिगुणप्रधानत्व जीवात्मभाव रहने तक रहने की बात अवगत होने से मुक्ति से पहले भी बुद्धिगुणप्रधानत्व की निवृत्ति होने से जीव का असंसारित्व की प्राप्ति और सर्वशरीरभोक्तृत्व की प्राप्ति इत्यादि दोष नहीं होते हैं।

२४७. पुंस्त्वादिवत् त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् २।३।३१॥

यथा पुंस्त्वादीनि बीजरूपेण स्थितान्येव बाल्यादिषु अनुपलभ्यमानानि अविद्यमानवद् व्यवह्रियमाणानि यौवनादिषु अभिव्यज्यन्ते तथैव बुद्धिगुणप्रधानत्वमपि जीवात्मनः सुषुप्तिप्रलययोरपि बीजरूपेण विद्यमानमेव पुनः प्रबोधसर्गयोराविर्भवतीति जीवात्मनो बुद्धिगुणप्रधानत्वं यावदात्मभावि एवेत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे पुंस्त्वादि बीज रूप में रहते हुए भी बाल्यादि में अनुपलभ्यमान होने से अविद्यमानवत् व्यवहृत होते हैं और यौवनादि में अभिव्यक्त होते हैं, वैसे ही जीवात्मा का बुद्धिगुणप्रधानत्व भी सुषुप्तिकाल में और प्रलयकाल में भी अनभिव्यक्तरूप से बीजरूप में स्थित होकर प्रबोधकाल में और सृष्टिकाल में अभिव्यक्त होता है। अतः जीव का बुद्धिगुणप्रधानत्व जीवात्मभाव रहने तक रहने वाला है।

२४८. नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा २।३।३२।

जीवात्मनो बुद्धिगुणप्रधानत्वं पूर्वसूत्रोक्तमवश्यं स्वीकर्तव्यम्, अन्यथा मनो-बुद्धि-विज्ञान-चित्तरूपाऽन्तःकरणस्योपयोगस्याऽभावे आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धि-निमित्तानां सन्निधाने सति नित्योपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्, सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावेऽभ्युपगते च नित्यानुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्; न चैवं दृश्यते; अन्यथा कल्पने च आत्मन इन्द्रियस्य वाऽन्यतरस्य स्वकार्यशक्तिप्रतिबन्धरूपो नियमो वा कल्पनीयः स्यात्, न चैवं कल्पयितुं युज्यते आत्मनोऽविक्रियत्वात्, इन्द्रियस्य च पूर्वोत्तरक्षणयोरप्रतिबद्धस्याऽकस्मात् शक्तिप्रतिबन्धस्य कल्पनाया अनौचित्यादित्यर्थः।

"अन्यत्रमनाऽअभूवन् नाऽदर्शम्" (मा.वा.शत.१४।४।३।८, का.वा.बृह. १।५।३) इत्यादिकया श्रुत्या बोधितस्य यस्याऽवधानाऽनवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस् तन् मन एव जीवोपाधिभूतं वृत्तिभेदेन बुद्ध्यादिशब्दैरपि व्यपदिश्यत इति जीवात्मनो बुद्धिगुणप्रधानत्वम्, बुद्धिगुणप्रधानत्वाच् च बुद्धिपरिमाणेनाऽणुत्वेन जीवस्य व्यपदेशः, वस्तुतस्तु ब्रह्माऽभिन्नो जीवो विभुरेव नाऽणुरिति भावः।

हिन्दी – जीवात्मा का बुद्धिगुणप्रधानत्व और तदनुकूल अन्तःकरण का उपयोग न मानने पर उपलब्धि के निमित्तभूत आत्मा इन्द्रिय और विषय का सन्निधान होने पर नित्य ही उपलब्धि (ज्ञान) होगी, हेतु रहने पर भी फलाभाव मानेंगे तो नित्य ही अनुपलब्धि (अज्ञान) होगी, ऐसा तो नहीं होता है, अतः इस पक्ष को छोडकर यदि अन्यथा कल्पना करें अर्थात् आत्मा की वा इन्द्रिय की शक्ति के नियमन से कभी उपलब्धि होगी कभी उपलब्धि नहीं होगी ऐसा मानें तो आत्मा अविक्रिय होने से उस की शक्ति का नियमन नहीं माना जा सकता है, पूर्वक्षण में और उत्तरक्षण में अप्रतिबद्धशक्तिक इन्द्रिय की शक्ति का उसी क्षण में प्रतिबन्ध वा नियमन मानने में भी कोई युक्ति नहीं दिखाई देती है, अतः यह पक्ष भी ठीक नहीं माना जा सकता है। अतः जीवात्मा का पूर्वसूत्रोक्त बुद्धिगुणप्रधानत्व मानना ही पडेगा। जीव का बुद्धिगुणप्रधानत्व सिद्ध होने से बुद्धि के परिमाण अणुत्व को लेकर जीव में भी अणुत्व का व्यवहार उपपन्न हो जाता है। इस स्थिति में जीव को परमार्थ में भी अणु ही मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, जीव परमार्थतः ब्रह्म से अभिन्न होने से विभु ही है अणु नहीं, यह तात्पर्य है।

अथोत्क्रान्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जीवात्माऽभिन्नस्य विभोर् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– युक्त्युपोद्बलिताभिर् जीवाणुत्ववादिनीभिः श्रुतिभिर् जीवात्माऽभिन्नस्य विभोर् ब्राह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– जीवात्मनः शरीरादुत्क्रान्तेः लोकान्तरगमनस्य पुनरागमनस्य च श्रवणात्, जीवात्मनोऽणुत्वस्याऽणुशब्देनैव श्रुत्या प्रतिपादितत्वात्, आराग्रमात्रतायाश्चोक्तत्वात्, श्रुत्युक्तानामर्थानां युक्तिभिरविरोधाच्च जीवात्माऽणुपरिमाण इति तस्य विभुना ब्रह्मणाऽभेदस्याऽसम्भवात् जीवाणुत्ववादिनीभिः श्रुतिभिर् जीवाऽऽत्माभिन्नस्य विभोर् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– संसारावस्थायां जीवात्मनो बुद्धिगुणप्रधानत्वाद् उपाधिसम्बन्धाद् विभोरपि जीवात्मन उपाधिभूतबुद्धिपरिमाणेनाऽणुत्वेन श्रुतौ व्यपदेशः, वस्तुतस्तु जीवात्मा विभुरेवेति तस्य ब्रह्माभिन्नत्वे श्रुतिविरोधयुक्तिविरोधयोरभावाद् उपाध्यपेक्षया व्यवहारदशायां जीवस्याणुत्वमुल्लिखन्तीभिः श्रुतिभिः परमार्थतो जीवात्माभिन्नस्य विभोर् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– जीवस्याऽणुत्वमुल्लिखन्तीभिः श्रुतिभिर् जीवात्माऽभिन्नस्य विभोर् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवाभिन्नविभुब्रह्मकारणत्वे समन्वयः।
२. जीवाणुतावादिश्रुत्या बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. युक्तियुक्ताऽणुत्वश्रुत्या स बाध्य इति के चन।
४-५. अणुत्वस्यौपाधिकत्वान् न बाध्य इति निर्णयः॥१॥

७४.(१४) कर्त्रधिकरणम् (सू. ३३-३९)

जीवस्य कर्तृत्वं प्रतिपादयन्तीभिः श्रुतिभिर् जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयन्नाह—

२४९. कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् २।३।३३॥ इति।

"सदैवैनङ् कदा च यज्ञँ्त्र्ऽउपनमेदथागग्ँनीऽआदधीत" (मा.वा.शत. २।१।९) इत्यादिकस्य **"एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः"** (प्रश्नो.५।९) इत्यादिकस्य च शास्त्रस्याऽर्थवत्त्वाद् बुद्धिगुणसारो जीवो भाक्तः कर्ताऽस्तीति गम्यत इत्यर्थः। तद्गुणसारभाक्तपदार्थयोः पूर्वाऽधिकरणतोऽनुवृत्ति-रत्राऽऽस्थेयाऽवगम्यते।

हिन्दी – जीव के कर्तृत्व का प्रतिपादक वेदवचनरूप शास्त्र के सार्थकता के लिए बुद्धिगुणप्रधान जीव को व्यावहारिक कर्ता माना जाता है।

२५०. विहारोपदेशात् २।३।३४॥

"स्वे शरीरे यथाकामम् परिवर्त्तते" (मा.वा.शत.१४।५।१।२०, का.वा. बृह.२।१।१८) इत्यादिषु श्रुतिषु जीवस्य स्वप्ने विहारस्योपदेशाज् जीवो भाक्तः कर्ताऽस्तीति ज्ञायते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में जीव का स्वप्नावस्था में विहार का उपदेश होने से जीव को व्यावहारिक रूप में कर्ता माना जाता है।

२५१. उपादानात् २।३।३५॥

"प्राणान्न् गृहीत्त्वा" (मा.वा.शत.१४।५।१।२०, का.वा.बृह.२।१।१८) इति श्रुतौ जीवस्य करणानामुपादानस्य सङ्कीर्तनाच् च जीवो भाक्तः कर्ताऽस्तीति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में जीव के करणों के उपादान का सङ्कीर्तन होने से भी जीव को व्यावहारिक रूप में कर्ता माना जाता है।

२५२. व्यपदेशाच्च क्रियायाम्, न चेन् निर्देशविपर्ययः २।३।३६॥

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" (तै.२।५।१) इति वैदिकीषु लौकिकीषु च क्रियासु जीवस्य कर्तृत्वस्य व्यपदेशाच्च जीवः कर्ताऽस्तीति ज्ञायते।

अन्यत्र बुद्धौ प्रयुक्तेनाऽपि विज्ञानशब्देन **"विज्ञानं यज्ञं तनुते"** इत्यादौ जीवस्यैव निर्देशो विज्ञायते, यदि तत्र विज्ञानशब्देन जीवस्य निर्देशो नाऽभविष्यत्

तर्हि कर्तृविभक्तिनिर्देशविपर्ययेण करणविभक्त्या निर्देशोऽभविष्यत्, न च तथा दृश्यते, तस्माद् **"विज्ञानं यज्ञं तनुते"** इत्यादौ विज्ञानशब्देन जीवस्यैव निर्देशः कृतोऽस्तीति विज्ञायते। एवं च जीवो व्यावहारिकः कर्ताऽस्तीति गम्यते।

हिन्दी – श्रुति में जीव के वैदिक और लौकिक क्रियाओं में कर्तृत्व का प्रतिपादन होने से जीव व्यावहारिक कर्ता माना जाता है। "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इस श्रुति में विज्ञानशब्द से यदि जीव का निर्देश न होकर बुद्धि का निर्देश होता तो विज्ञानशब्द में कर्तृविभक्ति (प्रथमा) नहोकर करणविभक्ति (तृतीया) होती, वह तो नहीं है, अतः विज्ञानशब्द से जीव का ही निर्देश है और जीव को व्यावहारिक रूप में कर्ता माना जाता है।

२५३. उपलब्धिवदनियमः २।३।३७॥

जीवस्याऽऽत्मनश् चैतन्ययोगादन्यस्याऽनपेक्षया विषयज्ञाने स्वतन्त्रस्याऽपि इष्टज्ञानेऽनिष्टज्ञाने च यथाऽनियमः, तथैवाऽर्थक्रियायामपि इष्टसम्पादनेऽनिष्टसम्पादने चाऽनियम उपपद्यते। अतो यदि जीवः क्रियासम्पादने स्वतन्त्रः कर्ताऽभविष्यत् तर्हि स इष्टमेव समपादयिष्यत् न त्वनिष्टमिति तर्केण जीवस्य कर्तृत्वं न विरोद्धुं शक्यते। अतश्च जीवो व्यावहारिकः कर्ताऽस्तीति ज्ञायते।

हिन्दी – जीव स्वतन्त्र होता हुआ भी जैसे केवल इष्टज्ञान ही नहीं करता है अनिष्टज्ञान भी करता है, इस विषय में अनियम है; वैसे ही जीव स्वतन्त्र होता हुआ भी केवल इष्ट सम्पादन ही नहीं अनिष्टसम्पादन भी कर सकता है, इस विषय में भी अनियम हो सकता है। अतः यदि जीव क्रियासम्पादन में स्वतन्त्र कर्ता होता तो वह केवल इष्टसम्पादन ही करता अनिष्टसम्पादन नहीं करता, ऐसा तो नहीं है, अतः जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं हो सकता है, इस तर्क से भी जीव का व्यावहारिक कर्तृत्व बाधित नहीं हो सकता है, यह भाव है।

२५४. शक्तिविपर्ययात् २।३।३८॥

यदि **"विज्ञानं यज्ञं तनुते"** इत्यत्र विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात् तदा बुद्धेः करणत्वशक्तिर् हीयेत, कर्तृत्वशक्तिश्चाऽऽपद्येतेति शक्तिविपर्ययः स्यात्। तदा च करणान्तरस्याऽपेक्षा स्यात्। ततश्च नाममात्रे विवादः स्यान् न तु वस्तुभेदः कश्चित्, करणव्यतिरिक्तस्य कर्तुः स्वीकार्यत्वात्। तस्माद् विज्ञानशब्दबोध्यो जीवः कर्ता, बुद्धिः करणमित्येव स्वीकर्तव्यमिति भावः।

हिन्दी – "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इस श्रुति में विज्ञानशब्दवाच्य बुद्धि को ही मानकर बुद्धि को ही कर्ता मानें तो बुद्धि में करणत्वशक्ति नहीं रहेगी और कर्तृत्व शक्ति आ जायगी, इस प्रकार शक्ति में उलटफेर हो जायगा। इस स्थिति में कर्ता को काम करने के लिए करण की आवश्यकता होने से दूसरे किसी करण की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार करण से भिन्न कर्ता स्वीकार्य होने से नाम मात्र में विवाद होगा, कोई वस्तुगत भेद नहीं होगा। अतः विज्ञानशब्दबोध्य जीव को कर्ता और बुद्धि को करण मानना ही उचित है।

२५५. समाध्यभावाच्च २।३।३९॥

जीवस्य कर्तृताया अभावे **"आत्त्माँ वाऽअरे द्द्रष्टव्व्यः श्रोतव्व्यो मन्तव्व्यो निदिद्ध्यासितव्व्यः"** (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६; का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६) इत्यादिकासु श्रुतिषूपदिष्टस्य आत्मज्ञानार्थस्य समाधेरभावस्य प्रसङ्गः स्यात्। अतो व्यवहारदशायां जीवः कर्ता स्वीकर्तव्य एवेति भावः।

हिन्दी – जीव की कर्तृता के अभाव में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुति में उपदिष्ट समाधि के अभाव का प्रसङ्ग हो जायगा। अतः व्यवहारावस्था में जीव को कर्ता मानना ही होगा।

अथ कर्त्रधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– जीवकर्तृत्वबोधिकाभिः श्रुतिभिर् जीवाऽभिन्नस्याऽसङ्गस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"अग्ग्नीँऽआदधीत"**, **"एष हि द्द्रष्टा"** इत्यादिकाभिः श्रुतिभिर् जीवस्य कर्तृताया बोधितत्वात्, **"स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते"** इति श्रुत्या जीवात्मनो विहारस्योपदिष्टत्वात्, **"प्राणान्न् गृहीत्त्वा"** इति श्रुत्या जीवकर्तृककरणोपादानस्योक्तत्वात्, **"विज्ञानं यज्ञं तनुते"** इति श्रुत्या जीवस्य कर्तृत्वस्य स्फुटतयोक्तत्वात्, जीवात्मनः कर्तृत्वेऽपि इष्टानिष्टज्ञाने इव इष्टानिष्टकर्मण्यपि अनियमस्य सम्भवात्, बुद्धेः कर्तृत्वे तस्याः करणत्वशक्तेर् हानस्य, करणान्तरकल्पनायाश्च प्रसङ्गाच् च बुद्धिव्यतिरिक्तस्य जीवस्यैव कर्तृत्वस्य स्वीकार्यत्वात्, जीवात्मनः कर्तृत्वस्याऽभावे ब्रह्मात्मज्ञानार्थस्य समाधेरभावस्य प्रसङ्गाच्च जीवात्मनः कर्तृत्वं स्वीकर्तव्यमेवेति कर्तुर् जीवाद् असङ्गस्य ब्रह्मणोऽभेदो भवितुं नार्हतीति जीवकर्तृत्वबोधिनीभिः श्रुतिभिर् जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"अग्ग्नीँऽआदधीत"** इत्यादिना शास्त्रेण जीवात्मनि यत् कर्तृत्वं बोधितं तद् व्यावहारिकम्, **"असङ्गोऽसितो न सज्ज्यते"** (मा.वा.शत.१४।६।९।२८, १४।६।११।६, १४।७।२।२७; का.वा.बृह.३।९।२६, ४।२।४, ४।४।२२ ४।५।१५) इत्यादिना शास्त्रेण यदात्मनोऽसङ्गत्वं प्रतिपादितं तत् पारमार्थिकमिति द्वयोः शास्त्रयोर् विरोधस्याऽभावाद् बुद्ध्युपाधिप्रधानतया व्यावहारिकरूपेण कर्तृत्वेनाऽभिमतस्याऽपि जीवात्मनः परमार्थतोऽसङ्गस्याऽसङ्गेन ब्रह्मणाऽभेदस्य स्वाभाविकत्वाज् जीवात्मनः व्यावहारिकं कर्तृत्वं बोधयन्तीभिः श्रुतिभिः पारमार्थिकाऽसङ्गजीवाऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– व्यावहारिकं जीवकर्तृत्वं बोधयन्तीभिः श्रुतिभिः पारमार्थिकासङ्गजीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मकारणत्वे समन्वयः।
२. जीवकर्तृत्वशास्त्रेण रोध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. युक्तिपुष्टेन शास्त्रेण रोध्यः स इति के चन।
४-५. परमार्थेऽविरोधात् तु न रोध्य इति निर्णयः॥२॥

७५.(१५) तक्षाऽधिकरणम् (सू. ४०)

जीवस्य कर्मणां विधायिकाभिः श्रुतिभिर् जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधमुपपादयन्नाह—

२५६. यथा च तक्षोभयथा २।३।४०॥ इति।

यथा वास्यादिकरणसापेक्षस् तक्षा कर्ता, वास्यादिकरणनिरपेक्षस्तु तक्षाऽकर्तेति तक्षा कर्ताऽकर्ता चेत्युभयथा भवति तथैव हि आत्माऽपि मनआदिकरणसापेक्षः कर्ता, मनआदिकरणनिरपेक्षस्तु अकर्तेति कर्ताऽकर्तेत्युभयथा भवतीत्यर्थः। एवं च वस्तुतोऽकर्ताऽप्यात्मा उपाधिवशेन भाक्तः कर्ताऽपि भवितुमर्हतीति भावः। अतश्च कर्मशास्त्रं मोक्षशास्त्रं चेत्युभयमप्युपपन्नमेवेति तात्पर्यम्।

एतत् सूत्रं कर्त्रधिरकरणान्तर्गतमेवाऽष्टमं सूत्रमिति रामानुजादयो वैष्णवा आहुः।

हिन्दी– जैसे बसूला, छेनी इत्यादि उपकरणयुक्त बढई कर्ता हो जाता है, उन उपकरणों को छोडकर अकर्ता हो जाता है, इस प्रकार बढई कर्ता अकर्ता दोनों हो सकता है, वैसे ही जीवात्मा भी मनप्रभृति करणों से युक्त होकर कर्ता हो जाता है, उन करणों को छोडकर अकर्ता हो जाता है, इस प्रकार जीवात्मा कर्ता अकर्ता दोनों हो सकता है। इस प्रकार वस्तुतः अकर्ता होता हुआ भी जीवात्मा गौण रूप से कर्ता भी हो जाता है। अतः कर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र दोनों उपपन्न होते हैं।

अथ तक्षाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– जीवस्य कर्तृत्वे तस्याऽसङ्गेन ब्रह्मणा ऐक्यस्याऽसम्भवः, अकर्तृत्वे च विधिशास्त्रप्रामाण्यहानिरिति जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वय उपपन्नो भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– एकस्यैव जीवात्मनः कर्तृत्वम् अकर्तृत्वं चेति उभयथात्वस्याऽसम्भवात्, विधिशास्त्रस्य सर्वलोकानुभवस्य च प्रामाण्याय जीवस्य कर्तृत्वस्य स्वीकार्यत्वात्, जीवस्य असङ्गब्रह्माऽभिन्नत्वे तस्य कर्तृत्वस्याऽसम्भवेन विधिशास्त्रस्य निरवकाशतायाः प्रसङ्गाच्च जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो नोपपद्यत इति।

उत्तरम्– यथा लोकेऽपि एक एव तक्षा वास्यादिकरणसन्निधाने कर्ता वास्यादिकरणाऽसन्निधाने त्वकर्तेति कर्ताऽकर्तेत्युभयथा भवति, तथैव आत्माऽपि मनआदिकरणसन्निधाने कर्ता, मनआदिकरणाऽसन्निधाने त्वकर्तेति कर्ताऽकर्ता च भवितुं शक्नोतीति व्यवहाराऽवस्थायां मनआदिकरणसन्निधानेन आत्मनः कर्तृत्वं भवतीति विधिशास्त्रप्रामाण्याऽक्षतिः, परमार्थावस्थायां मनआदिकरणासन्निधानेन आत्मनोऽकर्तृत्वं भवतीति तस्याऽसङ्गेन ब्रह्मणा ऐक्यं च भवतीति मोक्षशास्त्रप्रामाण्याऽक्षतिः, एवं चाऽविरोध इति जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वय उपपद्यते इति।

निर्णयः– आत्मन उपाधेः सन्निधाने कर्तृत्वमसन्निधाने त्वकर्तृत्वमिति विधिशास्त्रस्य मोक्षशास्त्रस्य च चारितार्थ्येनाऽविरोधात् जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः सुष्ठूपपन्नो भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवाऽभिन्नाऽसङ्गब्रह्मकारणत्वे समन्वयः।
२. रुध्यते विधिबाधस्य प्राप्त्या वा नेति संशयः॥१॥
३. रुध्यतेऽनवकाशत्वाद् विधेरिति हि के चन।
४-५. न रुध्यते विधेः साव-काशत्वादिति निर्णयः॥२॥

७६.(१६) परायत्ताधिकरणम् (सू. ४१-४२)

जीवस्य कर्मणि स्वातन्त्र्यं प्रदर्शयन्तीभिः श्रुतिभिः सर्वनियामकस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयन्नाह—

२५७. परात् तु तच्छ्रुतेः २।३।४१॥ इति।

तज् जीवस्य कर्तृत्वं **"यऽआत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं यऽआत्मानमन्तरो यमयति स तऽआत्माऽन्तर्याम्यमृतः"** (मा.वा.शत.१४।६।७।३०), **"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते"** (कौषी.३।८) इत्यादिकायाः श्रुतेर् दर्शनात् परस्मादात्मन ईश्वराद् भवति, न तु ईश्वरनिरपेक्षतया स्वत इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जीव का कर्तृत्व परमात्मा ईश्वर से नियमित होता है, यह बात श्रुति से ज्ञात होती है।

२५८. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४२॥

"एष ह्येव साधु कर्म कारयति" (कौषी.३।८) इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतः कारयिता ईश्वरः खलु **"स्वाध्यायमधीयीत"** (तै.आ.२।१०,१२), **"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत"** (तै.ब्रा.१।१।२।६), **"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"** (मै.उ.६।३६),

"अव वा एष सुवर्गाल्लोकाच् छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽतिपादयति, सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते" (तै.सं.२।२।५।४), **"स्वर्गकामो यजेत"** (ताण्डि.१६।१५।५) इत्यादिकस्य विहितस्य, **"ब्राह्मणस् सुरां न पिबति"** (काठक.१२।१२), **"न पूतः पावयेत्"** (मा.वा.शत. १२।१।१।१०) इत्यादिकस्य प्रतिषिद्धस्य चाऽव्यर्थत्वेन वेदप्रामाण्यस्य सकलशिष्टस्वीकृतस्य दर्शनात्, कृतहानाऽकृताभ्यागमयोरयुक्तत्वाच् च जीवकृतप्रयत्नापेक्ष एव सन् साधु असाधु वा जीवात्मानं कारयतीति चाऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – वेदशास्त्र में विहित और निषिद्ध कर्मों की अव्यर्थता मानने वाले सकल शिष्टों से वेदशास्त्र का प्रामाण्य स्वीकृत होने से और कृत कर्मों का फल न मिलना और अकृत कर्मों का फल प्राप्त होना युक्तिसङ्गत न होने से भी ईश्वर जीव के प्रयत्न को देखकर ही उस को साधु कर्म वा असाधु कर्म कराता है, यह बात जानी जाती है।

अथ परायत्ताऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– सर्वनियामकब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– जीवस्य स्वातन्त्र्यं दर्शयन्तीभिः **"स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादिकाभिः श्रुतिभिः सर्वनियामकस्य ब्रह्मणो जगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादिकाः जीवकर्तृत्ववादिन्यः श्रुतयो जीवस्य यजनेऽयजने च स्वातन्त्र्यं दर्शयन्तीति तत्र ब्रह्मणो नियामकत्वस्याऽभावाद् ब्रह्मणः सर्वनियामकत्वस्याऽसिद्धत्वात् सर्वनियामकब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो जीवकर्तृत्ववादिनीभिः श्रुतिभिर् विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"य आत्तँमानमन्तरो यमयति"** (मा.वा.शत.१४।६।७।३०), **"एष ह्येव साधु कर्म कारयति"** (कौषी.३।८) इत्यादिभिः श्रुतिभिर् जीवस्य कर्तृत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रयोजकतायाः प्रतिपादितत्वात्, संसारस्याऽनादित्वात् पूर्वं पूर्वतरं च जीवस्य धर्माऽधर्माचरणप्रयत्नमपेक्ष्य परं ब्रह्म जीवं कारयति जीवश्च करोतीति ब्रह्मणो नियामकत्वं जीवस्य कर्तृत्वं चेत्युभयस्याऽपि उपपन्नत्वाच्च जीवकर्तृत्ववादिनीभिः श्रुतिभिः सर्वनियामकब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– जीवकर्तृत्ववादिनीभिः श्रुतिभिः सर्वनियामकब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. नियामकब्रह्मजगत्कारणत्वे समन्वयः।
२. जीवकर्तृत्वश्रुत्या स रोध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. जीवस्वातन्त्र्यश्रुत्या हि स रोध्यः पूर्वपक्षिणाम्।
४-५. जीवे ब्रह्मप्रयोज्यत्वमतोऽरोध्यो विदां तु सः॥२॥

७७.(१७) अंशाधिकरणम् (सू. ४३-५३)

जीवब्रह्मणोर् नियाम्यनियामकतायाः प्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिर् जीवाऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयितुमाह—

२५९. अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चाऽपि दाशकितवादित्वमधीयत एके २।३।४३॥ इति।

"आत्त्मा वाऽअरे द्द्रष्टव्व्यः" (मा.वा.शत.१४।५।४।६, १४।७।३।६, का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६)। **"षऽआत्त्मानमन्तरो यमयति"** (मा.वा.शत. १४।६।७।३०), **"एतमेव विदित्त्वा मुनिर्ब् भवति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२५, का.वा.बृह.४।४।२२), **"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा"** (श्वेता.१।६), **"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"** (छा.८।७।१) इत्यादिकासु श्रुतिषु जीव-ब्रह्मणोर् नानात्वेन व्यपदेशात्, तदन्यथात्वेन जीवब्रह्मणोरैक्येन च **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** (ऐ.५।४), **"अहम् ब्रह्म्माऽस्म्मि"** (मा.वा.शत. १४।४।२।२१,२२, का.वा.बृह.१।४।१०), **"अयमात्त्मा ब्ब्रह्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत. १४।५।५।१९, का.वा.बृह. २।५।१९), **"विज्ज्ञानमानन्दम् ब्रह्म"** (मा.वा.शत.१४।६।९।३४, का.वा.बृह. ३।९।२८), **"स वाऽ अयमात्त्मा ब्ब्रह्म"** (मा.वा.शत.१४।७।२।६, का.वा.बृह. ४।४।५), **"स वाऽएष महानजऽआत्त्माऽजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्ब्रह्म"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३०,३१; का.वा.बृह.४।४।२५), **"तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७, ६।९।४, ६।१०।३, ६।११।३, ६।१२।३, ६।१३।३, ६।१४।३, ६।१५।३, ६।१६।३), **"सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२) इत्यादिकासु श्रुतिषु व्यपदेशाच् च कर्ता जीवो ब्रह्मणोंऽशोऽस्तीत्यवगम्यते; अपि च निहीनजनानामुदाहरणेन अखिलानां जीवानां ब्रह्मणा ऐक्यं स्फुटीकुर्वाणा एके पैप्पलादाथर्ववेदशाखाध्यायिनो वैदिका ब्रह्मसूक्ते **"ब्रह्म दासा ब्रह्म दाशा ब्रह्मेमे कितवा उत"** (८।९।१०) इति ब्रह्मणो दाशकितवादिरूपत्वमधीयते चेत्यर्थः। एवं च जीवब्रह्मभेदाऽभेदाऽवगमाभ्यां जीवस्य ब्रह्मांशत्वस्याऽवगमो भवतीति भावः।

हिन्दी – "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुतियों में जीव और ब्रह्म के भेद का व्यवहार होने से, तदन्यथारूप में जीव और ब्रह्म के अभेद का भी "प्रज्ञानं ब्रह्म", "अहं ब्रह्माऽस्मि" इत्यादि श्रुतियों में व्यवहार होने से जीव का ब्रह्म का अंश होना विदित होता है। फिर निकृष्ट जनों का उदाहरण देकर सभी जीवों का ब्रह्म से एकता स्पष्ट करते हुए पैप्पलाद अथर्ववेदशाखा के अध्येता लोग "ब्रह्म दासा ब्रह्म दाशा ब्रह्मेमे कितवा उत" इत्यादि मन्त्र पढते हैं। इस प्रकार जीव का ब्रह्म से भेद और अभेद दोनों अवगत होने से जीव का ब्रह्म का अंश होना सिद्ध होता है।

२६०. मन्त्रवर्णाच्च २।३।४४॥

"एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" (शै.शा.ऋ.१०।९०।३, मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।३, छा.३।१२।६) इति मन्त्रवर्णाच्च कर्ता जीवो ब्रह्मणोंऽशोऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "एतावानस्य महिमा" इत्यादि मन्त्र में सम्पूर्ण भूतों को इस पुरुष का एक चतुर्थांश बताए जाने से भी जीव ब्रह्म का अंश ही अवगत होता है।

२६१. अपि च स्मर्यते २।३।४५॥

भगवद्गीतायामपि च "ममैवांऽशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (१५।७) इति कर्ता जीवो ब्रह्मणोंऽशः स्मर्यते। अतश्च श्रुतिस्मृत्यैकवाक्यात् कर्ता जीवो ब्रह्मणोंऽश इति निश्चयेनाऽवगम्यते इति भावः।

हिन्दी – भगवद्गीतारूप स्मृति में भी जीव को ब्रह्म का अंश ही बताया जाता है। अत एव श्रुति और स्मृति में एकवाक्यता होने से कर्ता जीव निश्चित रूप से ब्रह्म का अंश अवगत होता है।

२६२. प्रकाशादिवन् नैवं परः २।३।४६॥

यथा प्रकाशोऽङ्गुल्यादिभिर् ऋजुवक्रादिभिरुपाधिभिः सम्बन्धात् ऋजुवक्रादिभावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थत ऋजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यते, यथा चाऽऽकाशो घटादिषूपाधिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा च बिम्बः सूर्यः शरावादिगतजलकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न कम्पते, तेनैव प्रकारेण अविद्याप्रत्युपस्थापितबुद्ध्याद्युपहिते ब्रह्मांशत्वेन गृह्यमाणे जीवे कर्तरि कर्तृत्वमूलकसुखदुःखरूपफलभोक्तरि च सत्यपि पर आत्मा जीववत् कर्ता कर्तृत्वमूलकसुखदुःखरूपफलभोक्ता च न भवतीत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे प्रकाश अङ्गुलि आदि उपाधि के सम्बन्ध से उन उपाधियों के ऋजु-वक्रादिभाव के अनुरूप ऋजु-वक्रादिभाव में प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः प्रकाश ऋजु-वक्रादिभाव में प्राप्त नहीं होता है; वैसे ही अविद्यामूलक उपाधि के सम्बन्ध से परमात्मांश के रूप में लिए गए जीव में कर्तृत्व और कर्तृत्वमूलक सुखदुःखादि भोक्तृत्व आने पर भी परमात्मा जीव की तरह कर्ता और कर्तृत्वमूलक सुखदुःखादि का भोक्ता नहीं होता है।

२६३. स्मरन्ति च २।३।४७॥

व्यासादयः "तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः॥ न लिप्यते फलैश्चाऽपि पद्मपत्रमिवाऽम्भसा। कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनाऽपि राशिना युज्यते पुनः" (महा.शान्ति.चित्र.३५१।१४-१६, सात.३३९।१४,१५) इत्यादिरूपेण पर आत्मा कर्ता कर्तृत्वमूलकसुखदुःखफलभोक्ता च न भवतीति स्मरन्तीत्यर्थः।

चकारेण सूत्रकारः खलु– "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (शै.शा. ऋ.१।१६४।२०, श्वेता.४।६, मुण्डको.३।१।१), "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर् न लिप्यते चाक्षुषैर् बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (कठो.२।२।११) इत्यादि श्रूयते चेति च सूचयति।

हिन्दी– जीवात्मा कर्ता और भोक्ता होने पर भी परमात्मा कर्ता और कर्मफलभोक्ता नहोने की बात व्यासादिद्वारा महाभारतादि में स्मृत है; श्रुतियों में भी वैसी ही बात सुनी जाती है।

२६४. अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज् ज्योतिरादिवत् २।३।४८॥

यथा ज्योतीरूपतया समानोऽप्यग्निः प्रणीतो ग्रामीणो वाऽपि सेव्यः, श्मशानस्थः क्रव्यात् तु परिहार्यः; यथा वा एकस्या एव भूमेः पुष्कर-कुरुक्षेत्र-प्रयागादयः प्रदेशाः सेव्याः, कारस्कर-कलिङ्ग-सिन्धूत्तर-म्लेच्छदेशादयः प्रदेशास्तु परिहार्याः; यथा वा समानजातीयमपि मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया ग्राह्यम्, मनुष्यादीनामपवित्रतया परिवर्ज्यम्, एवमेव परमार्थत एकस्याऽपि परमात्मन उपाधिवशाज् जीवभावं प्राप्तस्य देहेदेहेऽहमेवेति प्रत्ययस्योत्पत्त्या देहसम्बन्धविशेषाद् भिन्नतामिव गतस्य आततायी वध्यः, ब्राह्मणोऽवध्यः; स्वस्त्री उपगम्या, परस्त्री नोपगम्या; द्विजो वेदमध्येष्यन्नुपनेयः, शूद्रस्त्वनुपनेयः; द्विजो वैदिके यज्ञेऽधिकृतः, शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त इत्यादिरूपौ अनुज्ञापरिहारौ विधिनिषेधौ वोपपन्नौ भवत इत्यर्थः।

हिन्दी– जैसे ज्योति के रूप में समान होने पर भी प्रणीत वा ग्रामीण अग्नि सेव्य माना जाता है, श्मशान का क्रव्याद् अग्नि परिवर्जनीय माना जाता है, जैसे एक ही भूमि के पुष्कर कुरुक्षेत्र प्रयाग इत्यादि प्रदेश सेव्य माने जाते हैं, कारस्कर कलिङ्ग सिन्धूत्तरदेश म्लेच्छदेश इत्यादि प्रदेश अगम्य माने जाते हैं, वैसे ही एक ही परमात्मा में भी उपाधिवश जीवभाव में प्राप्त होने से देहों में पृथक् पृथक् भाव में ज्ञात होने पर आततायी वध्य होता है, ब्राह्मण अवध्य होता है, स्वस्त्री उपगम्य होती है परस्त्री अनुपगम्य होती है इत्यादिरूप विधि-निषेध उपपन्न होते हैं।

२६५. असन्ततेश्चाऽव्यतिकरः २।३।४९॥

देहसम्बन्धस्य जीवोपाधेर् देहान्तरोपाधिमति जीवान्तरे सन्ततेरभावात् कर्मणां फलानां च जीवेषु व्यतिकरस्याऽभावो भवति। उपाध्यधीनेषु जीवेषु उपाधिकृतस्य परिच्छेदस्य सत्त्वात् परस्परव्यापकताया अभावात् तेनतेन जीवेन कृतानां कर्मणां तत्फलानां च तत्तज्जीवमात्रसम्बद्धता भवति जीवान्तरसम्बन्धप्राप्तिर् न भवतीत्यर्थः।

हिन्दी– देहसम्बन्धरूप एक जीव के उपाधि का दूसरे देहरूप उपाधि वाले दूसरे जीवतक फैलाव न होने से कर्मों का और उसउस कर्म के फलों का जीवों में मिश्रण नहीं होता है।

२६६. आभास एव च २।३।५०॥

कर्ता भोक्ता च जीवः परमात्मन आभास एवाऽस्ति, अत एव यथा एकस्मिन् शरावे स्थिते जले स्थितस्य सूर्यप्रतिबिम्बस्याऽन्यस्मिन् शरावे स्थिते जले स्थितेन सूर्यप्रतिबिम्बेन सह सम्बन्धो न भवति तथैव एकस्मिन् अन्तःकरणे स्थितस्य परमात्मप्रतिबिम्बस्य जीवस्य अन्यस्मिन्नन्तःकरणे स्थितेन परमात्मप्रतिबिम्बेन जीवेन सह सन्ततः सम्बन्धो न भवतीति जीवानां कर्मणां तत्फलानां च व्यतिकरो न भवतीति भावः। एवमेव प्रतिबिम्बरूपजीवगतेन धर्मेण बिम्बरूपः परमात्मा न लिप्यते इति, जीवधर्मनिरासेन ब्रह्मात्मभावस्योपदेशश्चोपपद्यत इति च हृदयम्।

हिन्दी – कर्ता और भोक्ता जीव परमात्मा का केवल आभास मात्र है। अतः जैसे एक शराव के पानी में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब का दूसरे शराव के पानी में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब से कोई सम्बन्ध नहीं होता है वैसे ही एक अन्तःकरण में स्थित परमात्मा के प्रतिबिम्ब का दूसरे अन्तःकरण में स्थित परमात्मा के प्रतिबिम्ब से एकताऽऽपादक सम्बन्ध नहीं होता है। अत एव जीवों का, कर्मों का और तत्तत्कर्मफलों का मिश्रण नहीं होता है। इसी हेतु से प्रतिबिम्बरूप जीव में रहने वाले धर्मों से बिम्बरूप परमात्मा लिप्त नहीं होता है और जीवधर्म का निरास कर के जीव के परमात्मभाव का उपदेश करना भी उपपन्न होता है, यह भाव है।

२६७. अदृष्टानियमात् २।३।५१॥

आत्मनामनेकत्वे स्वीकृतेऽपि साङ्ख्यमते आत्मनां विभुत्वाद् अदृष्टजनकाऽऽत्ममनःसंयोगस्याऽपि सर्वात्मसाधारण्याद् अदृष्टस्याऽपि साधारण्येन सर्वत्रोत्पत्तेः प्रसङ्गेनाऽदृष्टस्य जीवात्मविशेषे कर्मफलसम्बन्धविशेषस्य नियामकत्वस्याऽसम्भवाज् जीव-कर्म-फल-व्यतिकरस्याऽभावो नोपपन्नः। परमार्थतः औपनिषदे आत्मैकत्वे स्वीकृतेऽपि देहेदेहेऽहमेवेति प्रत्ययस्योत्पत्त्याऽनुभवनीयाद् आध्यासिकाद् देहसम्बन्धविशेषादेव नानात्वं प्राप्तेषु उपाधिपरतन्त्रेषु जीवेषु कर्मणां फलानां च व्यतिकरस्याऽभाव उपपन्न इति श्रौत ऐकात्म्यवाद एव उपपन्नतर इति भावः।

हिन्दी – आत्माओं के अनेकत्व स्वीकृत होने पर भी साङ्ख्यों के मत में आत्माओं का विभुत्व माने जाने से और अदृष्टजनक आत्ममनःसंयोग भी सर्वात्मसाधारण होने से अदृष्ट की भी सर्वात्मसाधारण रूप में ही उत्पत्ति होने से अदृष्ट से भी जीवात्मविशेष में कर्मफलविशेष का सम्बन्ध नियमित नहीं हो सकता है, यह अर्थ है। इस स्थिति में आध्यासिक देहसम्बन्ध से कर्मफलसम्बन्ध की व्यवस्था मानने वाला श्रौत ऐकात्म्यवाद ही उपपन्नतर है, यह भाव है।

२६८. अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् २।३।५२॥

साङ्ख्यसम्मतानामात्मनां विभुत्वात् सर्वात्मसन्निधाने क्रियमाणे 'अहमद इष्टं प्राप्नवानि, अदोऽनिष्टं परिहराणि' इत्येवंरूपे अभिसन्धौ, 'इष्टप्राप्तेरेतत् साध-

नम्, अनिष्टपरिहारस्यैतत् साधनम्' इत्येवंरूपे ज्ञाने, 'इष्टप्राप्तये इत्थं प्रयतै, इत्थं करवै; अनिष्टपरिहारायेत्थं प्रयतै इत्थं करवै' इत्येवंरूपे चिकीर्षिते च अदृष्टे इवैव जीवात्मविशेषगतकर्मफसम्बन्धविशेषस्य अनियामकत्वं ज्ञेयमित्यर्थः।

हिन्दी – साङ्ख्य सम्मत आत्माओं का विभुत्व होने से सभी आत्माओं के तुल्य सन्निधान में क्रियमाण सङ्कल्पविशेष, ज्ञानविशेष और चिकीर्षाविशेष में भी अदृष्ट के तुल्य रूप में जीवात्मविशेष में कर्मफलसम्बन्ध के नियमन में असमर्थत्व ही अवगत होता है।

२६९. प्रदेशादिति चेन्नाऽन्तर्भावात् २।३।५३॥

ननु विभुत्वेऽप्यात्मनां शरीरावच्छिन्न एवाऽऽत्मप्रदेशे मनसा संयोगो भवतीति प्रदेशात् कर्मफलाऽदृष्टाऽभिसन्ध्यादीनां तत्तज्जीवाऽऽत्मविशेषसम्बन्धो व्यवतिष्ठते इति चेत्, सर्वेषु शरीराऽवच्छिन्नप्रदेशेषु सर्वेषामेवाऽऽत्मनामन्तर्भावात् कर्मफलादीनां तत्तज्जीवाऽऽत्मविशेषसम्बन्धस्य व्यवस्थाया असम्भवान् न तथा वक्तुमुचितमित्यर्थः। तस्मात् साङ्ख्यानां प्रतिकर्मव्यवस्थाऽसाध्वी औपनिषदानामेव प्रतिकर्मव्यवस्था साधीयसीति भावः। एवं च जीवस्य वस्तुतो ब्रह्माऽभिन्नत्वेऽपि लौकिक्याः प्रतिकर्मव्यवस्थायाः सम्भवाज् जीवाऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः सुष्ठूपपद्यते इति हृदयम्।

हिन्दी – साङ्ख्यसम्मत आत्माओं का विभुत्व होने पर भी शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेश में ही मन का संयोग होने से आत्मा के प्रदेशविशेष से कर्म, फल, अदृष्ट, अभिसन्धि इत्यादि का तत्तज्-जीवात्मविशेष से विशेष सम्बन्ध हो सकने से साङ्ख्यसिद्धान्त उपपन्न ही है, ऐसा तर्क नहीं करना चाहिए, क्यों कि सभी शरीरावच्छिन्न प्रदेशों में सभी विभु आत्माओं का अन्तर्भाव होने से साङ्ख्य-सिद्धान्त में कर्मफलादिका तत्तज्जीवात्मविशेष से विशेष सम्बन्ध नहीं बतलाए जा सकने से साङ्ख्यों की प्रतिकर्मव्यवस्था उपपन्न नहीं हो सकती है। वेदान्तसिद्धान्त में तो शरीररूप उपाधि के भेद से जीवों का व्यावहारिक भेद हो सकने से कर्मफलादि का जीवविशेष से विशिष्ट सम्बन्ध उपपन्न हो सकता है, अत एव जीवाऽभिन्न ब्रह्म के जगत्कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय व्यावहारिक जीवभेद से बाधित नहीं होता है, यह भाव है।

अथांऽशाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जीवाऽभिन्नब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– "आत्तँमा वाऽअरे दद्रष्टव्व्यः" (मा.वा.शत.१४।५।४।६, का.वा.बृह.२।४।५), "य आत्तँमानमन्तरो यमयति" (मा.वा.शत.१४।६।७।३०) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणेन जीवब्रह्मभेदेन जीवाऽभिन्नैकरसब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– जीवब्रह्माऽभेदे "आत्तँमा वाऽअरे दद्रष्टव्व्यः" इत्यादिकानां श्रुतीनामसङ्गतेः, ब्रह्मणः सर्वजीवदुःखभागित्वप्राप्तेः, विधिनिषेधव्यवस्थाया अनुपपत्तेः, कर्मफलव्यवस्थाया असम्भवस्य च प्रसङ्गाज् जीवब्रह्मणोरभेदो नोपपद्यत इति "आत्तँमा वाऽअरे

दद्रष्टव्व्यः" इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणेन युक्त्युपोद्बलितेन जीवब्रह्मभेदेन जीवाभिन्नैकरस-ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** (ऐ.५।४), **"अहम् ब्रह्म्माऽस्मि"** (मा.वा.शत.१४।४।२।२१,२२; का.वा.बृह.१।४।१०), **"अयमात्तँमा ब्रह्म्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१९, का.वा.बृह.२।५।१९), **"तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७), **"सर्वं ह्येतद् ब्रह्माऽयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणस्य जीवब्रह्माऽभेदस्य पारमार्थिकत्वात् श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्, **"आत्तँमा वाऽअरे दद्रष्टव्व्यः"** इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणस्य जीवब्रह्मभेदस्य व्यावहारिकत्वेन पारमार्थिकजीवब्रह्माऽभेदाऽविरोधित्वात्, औपाधिकानां जीवदुःखानामुपाधिपरतन्त्रेषु जीवेष्वेव प्राप्तेः, ब्रह्मण्यप्राप्तेः, परमार्थतो जीवब्रह्मणोरात्यन्तिकेऽभेदेऽपि व्यावहारिक-मायिक-भेदस्य सत्त्वाद् जीवविषयक-व्यावहारिकविधिनिषेधयोरुपपन्नत्वात्, जीवात्मनां स्वस्वकर्मफलभोगव्यवस्थाया अपि सम्भवाच्च व्यावहारिकजीवब्रह्मभेदबोधिकाभिः लोकसिद्धार्थानुवादिनीभिस् तात्पर्य-रहिताभिरतत्त्वावेदिकाभिः श्रुतिभिः पारमार्थिकजीवब्रह्माभेदप्रतिपादिकानां तत्त्वावेदि-कानां श्रुतीनां विरोधस्याऽकरणाद् जीवाऽभिन्नैकरसब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रति-पादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– **"आत्तँमा वाऽअरे दद्रष्टव्व्यः"** इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणेन व्यावहारिकेण जीवब्रह्मभेदेन परमार्थतो जीवाऽभिन्नस्यैकरसस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवाऽभिन्नब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. जीवब्रह्माऽनैक्यदर्शिश्रुतिबाध्यो न वा मतः॥१॥
३. श्रुतेर् युक्तिप्रपुष्टत्वाद् बाध्यः स इति के चन।
४-५. श्रुत्याऽपि व्यावहारिक्या स बाध्यो नेति निर्णयः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ द्वितीये श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽविरोधाऽध्याये
तृतीयो वियदादिसृष्टिजीवोत्पत्त्यादिश्रुतिगत-
श्रुतिविरोधाऽभावप्रतिपादनपरः
पादः समाप्तः॥

अथ चतुर्थः पादः

(लिङ्गशरीराद्युत्पत्तिश्रुतिवाक्यविरोधाभावप्रतिपादनपरः)

७८.(१) प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् (सू. १-४)

सृष्टेः प्रागपीन्द्रियाणां सत्त्वमिव प्रतिपादयन्त्या श्रुत्या निखिलजगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयन्नाह–

२७०. तथा प्राणाः २।४।१॥ इति।

यथा पूर्वपादनिरूपितानि वियदादीनि पञ्च महाभूतानि आत्मन उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपि आत्मन एव उत्पद्यन्ते इति "अस्म्मादात्तँमनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वऽएतऽआत्तँमानो व्व्युच्चरन्ति" (मा.वा. शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०), "एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मुण्डको.२।१।३) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्योऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूत आत्मा से उत्पन्न होते हैं वैसे ही प्राण (इन्द्रिय) भी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं, यह बात "अस्म्मादात्तँमनः सर्व्वे प्प्राणाः" इत्यादि श्रुतियों से जानी जाती है।

२७१. गौण्यसम्भवात् २।४।२॥

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (मुण्डको.१।१।३) इति प्रश्नस्य समाधानाय "एतस्माज् जायते प्राणः" (मुण्डको.१।१।३) इत्यादिकस्य प्रकरणस्य प्रवृत्तत्वात्, प्राणोत्पत्तिश्रुतेर् गौणत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिज्ञाया हानेः प्रसङ्गेन प्राणोत्पत्तिश्रुतेर् गौण्या असम्भवात् प्राणा आत्मन उत्पद्यन्ते इति अवगम्यते इत्यर्थः। "असद् वाऽइदमग्ग्रऽआसीत् तदाहुः किन् तदासीदित्त्यृषयो वाव तेऽग्ग्रेऽसदासीत्, तदाहुः के तऽऋषयऽइति प्प्राणा वाऽऋषयः" (मा.वा.शत ६।१।१।१) इति श्रुतौ प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावस्याऽवधारणं तु अवान्तरप्रलये हिरण्यगर्भाख्याऽवान्तरप्रकृतिरूपप्राणसद्भावपरं स्वविकाररूपस्थूलजगदुत्पत्ति मात्रापेक्षं बोध्यमिति भावः।

हिन्दी – किस को जानने से यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञात होता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए *"इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है"* इत्यादि प्रकरण की प्रवृत्ति होने से और प्राणोत्पत्तिश्रुति को गौण मानने पर एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की हानि होने से प्राणोत्पत्तिश्रुति को गौण न माने जा सकने से प्राण भी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं, यह बात अवगत होती है।

द्द्रष्टव्यः" इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणेन युक्त्युपोद्बलितेन जीवब्रह्मभेदेन जीवाभिन्नैकरस-ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** (ऐ.५।४), **"अहम् ब्रह्म्माऽस्मि"** (मा.वा.शत.१४।४।२।२१,२२; का.वा.बृह.१।४।१०), **"अयमात्तँमा ब्ब्रह्म्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१९, का.वा.बृह.२।५।१९), **"तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७), **"सर्वं ह्येतद् ब्रह्माऽयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणस्य जीवब्रह्माऽभेदस्य पारमार्थिकत्वात् श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्, **"आत्तँमा वाऽअरे द्द्रष्टव्व्यः"** इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणस्य जीवब्रह्मभेदस्य व्यावहारिकत्वेन पारमार्थिकजीवब्रह्माऽभेदाऽविरोधित्वात्, औपाधिकानां जीवदुःखानामुपाधिपरतन्त्रेषु जीवेष्वेव प्राप्तेः, ब्रह्मण्यप्राप्तेः, परमार्थतो जीवब्रह्मणोरात्यन्तिकेऽभेदेऽपि व्यावहारिक-मायिक-भेदस्य सत्त्वाद् जीवविषयक-व्यावहारिकविधिनिषेधयोरुपपन्नत्वात्, जीवात्मनां स्वस्वकर्मफलभोगव्यवस्थाया अपि सम्भवाच्च व्यावहारिकजीवब्रह्मभेदबोधिकाभिः लोकसिद्धार्थानुवादिनीभिस् तात्पर्य-रहिताभिरतत्त्वावेदिकाभिः श्रुतिभिः पारमार्थिकजीवब्रह्माभेदप्रतिपादिकानां तत्त्वावेदिकानां श्रुतीनां विरोधस्याऽकरणाद् जीवाऽभिन्नैकरसब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– **"आत्तँमा वाऽअरे द्द्रष्टव्व्यः"** इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणेन व्यावहारिकेण जीवब्रह्मभेदेन परमार्थतो जीवाऽभिन्नस्यैकरसस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवाऽभिन्नब्रह्मणो हि कारणत्वे समन्वयः।
२. जीवब्रह्माऽनैक्यदर्शिश्रुतिबाध्यो न वा मतः॥१॥
३. श्रुतेर् युक्तिप्रपुष्टत्वाद् बाध्यः स इति के चन।
४-५. श्रुत्याऽपि व्यावहारिक्या स बाध्यो नेति निर्णयः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ द्वितीये श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽविरोधाऽध्याये
तृतीयो वियदादिसृष्टिजीवोत्पत्त्यादिश्रुतिगत-
श्रुतिविरोधाऽभावप्रतिपादनपरः
पादः समाप्तः॥

अथ चतुर्थः पादः

(लिङ्गशरीराद्युत्पत्तिश्रुतिवाक्यविरोधाभावप्रतिपादनपरः)

७८.(१) प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् (सू. १-४)

सृष्टेः प्रागपीन्द्रियाणां सत्त्वमिव प्रतिपादयन्त्या श्रुत्या निखिलजगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयन्नाह—

२७०. तथा प्राणाः २।४।१॥ इति।

यथा पूर्वपादनिरूपितानि वियदादीनि पञ्च महाभूतानि आत्मन उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपि आत्मन एव उत्पद्यन्ते इति "अस्म्मादात्त्ँमनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वऽएतऽआत्त्ँमानो व्व्युच्चरन्ति" (मा.वा. शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०), "एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मुण्डको.२।१।३) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्योऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूत आत्मा से उत्पन्न होते हैं वैसे ही प्राण (इन्द्रिय) भी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं, यह बात "अस्म्मादात्त्ँमनः सर्व्वे प्प्राणाः" इत्यादि श्रुतियों से जानी जाती है।

२७१. गौण्यसम्भवात् २।४।२॥

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (मुण्डको.१।१।३) इति प्रश्नस्य समाधानाय "एतस्माज् जायते प्राणः" (मुण्डको.१।१।३) इत्यादिकस्य प्रकरणस्य प्रवृत्तत्वात्, प्राणोत्पत्तिश्रुतेर् गौणत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिज्ञाया हानेः प्रसङ्गेन प्राणोत्पत्तिश्रुतेर् गौण्या असम्भवात् प्राणा आत्मन उत्पद्यन्ते इति अवगम्यते इत्यर्थः। "असद् व्वाऽइदमग्ग्रऽआसीत् तदाहुः किन् तदासीदित्त्यृषयो वाव तेऽग्ग्रेऽसदासीत्, तदाहुः के तऽऋषयऽइति प्प्राणा वाऽऋषयः" (मा.वा.शत. ६।१।१।१) इति श्रुतौ प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावस्याऽवधारणं तु अवान्तरप्रलये हिरण्यगर्भाख्याऽवान्तरप्रकृतिरूपप्राणसद्भावपरं स्वविकाररूपस्थूलजगदुत्पत्तिमात्रापेक्षं बोध्यमिति भावः।

हिन्दी – किस को जानने से यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञात होता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए *"इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है"* इत्यादि प्रकरण की प्रवृत्ति होने से और प्राणोत्पत्तिश्रुति को गौण मानने पर एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की हानि होने से प्राणोत्पत्तिश्रुति को गौण नहीं माने जा सकने से प्राण भी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं, यह बात अवगत होती है।

२७२. तत्प्राक्श्रुतेश्च २।४।३॥

जायते इत्येतस्य पदस्य तस्मात् प्राणशब्दात् प्राक् श्रुतेः, ततोऽनुवृत्तस्य तस्यैव पदस्य आकाशादिषु मुख्यजन्मप्रतिपादकतायाः पूर्वमेव वियदधिकरणे निर्णीतत्वाच्च प्राणविषयेऽपि जायते इति पदस्य मुख्यजन्मप्रतिपादकतैव न गौणतेत्यर्थः।

हिन्दी– "एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मुण्डको.२।१।३) इस श्रुति में प्राण शब्द से पहले 'जायते' पद सुने जाने से और आकाशादि में अनुवृत्त उसी पद के आधार पर आकाशादि के जन्म का वियदधिकरण में ही निर्णीत होने से भी प्राण के विषय में भी 'जायते' इस पद का मुख्यजन्मप्रतिपादकता ही मानी जानी चाहिए न कि गौणजन्मप्रतिपादकता।

२७३. तत्पूर्वकत्वाद् वाचः २।४।४॥

यद्यपि छान्दोग्ये **"तत् तेजोऽसृजत"** (छा.६।२।३) इत्यादिके प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिः साक्षान् न श्रूयते तथापि वाचः **"तेजोमयी वाक्"** (छा.६।५।४) इति आत्मसृष्टतेजःपूर्वकत्वस्य श्रवणाद् वाच आत्मन उत्पत्तिः सिद्ध्यति, तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानामात्मन उत्पत्तिः सिद्ध्यत्येवेत्यर्थः।

हिन्दी– वागिन्द्रिय का "तेजोमयी वाक्" इस छान्दोग्यश्रुति में आत्मा से सृष्ट तेज के विकार के रूप में उल्लेख होने से वागिन्द्रिय का परम्परया आत्मा से उत्पत्ति सिद्ध होती है, जब वागिन्द्रिय की उत्पत्ति सिद्ध होती है तब इन्द्रियत्व साम्य से अन्य सभी इन्द्रियों की भी आत्मा से उत्पत्ति सिद्ध ही होती है।

अथ प्राणोत्पत्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– सृष्टेः प्रागपि प्राणानां स्थितेः प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"ऋषयो बाव तेऽग्रेऽसदासीत्, तदाहुः के तऽऋषयऽइति प्राणा वाऽऋषयः"** (मा.वा.शत.६।१।१।१) इति श्रुत्या सृष्टेः प्रागपि प्राणानां स्थितेः प्रतिपादितत्वात् तेषां ब्रह्मकारणकताया अभावात्, प्राणोत्पत्तिवादिनीनां श्रुतीनां च गौणताया अवगम्यमानत्वात् सृष्टेः प्रागपि प्राणानां स्थितेः प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"अस्मादात्तँमनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वऽएतऽआत्तँमानो ब्व्युच्चरन्ति"** (मा.वा.शत.१४।५।१।२३) इत्यादिकाभिः श्रुतिभिः प्राणानामुत्पत्तेः प्रतिपादितत्वात्, **"ऋषयो बाव तेऽग्रेऽसदासीत्"** (मा.वा.शत.६।१।१।१) इति श्रुत्या प्रतिपादितस्य प्रागुत्पत्तेः प्राणानामृषिशब्दवाच्यानां सद्भावस्य च स्वविकार-

मात्रापेक्षत्वात्, प्राणोत्पत्तिवादिनीनां श्रुतीनां गौणतायाः स्वीकारे कारणस्याऽभावात्, प्राणोत्पत्तिश्रुतेर् गौणतायामेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिज्ञाया हानेः प्रसङ्गात्, **"एतस्माज् जायते प्राणः"** (मुण्डको.२।१।३) इत्यादिकायां श्रुतौ प्राणशब्दात् प्राक् 'जायते' इति पदस्य उत्पत्तिवाचकस्य श्रुतत्वात्, तस्यैवोत्तरत्राऽनुवृत्तस्य आकाशादिषु मुख्योत्पत्तिप्रतिपादकतायाः पूर्वमेव वियदधिकरणे निर्णीतत्वेन प्राणविषये तस्य गौणताया अस्थातुमशक्यत्वात्, छान्दोग्ये **"तत् तेजोऽसृजत"** (६।२।३) इत्येतस्मिन् प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तेः साक्षादप्रतिपादितत्वेऽपि तत्र **"तेजोमयी वाक्"** (छा.६।५।४) इति वाचस् तेजोविकारत्वेन आत्मसृष्टतेजःपूर्वकत्वस्य श्रवणाद् वाच आत्मन उत्पत्तेरवगम्यमानत्वेन तत्सामान्यात् सर्वेषामेव प्राणानामात्मन उत्पत्तेश् छान्दोग्यश्रुतितोऽप्यवगम्यमानत्वाच्च यथा वियदादीनि आत्मन उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपि आत्मन उत्पद्यन्ते इत्यवगम्यते इति सृष्टेः प्रागपि प्राणानां स्थितेरिव प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– सृष्टेः प्रागपि प्राणानां स्थितेरिव प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणोऽखिलहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. प्राणानां सृष्टितः पूर्वं सिद्धत्वाद् रुध्यते न वा ॥१॥
३. प्राणोत्पत्तिश्रुतेर् गौण्याद् रुध्यते हीति के चन।
४-५. प्राणानां सृष्टिप्राक्स्थत्वेऽतात्पर्यान् नैव रुध्यते ॥२॥

७९.(२) सप्तगत्यधिकरणम् (सू. ५-६)

सप्तानामेव प्राणानामुत्पत्तेः प्रतिपादिकया श्रुत्या निखिलजगत्कारणरूपे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयितुमाह–

२७४. सप्त गतेर् विशेषितत्वाच्च २।४।५॥ इति।

"सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" (मुण्डको.२।१।८) इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्यः प्राणानां सप्तत्वस्याऽवगतेः, **"सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः"** (तै.सं.५।१।७।१, ५।३।२।५; मा.वा.शत.१३।१।७।२,४) इति सप्तानामेव विशेषितत्वाच्च प्राणाः सप्तेत्यवगम्यते इत्यर्थः। अथवा **"तमुत्क्रामन्तम् प्राणोऽनूत्क्रामति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३, का.वा.बृह.४।४।२) इत्यत्र सप्तानामेव प्राणानामुत्क्रान्तेरवगतेः, **"स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्ङ् पर्य्यावर्त्ततेऽथाऽरूपज्ञो भवति"** (मा.वा.शत. १४।७।२।२, का.वा.बृह.४।४।१) इत्यादौ तेषां सप्तानामेव विशेषितत्वाच्च प्राणाः सप्तेत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" इत्यादि श्रुतियों से प्राण सात होने की बात अवगत होने से और "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" इत्यादि रूप में श्रुति में सात ही प्राणों को विशेषित किए जाने से भी प्राण सात होने की बात अवगत होती है।

२७५. हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् २।४।६॥

"हस्तो वै ग्रहः" (मा.वा.शत.१४।६।२।८, का.वा.बृह.३।२।८), "हस्तौ चाऽऽदातव्यं च" (प्रश्नो.४।८) इत्यादिकासु श्रुतिषु हस्तादयस्तु उक्तेभ्यः सप्तभ्यः प्राणेभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते; अथवा "दशेमे पुरुषे प्प्राणाऽआत्मैकादशस्ते यदाऽस्मात्च्छरीरान्न् मर्त्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति" (मा.वा.शत.१४।६।९।५, का.वा.बृह.३।९।४) इति श्रुतौ सप्तभ्यः प्राणेभ्योऽतिरिक्ता हस्तादयोऽपि उत्क्रामकाः श्रूयन्ते; स्थितेऽस्मिन् अतिरेके नैवं सप्तत्वं प्राणानामास्थातुं युक्तमित्यर्थः। अधिकायां सङ्ख्यायां हीनायाः सङ्ख्याया अन्तर्भावयितुं शक्यत्वात्, हीनायां सङ्ख्यायामधिकायाः सङ्ख्याया अन्तर्भावयितुमशक्यत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, मनश्चेति शब्दतः कार्यतश्चैकादशानां प्राणानां स्वीकार्यत्वाच्च न सप्त प्राणाः किन्तु मनसा सहैकादश प्राणाः, मनसा विना दश वा प्राणाः श्रुत्यभिमता इति मन्तव्यमिति सूत्रकाराऽभिप्रायोऽवगन्तव्यः। स्थितेऽतः इत्यत्र अत इति अस्मिन्नित्यर्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः।

हिन्दी– "हस्तो वै ग्रहः", "हस्तौ चाऽऽदातव्यं च" इत्यादि श्रुतियों में उक्त सात प्राणों के अतिरिक्त हस्तादि प्राण भी सुने जाते हैं, ऐसे अतिरेक रहने पर प्राणों को सात नहीं माना जा सकता है, "हस्तो वै ग्रहः" इत्यादि श्रुतियों में आए हुए इन्द्रियों के नाम के और काम के आधार में दश अथवा ग्यारह इन्द्रिय श्रुत्यभिमत ठहरते हैं।

अथ सप्तगत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– सप्तानां प्राणानामुत्पत्तेः प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– "सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात्" (मुण्डको.२।१।८) इति श्रुतौ सप्तानामेव प्राणानामुत्पत्तेः प्रतिपादितत्वात्, "तमुत्क्रामन्तम् प्राणोऽनूत्क्रामति" (मा.वा.शत. १४।७।२।३, का.वा.बृह.४।४।२) इत्यत्र च सप्तानामेव प्राणानां गतेः श्रूयमाणत्वात्, तेषामेव प्राणानां "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" (तै.सं.५।१।७।१) इत्यादौ विशेषितत्वाच सप्तैव प्राणा ब्रह्मणो जायन्ते नाऽन्ये इत्यवगम्यते इति अन्येषां प्राणानां ब्रह्मणोऽनुत्पन्नत्वात् सप्तानामेव प्राणानामुत्पत्तेः प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" इत्यादौ निदर्शनार्थमेव सप्तानां प्राणानामुल्लेखः, वस्तुतस्तु शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-विषयाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, वचनाऽऽदानविहरणो-

त्सर्गानन्दकर्माणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति अनेकवृत्तिकमप्येकं मन इति शब्दतोऽर्थतश्चैकादश प्राणाः सन्ति, ते च सर्वेऽपि ब्रह्मण एवोत्पद्यन्ते इति **"अस्म्मादात्त्ँमनः सर्ब्बे प्प्राणाः सर्ब्बे लोकाः सर्ब्बे देवाः सर्ब्बाणि भूतानि सर्ब्बऽएतऽआत्त्ँमानो ब्व्युच्चरन्ति"** (मा.वा.शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्योऽवगम्यते इति सप्तानां प्राणानामुत्पत्तिमुल्लिखन्त्या अपि श्रुतेः प्राणानां सप्तत्वमेवेत्यत्र तात्पर्यस्याऽभावात् तया ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– सप्तानामेव प्राणानामत्मन उत्पत्तिमुल्लिखन्त्याऽपि श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणोऽखिलहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. प्राणसप्तकजन्मादिश्रुत्या रोध्यो न वा मतः॥१॥
३. रोध्यः सप्तोत्पत्तिदार्ढ्यादिति के चन मन्वते।
४-५. न रोध्यः सर्वप्राणानामुत्पत्तेरिति वैदिकाः॥२॥

८०.(३) प्रणाणुत्वाधिकरणम् (सू. ७)

प्राणानामनन्तत्वस्य प्रतिपादिकया श्रुत्या निखिलजगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयितुमाह—

२७६. अणवश्च २।४।७॥ इति।

प्राणाः सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्च सन्ति (न तु परमाणुरूपाः)। एवं च प्राणानामुत्पत्तौ काप्यनुपपत्तिर् नास्तीति भावः।

हिन्दी – प्राण महीन और परिच्छिन्न हैं (परमाणुरूप नहीं)। अत एव प्राणों की उत्पत्ति में कोई अनुपपत्ति नहीं है, यह भाव है।

अथ प्राणाणुत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– प्राणानामनन्ततायाः प्रतिपादिकया **"तऽएते सर्ब्बऽएव समाः सर्ब्बेऽनन्ताः"** (मा.वा.शत.१४।४।३।२१, का.वा.बृह.१।५।१३) इत्यादिकया अनन्तत्वेन प्राणानामुत्पत्तिविनाशरहितत्वं बोधयन्त्या श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– श्रुतौ **"तऽएते सर्ब्बऽएव समाः सर्ब्बेऽनन्ताः"** (मा.वा.शत.१४।४।३।२१, का.वा.बृह.१।५।१३)) इति प्राणानामनन्ततायाः श्रुतत्वात्, साङ्ख्यैस् तर्कपटुभिः पण्डितैरिन्द्रियाणामपरिच्छिन्नाऽहङ्कारजन्यत्वेन विभुत्वस्य प्रतिपादितत्वाच्च तेषामुत्पत्तेरसम्भ-

वात् तर्कोपोद्बलितया प्राणानामनन्तत्वस्य प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– "तऽएते सर्व्वऽएव समाः सर्व्वेऽनन्ताः" इति श्रुतेर् वाक्यशेषे **"स यो हैतानन्तवतऽउपास्तेऽन्तवन्तँ स लोकञ्जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तँ स लोकञ्जयति"** (मा.वा.शत.१४।४।३।२१, का.वा.बृह.१।५।१३) इति प्राणानामुपासनायाः प्रतिपादितत्वादुपासनार्थं प्राणानामनन्तत्वं प्रतिपादयन्ती श्रुतिर् गौणीति निश्चयात्, इन्द्रियाणामनन्तत्वे उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिविरोधस्य व्यवहितविप्रकृष्टवस्तूपलम्भस्य च प्रसङ्गात् प्राणाः परिच्छिन्ना एव स्वीकर्तव्याः, ते कृत्स्नदेहव्यापिकार्योपपत्तये मध्यमपरिमाणाः, मरणकाले शरीरान् निर्गच्छन्तोऽप्यदृश्या इति सूक्ष्माश्च मन्तव्या न तु परमाणुरूपा इति तेषामुत्पत्तेरनुपपत्तेरभावाद् गौण्या प्राणानामनन्तत्वस्य प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– प्राणानामनन्तत्वस्य प्रतिपादिकया गौण्या श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः सर्वहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. प्राणाऽनन्तत्वस्य श्रुत्या रोध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. तर्कपुष्टाऽनन्तश्रुत्या रोध्यः स इति के चन।
४-५. न रोध्योऽमुख्ययाऽनन्तश्रुत्या स इति वैदिकाः॥२॥

८१.(४) श्रेष्ठाधिकरणम् (सू. ८)

सृष्टेः प्रागपि मुख्यस्य प्राणस्य सत्तायाः प्रतिपादिकया ऋग्वेदश्रुत्या सकलजगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयन्नाह–

२७७. श्रेष्ठश्च २।४।८॥ इति।

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मुण्डको.२।१।३) इति मुख्यस्य प्राणस्योत्पत्तेर् विशेषेण श्रुतेः श्रेष्ठो मुख्यः प्राणोऽपि आत्मन उत्पद्यते इत्यवगम्यते इत्यर्थः। मुख्यः प्राणो हि **"प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च"** (छा.५।१।१) इति श्रुतेः श्रेष्ठ इत्युच्यते।

हिन्दी– "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादि श्रुति में मुख्य प्राण की उत्पत्ति विशेष रूप में श्रुत होने से मुख्य प्राण भी आत्मा से उत्पन्न होता है, यह बात अवगत होती है।

अथ श्रेष्ठाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणोऽखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– श्रेष्ठस्य प्राणस्य प्राक् सृष्टेः स्थितेरिव सूचिकया **"आनीदवातं स्वधया तदेकम्"** इति नासदीयसूक्तश्रुत्या (शै.शा.ऋ.१०।१२९।२) ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– वैदिकवाङ्मये महनीयतमस्य ग्रन्थस्य ऋग्वेदस्य **"तद् एकं ब्रह्म वातवर्जितं सत् मायया प्राणितवत्"** इत्यर्थकेन मन्त्रभागेण सृष्टेः प्राक् प्राणस्य स्थितेः सूचितत्वात् तेन मन्त्रेण ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"एतस्माज् जायते प्राणः"** (मुण्डको.२।१।३) इति श्रुतेः स्पष्टतया मुख्यप्राणस्योत्पत्तेः प्रतिपादकत्वात्, **"आनीत्"** (ऋ.१०।१२९।२) इति श्रुतेस्तु **"अवातम्"** इत्युक्तत्वात् महाप्रलयेऽपि निखिलकारणब्रह्मसद्भावमात्रस्य प्रतिपादने एव तात्पर्यस्याऽवगम्यमानत्वात्, **"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः"** (मुण्डको.२।१।२), **"अप्राणो निरात्माऽनन्तोऽक्षय्यः"** (मैत्रायणीयो. ६।२८, ७।४), **"अप्राणोऽमनाः सच्चिदानन्दमात्रः"** (नृसिंहोत्तर.७) इत्यादिकासु श्रुतिषु च ब्रह्मणः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य प्रतिपादितत्वाच्च प्राक् सृष्टेः ब्रह्मैवाऽऽसीत् न प्राणादिकोऽन्यो विकार इत्यत्र सर्वश्रुतीनां तात्पर्यस्य विज्ञायमानत्वाद् **"आनीदवातम्"** इत्यादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– "आनीदवातम्" इत्यादिकया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वे वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणोऽखिलहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. प्राक् सृष्टेः श्रेष्ठप्राणस्य स्थित्या रोध्यो न वा मतः॥१॥
३. ऋक्प्रोक्तया तया स्थित्या रोध्यः स इति के चन।
४-५. ऋचा ब्रह्मण एवोक्तेर् नो रोध्य इति निर्णयः॥२॥

८२.(५) वायुक्रियाधिकरणम् (सू. ९-१२)

प्राणस्य वायु-करणक्रियाभिन्नत्वेन प्रतिपादनं कुर्वत्या श्रुत्या निखिलजगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रतिपादयितुमाह–

२७८. न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् २।४।९॥ इति।

"प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च" (छा.३।१८।४) इत्यत्र वायुतः प्राणस्य पृथगुपदेशात्, प्राणस्य वागादीनां च मिथः संवादे **"ते हेमे प्राणाऽअहꣳश्रेयसे बिवदमानाः"** (मा.वा.शत.१४।९।२।७, का.वा. बृह.६।१।७, द्र.-छा.५।१।६) इत्यादौ वागादिभ्यः करणेभ्यः प्राणस्य पृथग् उपदेशाद

मुख्यः प्राणः साधारणो वायुरेव न, करणक्रियाऽपि नेत्यर्थः। वृत्तिवृत्तिमतोरभेदात् प्राणस्य करणव्यापारमात्रत्वे करणेभ्यः प्राणस्य पृथगुपदेशो न क्रियेतेति प्राणस्य न करणक्रियारूपत्वमिति ज्ञेयमिति भावः। **"एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी"** (मुण्डको.२।१।३) इत्यादिषु श्रुतिवचनेष्वपि प्राणस्य वायुक्रियाभ्यां स्फुटः पृथगुपदेशो द्रष्टव्यः।

हिन्दी – मुख्य प्राण का वायु से और वागादिकरणों की क्रिया से भी पृथक् रूप से श्रुतियों में उपदेश होने से मुख्य प्राण केवल वायुरूप अथवा करणक्रियारूप भी नहीं है।

२७९. चक्षुरादिवत् तु तत्-सहशिष्ट्यादिभ्यः २।४।१०॥

मुख्यः प्राणोऽपि वायुकरणक्रियाभिन्नत्वेऽपि प्राणसंवादादिषु चक्षुरादिभिः सह उपदेशात्, भौतिकत्वात्, अचेतनत्वाच् च चक्षुरादिकरणवदेव जीवस्योपकरणभूतो न स्वतन्त्र इत्यर्थः।

हिन्दी – वायु से और करणों की क्रिया से भी भिन्न होने पर भी प्राणसंवादादि में प्राण का चक्षुरादि के साथ में उपदेश होने से, भौतिक होने से और अचेतन होने से भी प्राण चक्षुरादि के समान जीव का उपकरण ही है, स्वतन्त्र नहीं है।

२८०. अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति २।४।११॥

प्राणस्य जीवोपकरणत्वे स्वीकृतेऽपि प्राणस्य गन्धादिविषयविशेषनियतकरणत्वस्याभावात् प्रसिद्धैकादशविधविषयातिरिक्तद्वादशविषयस्वीकारप्रसङ्गरूपो दोषो न भवति, न च प्राणकार्याभावस्वीकाररूपो दोषो भवति; दर्शयति हि **"तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामीति"** (प्रश्नो.२।३), **"अथ ह प्राणऽउत्क्रमिष्यन् न्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून् त्संवृहेदेवꣳ हैवेमानन् प्राणान् त्संववर्ह"** (मा.वा.शत.१४।९।२।१३, का.वा.बृह.६।१।१३, द्र.-छा.५।१।१२) इत्यादिका श्रुतिः प्राणस्य विशिष्टं कार्यम्।

हिन्दी – प्राण को जीव का उपकरण मानने पर भी प्राण गन्धादिविषयविशेष में नियत करण नहोने से प्रसिद्ध ग्यारह प्रकार के विषयों के अतिरिक्त बारहवाँ विषय मानने का दोष अथवा प्राण का कोई कार्य नहोने का दोष प्रसक्त नहीं होता है, क्यों कि शरीरेन्द्रियसङ्घातधारणरूप प्राण के विशिष्ट कार्य को श्रुति ही दिखाती है।

२८१. पञ्चवृत्तिर् मनोवद् व्यपदिश्यते २।४।१२॥

यथा मनः प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतिभिः पञ्चवृत्ति तथैव **"प्राणोऽपानो व्यानऽउदानः समानः"** (मा.वा.शत.१४।४।३।१०, का.वा.बृह.१।५।३) इत्युक्ताभिर् वृत्तिभिर् मुख्यः प्राणोऽपि पञ्चवृत्तिर् व्यपदिश्यते श्रुत्येत्यर्थः। प्रमाण-

विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः पञ्च मनोवृत्तयो योगसूत्रोक्ता द्रष्टव्याः (पातञ्जलयो. १।१।६)। अथवा यथा मनः कामसङ्कल्पादिभिर् बहुवृत्ति तथैव प्राणोऽपि बहुवृत्तिरिति सामान्येन निदर्शनम्। प्राणवृत्तीनां व्याख्यानं प्रश्नोपनिषदि च द्रष्टव्यम् (३।१-१२)। एवं च वर्तते एव प्राणस्य मुख्यं कार्यं जीवोपकरणत्वं चेति हृदयम्।

हिन्दी – जैसे मन प्रमाण-विपर्ययादि पाँच वृत्तियों से युक्त है, अथवा जैसे मन कामसङ्कल्पादि वृत्तियों से अनेक वृत्तियों से युक्त है, वैसे ही प्राण भी प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन श्रुत्युक्त वृत्तियों से पाँच वृत्ति वाला है। अर्थात् जैसे अनेकवृत्ति वाला मन जीव का उपकरण है वैसे ही पञ्चवृत्ति वाला प्राण भी जीव का उपकरण ही है, यह तात्पर्य है।

अथ वायुक्रियाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – ब्रह्मणोऽखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः – प्राणस्य वायुकरणव्यापाराभ्यां भिन्नतया जीववत् स्वतन्त्रतया च श्रुतिषु कृतेन प्रतिपादनेन ब्रह्मणोऽखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वा ?

पूर्वपक्षः – प्राणो वायुरपि नास्ति, करणव्यापारोऽपि नास्तीति तस्य भूतेष्वनन्तर्भावात्, **"प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्व्वे प्प्राणा ऽ अनूत्क्रामन्ति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३, का.वा.बृह. ४।४।२) इत्यादिना प्राणस्य इन्द्रियनेतृतया प्राधान्यस्य प्रतिपादनाच्च प्राणो ब्रह्मण उत्पन्नो नाऽवगम्यत इति प्राणस्य वायुक्रियाभ्यां पृथक्तया स्वतन्त्रतया च प्रतिपादनेन ब्रह्मणोऽखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम् – प्राणस्य प्राणसंवादादिषु चक्षुरादिभिः सहोपदिष्टत्वात्, संहतत्वाद्, अचेतनत्वाच्च भौतिकत्वेन भूतानां ब्रह्मण उत्पत्तेः प्रतिपादनादेव तस्याऽपि ब्रह्मण एवोत्पत्तेः प्रतिपादितत्वात्, प्राणस्य वायुविशेषत्वेन केवलवायुरूपत्वस्याऽभावेऽपि वायुभिन्नत्वस्याऽभावात्, शरीरेन्द्रियसङ्घातधारणे प्राणस्य जीवोपकरणत्वेन विशेषकार्यकारित्वस्य च श्रुत्या दर्शितत्वात् तस्य स्वातन्त्र्यस्याऽभावात्, मनोवत् प्राणस्याऽपि पञ्चवृत्तिकत्वेन जीवोपकरणतायाः स्फुटत्वाच्च प्राणस्य भौतिकतायाः सुसिद्धत्वात् प्राणस्य वायुक्रियाभ्यां पृथक्तायाश् चक्षुराद्यपेक्षया प्रधानतायाश्च प्रतिपादनेनाऽपि ब्रह्मणो मुख्यप्राणसहिताऽखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः – मुख्यस्य प्राणस्य वायुकरणक्रियाभ्यां भिन्नताया इन्द्रियनेतृतया प्राधान्यस्य च प्रतिपादनेनाऽपि ब्रह्मणो मुख्यप्राणसहिताऽखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः सर्वहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. प्राण-वायुक्रिया-भेदप्रोक्त्या रोध्यो न वा मतः॥१॥
३. प्राणस्याऽभौतिकत्वेन रोध्यः स्यादिति केचन।
४-५. प्राणस्याऽपि भौतिकत्वान् नो रोध्य इति निर्णयः॥२॥

८३.(६) श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् (सू. १३)

मुख्यप्राणस्याऽणुत्वं सूचयन्त्या श्रुत्याऽपि निखिलजगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं दर्शयन्नाह—

२८२. अणुश्च २।४।१३॥ इति।

अणुरपि मुख्यः प्राणश्चक्षुरादिवदेव भौतिको जीवोपकरणभूतश्चेति ब्रह्मण एव उत्पन्नो न कथमपि स्वतन्त्र इत्यर्थः। अणुत्वं च मुख्यस्य प्राणस्य सौक्ष्म्य-परिच्छेदवत्त्वमेव न परमाणुतुल्यत्वमिति बोध्यम्।

हिन्दी – अणु होने पर भी प्राण चक्षुप्रभृति इन्द्रिय के तुल्य भौतिक और जीवोपकरणरूप ही होने से वह ब्रह्म से ही उत्पन्न है, स्वतन्त्र नहीं है।

अथ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणोऽखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– मुख्यप्राणस्याऽणुत्वस्य प्रतिपादनेन ब्रह्मणोऽखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"तमुत्त्क्रामन्तम् प्राणोऽनूत्त्क्रामति प्राणमनूत्त्क्रामन्तꣳ सर्व्वे प्प्राणाऽअनूत्त्क्रामन्ति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३, का.वा.बृह.४।४।२) इति श्रुत्या मुख्यस्य प्राणस्योत्क्रान्तेः प्रतिपादितत्वात् ततश्च तस्य प्राणस्य स्थूलत्वे च उत्क्रामतः प्राणस्य मुमूर्षुपार्श्वस्थेन दर्शनस्य प्रसङ्गात् प्राणोऽणुः, अणोश्च निरवयवत्वाद् नोत्पत्तिनाशावित्यवगमात् प्राणस्य ब्रह्मण उत्पत्तेरसम्भवाद् ब्रह्मणोऽखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः प्राणस्याऽदृश्यस्योत्क्रान्तेः प्रतिपादिकया श्रुत्या विरुध्यते इति।

उत्तरम्– प्राणस्योत्क्रान्तेः श्रुतौ प्रतिपादितत्वाद् उत्क्रान्तौ प्राणस्याऽदृश्यत्वाच्च यद्यपि प्राणोऽणुरित्यवगम्यते तथापि एतदणुत्वं न परमाणुरूपत्वं किन्तु वायुवददृश्यरूपत्वमेव, तस्मात् परिच्छिन्नस्याऽणोरपि वायुविकारविशेषस्य भौतिकस्य प्राणस्योत्पत्तेर् विलयस्य चाऽनुपपत्तेरभावाद् आधिदैविकस्य हैरण्यगर्भस्य प्राणस्य विभुत्वेऽपि आध्यात्मिकस्य प्रतिप्राणि स्थितस्य प्राणस्य तु परिच्छिन्नत्वस्यैव **"समः प्लुषिणा"** (मा.वा.शत.१४।४।१।२४, का.वा.बृह.१।३।२२) इति श्रुत्या प्रतिपादितत्वाच्च प्राणस्याऽदृश्यस्योत्क्रान्तेः प्रतिपादिकया श्रुत्या ब्रह्मणोऽखिलकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– उत्क्रान्तिकाले मुमूर्षुपार्श्वस्थैरदृश्यस्याऽणोः प्राणस्योत्क्रान्तेः प्रतिपादिकया श्रुत्याऽपि ब्रह्मणोऽखिलकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः सर्वहेतुत्वे श्रुतीनां हि समन्वयः।
२. बाध्यः प्राणोत्क्रान्तिश्रुत्या न बाध्यो वेति संशयः॥१॥
३. प्राणस्याऽणोरनुत्पत्तेर् बाध्यः स इति के चन।
४-५. प्राणस्याऽपि ब्रह्मजत्वान् न बाध्य इति निर्णयः॥२॥

८४.(७) ज्योतिराद्यधिकरणम् (सू. १४-१६)

वागादीनां प्राणानामधिष्ठात्रीणां देवतानां प्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिरपि वेदान्तानां निखिलजगत्कारणे ब्रह्मणि समन्वयेऽविरोधं प्रदर्शयितुमाह—

२८३. ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् २।४।१४॥ इति।

"अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" (ऐ.२।४) इत्यादिकासु श्रुतिषु अग्न्यादीनां देवतात्मना वागादिप्राणाधिष्ठानस्य उक्तत्वाद् वागादीनां प्राणानाम् अग्न्यादिदेवताभिरधिष्ठानमवगम्यते इत्यर्थः। एवञ्च देवताऽधिष्ठितानामपि वागादीनां प्राणानां ब्रह्मकारणकत्वमक्षतमिति भावः।

हिन्दी– *"अग्नि वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुआ"* इत्यादि प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों में अग्न्यादि का देवता के रूप में वागादि पर अधिष्ठान बताए जाने से वागादि प्राणों का अग्न्यादि देवता से अधिष्ठित होना विदित होता है। इस से देवताधिष्ठित होने पर भी प्राणों की ब्रह्म से उत्पत्ति होने की बात भी अवगत होती है।

२८४. प्राणवता शब्दात् २।४।१५॥

"स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः" (छा.८।१२।४) इत्यादिकात् श्रुतिवाक्याद् अग्न्यादिदेवताधिष्ठितानामपि वागादीनां प्राणानां प्राणवता जीवेन सहैव उपकार्योपकरणभावरूपो मुख्यः सम्बन्धो भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः। देवताधिष्ठितानामपि प्राणानां जीवभोगोपकरणत्वादुत्पत्तिमत्त्वं ब्रह्मकारणकत्वं चाऽक्षतमेवेति भावः।

हिन्दी– *"वह चक्षु में सन्निहित पुरुष है, उस के दर्शन क्रिया के लिए चक्षुरिन्द्रिय है"* इत्यादि वेदशब्द से अग्न्यादि देवता से अधिष्ठित होने पर भी वागादि प्राणों का जीव के साथ ही उपकार्योपकरणभावरूप मुख्य सम्बन्ध होने की बात अवगत होती है। देवताओं से अधिष्ठित होने पर भी वागादि प्राण जीव के भोग के उपकरण होने से उन का उत्पत्तिमत्त्व और ब्रह्मकारणकत्व भी अवगत होते हैं, यह भाव है।

२८५. तस्य च नित्यत्वात् २।४।१६॥

तस्य च जीवप्राणसम्बन्धस्य उत्क्रान्त्यादिष्वपि अनुवृत्त्या जीवभावाऽव्यभिचारित्वेन नित्यत्वात् जीवेन सहैव उपकार्योपकरणभावरूपो मुख्यः सम्बन्धो भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः। एवञ्च वागादिषु प्राणेषु देवतानां सान्निध्येऽपि न तासां भोक्तृभावः शरीरे जीवस्यैव प्राधान्यादिति च प्रासङ्गिकोऽर्थोऽपि बोध्यः।

हिन्दी– पूर्वसूत्रोक्त जीवप्राणसम्बन्ध उत्क्रान्त्यादिकाल में भी अनुवृत्त होने से और जीवभाव रहने तक रहने से भी नित्य होने से प्राण का जीव के साथ ही उपकार्योपकरणभावरूप मुख्य सम्बन्ध होने की बात अवगत होती है। इस स्थिति में वागादि प्राणों में देवताओं का सान्निध्य होने पर भी उन का सम्बद्ध शरीर में प्राधान्य नहोने से और जीव का ही प्राधान्य होने से जीव का ही शरीर में भोक्तृभाव होता है, देवताओं का नहीं, यह तथ्य भी अवगत होता है।

अथ ज्योतिराद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– वागादीनां प्राणानाम् अधिष्ठात्रीणाम् अग्न्याद्यभिमानिनीनां देवतानां प्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिर् ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– वागादीनां प्राणानां भौतिकत्वेन तेषामुत्पत्तेः सम्भवेऽपि प्राणाधिष्ठात्रीणाम् अग्न्याद्यभिमानिनीनां देवतानामभौतिकत्वेन तासामुत्पत्तेरसम्भवात् तासां वागादिप्राणाद्यधिष्ठानस्य प्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिर् ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"योऽग्ग्ँनिमन्तरो यमयति"** (मा.वा.शत.१४।६।७।९, का.वा.बृह.३।७।५) इत्यादिकानां श्रुतीनां दर्शनात् ज्योतिरादीनामपि ब्रह्मनियाम्यत्वाद् ब्रह्मविभूतिमात्रत्वस्य विज्ञायमानत्वेन ब्रह्मकारणत्वस्य सिद्धत्वात् साधिष्ठातृकाणां वागादीनां प्राणानां ब्रह्मकारणकतायाः स्वीकारे विरोधस्याऽभावाद् अग्न्याद्यभिमानिनीनां देवतानां वागादिप्राणाऽधिष्ठानस्य प्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिर् ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो न विरुध्यते इति।

निर्णयः– अग्न्याद्यभिमानिनीनां देवतानां वागादिप्राणाधिष्ठानस्य प्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिर् ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणः सर्वहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. अग्न्याद्यधिष्ठानश्रुत्या बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. देवतानामनुत्पत्तेः स बाध्य इति के चन।
४-५. तासामपि ब्रह्मजत्वान् न बाध्य इति निश्चयः॥२॥

८५.(८) इन्द्रियाधिकरणम् (सू. १७-१९)

इन्द्रियाणामुत्पत्तेरप्रतिपादिकाभिः श्रुतिभिरपि निखिलकारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रदर्शयितुमाह–

२८६. त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् २।४।१७॥ इति।

श्रेष्ठात् प्राणाद् विनाऽन्ये ते एकादश प्राणा हि **"एतस्माज् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"** (मुण्डको.२।१।३) इत्यादिषु श्रुतिषु मुख्यप्राणभिन्नतया तेषाम् इन्द्रियत्वेन व्यपदेशाद् इन्द्रियाणि उच्यन्ते इत्यर्थः।

हिन्दी– मुख्य प्राण को छोडकर अन्य ग्यारह प्राण ही "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादि श्रुति में उन का इन्द्रिय के रूप में उल्लेख होने से इन्द्रिय कहे जाते हैं।

२८७. भेदश्रुतेः २।४।१८॥

"अथ हेममासन्न्यम् प्राणमूचुः" (मा.वा.शत.१४।४।१।८, का.वा.बृह. १।३।७) इति श्रुतौ आस्यभवस्य मुख्यस्य प्राणस्य वागादीन्द्रियेभ्यो भेदस्य श्रुतेर् मुख्यात् प्राणाद् भिन्ना वागादयः प्राणा हि इन्द्रियाणीत्युच्यन्ते इत्यर्थः।

हिन्दी – "अथ हेममासन्न्यम् प्राणमूचुः" इस श्रुति में मुख में रहने वाले मुख्य प्राण को वागादि से पृथक् रूप में बताये जाने से मुख्यप्राणभिन्न वागादि प्राण ही इन्द्रिय कहे जाते हैं।

२८८. वैलक्षण्याच्च २।४।१९॥

सुप्तेषु वागादिषु इन्द्रियेषु मुख्यः प्राणो जागर्ति (प्रश्नो.४।१-३), वागादीनीन्द्रियाणि मृत्युनाऽऽप्तानि मुख्यः प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः (मा.वा.शत.१४।४।१-८, १४।४।३।३१; का.वा.बृह.१।३।१-७, १।५।२१), इन्द्रियाणां स्थित्युत्क्रान्त्योः देहोत्थितिपतनाऽहेतुत्वम्, मुख्यस्यैव प्राणस्य स्थित्युत्क्रान्त्योः देहोत्थितिपतनहेतुत्वम् इति श्रुतिभ्यः (मा.वा.शत.१४।९।२।७-१३, का.वा.बृह.६।१।७-१३, छा.५।१।६-१३, प्रश्नो.२।१-१३) प्रत्यक्षाच्चाऽवगम्यमानत्वेन मुख्यात् प्राणादिन्द्रियाणां विलक्षणत्वाच्च वागादयः प्राणा हि इन्द्रियाणीत्युच्यन्ते इत्यर्थः। वागादिषु प्राणशब्दस्य प्रयोगस्तु औपचारिक इति **"तस्मादेतऽएतेनाक्ख्यायन्ते प्प्राणाः"** (मा.वा.शत. १४।४।३।३२, का.वा.बृह.१।५।२१) इति श्रुतिरेव प्रतिपादयतीति बोध्यम्।

हिन्दी – वागादि प्राण सोते हैं, मुख्य प्राण जागता रहता है, वागादि प्राण मृत्युपरिगृहीत होते हैं मुख्य प्राण मृत्यु से अपरिगृहीत रहता है; वागादि प्राणों के विना भी देह बना रहता है मुख्य प्राण के विना नहीं; इस प्रकार मुख्य प्राण से विलक्षण होने से भी वागादि प्राण ही इन्द्रिय कहे जाते हैं।

इन्द्रिय कोई अभौतिक तत्त्व नहीं हैं, अतः इन्द्रिय भी उत्पन्न होते ही हैं, यह इस अधिकरण के सूत्रों का भाव है।

अथेन्द्रियाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– "अस्म्मादात्त्मनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वऽएतऽआत्त्मानो व्व्युच्चरन्ति" (मा.वा.शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०) इति श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– "अस्म्मादात्त्मनः सर्व्वे प्प्राणाः" इत्यादिकायां श्रुतौ इन्द्रियाणामात्मन उत्पत्तेरश्रुतत्वात् तया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलकारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो विरुध्यते इति।

उत्तरम्– "अस्म्मादात्त्मनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वऽएतऽआत्त्मानो व्व्युच्चरन्ति" इति श्रुतौ आत्मसमुत्पादित्वेन

प्रतिपादितेषु प्राणेषु मध्ये मुख्यं प्राणं विहायाऽन्ये प्राणा एव इन्द्रियाणीत्युच्यन्ते इति एतस्यामपि श्रुतौ इन्द्रियाणां ब्रह्मत उत्पत्तिः प्रतिपाद्यत एवेति, **"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर् ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी"** (मुण्डको.२।१।३) इत्यादिकासु श्रुतिषु तु इन्द्रियाणां ब्रह्मत उत्पत्तिः स्फुटतरं प्रतिपाद्यत एवेति च इन्द्रियाण्यपि ब्रह्मण एवोत्पद्यन्ते इति ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः **"अस्मादात्तँमनः सर्ब्बे प्प्राणाः"** इत्यादिकया श्रुत्या न विरुध्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः **"अस्मादात्तँमनः सर्ब्बे प्प्राणाः"** इत्यादिकया श्रुत्या नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणोऽखिलहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. प्राणाद्युत्पत्तिश्रुत्या तु बाध्यो वा नेति संशयः॥१॥
३. तत्रेन्द्रियाणामनुक्तेः स बाध्य इति मन्दकाः।
४-५. प्राणा हि त्विन्द्रियाणीति न बाध्य इति वैदिकाः॥२॥

८६.(९) सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् (सू. २०-२२)

त्रिवृत्करणश्रुत्याऽपि निखिलजगत्कारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयेऽविरोधं प्रदर्शयितुमाह—

२८९. सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् २।४।२०॥ इति।

"सेयं देवतैक्षत" (छा.६।३।२) इत्युपक्रम्य **"व्याकरवाणि"** (छा.६।३।२) इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वस्य श्रुतावुपदेशात् नाम्नां रूपाणां च व्याक्रिया तु त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्यैव कृतिः न तु जीवस्येत्यर्थः। एवं च जगत् प्रति ब्रह्मण एव कारणत्वं न तु जीवस्येति भावः। तथा च ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः कयाऽपि श्रुत्या न विरुध्यते इति हृदयम्। सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिः=नामरूपयोर् व्याकरणम्।

हिन्दी– "सेयं देवतैक्षत" इत्यादि से प्रारम्भ कर "व्याकरवाणि" इस रूप में उत्तम पुरुष का प्रयोग कर के परब्रह्म के ही व्याकर्तृत्व का श्रुति में उपदेश किये जाने से नामों और रूपों की क्लृप्ति (व्याक्रिया) तो त्रिवृत्करण करने वाले परमेश्वर (ब्रह्म) की ही कृति है, जीव की नहीं। अत एव जगत् प्रति कारणत्व ब्रह्म में ही है, जीव में नहीं। इस स्थिति में ब्रह्म के निखिल जगत् के प्रति कारणत्व के प्रतिपादन में वेदान्तों का समन्वय किसी भी श्रुति से बाधित नहीं होती है।

२९०. मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च २।४।२१॥

यत् मांसादि दृश्यते तत् पार्थिवमेव अध्यात्मं त्रिवृत्कृतं कार्यमिति **"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन् मांसम्, योऽणिष्ठस्तन् मनः"** (छा.६।५।१) इति वेदशब्दमनुसृत्य वेदितव्यम्; एवमेवेतरयोर् भूतयोः अपां तेजसश्च **"आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन् मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितम्, योऽणिष्ठः स प्राणः"** (छा.६।५।२) इति वेदशब्दम्, **"तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक्"** (छा.६।५।३) इति वेदशब्दं चाऽनुसृत्य यत् लोहितादि तद् आप्यमेव अध्यात्मं त्रिवृत्कृतं कार्यम्, यद् अस्थ्यादि तत् तैजसमेव अध्यात्मं त्रिवृत्कृतं कार्यमिति वेदितव्यमित्यर्थः। एवं च मांसादिकमपि भौतिकमेवेति तदुत्पत्तिः भूतोत्पत्तिप्रतिपादनेनैव प्रतिपादिता भवतीति भावः। अस्थ्यादीनां घृततैलादीनां च तैजसत्वम् आधुनिकभौतिकविज्ञानदृष्ट्या तु परिचिन्तनीयमस्तीति ज्ञेयम्।

हिन्दी – मांसादि पदार्थ शरीर में त्रिवृत्कृत पृथिवी के ही कार्य हैं, यह बात वेदशब्दानुसार समझनी चाहिए, इसी प्रकार अप् के कार्य के रूप में लोहितादिकों को और तेज के कार्य के रूप में अस्थ्यादिकों को भी वेदशब्दानुसार ही समझना चाहिए।

२९१. वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः २।४।२२॥

पृथिव्यादीनां सर्वेषां भूतानां तद्विकाराणां च त्रिवृत्कृतत्वेन सर्वेषां पृथिव्यप्तेजोमयत्वेऽपि पृथिव्यादिषु व्रीहियवाद्यन्नेषु मांसादिषु च इयं पृथिवी, इदं पार्थिवं वस्तु; इमा आपः, इदमाप्यं वस्तु; इदं तेजः, इदं तैजसं वस्तु इत्यादिको वादो व्यवहारश्च तेषुतेषु पदार्थेषु पृथिव्यादीनामंशानां भूयस्त्वेन वैशेष्यात् प्रवृत्तो वेदितव्य इत्यर्थः। श्रौतेन त्रिवृत्करणेन पञ्चीकरणमुपलक्ष्यत इति सौत्रेण त्रिवृत्करणेनाऽपि तदुपलक्ष्यत एवेति केचिद् विद्वांसो वदन्तीति चाऽत्र बोध्यम्। पदाऽऽवृत्तिरध्यायसमाप्तिद्योतनाय कृता ज्ञेया।

हिन्दी – पृथिवी आदि सभी महाभूत और उन के विकार त्रिवृत्कृत हैं और उन में सभी महाभूतों के अंश विद्यमान होते हैं, तथापि जिस में पृथिव्यादि महाभूतों में से जिसजिस का अंश अधिक होता है उसीउसी के नाम से उस को पुकारा जाता है। त्रिवृत्कृत पृथिव्यादि भी महाभूतों से अनतिरिक्त हैं, अतः उन की उत्पत्ति महाभूतों की उत्पत्ति से ही व्याख्यात होती है, यह भाव भी व्यक्त होता है।

अथ सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः – ब्रह्मणो निखिलकारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः।

विशयः– **"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** (छा.६।३।२) इति श्रुतौ नामरूपकारणत्वेन जीवस्योल्लेखादनया श्रुत्या ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयो बाध्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– **"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** इति श्रुत्या भौतिकपदार्थसृष्टौ जीवस्य कारणतायाः प्रतिपादनात् तत्र जीवस्य प्रयोज्यकर्तृत्वेऽपि तस्यैव कार्योत्पादकत्वेन कारणत्वस्याऽवगम्यमानत्वाद् ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणतायाः प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयोऽनया श्रुत्या विरुध्यते इति।

उत्तरम्– **"सेयं देवतैक्षत हन्ताऽहमिमास् तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतंत्रिवृतमेकैकां करवाणीति"** (छा.६।३।२,३) इत्यत्र **"व्याकरवाणि"** इत्युत्तमपुरुष-प्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो नामरूपव्याकर्तृत्वस्योपदेशात् 'जीवेन' इत्यस्य तु 'अनुप्रविश्य' इत्यनेनैवाऽन्वयात्, गिरि-नदी-समुद्रादिषु जीवस्य व्याकरणे सामर्थ्यस्याऽभावात्, अध्यात्मं त्रिवृत्कृतानां मांसादीनामपि ब्रह्मकृतत्रिवृत्कृतभूमिविकारान्नादीनामेव विकारत्वात्, त्रिवृत्करणस्य च सर्वलोकव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थकत्वाद् भौतिकानामपि सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मकारणकत्वस्याऽनपायाद् ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः **"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** इति श्रुत्या न विरुध्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मणो निखिलजगत्कारणत्वस्य प्रतिपादने वेदान्तानां समन्वयः **"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** इति श्रुत्या नैव विरुध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मणोऽखिलहेतुत्वे वेदान्तानां समन्वयः।
२. अनेन जीवेनेत्यादिश्रुत्या बाध्यो न वा मतः॥१॥
३. बाध्यो जीवस्य हेतुत्वादिति के चन मन्वते।
४-५. हेतुत्वाद् देवताया हि न बाध्य इति वैदिकाः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ श्रुतिवाक्यसमन्वयाऽविरोधप्रदर्शनपरे द्वितीयेऽध्याये.
चतुर्थो लिङ्गशरीराद्युत्पत्तिश्रुतिविरोधाभाव-
प्रतिपादनपरः पादः समाप्तः॥

॥ समासश्चाऽयमविरोधाध्यायो द्वितीयः॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

(साधनाऽध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः

(जीवसंसृतिनिरूपणात्मको वैराग्यजागरणपरो वैराग्यपादः)

८७.(१) तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् (सू. १-७)

अथ ब्रह्मप्राप्तिसाधननिरूपणायाऽऽरब्धे तृतीयेऽध्याये प्रथमे पादे वैराग्यस्य जागरणाय जीवसंसृतिर् निरूप्यते—

२९२. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ३।१।१॥ इति।

"वेत्थो यतित्थ्यामाहुत्त्याँ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्त्वा समुत्थाय बदन्ती३" (मा.वा.शत.१४।९।१।३, का.वा.बृह.६।२।२, द्र.- छा.५।३।३) इति प्रश्नात्, पञ्चमीमाहुतिमुक्त्वा "तस्स्याऽआहुतेः पुरुषः सम्भवति" (मा.वा.शत. १४।९।१।१६, का.वा.बृह.६।२।१३, द्र.- छा.५।९।१) इति तस्य प्रश्नस्य निरूपणाच्च देहान्तरप्राप्तिनिमित्ते अद्भिः परिवेष्टितो जीवो गच्छति इति निश्चीयत इत्यर्थः। तदन्तरप्रतिपत्तौ=देहान्तरप्राप्तौ, रंहति=गच्छति, सम्परिष्वक्तः=परिवेष्टितः।

हिन्दी – "वेत्थो यतिथ्याम्" इत्यादि प्रश्न से और "तस्या आहुतेः पुरुषः सम्भवति" इस निरूपण (उत्तर) से जीव दूसरे देह लेने के लिए जाते समय अप् से युक्त होकर जाने की बात अवगत होती है।

२९३. त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात् ३।१।२॥

देहस्य तेजोबन्नकार्यत्वेन त्र्यात्मकत्वात् तदारम्भाय अपेक्षिता आपोऽपि त्र्यात्मिका एवेति श्रुत्युक्तासु अप्सु अन्येषामपि सूक्ष्मभूतानां योगात् सूक्ष्मभूतयुताभिरद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति, त्र्यात्मिकानामपि अपाम् अप्शब्देनैव श्रुतौ व्यपदेशस्तु अब्भूयस्त्वादित्यर्थः।

हिन्दी – तेज, जल, और पृथिवी का कार्य देह त्र्यात्मक होने से उस के निर्माण के लिए आवश्यक अप् (जल) भी त्र्यात्मिका ही होनी चाहिए, अत एव श्रुति में देहारम्भक रूप में प्रतिपादित अप् भी अन्य भूतों के सूक्ष्मांश से युक्त ही होनी चाहिए। अत एव जीव अन्य देह लेने के लिए जाते समय अन्य भूतों के सूक्ष्म अंश से युक्त अप् (जल) से परिवेष्टित होकर जाता है। त्र्यात्मक अप् में अन्य भूतों के भी अंश रहने पर भी उन में अप् (जल) का अंश अधिक होने से उन त्र्यात्मक अप् को श्रुति में अप्-शब्द से ही व्यवहृत किया गया है।

२९४. प्राणगतेश्च ३।१।३॥

देहान्तरगतौ जीवेन सह प्राणानां गतेः "तमुत्त्क्रामन्तम् प्राणोऽनूत्त्क्रामति प्प्राणमुत्त्क्रामन्तꣳ सर्व्वे प्प्राणाऽउत्त्क्रामन्ति" (मा.वा.शत.१४।७।२।३, का.वा.बृह.४।४।२) इति श्रुतौ श्रूयमाणत्वात्, सूक्ष्मभूताऽपरिवेष्टितानां निराश्रयाणां प्राणानां गतेरसम्भवाच्च देहान्तरप्रतिपत्तौ जीवो सूक्ष्मभूतैः परिवेष्टित एव गच्छतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – अन्य देह में जाते समय जीव के साथ में प्राणों की भी गति होने की बात श्रुति में उपदिष्ट होने से और सूक्ष्म भूतों से अपरिवेष्टित आश्रयरहित प्राणों की गति असम्भव होने से दूसरे देह में जाते समय जीव सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित होकर ही जाता है, यह बात अवगत होती है।

२९५. अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ३।१।४॥

"यत्राऽस्स्य पुरुषस्स्य मृतस्स्याऽग्ग्ँनिंव् वागप्प्येति बातम् प्राणश्च्चक्षुरादित्त्यम् मनश्च्चन्द्रन् दिशः श्रोत्त्रम् पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्त्ँमौषधीर् ल्लोमानि बनस्प्पतिङ् केशाः" (मा.वा.शत.१४।६।२।१३, का.वा.बृह.३।२।१३) इत्यादिकायां श्रुतौ मृतस्य पुरुषस्य वागादीनां प्राणानाम् अग्न्यादौ गमनस्य श्रूयमाणत्वाद् देहान्तरगमने जीवेन सह प्राणानां गमनं न स्वीकर्तुं शक्यते इति चेत्, एतादृशी शङ्का न कर्तव्या, लोम्नां केशानां च ओषधीर् वनस्पतींश्च प्रति गमनस्य तस्यामेव श्रुतौ श्रुतत्वेऽपि वस्तुतस्तु तथा गमनस्य अदर्शनात्, श्रुत्यन्तरे प्राणानां जीवेन सह गमनस्य स्पष्टतया श्रुतत्वात्, वागाद्युपकारिणीनाम् अग्न्यादिदेवतानां मरणकाले उपकार-निवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन् गच्छन्तीत्युपचर्यत इत्यवगम्यमानत्वाद् देहान्तरगतौ जीवेन सह प्राणानां गमनं मुख्यमेव स्वीकार्यमित्यर्थः।

हिन्दी – "यत्राऽस्स्य पुरुषस्स्य मृतस्स्याऽग्ग्ँनिंव् वागप्प्येति" इत्यादि श्रुति में मृत पुरुष के वागादि प्राणों का अग्न्यादि में गमन सुने जाने से देहान्तर में जाते समय जीव के साथ में प्राणों का गमन नहीं माना जा सकता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि लोम और केशों का ओषधि और वनस्पति प्रति गमन का उसी श्रुति में उल्लेख होने से और उस प्रकार के गमन का अदर्शन होने से उस श्रुति का गौणार्थपरक होने की बात स्पष्ट होने से प्राणों का जीव के साथ में जाने की बात में उस श्रुति से कोई विरोध नहीं होता है।

२९६. प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ३।१।५॥

"असौ वै लोकोऽग्ग्ँनिर् गौतम तस्स्याऽऽदित्त्यऽएव समिद् द्रश्म्मयो धूमोऽहरर्च्चिश् च्चन्द्रमाऽअङ्गारा नक्क्षत्त्राणि बिस्स्फुलिङ्गास्त् तस्स्मिन्नेतस्स्मिन्नग्ग्ँनौ देवाः श्रद्धाञ् जुह्व्वति" (मा.वा.शत.१४।९।१।१२, का.वा.बृह.६।२।९, छा.५।४।२) इति प्रोक्ते प्रथमेऽग्नौ अपामश्रुतत्वात् श्रुतायाः श्रद्धाया अब्बहुलत्व-

स्याऽभावाच्च देहान्तरगमने अद्भिः परिवेष्टितो जीवो गच्छतीति स्वीकर्तुं न शक्यत इति चेत्, एतादृशी शङ्का न कर्तव्या, प्रथमेऽग्नौ श्रुता श्रद्धा आप एव सन्तीति स्वीकृते एव प्रश्नप्रतिवचनयोः समन्वयस्योपपत्तेः प्रथमेऽग्नौ श्रुता श्रद्धा प्रश्ने उपात्ता ता आप एव सन्तीति स्वीकार्यत्वाद् इत्यर्थः। **"श्रद्धा वा आपः"** (तै.सं. १।६।८।१) इत्यादौ श्रद्धाशब्दस्याऽप्सु प्रयोगोऽपि दृश्यत इति च वेदितव्यम्।

हिन्दी– "असौ वै लोकोऽग्निर्" इत्यादि से प्रतिपादित प्रथम अग्नि में अप् का अश्रुत होने से, श्रुत श्रद्धा का अब्बहुलत्व न होने से जीव का दूसरे देह में जाते समय अप् से परिवेष्टित होकर जाने की बात नहीं मानी जा सकती है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि प्रथम अग्नि में श्रुत श्रद्धा अप् ही होने की बात माने जाने से ही प्रश्नोत्तर में समन्वय हो सकने से प्रथम अग्नि में श्रुत श्रद्धा को प्रश्न में उपात्त अप् ही मानना आवश्यक है, अतः जीव का दूसरे देह में जाते समय अप् से परिवेष्टित होकर जाने की बात मानी ही जा सकती है।

२९७. अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ३।१।६॥

प्रश्नप्रतिवचनाभ्याम् आपः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्राप्नुवन्तीति ज्ञायमानेऽपि ताभिरद्भिः सह जीवो देहान्तरप्राप्तये रंहतीति तु श्रुतितो ज्ञातुं न शक्यते जीवस्य तत्र प्रश्नप्रतिवचनयोरश्रुतत्वाद् इति चेत्, एतादृशी शङ्का न कर्तव्या, ये खलु **"अथ ये यज्ञँ्ञेन दानेन तपसा लोकञ् जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१९, का.वा.बृह.६।२।१६, द्र.- छा.५।१०।३) इत्यत्र वाक्यशेषे उक्ता इष्टादिकारिणो जीवास्तेषामेव आहुतिप्रश्नप्रतिवचनयोरपि अन्वयस्य उभयत्र समानतया सोमस्य राज्ञः उल्लेखात् प्रतीतेः, आहुतिरूपाभिरद्भिः सह जीवो देहान्तरप्राप्तये रंहतीति बोद्धुं शक्यत एवेत्यर्थः।

इष्टादिकारिणां च अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूताः पयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात् प्रत्यक्षमेवाऽपः सन्ति, ताश्च हुता अपूर्वरूपाः सत्य इष्टादिकारिण आश्रयन्ति, इष्टादिकारिणो यदा म्रियन्ते अथ अग्निहोत्राहुती तानिष्टादिकारिणो जीवान् परिवेष्ट्य अमुं लोकं फलदानाय नयन्तीत्यादिकोऽर्थश्च **"त्वन् नेदिष्ठ्यं याज्ञँ्ञवल्क्क्याऽग्ग्ँनिहोत्त्रस्स्याऽमीमाँसिष्ठा धेनुशतन् ददामीति होवाच न त्त्वेवैनयोसत्त् त्वमुत्त्क्रान्तिन् न गतिन् न प्रतिष्ठान् न तृप्प्तिन् न पुनरावृत्तिन् न लोकम् प्रत्त्युत्थायिनम् {अमीमाँसिष्ठाः}** (मा.वा.शत.११।६।२।४) इत्यस्यां श्रुतौ श्रुतानां षण्णां प्रश्नानां व्याख्यानाय प्रवृत्तायां **"ते वाऽएतेऽआहुती हुतेऽउत्त्क्रामतः"** (मा.वा.शत.११।६।२।४) इत्यादिकायां श्रुतौ श्रूयत एवेति चाऽवगन्तव्यम्।

हिन्दी– प्रश्न और उत्तर से श्रद्धादि के क्रम से अप् की पञ्चम आहुति में पुरुषाकार में प्राप्त होने की बात अवगत होती है, किन्तु उन अप् के साथ में जीव की दूसरे देह में जाने के लिए चलने की बात तो श्रुति में अश्रुत होने से नहीं मानी जा सकती है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों

कि "अथ ये यज्ञेन दानेन" इत्यादि वाक्यशेष में उल्लिखित इष्टादिकारी जीवों का ही आहुति के प्रश्न और उत्तर में भी अन्वय की प्रतीति होने से उन आहुतिरूप अप् के साथ में जीव की दूसरे देह में जाने के लिए चलने की बात समझी ही जा सकती है।

२९८. भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ३।१।७॥

"ते चन्द्रम् प्राप्य्याऽन्नम् भवन्ति" (मा.वा.शत.१४।९।१।१९, का.वा.बृह. ६।२।१६, द्र.- छा.५।१०।४) इत्यादिकया श्रुत्या इष्टादिकारिणां चन्द्रलोकेऽन्नभावस्य देवभक्षणीयत्वस्य प्रतिपादनात् कथं तेषां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं भवतीति स्वीकर्तुं शक्यते इत्याशङ्का न कर्तव्या, तेषामन्नत्वं वै लाक्षणिकं न मुख्यम्, तेषां मुख्येऽन्नत्वे स्वकर्मफलोपभोगस्याऽभावे **"यदैवैनङ् कदा च यज्ञूँऽउपनमेद-थाग्गूँनीऽआदधीत"** (मा.वा.शत.२।१।३।९, द्र.- तै.ब्रा.१।१।२।८), **"अग्नीनादधीत"** (जै.ब्रा.१।६१), **"अग्गूँनिहोत्रं होतब्ब्यम्"** (मा.वा.शत.२।२।२।१८), **"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"** (मैत्रायणीयोपदिषदि ६।३६, जैमिनीयमीमांसासूत्रशाबरभाष्ये १।१।२६), **"स्वर्गकामो यजेत"** (ताण्डिमहाब्राह्मणे १६।१५।५) इत्यादिका विधयो व्यर्था मन्तव्याः स्युः, अतस्तेषामन्नत्वमुपभोग्यत्वसामान्यमूलकं लाक्षणिकमेव, लाक्षणिकमन्नत्वं च देवोपकरणभावरूपं तेषामनात्मवित्त्वाद् भवति। तथा हि अनात्मविदां देवोपभोग्यत्वम् **"अथ योऽन्न्यान् देवतामुपास्तेऽन्न्योऽसावन्न्योह-मस्म्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्"** (मा.वा.शत.१४।४।२।२२, का.वा.बृह.१।४।१०) इति श्रुतिर् दर्शयति। तस्माज् जीवो देहान्तरप्राप्तये सूक्ष्मभूतैः सम्परिष्वक्तो रंहतीति युक्तमेवोक्तं ज्ञेयम्।

हिन्दी – इष्टादि धर्मकारियों का चन्द्रलोक में गमन और वहाँ देवताओं से उन का अन्न रूप में उपभोग होने की बात श्रुति में प्रतिपादित होने से उन का स्वकर्मफल के भोग के लिए रंहण होने की बात नहीं मानी जा सकती है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि उन का अन्नत्व उपभोग्यत्व मात्र को लेकर प्रतिपादित होने से लाक्षणिक है, मुख्य नहीं; उन का देवोपभोग्यत्वरूप अन्नत्व भी अनात्मविद् होने से होता है, यह बात *"जौन व्यक्ति आत्मभिन्न अन्य देवता का उपासन करता है, वह वास्तविक तत्त्व नहीं जानता है, वह देवताओं के लिए मनुष्यों के लिए पशु जैसा उपभोग्य होता है वैसा ही उपभोग्य होता है"* इत्यादि बताने वाली श्रुति बताती है।

अथ रंहणाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"स यत्राऽयं शारीरऽआत्तँमाऽबल्ल्यन् नीत्त्य सम्मोहमिव न्न्येत्त्यथैन-मेते प्प्राणाऽअभिसमायन्ति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।१, का.वा.बृह.४।४।१) इत्यादिकया **"अयम् पुरुषऽइदं शरीरन् निहत्त्याऽविद्याङ् गमयित्त्वाऽन्न्यन् नवतरङ् कल्ल्याणतरं रूपन् तनुते पित्त्र्यवं वा ब्ब्राह्ममवं वा प्प्राजापत्त्यवं वा मानुष्ष्यवं वाऽन्न्येब्भ्यो भूतेब्भ्यः"** (मा.वा.शत.१४।७।२।५, का.वा.बृह.४।४।४) इत्यन्तया श्रुत्याऽवगतं जीवस्य देहान्तरसञ्चरणम्।

विशयः– देहान्तरसञ्चरणे जीवो देहबीजैर् भूतसूक्ष्मैरसम्परिष्वक्तो देहान्तरं गच्छति आहोस्वित् सम्परिष्वक्त इति।

पूर्वपक्षः– पञ्चानां भूतानां सर्वत्र सुलभत्वात् तेषामात्मना सह नयनस्याऽनावश्यकत्वाज् जीवो भूतसूक्ष्मैरपरिवेष्टित एव देहान्तरं गच्छतीति।

उत्तरम्– जीवस्य देहान्तरं प्रति गमने मुख्यप्राणान्तःकरणेन्द्रियैः पूर्वकर्मवासनाभिश्च सह गमनस्य श्रुतत्वात्, प्राणादीनां च निराधाराणां गतेरसम्भवात्, पञ्चाग्निविद्यायां त्रिवृत्-कृतानां देहबीजरूपभूतसूक्ष्ममयीणां जीवप्राणाद्याधारभूतानामाहुतिरूपाणां श्रद्धाशब्द-वाच्यानामपां द्युलोकादिषु पञ्चसु स्थानेषु गत्वा पञ्चमस्थाने शरीरभावप्राप्तौ पुरुष-शब्दवाच्यतायाः प्रतिपादितत्वाच्च देहबीजैर् भूतसूक्ष्मैर् वेष्टित एव जीवो देहाद् देहान्तरं गच्छतीति।

निर्णयः– देहान्तरप्राप्तये जीवो देहबीजभूतैर् भूतसूक्ष्मैः परिवेष्टित एव गच्छतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. फलभोगाय जीवस्य देहान्तरगतिः श्रुता।

२. भूतैर् युक्तोऽथ सोऽयुक्तो व्रजेदित्यत्र संशयः॥१॥

३. भूतसौलभ्यादयुक्तः स व्रजेदिति के चन।

४-५. आहुतिश्रुतितो युक्तो व्रजतीति हि निर्णयः॥२॥

८९.(२) कृतात्ययाधिकरणम् (सू. ८-११)

अबादिभूतसूक्ष्मपरिवेष्टितस्य जीवस्य रंहणं स्वर्गादवरोहतां जीवानां कर्मणां सर्वथाऽभावे नोपपद्यत इति तेषां कर्मणां सत्त्वं दर्शयन्नाह–

२९९. कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ३।१।८॥ इति।

तत्कालोपभोग्यस्वर्गार्थं कृतस्य कर्मणः क्षये जाते जीवः खलु **"तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"** (छा.५।१०।७) इत्यादिकायाः प्रत्यक्षश्रुतेर् दर्शनाद् **"वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफल-मनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुश्श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रति-पद्यन्ते"** (गौतमध.सू.२।२।२९), **"सर्ववर्णानां स्वस्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्, ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठान-मिति प्रतिपद्यते"** (आपस्तम्बध.२।१।२।२,३) इत्यादिकानां स्मृतीनां दर्शनाच् च कर्मान्तरयुक्तः सन् कर्मान्तरफलभोगाय येन पथा पूर्वं गतं तेनैव पथा, केना-ऽप्यंशेन तद्भिन्नेन रात्र्यादिरहितेन अभ्रादियुतेन मार्गेण चेमं लोकमवरोहतीत्यव-

गम्यते इत्यर्थः। जीवमनु शेते इत्यनुशयः=भुक्तफलात् कर्मणोऽतिरिक्तं कर्म। दृष्टम्= प्रत्यक्षश्रुतिः। छन्दोगश्रुतौ अभ्याश इति क्षिप्रमित्यर्थकमव्ययम् इति अन्नम्भट्टः।

हिन्दी – तत्काल उपभोग्य स्वर्ग के लिए किए गए कर्म का क्षय होने पर पहले जिस मार्ग से गया था उसी मार्ग से और उस से कुछ अंश में भिन्न मार्ग से भी जीव अवशिष्ट कर्मों के साथ इस लोक में आता है, यह बात श्रुति से और स्मृति से भी अवगत होती है।

३००. चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ३।१।९॥

उदाहृतश्रुतौ चरणाद् योनिविशेषप्राप्तिरुक्ता, न तु कर्मणा; "यथाकारी यथाचारी तथा भवति" (छा.४।४।५) इत्यादौ चरण-कर्मणोर् भेदश्च स्वीकृतो दृश्यते, तस्माद् दृष्टश्रुतिबलात् कर्मान्तररूपाऽनुशयवान् जीवोऽवरोहतीति न स्वीकर्तुं युज्यते इति चेत्, एतादृशी शङ्का न कर्तव्या, यतो हि कार्ष्णाजिनिः खल्वाचार्यः अनुशयोपलक्षणार्था हि चरणश्रुतिरिति निश्चिनुते इत्यर्थः।

हिन्दी – उल्लिखित श्रुति में चरण से योनिविशेष की प्राप्ति बताई गई है, कर्म से नहीं, कर्म का और चरन का भेद भी श्रुति में ही स्वीकारा गया है, अतः दृष्टश्रुति के आधारपर कर्मान्तररूप अनुशय से युक्त जीव का अवरोहण मानना उचित नहीं दिखाइ देता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि आचार्य कार्ष्णाजिनि श्रुति में श्रुत चरण शब्द कर्मान्तररूप अनुशय का उपलक्षण होने की बात स्वीकारते हैं।

३०१. आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ३।१।१०॥

चरणशब्देन स्वार्थमाचारं विहाय लाक्षणिकस्याऽनुशयस्य बोधने स्वीकृते आचारस्याऽनर्थकत्वं स्वीकर्तव्यं स्यादिति चेत्, एतादृशी शङ्का न कर्तव्या, "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" (वसिष्ठधर्मसूत्रे ६।३, बृहद्योगियज्ञवल्क्यस्मृतौ ११।२०, देवीभागवते च ११।२।१) इत्यादीनां स्मृतिवचनानां दर्शनाद् इष्टादेः कर्मण आचारसापेक्षत्वस्य ज्ञायमानत्वेन आचारस्याऽपि सार्थकत्वादिति कार्ष्णाजिनि-राचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – चरण शब्द से उस का मूल अर्थ आचार को छोडकर लाक्षणिक अर्थ अवशिष्ट कर्मान्तररूप अनुशय को लेने से आचार की निरर्थकता स्वीकृत करनी पडेगी, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि *"आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं करते हैं"* इत्यादि बताने वाले स्मृतिवचनों से इष्टापूर्तादि कर्म का आचारसापेक्षत्व अवगत होने से आचार की सार्थकता होने की बात आचार्य कार्ष्णाजिनि मानते हैं।

३०२. सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ३।१।११॥

चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते एव बोध्येते, इष्टादिकारिणि 'धर्मं चरति' इति लोके व्यवहारस्य दर्शनात्, चरणकर्मणोः क्वचिद् भेदेन व्यवहारस्याऽपि गो-बलीवर्दन्यायेनोपपन्नत्वादिति बादरिराचार्यो मन्यते।

हिन्दी – इष्टादि कर्म करने वालों में "धर्मं चरति" यह व्यवहार देखे जाने से और कहीं कहीं देखा गया चरण और कर्म में भेद का व्यवहार भी गो-बलीवर्दन्याय से उपपन्न होने से चरण-शब्द से सुकृत-दुष्कृत ही बताए जाते हैं, यह आचार्य बादरि का निष्कर्ष है।

अथ कृतात्ययाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमध्वानं पुनर् निवर्तन्ते यथेतम्" (छा.५।१०।५), "तेषायं यदा तत्त् पर्य्यवेत्यथेममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्ते" (मा.वा.शत.१४।९।१।१९, का.वा.बृह.६।२।१६) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रुतं जीवानां लोकान्तरादवरोहणम्।

विशयः– तत्र जीवाः किं भुक्तसकलकर्माणो निरनुशया अवरोहन्ति आहोस्वित् सानुशया इति।

पूर्वपक्षः– श्रुतौ यावत्सम्पातम् इति श्रवणात्, सम्पातशब्दस्य च तत्र 'सम्पतत्यनेन कर्मणा लोकम्' इत्यर्थकत्वेन कर्मवचनत्वात्, उक्तश्रौतशब्दस्य यावत्कर्मसमाप्ति चन्द्रलोकादिषु स्थित्वेति ज्ञायमानत्वात् तत्र जीवा भुक्तसकलकर्माणो निरनुशया अवरोहन्तीति गम्यते इति।

उत्तरम्– यावत्सम्पातम् इत्यत्र सम्पातशब्दस्य तत्कालभुक्तस्वर्गप्रदकर्ममात्रविषयत्वेन जीवस्थसकलकर्मविषयत्वस्याऽभावात्, **"तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"** (छा.५।१०।७) इत्यादिकया श्रुत्या चरणशब्देना-ऽवरोहतां जीवानां सुकृतदुष्कृतयोः सद्भावस्य दर्शितत्वाच्च जन्मान्तरप्रदकर्मसहित-त्वेन सानुशया एव जीवा लोकान्तरादवरोहन्तीति गम्यते इति।

निर्णयः– सानुशया एव जीवा लोकान्तरादवरोहन्तीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. कर्मक्षये हि जीवानां श्रूयते ह्यवरोहणम्।
२. क्षीणानुशयका जीवास् तत्र सानुशयाः किमु ॥१॥
३. सम्पातश्रुतितः क्षीणानुशया इति के चन।
४-५. चरणश्रुतितः सानुशया इति तु निर्णयः ॥२॥

८९.(३) अनिष्टादिकार्यधिकरणम् (सू. १२-२१)

वैराग्यं द्रढयितुमनिष्टादिकारिणां रंहणे विशेषं निरूपयितुमाह–

३०३. अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ३।१।१२॥ इति।

"ये वै के चाऽस्माल् लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति कौषीतकिनामाम्नाये (१।२) अनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगमनं श्रुतमित्यर्थः।

अनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोके भोगस्याऽभावेऽपि आहुतिसङ्ख्यानियमाच्च तेषामपि चन्द्रलोकं प्रति गमनं तु भवत्येवेति गम्यते इति भावः।

हिन्दी – अनिष्टादिकारियों का भी चन्द्रलोकगमन कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में श्रुत है। अतः अनिष्टादिकारियों का चन्द्रलोक में भोग न होने पर भी आहुतिसङ्ख्या का नियम होने से उन का वहां जाना सिद्ध होता ही है, यह भाव है।

३०४. संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ३।१।१३॥

इष्टादिकारिभिन्नानाम् (अनिष्टादिकारिणाम्) तु **"वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्"** (ऋ.१०।१४।१) **"न साम्परायः प्रतिभाति बालम्"** (कठो.१।२।६), इत्यादिकासु श्रुतिषु यमलोकगतेर् दर्शनात् तृतीयेन मार्गेण यमालयमारुह्य यमालये स्वकर्मानुरूपां यातनामनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहो भवतीति शाङ्करभाष्यानुसारी अर्थः।

वयं तु इष्टादिकारिभिन्नानाम् उत्कटपापानां मन्दपुण्यानां पुरुषाणां **"वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्"** (ऋ.१०।१४।१, अथर्व.१८।३।३।१३), **"न साम्परायः प्रतिभाति बालम्"** (कठो.१।२।६) इत्यादिकासु श्रुतिषु यमलोकगतेर् दर्शनात् पापफलभोगाय यमलोकं प्रति गमनम्, तत्र स्वकर्मानुरूपां यातनाम् अनुभूय शुद्धानां तु पुण्यफले भोक्तव्ये सति यमानुमत्या पुण्यफलोपभोगाय चन्द्रलोकारोहणम्, ततः कृतात्यये कर्मान्तरयुक्तानां कर्मानुसारं ब्राह्मणादिजन्म श्वादिजन्म वा प्राप्तुम् इमं लोकं प्रति अवरोहणं च भवतीत्यर्थस्य प्रतिपादकतयाऽस्य सूत्रस्यार्थः स्वीकर्तव्य इति रोचयामहे। एतादृश एवाऽर्थः चन्द्रलोकादवरोहतां पापानुशयवतां श्वादियोनिप्राप्तिं दर्शयन्त्याः श्रुतेः पुराणेतिहासादिप्रतिपादनानां चाऽनुकूलोऽपि भवेत्। ये तु स्वल्पपुण्या बहुपापाः स्वल्पपुण्यफलभोगानन्तरं चन्द्रलोकात् केवलपापाश्च यमयातनाभोगानन्तरं यमालयादिहागत्याऽनेकजन्मपर्यन्तं गोऽजाऽविश्वसूकरखरोष्ट्रमृगपक्षिकीटपतङ्ग-दन्दशूकजलचरतृणलतागुल्मवृक्षादियोनौ पर्यायेण जायन्ते म्रियन्ते च, तेषां न भूयोभूयः संयमनं प्रत्यपि गमनमावश्यकमिति ते इहैव परिवर्तन्ते इत्येतत् श्रुत्युक्तं तृतीयं स्थानं भवितुमर्हति। **"पुरुषवचसो भवन्ति"** (छा.५।९।१) इति श्रुतेः स्वारस्यात् स्मृतिपुराणवर्णनानुरोधाच्च पापफलभोगेन पापानां क्षये क्रमेणाऽऽरोहिणीं योनिं प्राप्नुवन् जीवो यदा मनुष्ययोनिं प्राप्नोति तदैव पुनः स्वकर्मानुसारं संयमनं प्रति गत्वा यमाज्ञया चन्द्रलोकं प्रति वा ब्रह्मलोकं प्रति वा गच्छति, चन्द्रलोकं प्रति गमने तत्र पुण्यफलमुपभुज्य स्वानुशयानुसारं ब्राह्मणादिमनुष्ययोनिं श्वादियोनिं वा प्रति गन्तुं चावरोहति, पुण्यस्याऽभावे यमालयात् श्वसूकरादियोनिं गन्तुं मर्त्यलोकमेवाऽऽगच्छतीति स्वीकर्तुमुचितं भाति। तदनुकूलानि हि श्रुतिस्मृति-पुराणवचनानि दृश्यन्ते। तथाहि– **"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति**

यथाकर्म यथाश्रुतम्" इति कठोपनिषदि (२।२।७), "यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः" इति ऐतरेय्यारण्यके (२।३।२), "कर्म्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" इति माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शतपथब्राह्मणे (१४।४।३।२४) काण्ववाजसनेयि-बृहदारण्यकोपनिषदि च (१।५।१६), "देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः" इति मनुस्मृतौ (१२।४०), "बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात्। संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस् त्विमान्॥ श्वसूकरखरोष्ट्राणां गो-ऽजा-ऽवि-मृग-पक्षिणाम्। चण्डाल-पुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति" इति च तत्रैव (१२।५४,५५), "महापातकजान् घोरान् नरकान् प्राप्य दारुणान्। कर्मक्षयात् प्रजायन्ते महापातकिनस् त्विह" इति याज्ञवल्क्यस्मृतौ (३।२०६), "देवत्वं याति सत्त्वेन रजसा च मनुष्यताम्। तिर्यक्त्वं तमसा जन्तुर् वासनानुगतोऽवशः" इति स्कन्दपुराणे ब्राह्मखण्डे (२।१०।५२), "ततः सर्वेषु निस्तीर्णः पापी तिर्यक्त्वमश्नुते। कृमिकीटपतङ्गेषु स्थावरैकशफेषु च" इति मूल-गरुडपुराणे (२।३।८०), "अवशिष्टेन पापेन पुण्येन च समन्वितः। ततश्चाऽऽरोहिणीं योनिं शूद्र-वैश्य-नृपादिकम्। विप्र-देवेन्द्रतां चाऽपि कदाचिदधिरोहति" इति (२।३।८५), "दैविकीं पैतृकीं योनिं मानुषीं वाऽथ नारकीम्। धर्मराजस्य वचनान् मुक्तिर् भवति वा ततः" इति (२।१९।१४-१५), "मोक्षं गच्छन्ति तत्त्वज्ञा धार्मिकाः स्वर्गतिं नराः। पापिनो दुर्गतिं यान्ति संसरन्ति खगादयः" इति (२।४९।११६) च तत्रैव; "अधस्तान् नरलोकस्य यावतीर् यातनास्तु ताः। क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राऽऽव्रजेच्छुचिः" इति भागवते (३।३०।३४), "याम्यैर् नरैर् मनुष्याणां तच्छरीरं भृगूत्तम। नीयते याम्यमार्गेण नाऽन्येषां प्राणिनां द्विज॥ तस्मान् मनुष्यस्तु मृतो यमलोकं प्रपद्यते। नाऽन्यः प्राणी महाभाग फलयोनौ व्यवस्थितः" इति विष्णु-धर्मोत्तरपुराणे (२।११३।३,६), "मनुष्या एव गच्छन्ति यमलोकं न चाऽपरे। मरणानन्तरं तेषां जन्तूनां योनिपूरणम्" इति च स्कन्दपुराणे (१।२।५०।७२)।

हिन्दी – इष्टादिकारियों से भिन्न और मन्दपुण्य तथा उत्कट पापवाले मनुष्यों का तो, श्रुति में यमलोक गमनादि की बात देखे जाने से, यमलोक में गमन और वहाँ अपने पापकर्म के अनुरूप यातना का भोग, उस से शुद्धि, और पुण्यफल के भोग के लिए यम की अनुज्ञा से चन्द्रलोक में आरोहण, और वहाँ पुण्यफलभोग की समाप्ति होने पर अवशिष्ट कर्म के अनुरूप ब्राह्मणदिजन्म वा श्वसूकरादिजन्म लेने के लिए इस लोक में अवरोहण होता है।

३०५. स्मरन्ति च ३।१।१४॥

स्मरन्ति च मनुव्यासादयः शिष्टाः "यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः। तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते॥ यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः।

तैर् भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः॥ यामीस् ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः। तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः" (मनुस्मृतौ १२।२०-२२) इत्यादिना अनिष्टादिकारिणां पापिनां संयमने यातनानुभवम्।

हिन्दी – मनु-व्यासादि शिष्ट अनिष्टादिकारी पापियों का नरक में यातना का भोग होने की बात स्मृतियों में प्रतिपादित भी करते हैं।

३०६. अपि च सप्त ३।१।१५॥

अपि च घोरा सुघोरा अतिघोरा घोरघोरा घोररूपा तरलभावा भयानकेति सप्त नरकवर्गाः श्रुति-स्मृति-पुराणेषु प्रतिपाद्यन्ते, अतोऽनिष्टादिकारिणः प्रथमं संयमने यामीर् यातना अनुभवन्तीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

यद्यपि शाङ्करभाष्ये रौरवप्रमुखाः सप्त नरका इत्येवोक्तम्, सप्त नरकास् तु न गणिताः, तथापि हरिदीक्षितेन रौरव-महारौरव-वह्नि-वैतरणी-कुम्भीपाक-तामिस्राऽन्धतामिस्राख्याः सप्त नरका गणिताः, किन्तु तेषां नरकाणामेव मुख्यतायाः स्मृतिषु पुराणेषु च अप्रसिद्धत्वात्, तत्र तु प्रायेण एकविंशतेर् नरकाणाम् (मनुस्मृतौ ४।८८-९०, याज्ञवल्क्यस्मृतौ ३।२२२-२२४, विष्णुधर्मसूत्रे ४३।२-२२, भागवते ५।२६।७, देवीभागवते ८।२१।२१) उल्लेखस्य दृश्यमानत्वात्, क्वचिदष्टाविंशतेर् मुख्यानां नरकाणामुल्लेखस्याऽवलोक्यमानत्वात्, (भागवते ५।२६।७, देवीभागते ८।२१।२१-२८), अग्निपुराणे तु नरकाणाम् अष्टाविंशतेः कोटीनाम् "**अष्टाविंशतिरेवाऽधः क्षितेर् नरककोटयः। सप्तमस्य तलस्यान्ते घोरे तमसि संस्थिताः**" इति (३७१।१३-१४) उल्लिखितत्वाच्च हरिदीक्षितगणनामवधीर्याऽस्माभिः सौत्रसप्तपदेन सप्त नरकवर्गाः शिवधर्मादिग्रन्थेषु प्रसिद्धा उपात्ता ज्ञेयाः। तथा हि शिवधर्मोक्ताः सप्त नरकवर्गा वाचस्पत्याख्ये महाकाये संस्कृतशब्दकोशे कर्मविपाकशब्दे (१७४८तमे पृष्ठे) दर्शिताः। अग्निपुराणेऽपि (३७१।१४,१५) एते नरकवर्गा उल्लिखिताः प्रतीयन्ते। एते च सप्त नरकवर्गाः काशिकायां वृत्तौ (३।२।८८) उदाहृताद् अविज्ञायमानमूलकाद् "**मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्**" इति श्रुतिवाक्याद् वेदेऽपि प्रसिद्धा अवगम्यन्ते। सप्तसु वर्गेषु एकैकमेव नरकमादाय क्वचित् सप्तैव प्रमुखा नरका गणिता विज्ञायन्ते। तथा हि मूलगरुडपुराणे– "**आदिमो रौरवः प्रोक्तो महारौरवकोऽपरः। अतिशीतस् तृतीयस्तु चतुर्थो हि निकृन्तनः॥ अप्रतिष्ठः पञ्चमः स्यादसिपत्रवनोऽपरः। सप्तमस्तप्तकुण्डस्तु सप्तैते नरकाः स्मृताः**" इति (२।३।४७-४८)। पद्मपुराणे सृष्टिखण्डे च– "**तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवम्। असिपत्रवनं घोरं कालसूत्रमवीचिमत्॥ विनिन्दकानां वेदस्य यज्ञव्याघातकारिणाम्। स्थानमेतत् समाख्यातं स्वधर्मत्यागिनश्च ये**" इत्यत्र (३।१६१-१६३) प्रमुखाः सप्त नरका

उल्लिखिता अवगम्यन्ते। विष्णुपुराणेऽपि **"तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ। असिपत्रवनं घोरं कालसूत्रमवीचिमत्"** इति (१।६।४०) सप्त मुख्या नरका उक्ता दृश्यन्ते। मनुस्मृतौ सप्तसु वर्गेषु विभक्तानां पापानां फलानां भोगाय यथाक्रमं सप्तसु एव नरकेषु गमनस्य प्रतिपादकं स्कन्दपुराणस्य **"यत् प्रकीर्णमपाङ्क्तेयं मलिनीकरणं तथा। जातिभ्रंशकरं तद्वदुपपातकसंज्ञकम्॥ अतिपापं महापापं सप्तधा पातकं स्मृतम्। एभिः सप्तसु पच्यन्ते निरयेषु यथाक्रमम्"** इति (वैष्णव-खण्डे४।२९।२३-२५) वचनं च **"मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्"** इति छान्दसवचनस्य, नरकाणां सप्तसु वर्गेषु विभागस्य चाऽनुकूलमेवाऽवगम्यते। मनुस्मृतौ पापानां सप्तसु वर्गेषु विभजनमपि (११।५४-७०) उक्तश्रुतिवचनस्याऽनुकूलमेव बोद्धव्यम्। एकविंशत्यादयो नरकसङ्ख्यास्तु सप्तानां नरकवर्गाणाम् एकैकस्य वर्गस्य त्रींस्त्रीन् चतुरश्चतुर इति प्रमुखान् नरकान् आदाय सङ्कलनेन प्रतिपादिता अवगम्यन्ते।

हिन्दी – श्रुति-स्मृति-पुराणों में सात नरकभेद प्रतिपादित भी पाए जाते हैं (इस से भी अनिष्टादिकारी लोग पहले यमलोक में यातना भोगते हैं, यह बात अवगत होती है)।

३०७. तत्राऽपि च तद्व्यापारादविरोधः ३।१।१६॥

यद्यपि सप्तसु नरकवर्गेषु विभिन्नाश् चित्रगुप्तादयोऽधिकृताः स्मर्यन्ते, तथापि चित्रगुप्तादिकर्मस्वपि यमस्य प्रयोजकव्यापारस्य स्मर्यमाणत्वाद् यमकिङ्कर-दत्तयातनास्वपि यमयातनात्वस्य व्यवहारे न कश्चिद् विरोधो भवतीत्यर्थः।

हिन्दी – यद्यपि विभिन्न नरकों में यातना देनेवाले चित्रगुप्तादि अलग अलग होते हैं, तथापि उन सभी के कार्य में प्रयोजक व्यापार यम का ही होने से यमकिङ्करों से दी जाने वाली सभी यातनाओं में यमयातना का व्यवहार करने में कोई विरोध नहीं आता है।

३०८. विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ३।१।१७॥

"तद् य इत्थं विदुः" (छा.५।१०।१, मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।१५) इति विद्यायाः, **"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते"** (छा.६।१०।३, मा.वा.शत. १४।९।१।१९, का.वा.बृह.६।२।१६) इति कर्मणश्च पूर्वमुक्तत्वाद् **"अथैतयोः पथोः"** (छा.५।१०।८, मा.वा.शत.१४।९।१।१९, का.वा.बृह.६।२।१६) इति श्रुत्या विद्या-कर्मणोः पथोर् ग्रहणमिति अवगतत्वाच्च श्रुतौ श्रूयमाणम् इतश् चन्द्रलोकं प्रति गमनं कर्ममार्गेऽधिकृतानां पुण्यमात्रयुतानामेव; तेषां चन्द्रलोक-गमनमार्गे यमालयं प्राप्तानामपि यामीर् यातनाः अननुभूयैव यमाज्ञया चन्द्रलोकं प्रति गमनम्, पापयुतानां तु संयमने यामीर् यातना अनुभूयैव चन्द्रलोकं प्रति गमनं भवतीति बोध्यमित्यर्थः। सूत्रे तुशब्दः **"चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"** (कौषी.१।२) इति श्रुत्यन्तरवाक्यादुत्थितायाः शङ्काया निरासाय। ये पुण्यवन्तो धूमादिमार्गा-

धिकृतास्ते सर्वे चन्द्रमसमेव गच्छन्तीति कौषीतकिश्रुतेरर्थः। एवं च मनुष्यभिन्नानां स्थावरजङ्गमानां क्षुद्रप्राणिनां मरणे तेषां न लोकान्तरगमनम्, इहैव यथायमविधानं विविधासु योनिषु असकृदावर्तनमिति श्रुत्यर्थोऽपि सुस्थ एवेति भावः।

हिन्दी– विद्या का और कर्म का पूर्व वाक्य में प्रतिपादन होने से "अथैतयोः पथोः" इस श्रुति में विद्यामार्ग और कर्ममार्ग का ही ग्रहण होने से श्रुति में प्रतिपादित इस लोक से चन्द्रलोक में गमन की बात कर्ममार्ग में अधिकृत पुण्यमात्रयुक्त जनों की ही है, अनिष्टादिकारियों की नहीं, यह बात अवगत होती है।

३०९. न तृतीये तथोपलब्धेः ३।१।१८॥

अनिष्टादिकारिणां संयमनं प्रति गमनस्य तत्र यातनानामनुभवस्य च स्वीकारे संयमनं प्रति गतानां केवलपापकर्मणां चन्द्रलोकगमनं विनैव यमाज्ञया मनुष्यलोकं प्रत्यागमनस्य च स्वीकारे आहुतिसङ्ख्याया अनियमः स्वीकर्तव्यः स्यात्, तथा च **"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"** (छा.५।९।१, द्र.-मा.वा.शत.१४।९।१।१६, का.वा.बृह.६।२।१३) इत्युक्ताया आहुतिसङ्ख्याया नियमो न स्यादिति श्रुतिविरोधः स्यादिति न वक्तव्यम्, तृतीये मार्गे गच्छतां जीवानां देह-लाभाय आहुतिसङ्ख्याया अनियमस्य **"जायस्व म्रियस्व"** (छा.५।१०।८) इति श्रुत्यैव सूचितत्वस्योपलब्धेराहुतिसङ्ख्यायां श्रुतेस् तात्पर्याऽभावस्याऽवगमादित्यर्थः।

हिन्दी– विद्यामार्ग और कर्ममार्ग से भिन्न तृतीयमार्ग में जाने वाले जीवों के देहलाभ के लिए आहुतिसङ्ख्या में अनियम होने की बात "जायस्व म्रियस्व" इस श्रुति से सूचित होने से आहुतिसङ्ख्या में श्रुति का तात्पर्य का अभाव अवगत होता है।

३१०. स्मर्यतेऽपि च लोके ३।१।१९॥

लोके महाभारतादिग्रन्थेषु द्रोण-धृष्टद्युम्न-द्रौपद्यादीनां चाऽयोनिजत्वं स्मर्यते। तस्माद् द्रोणादीनां योषिद्विषयाया आहुतेरभावाच् चतस्र एवाऽऽहुतयः, धृष्टद्युम्नादीनां तु पुरुषविषयाया योषिद्विषयायाश्चाऽऽहुतेरभावात् तिस्र एवा-ऽऽहुतय इति आहुतिसङ्ख्याया अनियमोऽवम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– लोक में महाभारतादिग्रन्थों में द्रोण-धृष्टद्युम्न-द्रौपद्यादि का अयोनिजत्व प्रतिपादित किया जाता है, इस से भी आहुतिसङ्ख्या का नियम न होने की बात अवगत होती है।

३११. दर्शनाच्च ३।१।२०॥

"इतराणि चेतराणि चाऽण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्-जानि च" {ऐ.३।१।३(५।३)} इति श्रुत्युक्तेषु जरायुजाऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु चतुर्विधेषु देहेषु स्वेदजोद्भिज्जयोर् देहयोर् मैथुनं विनैवोत्पत्तेर् दर्शनाच्च आहुति-सङ्ख्याया अनियमोऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जरायुजादि चार प्रकार के प्राणियों में से स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियों के देहों की मैथुन विना ही उत्पत्ति देखी जाने से भी आहुतिसङ्ख्या में अनियम अवगत होता है।

३१२. तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ३।१।२१॥

उद्भिज्जरूपस्यैवापि स्वेदजस्य जङ्गमत्वेन स्थावरोद्भिज्जाद् विलक्षणत्वाद् ऐतरेय्युपनिषदादिषु ग्रन्थेषु पृथग् गणितस्याऽपि **"तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्"** (छा.६।३।१) इति श्रुतौ तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव सङ्ग्रहः कृतो ज्ञेय इत्यर्थः। प्रासङ्गिकमिदं सूत्रम्।

हिन्दी – स्वेदज (संशोकज) भी उद्भिज्ज ही होता है, तथापि यह जङ्गम होता है, अतः इस को स्थावर उद्भिज्ज से पृथक् रूप में लेकर ऐतरेय्युपनिषत्-प्रभृति ग्रन्थों में पृथक् रूप में गिना गया है, तथापि छान्दोग्योपनिषद् में इस को उद्भिज्जशब्द से ही सङ्गृहीत किया गया है। यह बात यहाँ प्रासङ्गिक रूप में प्रतिपादित है।

अथाऽनिष्टादिकार्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– अनिष्टादिकारिणां जीवानां चन्द्रलोकाख्यस्वर्गगमनम्।

विशयः– अनिष्टादिकारिणां जीवानां चन्द्रलोकाख्यस्वर्गगमनं भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– "ये वै के चाऽस्माल् लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषी.१।२) इति श्रुतत्वाद् "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा.५।९।१, द्र.- मा.वा.शत.१४।९।१६, का.वा.बृह.६।२।१३) इति श्रुत्युक्तपञ्चमाहुतेः सार्थकताया आवश्यकत्वाच्च अनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकं प्रति गमनं भवतीति गम्यते इति।

उत्तरम्– "ये वै के च" इत्यादिकायां श्रुतौ सर्वशब्दस्य इष्टादिकारिसर्वविषयकत्वात्, पञ्चाहुतिश्रुतेरपि तादृशेषु इष्टादिकारिष्वेव सार्थकत्वात्, द्रोण-धृष्टद्युम्न-द्रौपद्यादिषु पञ्चम्या आहुतेर् नियमस्याऽभावस्य दर्शनात्, पापमात्रयुतानां पुण्यरहितानां संयमने यामीर् यातना अनुभूय कीटपतङ्गदन्दशूक-संस्वेदजोद्भिज्जादिभावं गच्छतां चन्द्रलोकगमने प्रयोजनस्याऽभावात्, श्रुतौ विद्याकर्मणोः पथोरेव प्रकृतत्वेन इष्टादिकारिणामेव चन्द्रलोकं प्रति गमनस्य प्रतिपादितत्वाच्च अनिष्टादिकारिणां पापमात्रयुतानां जीवानां चन्द्रलोकं प्रति गमनं न भवतीति।

निर्णयः– अनिष्टादिकारिणां पापमात्रयुतानां जीवानां चन्द्रलोकं प्रति गमनं नैव भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सर्वेषां चन्द्रगमनं कौषीतकिश्रुतौ श्रुतम्।
२. अनिष्टादिकृतां चैव तत् स्याद् वा नेति संशयः॥१॥
३. सर्वशब्दादाहुतीनां पूर्तेश्चाऽपि हि तद् भवेत्।
४-५. नाऽनिष्टादिकृतां तत् तु भवेदिति हि निर्णयः॥२॥

१०.(४) साभाव्यापत्त्यधिकरणम् (सू. २२)

जीवानां रंहणे विशेषं प्रतिपादयन्नाह—

३१३. साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ३।१।२२॥ इति।

चन्द्रलोकादवरोहणे जीवानाम् आकाशादिसाम्यस्यैव सम्भवेन उपपद्यमानत्वाद् **"अथैतमेवाऽध्वानं पुनर् निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद् वायुं वायुर् भूत्वा धूमो भवति"** (छा.५।१०।५) इत्यादिकया श्रुत्या आकाशादिसाम्यापत्तिः प्रतिपाद्यते इत्यर्थः। समानो भावः सभावः, तस्य भावः साभाव्यम्, सादृश्यमित्यर्थः।

हिन्दी— जीवों का आकाशादि से सादृश्य ही सम्भव होने से "अथैतमेवाऽध्वानम्" इत्यादि श्रुति से चन्द्रलोक से अवरोहण में जीवों का आकाशादि से सादृश्य ही प्रतिपादित होता है।

अथ साभाव्यापत्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः— **"अथैतमेवाऽध्वानं पुनर् निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्, आकाशाद् वायुम्, वायुर् भूत्वा धूमो भवति"** इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतो जीवस्याऽऽकाशादिभावः।

विशयः— किं चन्द्रलोकान् निवर्तमाना जीवा आकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्ते किं वाऽऽकाशादिसाम्यमेवेति।

पूर्वपक्षः— तस्यामेव श्रुतौ वाक्यशेषे **"वायुर् भूत्वा धूमो भवति"** (छा.५।१०।५) इति स्फुटतया जीवस्य वाय्वादिभावस्योक्तत्वात् पूर्ववाक्येऽप्याकाशभावप्रतिपादनस्यैवाऽवगम्यमानत्वात्, लक्ष्यार्थाच् छ्रुतार्थस्य न्याय्यतरत्वाच्च चन्द्रलोकान् निवर्तमाना जीवाः क्रमेणाऽऽकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्ते इति।

उत्तरम्— एकस्य मुख्यार्थरूपेणैवाऽन्यभावस्याऽनुपपत्तेः, एकस्याऽन्यसदृशत्वस्यैवोपपत्तेः जीवानां चन्द्रलोकादवरोहणे आकाशादिसदृशत्वप्राप्तिरेव स्वीकर्तव्या, चन्द्रमण्डले उपभोगार्थमारब्धस्याऽम्मयस्य शरीरस्योपभोगस्य क्षयात् प्रविलये जाते तच् छरीरं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति, ततः किञ्चित् पिण्डीभूतं वायुना नीयमानं वायुसमं भवति, ततो धूमादिसङ्गतं धूमसमम्, अभ्रसमम्, मेघसमम्, जलसमम्, व्रीह्यादिसमं च भवति; तत्तच्छरीरावस्थोपहिता जीवा अपि तत्तत्तत्सदृशा भवन्तीति च स्वीकर्तुं युज्यते इति।

निर्णयः— चन्द्रलोकादवरोहणे जीवानामाकाशादिसादृश्यमेव श्रुत्या प्रतिपाद्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवस्याऽऽकाशादिभावो ह्यवरोहश्रुतौ श्रुतः।
२. तद्भाव एवाऽभिप्रेतस् तत्र वा नेति संशयः॥१॥
३. मुख्यार्थत्वाद् धि तद्भावोऽभिप्रेत इति के चन।
४-५. उपपत्तेर् हि सादृश्यं लक्षितन् त्विति निर्णयः॥२॥

९१.(५) नातिचिराधिकरणम् (सू. २३)

जीवानां रंहणेऽन्यं विशेषं प्रतिपादयन्नाह–

३१४. नाऽतिचिरेण विशेषात् ३।१।२३॥ इति।

चन्द्रलोकादवरोहणस्य प्रसङ्गे जीवानां व्रीह्यादिसंश्लेषान् निष्क्रमणस्य **"अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्"** (छा.५।१०।६) इति श्रुत्या दीर्घकालान्तरभावित्वेन विशेषितत्वाद् आकाशादिसाभाव्यात् तु अल्पेनैव कालेन जीवानां निष्क्रमणं भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – चन्द्रलोक से अवरोहण के प्रसङ्ग में जीवों के व्रीह्यादि में संश्लेषण से निष्क्रमण को दीर्घकालान्तरभावी बताए जाने से आकाशादिसाभाव्य से तो अल्पकाल में ही जीवों का निष्क्रमण होने की बात अवगत होती है।

अथ नाऽतिचिराऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– चन्द्रलोकादवरोहणे आकाशादिसाभाव्याज् जीवानां निष्क्रमणस्य कालः।

विशयः– चन्द्रलोकादवरोहणे जीवानामाकाशादिसाभाव्याच् चिरकालेन निष्क्रमणं भवति उत अल्पकालेनेति।

पूर्वपक्षः– आकाशादिसाभाव्यान् निष्क्रमणे कालविशेषविलम्बस्य प्रतिपादकस्य वचनस्याऽभावात् कदाचिच् चिरकालेन निष्क्रमणं कदाचिदल्पकालेन निष्क्रमणं भवतीति मन्तव्यमिति।

उत्तरम्– चन्द्रलोकादवरोहणस्य प्रसङ्गे जीवानां व्रीह्यादिसंश्लेषणान् निष्क्रमणे **"अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्"** इति श्रुत्या चिरकालेन निष्क्रमणस्य प्रतिपादितत्वात् ततः पूर्वम् आकाशादिसाभाव्यात् तु नाऽतिचिरेण कालेन निष्क्रमणं भवतीति अवगम्यते इति।

निर्णयः– चन्द्रलोकादवरोहणे आकाशादिसाभाव्याज् जीवानां निष्क्रमणं नाऽतिचिरेण भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवस्याऽऽकाशादिसाम्यान् निष्क्रमो हि श्रुतौ श्रुतः।
२. स तु द्राग् वा विलम्बेन भवेदित्यत्र संशयः॥१॥
३. नियमस्याऽश्रुतेस् तत्र नियमो नेति के चन।
४-५. व्रीह्यादिषु विशेषात् तत्-पूर्वं द्रागिति निर्णयः॥२॥

९२.(६) अन्याधिष्ठिताऽधिकरणम् (सू. २४-२७)

जीवानां रंहणे पुनरन्यं विशेषं प्रतिपादयन्नाह–

३१५. अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ३।१।२४॥ इति।

आकाशादिषु पूर्वस्थानेषु इव **"रमणीयचरणाः"** इति **"कपूयचरणाः"** इति वा कर्मव्यापारस्य परामर्शं विनैव व्रीह्यादिष्वपि जीवानां संसर्गस्य **"त इह व्रीहि-यवा ओषधिवनस्पतयस् तिलमाषा इति जायन्ते"** (छा.५।१०।६) इति सङ्कीर्तनाद् व्रीह्यादिषु अन्यैर् जीवैरधिष्ठितेषु एव चन्द्रलोकादवरोहणे अनुशयिनो जीवा संसर्ग-मात्रं गच्छन्ति, न तु व्रीह्यादिस्थावरजीवरूपेणैव जन्म प्राप्य तत्तत्सुखदुःखभाजो भवन्तीत्यर्थः।

हिन्दी – आकाशादि पूर्वस्थान की तरह व्रीहियवादि स्थान में भी "रमणीयचरणाः" अथवा "कपूयचरणाः" इत्यादि कहे विना श्रुति में जीवों का व्रीह्यादि में स्थिति बताए जाने से चन्द्रलोक से अवरोहण के समय में जीव अन्य जीव से अधिष्ठित व्रीह्यादि में ही केवल संसर्ग में रहते हैं, व्रीह्यादिभाव में रहकर तत्तत्सुखदुःख भोगने के लिए व्रीह्यादिभाव में जन्म ही तो नहीं लेते हैं।

३१६. अशुद्धमिति चेन् न शब्दात् ३।१।२५॥

इष्टादिकर्म पशुहिंसादियुतत्वात् पापमिश्रितत्वेनाऽशुद्धं भवति, तस्माद् इष्टादिकारिणां चन्द्रलोकादवरोहणे पापफलभोगाय व्रीह्यादिस्थावरजन्मप्राप्तिरेव मन्तव्या न लक्षणया व्रीह्यादिस्थावरसंसर्गमात्रप्राप्तिरिति चेत्, शास्त्राद् इष्टादि-कर्मणो धर्मरूपेण ज्ञायमानत्वात्, धर्मस्य च स्थावरजन्मफलताया अनौचित्यान् न तथा मन्तव्यमित्यर्थः। धर्माऽधर्मज्ञानं च शास्त्रमात्रसाध्यं न स्वतन्त्रमानव-बुद्धिमात्रनिष्पाद्यमिति हि वैदिकानां सिद्धान्त इति भावः।

हिन्दी – इष्टादि कर्म पशुहिंसादि से युक्त होने से पापमिश्रित होता है और अशुद्ध भी होता है, अतः इष्टादिकारियों के चन्द्रलोक से अवरोहण में पापफल भोगने के लिए व्रीह्यादिस्थावरजन्म लेने की बात ही मानी जानी चाहिए, ऐसी धारणा नहीं रखनी चाहिए, क्यों कि धर्म और अधर्म के ज्ञान के लिए एक मात्र साधन के रूप में माने गए शास्त्र से इष्टादि कर्मों को धर्म के रूप में जाना जाता है और धर्म का फल स्थावरादि निकृष्टयोनि में जन्म नहीं माना जा सकता है। अतः इष्टादिकारियों का व्रीह्यादिरूप में जन्म नहीं मानना चाहिए।

३१७. रेतस्सिग्योगोऽथ ३।१।२६॥

व्रीह्यादिसंसर्गस्याऽनन्तरमनुशयिनां जीवानां **"योयो ह्यन्नमत्ति रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति"** (छा.५।१०।६) इति श्रुतौ रेतस्सिग्भाव आम्नातः, न च रेतस्-सिग्जीवविशेषेण इदानीमद्यमानेऽन्नेऽनुगतानामनुशयिनां जीवानां चिरजातेन प्राप्त-यौवनेन तेन स्वप्रासव्य-योनिविशेषे रेतस्सेचने समर्थेन जीवेन सहैक्यं भवितुमर्हति; अतोऽत्र लक्षणयाऽनुशयिनां जीवानां रेतस्सिचा सह संसर्ग एव श्रुत्योक्त इति स्वीकर्तव्यमित्यर्थः। एवमेवाऽनुशयिनां जीवानां व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादिसंसर्ग एव मन्तव्य इति भावः।

हिन्दी – व्रीह्यादि संसर्ग के वाद जीवों का स्वकर्मवश प्राप्तव्य जन्म के अनुकूल योनि में वीर्य-सेचन करने वाले व्रीह्यादिभक्षी नर प्राणियों से संसर्ग होता है।

३१८. योनेः शरीरम् ३।१।२७॥

"तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापद्येरन्" (छा.५।१०।७) इत्यादिका श्रुतिः अनुशयिनां जीवानां रेतस्सिक्-संसर्गानन्तर-मनुशयफलभोगाय योनिविशेषप्राप्तिं ततः शरीरलाभं च दर्शयतीत्यर्थः। अतो भोग-शरीरबीजत्वप्राप्तेः पूर्वं तु व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं भवति न तु व्रीह्यादिशरीरप्राप्ति-रित्यवगम्यते इति भावः।

हिन्दी – "तद् य इह रमणीयचरणाः" इत्यादि श्रुति चन्द्रलोक से इस लोक में कर्मानुसार जन्म लेने के लिए आने वाले जीवों का वीर्य-सेचन करने वाले व्रीह्यादिभक्षी नर प्राणियों के संसर्ग के वाद स्वकर्मानुरूप योनि में प्रवेश और उस से शरीरलाभ को दर्शाती है। अतः भोगशरीरबीजत्वप्राप्ति से पहले अनुशयी जीवों का व्रीह्यादि से केवल संसर्ग ही होता है व्रीह्यादिशरीरप्राप्ति तो नहीं होती है, यह बात अवगत होती है, यह तात्पर्य है।

अथाऽन्याधिष्ठिताधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस् तिलमाषा इति जायन्ते" (छा.५।१०।६) इति श्रुतौ श्रुतश्चन्द्रलोकादवरोहणेऽनुशयिनां जीवानां व्रीह्यादिसम्बन्धः।

विशयः– "त इह व्रीहियवाः" इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतम् अनुशयिनां जीवानां व्रीह्यादिभावेन जन्म मुख्यमेवाऽभिप्रेतं स्यादथवा स्थावरव्रीह्यादिशरीरेषु संश्लेषमात्रमभिप्रेतं स्यादिति।

पूर्वपक्षः– "जायन्ते" इति शब्देन जन्मन एव प्रतिपादितत्वात्, इष्टादिकारिणामपि पशु-हिंसादिपापसम्बन्धस्य सत्त्वात् तेषां स्थावरजन्मप्राप्तेरौचित्याच्च अनुशयिनां जीवानां व्रीह्यादिभावेन मुख्यं जन्मैवाऽभिप्रेतं स्यादिति।

उत्तरम्– व्रीह्यादिस्थावरसम्बन्धप्राप्तौ अनुशयिनां जीवानां कर्मफलभोगनिमित्तस्य रमणीय-चरणत्वादेः सङ्कीर्तनस्य श्रुतावभावात्, वेदविहितयज्ञगतपशुहिंसायाः पापत्वस्याऽभावात्, अनुशयिनां जीवानां रेतस्सिग्भावप्राप्तावपि रेतस्सिचा सह संयोगमात्रस्याऽवगम्यमान-त्वात्, योनिविशेषप्राप्त्या भोगशरीरलाभ एवाऽनुशयिनां स्वकर्मफलभोगप्राप्तेः प्रतीयमान-त्वाच्च "त इह व्रीहियवाः" इत्यादिकायां श्रुतौ अनुशयिनां जीवानां व्रीहियवादिषु संसर्गमात्रं प्रतिपाद्यते न तु तद्रूपेण जन्मैवेत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– "त इह व्रीहियवाः" इत्यादिकायां श्रुतौ अन्यैर् जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनो जीवाः प्रतिपद्यन्ते इत्येव प्रतिपाद्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. व्रीह्यादिप्राप्तिर् जीवानां चन्द्रात् खल्ववरोहताम्।
२. व्रीह्यादौ योगमात्रं स्याज् जन्म वेति च संशयः॥१॥

३. जायन्त इति शब्दात् तु जन्मैवेति हि के चन।

४-५. भोगहेतोरकीर्तेस् तु योग एवेति निर्णयः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां वृत्तौ मोक्षसाधननिरूपणपरे तृतीयेऽध्याये प्रथमो जीवसंसारगतिप्रदर्शनरूपो वैराग्योद्बोधनपरः पादः समाप्तः॥

अथ द्वितीयः पादः

(त्वम्पदार्थ-तत्पदार्थ-निरूपणपरः)

९३.(१) सन्ध्याऽधिकरणम् (सू. १-६)

अथ ब्रह्मप्राप्तिसाधननिरूपणायाऽऽरब्धे तृतीयेऽध्याये प्रथमे पादे वैराग्योद्बोधनसाधने प्रतिपादिते द्वितीये पादे जीवब्रह्मस्वरूपस्पष्टीकरणं क्रियते। तत्र प्रथमं जीवस्य स्वयम्प्रकाशत्वस्य प्रतिपादनायाऽधिकरणमारभ्यते—

३१९. सन्ध्ये सृष्टिराह हि ३।२।१॥ इति।

यस्मात् "अथ रथान् न्रथयोगान्न् पथः सृजते" (मा.वा.शत.१४।७।१।११, का.वा.बृह.४।३।१०) इति श्रुतिः स्वप्नावस्थायां सृष्टिमाह, तस्माज् जागरणसुषुप्त्योः सन्धौ भवे स्वप्नस्थाने सत्यैव सृष्टिर् भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः। हि=यस्मात्।

हिन्दी– "अथ रथान् रथयोगान्" इत्यादि श्रुति स्वप्नावस्था में सृष्टि होने की बात बताती है, अतः स्वप्नावस्था में सत्य ही सृष्टि होती है।

३२०. निर्मातारं चैके पुत्त्रादयश्च ३।२।२॥

एके शाखिनः कठाः "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः" {कठो.२।२।८(५।८)} इति कामानां निर्मातारमामनन्ति, तत्र काम्यन्ते इति व्युत्पत्त्या कामाः इति पुत्त्रादय उक्ता इति च वेदितव्यमित्यर्थः। निर्मातुः निर्मेयस्य च श्रवणादपि स्वप्ने सृष्टिः सत्यैवेति भावः।

हिन्दी– कोई वेदशाखाध्यायी स्वप्नावस्था में कामों के निर्माता का प्रतिपादन करने वाले वाक्य भी पढते हैं, उस में कामशब्द से पुत्त्रादि को समझना चाहिए। इस प्रकार स्वप्नावस्था में निर्माता और निर्मेय दोनों का श्रुति में श्रवण होने से भी स्वप्नावस्था में सत्य ही सृष्टि होने की बात अवगत होती है, यह तात्पर्य है।

३२१. मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ३।२।३॥

सन्ध्ये सृष्टानां पदार्थानां समुचित-देश-कालादिसम्बन्धवत्त्वेन लौकिक-बाधाऽभाववत्त्वेन च व्यावहारिकपदार्थोचितसर्वधर्मवत्त्वेनाऽभिव्यक्तस्य स्वरूपस्याऽभावात् सन्ध्ये सृष्टिर् मायामात्रं तु इत्यर्थः। मायामात्रम्=प्रतिभासमात्रम्।

हिन्दी – स्वप्नावस्था में सृष्ट पदार्थों का समुचित देश-कालादिसम्बन्ध से युक्त, लौकिक बाध से रहित, और व्यावहारिक पदार्थ के लिए आवश्यक सर्वधर्मयुक्त रूप में अभिव्यक्त स्वरूप न होने से स्वप्नावस्था की सृष्टि प्रतिभास मात्र है, वास्तविक नहीं।

३२२. सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ३।२।४॥

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने" (छा.५।२।९) इत्यादिश्रुतेः स्वप्नो व्यावहारिकयोर् भविष्यतोः साध्वसाधुनोः सूचकोऽपि भवतीत्यवगम्यते, स्वप्नविदः स्वप्नाध्यायकाराश्च **"स्वप्ने हस्त्यारोहणादीनि धन्यानि"** इत्यादि कथयन्ति चेत्यर्थः। स्वप्नसूच्यस्य वस्तुनो व्यावहारिकसत्यत्वेऽपि सूचकस्य स्वप्नस्य बाध्यमानत्वान् मायामात्रत्वमविरुद्धमिति भावः।

हिन्दी – "यदा कर्मसु काम्येषु" इत्यादि श्रुति से स्वप्न शुभाऽशुभ का सूचक भी होने की बात अवगत होती है; स्वप्न के अभिज्ञ स्वप्नाध्यायकारादि लोग इस बात को बताते भी हैं। स्वप्नसूच्य शुभाऽशुभ वस्तु व्यावहारिक होनेपर भी स्वप्न स्वयं बाध्यमान होने से मायामात्र ही होता है, यह तात्पर्य है।

३२३. पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ३।२।५॥

यद्यपि जीवस्याऽपि वस्तुतः परमात्माऽभिन्नत्वात् सत्यसङ्कल्पकत्वं भवितुमर्हतीति तेन स्वप्ने सृष्टानां पदार्थानामपि व्यावहारिकसत्यत्वं भवेदिति वक्तुं शक्यते, तथापि जीवस्य सत्यसङ्कल्पत्वं तिरोहितं भवतीति न तेन स्वप्ने सृष्टानां पदार्थानां व्यावहारिकसत्यत्वम्; स्वं तिरोहितं सत्यसङ्कल्पत्वं च कश्चिज् जीवः परमात्मनोऽभिध्यानाद् आविर्भूतं पुनः प्राप्नोति, न सर्वोऽपि जीवलोकः; अज्ञाताद् ज्ञाताच् च परमात्मन एवाऽस्य जीवस्य क्रमेण बन्धो मोक्षश्च भवत इत्यर्थः। एवं च अज्ञानिनो जीवस्य न सत्यसङ्कल्पत्वमिति तेन स्वप्ने सृष्टानां पदार्थानामपि ईश्वरसृष्टानामाकाशादीनामिव व्यावहारिकसत्यत्वं न भवतीति भावः।

हिन्दी – यद्यपि वस्तुतः जीव भी परमात्मा से अभिन्न ही है, और उस का सत्यसङ्कल्पत्व भी होना चाहिए, और उस से स्वप्नावस्था में सृष्ट पदार्थ भी ईश्वरसृष्ट आकाशादिपदार्थों की तरह सत्य ही होने चाहिए, यह बात उठाई जा सकती है, तथापि जीवों का सत्यसङ्कल्पत्व तिरोहित होता है, परमात्मा के अभिध्यान से किसी किसी जीव को ही सत्यसङ्कल्पत्व प्राप्त होता है और परमात्मा के

अज्ञान से ही जीव का बन्ध और ज्ञान से मोक्ष भी होते हैं। अतः स्वप्नावस्था में जीवों से सृष्ट पदार्थ ईश्वरसृष्ट आकाशादि की तरह सत्य नहीं हो सकते हैं।

३२४. देहयोगाद् वा सोऽपि ३।२।६॥

सोऽपि सत्यसङ्कल्पकत्वादिपरमात्मधर्मतिरोभावो जीवस्य अविद्या-प्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगकृताद् 'अहं मनुष्यः' इत्यादिरूपाद् अभिमानाद् वा भवतीत्यर्थः। वाकारो जीवपरयोर् वस्तुतोऽभेदेऽपि जीवे परमात्म-धर्मतिरोभावः खलु अविद्यानिमित्तेन सम्भवतीति सूचयति।

हिन्दी – जीव का वह परमात्मधर्मतिरोभाव भी अविद्या से उपस्थापित नामरूपकृत देहादि उपाधि के योग से उत्पन्न *"मैं मनुष्य हूँ"* इत्यादिरूप अभिमान से होता है।

अथ सन्ध्याऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इति श्रुतौ श्रुता स्वप्ने रथादीनां सृष्टिः।

विशयः– श्रुतौ श्रूयमाणा स्वप्ने रथादीनां सृष्टिः सत्या प्रातिभासिकी वेति।

पूर्वपक्षः– "अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इति श्रुत्या स्वप्ने सृष्टेः प्रतिपादितत्वात्, कठशाखायां स्वप्ने पुत्रादीनां कामानां निर्मातुः प्रतिपादितत्वेन निर्मातुर् निर्मेयाणां च सत्यताया अवगम्यमानत्वात्, स्वप्नस्य सत्यशुभाऽशुभसूचकत्वात्, जीवस्याऽपि पराभिन्नत्वेन सत्यसङ्कल्पत्वेन जीवस्याऽपि स्वप्ने साङ्कल्पिकसृष्टेः सम्भवाच्च स्वप्ने रथादिसृष्टिः सत्यैव भवितुमर्हतीति।

उत्तरम्– स्वप्ने दृश्यानां रथादीनां समुचितदेशकालादिसम्बन्धस्याऽभावात्, स्वाप्नरथादीनां बाध्यमानत्वात्, सूच्यस्य सत्यत्वेऽपि सूचकस्य स्वाप्नपदार्थस्य प्रातिभासिकताया अनु-पपत्तेरभावात्, स्वाप्नजगन्निर्मातुर् जीवस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणानां देहाभिमानादिना तिरोहितत्वेन तस्य व्यावहारिकसत्यस्य जगतः सृष्टावसमर्थत्वात्, जागरितावस्थायां जीवस्य प्रकाशकान्तरसहितस्य स्वप्रकाशताया दुर्निरूपत्वेन स्वप्नावस्थां प्रदर्श्य तत्र जीवस्य प्रकाशकान्तररहितस्य स्वप्रकाशत्वं प्रतिपादयितुं श्रुतौ स्वप्नावस्थायां जीवस्य प्रातिभासिकजगत्सृष्टिकर्तृत्वेन प्रातीतिकदृश्यसाक्षित्वेन चाऽसङ्गित्वेन वर्णितत्वाच्च स्वप्ने सृष्टिर् मायामात्ररूपा न सत्येति।

निर्णयः– श्रुतौ श्रूयमाणा स्वाप्नरथादिसृष्टिर् मायामात्ररूपैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. स्वप्ने हि जीवः सृजते रथानिति खलु श्रुतिः।
२. सत्या सृष्टिस् तत्र प्राति-भासिकी वेति संशयः॥१॥
३. श्रुत्युक्तत्वादिना सृष्टिः सा सत्येति हि के चन।
४-५. देशाद्ययुक्तेस् तु प्राति-भासिकी सेति निर्णयः॥२॥

१४.(२) तदभावाऽधिकरणम् (सू. ७-८)

बाह्यकरणोपरमयुतं स्वप्नं विचार्य जीवस्य स्वप्रकाशत्वे उक्ते अन्तःकरणोपरमयुतां सुषुप्तिं विचार्य जीवस्य स्वप्रकाशत्वं ब्रह्मसाम्यं च प्रदर्शयितुमाह—

३२५. तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ३।२।७॥ इति।

"तदा नाडीषु सृप्तो भवति" (छा.८।६।३) इति, **"ताभिः प्रत्त्यवसृत्त्य पुरीतति शेते"** (मा.वा.शत.१४।५।१।२१, का.वा.बृह.२।१।१९) इति, **"यऽएषोऽन्तर्हृदयऽआकाशस्त् तस्मिम्ञ्छेते"** (मा.वा.शत.१४।५।१।१७, का.वा.बृह.२।१।१७) इति च श्रुतिषु तेषां नाड्यादीनां सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रुतेर् जीवस्य स्वप्नदर्शनाऽभावः सुषुप्तिरूपो नाडीषु पुरीतति आत्मनि च भवतीत्यर्थः। एवं च नाडीद्वारा पुरीततं प्रविश्य जीव आत्मनि शेते इति श्रुतीनां समन्वितोऽर्थोऽवगन्तव्यः।

हिन्दी– श्रुतियों में नाडी, पुरीतत् और आत्मा का जीव के स्वप्नाभाव के स्थान के रूप में प्रतिपादित होने से स्वप्नाभाव (सुषुप्ति) नाडी-पुरीतत्-आत्माओं में होता है। अतः जीव नाडीद्वारा पुरीतत् में प्रविष्ट होकर परमात्मा में सोता है, यह बात अवगत होती है।

३२६. अतः प्रबोधोऽस्मात् ३।२।८॥

आत्मन एव जीवसुषुप्तिस्थानत्वादस्मादेवाऽऽत्मनो जीवस्य प्रबोधो भवति। एतच् च **"अस्म्मादात्त्मँनः सर्व्वे प्प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वऽएतऽआत्त्मँानो व्युच्चरन्ति"** (मा.वा.शत.१४।५।१।२३, का.वा.बृह.२।१।२०) इति श्रुतौ, **"सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे"** (छा.६।१०।२०) इति श्रुतौ च प्रतिपादितमस्तीति भावः।

हिन्दी– आत्मा ही जीव की सुषुप्ति का स्थान होने से इसी आत्मा से जीव का प्रबोध होता है। (यह बात "अस्म्मादात्त्मँनः" इत्यादि श्रुतियों से अवगत होती है)।

अथ तदभावाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "नाडीषु सृप्तो भवति" (छा.८।६।३), "पुरीतति शेते" (मा.वा.शत.१४।५।१।२१), "यऽएषोऽन्तर्हृदयऽआकाशस्त् तस्मिम्ञ्छेते" (मा.वा.शत.१४।५।१।१७) इति श्रुतिभिरुक्तानि नाडीपुरीतदात्मरूपाणि सुषुप्तिस्थानानि।

विशयः– किं नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि सुषुप्तिस्थानानि किं परस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति।

पूर्वपक्षः– नाड्यादीनां सर्वेषामेव विशेषविज्ञानोपरमलक्षणसुषुप्तिरूपैकवस्त्वर्थत्वात् पुरोडाशार्थकयोर् व्रीहियवयोरिव विकल्पविषयत्वाद् नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि पृथक्-पृथगेव सुषुप्तिस्थानानीति।

उत्तरम्– नाडीनां प्रवेशद्वाररूपेण, पुरीततः प्रासादवत् स्थानविशेषावरकरूपेण, परात्मनस्तु मञ्चकवन् मुख्याधाररूपेण पृथक्पृथगुपयोगानां सत्त्वात् श्रुतीनामनुरोधान् नाड्यादीनां समुच्चयेनैकं सुषुप्तिस्थानम्, तत्राऽपि नाडीपुरीततोर् द्वारमात्रत्वम्, परात्मन एव मुख्यं सुषुप्तिस्थानत्वम्, अत एव च प्रबोधे जीवस्य ब्रह्मण आगमनं श्रुतिषु वर्ण्यमानं जीवस्याऽपि वस्तुतोऽसङ्गित्वं चोपपद्यत इति।

निर्णयः– नाडीद्वारेण गम्यः पुरीतति स्थितः परमात्मैव सुषुप्तिस्थानमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. नाड्यादिषु सुषुप्तिर् हि जीवस्य श्रुतिषु श्रुता।
२. पृथक् सुषुप्तेः स्थानानि तान्यथो एकमेव वा॥१॥
३. एकार्थत्वात् तानि पृथक् स्थानानीति हि के चन।
४-५. श्रुतेः समुच्चयस् तेषां सुषुप्तिस्थानमिष्यते॥२॥

९५.(३) कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् (सू. ९)

सुषुप्तौ जीवस्य ब्रह्मसाम्यमुपपादयितुं सुषुप्तौ ब्रह्मसाम्यं गतस्यैव जीवस्य प्रबोधं प्रतिपादयति–

३२७. स एव तु कर्मा-ऽनुस्मृति-शब्द-विधिभ्यः ३।२।९॥ इति।

पूर्वेद्युस् तेनाऽऽरब्धस्य परेद्युरपि तेनैवानुष्ठीयमानतया दृश्यमानात् कर्मणः, पूर्वेद्युर् योऽहमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्मरामीति अनुस्मृतेः, सुषुप्त्यधिकारे श्रूयमाणेभ्यः **"पुनः प्रतिन्यायम् प्रतियोन्याद्द्रवति बुद्धान्तायैव"** (मा.वा.शत. १४।७।१।४०, का.वा.बृह.४।३।३४), **"त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदाभवन्ति"** (छा.६।१०।२) इत्यादिकेभ्यो यो जीवः सुषुप्तौ परमात्मनि लीनस् तस्यैव प्रबोधस्य प्रतिपादकेभ्यः शब्दप्रमाणेभ्यः, कालान्तरफलाय कर्मणां विधायकेभ्य उपसदन-वेदाध्ययन-शौच-स्नान-सन्ध्योपासन-पञ्चमहायज्ञादिविधिभ्यश् च यः सुषुप्तौ परमात्मनि लीनो जीवः स एव प्रबुध्यते इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– पूर्व दिन में उस से आरब्ध किए गए और उत्तर दिन में भी उसी से किए जा रहे कर्म से, पूर्व दिन में जिसे मैंने देखा था आज उसी को मैं स्मरण कर रहा हूँ ऐसी अनुस्मृति से, सुषुप्ति प्रकरण में सुषुप्ति में परमात्मा में लीन होने वाले जीव का ही पुनः प्रबोध होने की बात बताने वाले "पुनः प्प्रतिन्न्यायम् प्रतियोन्न्याद्द्रवति" इत्यादि शब्दों से, और कालान्तर में फल देने वाले कर्मों का विधान करने वाले उपसदन-वेदाध्ययन-शौच-स्नान-सन्ध्योपासन-पञ्चमहायज्ञादि विधियों से भी सुषुप्ति में परमात्मा में लीन होने वाले जीव का ही प्रबोध होने की बात अवगत होती है।

अथ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति" (छा.६।१०।२) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रूयमाणः सत आगच्छन् जीवः।

विशयः– सत्सम्पत्तेः प्रतिबोधने य एव सत्सम्पन्नो जीवः स एव प्रतिबुध्यते उत यः कोऽपि जीव इति।

पूर्वपक्षः– यथा जलराशौ कश्चिज् जलबिन्दुः प्रक्षिप्तश् चेत् पुनरुद्धरणे स एव बिन्दुरपि उद्धृतो भवितुं शक्नोति अन्य एवाऽपि बिन्दुरुद्धृतो भवितुं शक्नोति, तथैव सद्रूपे परमात्मनि सम्पद्य तत आगच्छन् जीवोऽपि व्यवस्थाहेतोरभावात् स एवाऽपि भवितुं शक्नोति अन्योऽपि भवितुं शक्नोतीति।

उत्तरम्– जीवैः पूर्वेद्युः प्रारब्धस्य कर्मण उत्तरेद्युरपि तैस्तैरेव जीवैः क्रियमाणताया दर्शनात्, अन्येन प्रारब्धस्याऽन्येन करणस्य सर्वत्र सम्भवित्वस्याऽदर्शनात्, पूर्वेद्युर् दृष्टस्योत्तरेद्युरनुस्मृतेर् दर्शनात्, वेदशब्दैरपि य एव सुषुप्तौ परमात्मनि लीनस् तस्यैवाऽऽगमनस्य प्रतिपादितत्वात्, प्रतिसुषुप्ति जीवानां मोक्षे कर्मविधेर् निरर्थकताया आपत्तेः, सुषुप्तावपि जीवभेदोपाधेरविद्याया ब्रह्मज्ञानमात्रनाश्याया अनाशेन वर्तमानत्वाज् जीवभेदव्यवस्थाया उपपत्तेश्च य एव जीवः सुषुप्तौ परमात्मनि लीनः स एव सुषुप्तिं विहाय प्रबुध्यत इत्यवगम्यत इति।

निर्णयः– य एव जीवः सुषुप्तौ परमात्मनि लीनः स एव जीवः प्रतिबुध्यते नाऽन्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सुषुप्तौ सति सम्पद्याऽऽयाति जीव इति श्रुतिः।
२. तत्राऽन्यो जीव आयाति किं स एवेति संशयः॥१॥
३. जलबिन्दूद्धृतिन्यायात् कोऽप्यायातीति के चन।
४-५. कर्मानुस्मृत्यादियोगात् स एवेति तु निर्णयः॥२॥

९६.(४) मुग्धाधिकरणम् (सू. १०)

जाग्रदाद्यवस्थात्रयादिव मुग्धावस्थातोऽपि जीवस्य विविक्तत्वं प्रतिपादयितुमाह—

३२८. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ३।२।१०॥ इति।

मोहं प्राप्तस्य जीवस्याऽचेतयमानत्वान् न तदा तस्य जागरणावस्था, न वा स्वप्नावस्था; मुखप्रसादनियतकालोच्छ्वसितनिश्श्वसितनिमीलिताक्षत्वाद्यभावान् नाऽपि तस्य सुषुप्तावस्था, तदा तच्छरीरे प्राणोष्मणोः सत्त्वान् नाऽपि मरणावस्था, परिशेषान् मुग्धे सुषुप्तावस्थाया अचेतयमानतारूपस्याऽर्धस्य मरणावस्थायाः पूर्वा-

र्धरूपस्य कम्पभयानकवदनत्व-विवृताक्षत्वादिकस्य चेति द्वयोरर्धयोः सङ्गतिर् भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः। एवञ्च जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति-मरणावस्थाभ्यो भिन्ना जीवस्य मूर्च्छावस्था पञ्चमीति भावः। मूर्च्छावस्थातोऽपि विविक्त एव **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** (ऐ.५।३), **"अयमात्त्माँ ब्ब्रह्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१९), **"तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७), **"अयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२) इत्यादिकेषु महावाक्येषु स्थितानां प्रज्ञानादिपदानामर्थो जीव इत्याकूतम्।

हिन्दी– मूर्छावस्था के जीव में जागरितावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्त्यवस्था तथा मरणावस्था के भी लक्षण न होने से उस में सुषुप्त्यवस्था तथा मरणावस्था के आधे-आधे लक्षणों का सम्मिश्रण समझना चाहिए।

अथ मुग्धाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– जीवस्य आयुर्वेदादिषु लोके च प्रसिद्धा कादाचित्की मुग्धावस्था।

विशयः– मुग्धावस्थातोऽपि जीवस्य विविक्तत्वेन ज्ञानमावश्यकं न वेति।

पूर्वपक्षः– मुग्धावस्थायाः सुषुप्तौ मरणे वाऽप्यन्तर्भावात् सुषुप्तितो मरणावस्थातो वाऽपि जीवस्य विविक्ततताया ज्ञानेनैव मुग्धावस्थातोऽपि जीवस्य विविक्ततताया ज्ञानस्य सिद्धत्वान् न पृथग् मुग्धावस्थातो जीवस्य विविक्ततया ज्ञाने यत्न आवश्यक इति।

उत्तरम्– मुग्धावस्थायाः सुषुप्तावस्थातो मरणावस्थातोऽपि विलक्षणत्वात् सुषुप्तावस्था-मरणावस्थार्धसम्पत्तिरूपा मुग्धावस्था श्रुतावप्रसिद्धापि आयुर्वेदे लोके च प्रसिद्धेति सा जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति-मरणावस्थाभ्यो भिन्ना कादाचित्की पञ्चमी जीवावस्थेति ततोऽपि जीवस्य विविक्ततताया ज्ञानेन जीवस्य परमात्मना ऐक्यस्य योग्यत्वं बोद्धुमावश्यकमिति।

निर्णयः– मुग्धावस्था जीवस्य पञ्चमी अवस्थेति ततोऽपि जीवस्य विविक्ततताया ज्ञानमावश्यकमेवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवस्य कादाचित्की हि मुग्धावस्था विलोक्यते।
२. साऽऽलोच्या स्याज् जीवतत्त्वविवेकाय न वा भवेत्॥१॥
३. नैवाऽऽलोच्या जागरादौ साऽन्तर्भूतेति के चन।
४-५. आलोच्या सा पृथग् जीवविवेकायेति वैदिकाः॥२॥

९७.(५) उभयलिङ्गाधिकरणम् (सू. ११-२१)

जीव-ब्रह्मणोरैक्यं प्रतिपादयितुं जीवस्याऽसङ्गं निर्विशेषं स्वरूपं प्रतिपाद्य परस्य ब्रह्मणोऽपि निर्विशेषं स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

३२९. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ३।२।११॥ इति।

सर्वत्र हि **"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्"** (कठो.१।३।१५) इत्यादिकासु ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिषु निर्विशेषं हि ब्रह्मणः स्वरूपं वर्णितमिति न स्वरूपतो न च स्थानविशेषरूपोपाधितोऽपि परस्य ब्रह्मणः सविशेष-निर्विशेषो-भयलिङ्गं स्वरूपं स्वीकर्तुं युज्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि ब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादनपरक श्रुतियों में सर्वत्र ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप का ही प्रतिपादन होने से स्वरूप से और स्थानविशेषरूप उपाधि से भी पर ब्रह्म का सविशेष-निर्विशेषोभयलिङ्गयुक्त स्वरूप स्वीकार्य नहीं हो सकता है।

३३०. न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ३।२।१२॥

चतुष्पाद् ब्रह्म, षोडशकलं ब्रह्म, त्रैलोक्यशरीरं वैश्वानराख्यं ब्रह्म इत्यादिकात् श्रुत्युक्ताद् भेदाद् हेतोः परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गं स्वरूपं स्वीकर्तुं न युज्यते इति कथनं नोचितमिति चेत्, **"यश्च्चायमस्स्याम् पृथिव्व्यान् तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्च्चायमद्ध्यात्तँम्ँ शारीरस्त् तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्तँमा"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१, का.वा.बृह.२।५।१) इत्यादिकासु श्रुतिषु प्रत्युपाधिभेदवचनम् अभेदस्योक्तत्वान् न तथा प्रत्यवस्थानं युक्तमित्यर्थः।

हिन्दी – "चतुष्पाद् ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में भेद प्रतिपादित होने से परब्रह्म का उभयलिङ्ग स्वरूप अस्वीकार्य होने की बात नहीं मानी जा सकती है, यह शङ्का उचित नहीं है, क्यों कि "यश्चायमस्स्याम् पृथिव्व्यान् तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः" इत्यादि श्रुतियों में प्रत्येक उपाधिभेद के प्रतिपादन में अभेद का उल्लेख हुआ है।

३३१. अपि चैवमेके ३।२।१३॥

अपि च एके वेदशाखाविशेषाध्यायिनः कठाः **"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"** (कठो.२।१।११) इत्येवंरूपेण भेददर्शनं स्पष्टतया निन्दित्वा भेदं निराकुर्वन्तीत्यर्थः। एवं च भेदप्रतिपादने कस्या अपि श्रुतेस्तात्पर्यं नास्तीत्यवगम्यते इति भावः।

हिन्दी – कठशाखाध्यायीप्रभृति कोई वेदशाखाध्यायी लोग *"जो यहाँ भेद की तरह देखता है, वह वारवार एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु में प्राप्त होता है"* इत्यादि रूप में भेददर्शन की निन्दा करके भेद का निराकरण करते भी हैं अतः भेदप्रतिपादन में किसी भी श्रुति का तात्पर्य नहीं माना जा सकता है।

३३२. अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ३।२।१४॥

"आत्मा वा इदमेक एवाऽग्र आसीत्" (ऐ.२।१।१), **"तदेतदद् ब्रह्म्माऽपूर्व्व-मनपरमनन्तरमबाह्य्यमयमात्तँमा ब्ब्रह्म्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१९,

का.वा.बृह.२।५।१९), "यत्र त्वस्य सर्व्वमात्तँमैवाऽभूत् तत्त् केन कम् पश्श्येत्" (मा.वा.शत.१४।५।४।१६, १४।७।३।२५; का.वा.बृह.२।३।१४, ४।५।१५), "अस्त्थूल-मनण्णवह्र्रस्स्वमदीर्ग्घम्" (मा.वा.शत.१४।६।८।८, का.वा.बृह.३।८।८), "अशब्द-मस्पर्शमरूपमव्ययम्" (कठो.१।३।१५, मुक्तिको.२।७२), "एकमेवाऽद्वितीयम्" (छा.६।२।१), "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मुण्डको.२।१।२), "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" (मुण्डको.२।२।११) इत्यादीनां वाक्यानां निर्विशेषब्रह्म-प्रधानत्वाद्, एतेषां वाक्यानाम् उपासनाविधिशेषसविशेषब्रह्मवाक्येभ्यो बलीयस्-त्वाच्च निर्विशेषं रूपादिरहितमेव परस्य ब्रह्मणः स्वरूपमवगन्तव्यमित्यर्थः।

हिन्दी– "आत्मा वा इदमेक एवाऽग्र आसीत्" इत्यादि ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतिवाक्य निर्विशेषब्रह्मप्रधान होने से और उपासनाविधि के अङ्ग सविशेष-ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतिवाक्यों से स्वप्रधान निर्विशेष-ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतिवाक्य बलवत्तर होने से भी परब्रह्म का स्वरूप रूपादिरहित निर्विशेष ही समझना चाहिए।

३३३. प्रकाशवच्चाऽवैयर्थ्यात् ३।२।१५॥

सौर-चान्द्रमसादि-प्रकाशो यथाङ्गुल्यादिकोपाधिवशाद् ऋजुवक्रादिकं नानाविधमाकारं प्राप्नोति तथैव पृथिव्यादिकोपाधिसम्बन्धवशाद् विविधाकारं प्राप्तस्य ब्रह्मण उपासनाद्यर्थं श्रुतिषूपदेशात् सविशेषब्रह्मप्रतिपादकानामपि श्रुति-वाक्यानां व्यवहारे अवैयर्थ्यात्, तावतैव तासां चरितार्थत्वात् न ताभिः ब्रह्मणः पार-मार्थिकरूस्य निर्विशेषतायाः प्रतिपादकानां श्रुतिवाक्यानां विरोधो भवतीत्यर्थः।

हिन्दी– जैसे सूर्य-चन्द्र-प्रदीपादि का प्रकाश अङ्गुलि-प्रभृति पदार्थ के उपाधि से ऋजु-वक्रादिभाव को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म भी पृथिव्यादि पदार्थ के उपाधि से विविधाकार में प्राप्त रूप में कल्पित होता है और उसी का उपासनादि व्यवहार के लिए श्रुतियों में उपदेश भी हुआ है। इस प्रकार उपाधिवश सविशेष प्रतीत होने वाले ब्रह्म का उपदेश भी उपासनादि में चरितार्थ होता है। अतः ऐसे सोपाधिकब्रह्म-प्रतिपादनपरक वाक्यों से परमार्थरूप में निर्विशेषब्रह्म-प्रतिपादनपरक वाक्यों का विरोध नहीं होता है।

३३४. आह च तन्मात्रम् ३।२।१६॥

"अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (का.वा.बृह.४।५।१३, द्र.- मा.वा.श.त१४।५।४।१२, १४।७।३।१३, का.वा.बृह.२।४।१२) इत्यादिका श्रुतिः खलु चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपविशेषरहितं निर्विशेषं ब्रह्म आह चेत्यर्थः।

हिन्दी– "अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः" इत्यादि श्रुति चैतन्यमात्र, विलक्षणरूपविशेष से शून्य, निर्विशेष ब्रह्म को बताती ही है।

३३५. दर्शयति चाऽथो अपि स्मर्यते ३।२।१७॥

"अथाऽत आदेशो नेतिनेति" (मा.वा.शत.१४।५।३।११, का.वा.बृह.२।३।६) इत्यादिका श्रुतिः, **"ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन् नाऽसदुच्यते"** (गीता.१३।१२) इति स्मृतिश्च पररूपप्रतिषेधेनैव निर्विशेषं ब्रह्म दर्शयति च, अथो अपि **"माया ह्येषा मया सृष्टा यन् मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर् युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि"** (महा.१२।३३९।४६, सात.१२।३२६।४३) इति च दृश्यस्य ईश्वररूपस्य मायामयत्वं पारमार्थिकस्य ज्ञेयस्य परमात्मरूपस्य तु सर्वभूतगुणयुक्तत्वेनाऽस्वीकर्तव्यतया निर्विशेषत्वं च स्मर्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "अथाऽत आदेशो नेतिनेति" इत्यादि श्रुति और "ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि" इत्यादि स्मृति अन्य रूपों का निषेध ही करके निर्विशेष ब्रह्म दिखाती है, फिर "माया ह्येषा" इत्यादि स्मृति भी *"सम्पूर्ण भूतों के गुणों से युक्त ईश्वर को देखना मायामय घटना है, और पारमार्थिक रूप में ईश्वर वा परमात्मा ऐसा सर्वभूतगुणयुक्त नहीं है"* यह बात बताती है।

३३६. अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ३।२।१८॥

परमात्मनो वस्तुतो निर्विशेषत्वादेव तस्य उपाधिनिमित्ताम् अपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य हि **"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"** इति शङ्करेण श्रुतिवचनत्वेन उदाहृते अनिर्ज्ञायमानमूले वचने, **"एक एव हि भूतात्मा भूतेभूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्"** इति ब्रह्मबिन्दूपनिषद्वचने (१२), **"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्। तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवाऽंशुमान्"** (याज्ञवल्क्यस्मृतौ ३।१४४) इत्यादिषु स्मृतिपुराणादिवचनेषु च परमात्मनोऽनेकरूपता जलसूर्यकादिवत् भवतीति उपमा दीयते इत्यर्थः।

हिन्दी – परमात्मा वस्तुतः निर्विशेष होने से परमात्मा की अपारमार्थिक विशेषवत्ता को लेकर ही श्रुति-स्मृतियों में सूर्य-चन्द्रादि के विविध जलाशयादि में होने वाले अनेक प्रतिबिम्बों की तरह ही परमात्मा की अनेकरूपता होने की बात बताई गई है।

३३७. अम्बुवदग्रहणात् तु न तथात्वम् ३।२।१९॥

यथा सूर्यादिभ्यो मूर्तिमद्भ्यः पिण्डेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशस्थं मूर्तमम्बु गृह्यते तथा आत्मनोऽमूर्तत्वात् सर्वगतत्वात् सर्वाऽनन्यत्वाच्च आत्मनः पृथग्भूतानां विप्रकृष्टदेशस्थानामुपाधीनाम् अग्रहणात् तु आत्मन औपाधिकानां स्वरूपाणां जलसूर्यकादितुल्यत्वं नोपपद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे सूर्यादि मूर्तिमान् पिण्डरूप बिम्ब से अलग दूरदेशस्थित प्रतिबिम्बाधार मूर्त जल देखा जाता है वैसे रूप में आत्मा से सर्वथा पृथग् रूप में स्थित मूर्त उपाधि तो नहीं देखे जाते हैं,

अतः आत्मा के औपाधिक रूपों को जलाशयों में प्रतिबिम्बित सूर्यादिप्रतिबिम्बतुल्य नहीं माना जा सकता है।

३३८. वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ३।२।२०॥

उपाधावन्तर्भावादवास्तवमपि वृद्धिह्रासचलनभेदादियुक्तत्वं दृष्टान्तेषु सूर्यादिप्रतिबिम्बादिषु जलसूर्यकादिषु दार्ष्टान्तिकेषु परमात्मप्रतिबिम्बेषु जीवेषु चेत्युभयोरपि समन्वितत्वात् तुल्यमेवेति सूर्यकाद्युपमा युज्यत एवेत्यर्थः।

हिन्दी – उपाधि में अन्तर्भूत होने से अवास्तविक होने पर भी वृद्धि, ह्रास, चलन, भेद इत्यादि धर्मों से युक्तत्व दृष्टान्तभूत सूर्यादिप्रतिबिम्बों में और दार्ष्टान्तिक परमात्मप्रतिबिम्ब जीवों में भी दोनों तरफ तुल्य होने से उपमानोपमेयभाव में सामञ्जस्य देखे जाने से जलसूर्यादि की उपमा उपपन्न ही है।

३३९. दर्शनाच्च ३।२।२१॥

"पुरश्च्चक्क्रेद् द्विपदः पुरश्च्चक्क्रे चतुष्प्पदः। पुरः स पक्क्षी भूत्त्वा पुरः पुरुषऽआविशत्" (मा.वा.शत.१४।५।५।१८, का.वा.बृह.२।५।१८), **"अग्निर् यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"** (कठो.२।२।९) इत्यादिषु श्रुतिषु परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिषु प्रवेशस्य प्रतिपादितताया दर्शनाच्च सूर्यकाद्युपमा युज्यत एवेत्यर्थः। स पुरुषः परमात्मा द्विपदः पुरश् चक्रे, चतुष्पदः पुरश् च चक्रे, ततः पुरस्तात् स्वयं लिङ्गशरीरवत्तया पक्षी भूत्वा ताः पुरः प्राविशत् इति बृहदारण्यकश्रुतेरर्थः।

हिन्दी – "पुरश्च्चक्क्रेद् द्विपदः" इत्यादि श्रुतियों में परब्रह्म का ही देहादि उपाधियों में प्रवेश प्रतिपादित देखे जाने से भी जलसूर्यादि की उपमा समुचित ही अवगत होती है।

अथोभयलिङ्गाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – **"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्"** (छा.६।२।१) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रुतं "तत् त्वमसि" इति महावाक्ये स्थितस्य तत्पदस्यार्थस्य परस्याऽऽत्मनः स्वरूपम्।

विशयः – **"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः"** (छा.३।१४।२) इत्यादिषु श्रुतिषु सविशेषस्य स्वरूपस्य श्रुतत्वात् **"अस्थूलमनणु"** (का.वा.बृह.३।८।८) इत्यादिषु श्रुतिषु निर्विशेषस्य स्वरूपस्य च श्रुतत्वात् परस्याऽऽत्मनः स्वरूपं सविशेषनिर्विशषोभय-लिङ्गमवगन्तव्यमुत सविशेषमुत निर्विशेषमिति।

पूर्वपक्षः – उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयलिङ्गमेव परस्याऽऽत्मनः स्वरूपमवगन्तव्यमिति।

उत्तरम् – श्रुतिषु सर्वत्र भूम्ना निर्विशेषब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानां दर्शनात्, तेषां स्वप्रधानानां वाक्यानां निर्विशेषब्रह्मप्रतिपादने एव तात्पर्यात्, सविशेषब्रह्मप्रतिपादकानाम् उपासना-विधिवाक्याङ्गभूतानां वाक्यानां तु उपासनाविधानेनैव चरितार्थत्वात्, श्रुत्या चिन्मात्र-

रूपस्य ब्रह्मणो विशेषेण प्रतिपादितत्वात्, ब्रह्मण औपाधिकानां स्वरूपविशेषाणां जल-सूर्यकादिदृष्टान्तेनाऽपारमार्थिकतायाः श्रुतिस्मृत्यादिभिः प्रतिपादितत्वाच्च निर्विशेषमेव परस्याऽऽत्मनः स्वरूपमवगन्तव्यमिति।

निर्णयः– निर्विशेषमेव परस्याऽऽत्मनः स्वरूपमवगन्तव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जीवस्यैक्यं येन स हि पर आत्मा श्रुतौ श्रुतः।
२. सविशेषो निर्विशेषः स स्यादुभयथाऽपि वा॥१॥
३. श्रुत्युक्तत्वादुभयथा स स्यादिति हि के चन।
४-५. स निर्विशेषस् तात्पर्याच् श्रुतेस् तत्रेति वैदिकाः॥२॥

९८.(६) प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् (सू. २२-३०)

निषेधश्रुतिभिरपि निर्विशेषं ब्रह्म तु न निषिध्यत इति प्रतिपादयति–

३४०. प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ३।२।२२॥ इति।

"द्वे बाव ब्ब्रह्म्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवाऽमूर्त्तञ्च" (मा.वा.शत.१४।५।३।१, का.वा.बृह.२।३।१) इत्यादौ प्रकृतं मूर्तामूर्तादिलौकिकविषयभूतवस्तुमात्ररूपत्वं हि ब्रह्मणः खलु **"अथाऽतऽआदेशो नेतिनेति नह्य्येतस्म्मादिति नेति"** (मा.वा.शत. १४।५।३।११, का.वा.बृह.२।३।६) इति श्रुतिः प्रतिषेधति, ततः पुनः **"अन्न्यतत् परमस्त्ति"** (मा.वा.शत.१४।५।३।११, का.वा.बृह.२।३।६) इति निषेधशेषमधिष्ठानरूपं वाङ्मनसातीतं ब्रह्मणः पारमार्थिकं सन्मात्रं स्वरूपमस्तीति च श्रुतिर् वदतीत्यर्थः। **अथाऽतऽआदेश** इत्यादेः श्रुतेरर्थश्च– **अथ**=लौकिकसत्यपदार्थनिर्देशानन्तरं यस्मात् कारणाद् यत् सत्यस्य सत्यं तदेव निर्देशायाऽवशिष्यते **अतः** सत्यस्याऽपि सत्यस्य परब्रह्मस्वरूपस्य **आदेशः**=निर्देशः क्रियते **नेतिनेति** इति, **इति**=एवंरूपेण दृश्यमानं वस्तु, **न**=पारमार्थिकमधिष्ठानरूपं ब्रह्मस्वरूपं न, **इति**=एवंरूपेण दृश्यमानं वस्तु, **न**=पारमार्थिकमधिष्ठानरूपं ब्रह्मस्वरूपं न इति **"अथाऽतऽआदेशो नेतिनेति"** इति वाक्यस्यार्थः। **नेतिनेतीति** वीप्सया यद्यत् प्राप्तं ब्रह्मभिन्नं तत्तत् सर्वं निषिध्यते। न **ह्येतस्माद्** अधिष्ठानाद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं सद् वस्तु अस्ति **इति** अतो **नेति** इत्युच्यते इति च **"न ह्येतस्म्मादिति नेति"** इति वाक्यस्य पूर्ववाक्यार्थोपपादन-परस्याऽर्थोऽवगन्तव्यः।

हिन्दी– ब्रह्म कीं पूर्ववाक्य में प्रतिपादित मूर्ताऽमूर्तादि-लौकिक-विषयभूत-वस्तुमात्र-स्वरूपता का ही "अथाऽतऽआदेशः" इत्यादि श्रुति निषेध करती है, और फिर "अन्न्यतत् परमस्त्ति"

इस वाक्य से निषेध से अवशिष्ट, अधिष्ठानरूप, वाणी और मन के पहुँच से बाहर के ब्रह्म के पारमार्थिक रूप का अस्तित्व श्रुति बताती ही है।

३४१. तदव्यक्तमाह हि ३।२।२३॥

तद् **"अन्यतत् परमस्ति"** इत्युक्तं पारमार्थिकं ब्रह्मणः स्वरूपमव्यक्तमस्ति, अतश्च अनिन्द्रियग्राह्यं ब्रह्म नात्र निषेधविषयो भवति, **"सऽएष नेति नेत्यात्तँमाऽगृह्य्यो न हि गृह्य्यते"** (मा.वा.शत.१४।६।९।२८, का.वा.बृह.३।९।२६) इति श्रुतिः **"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते"** (गीता.२।२५) इति स्मृतिश्च परमात्मनोऽनिन्द्रियग्राह्यत्वमाह हीत्यर्थः।

हिन्दी – "अन्यतत् परमस्ति" इस वाक्य से निर्दिष्ट वह ब्रह्म अव्यक्त है, (अत एव इस प्रकरण में इन्द्रियों से अग्राह्य ब्रह्म निषेध का विषय नहीं है); "स एष नेतिनेति" इत्यादि श्रुति और "अव्यक्तोऽयम्" इत्यादि स्मृति भी परमात्मा की अव्यक्तता अथवा इन्द्रियों से अग्राह्यता बताती ही है।

३४२. अपि च संराधने प्रत्यक्षाऽनुमानाभ्याम् ३।२।२४॥

अपि च **"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"** (कठो. २।१।१), **"योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्"** (महा.५।४६।१) इत्यादिकाभ्यां श्रुति-स्मृतिभ्यां तदनिन्द्रियग्राह्यमव्यक्तं परमात्मनो रूपं धीरा आराधनपूर्वकप्रणिधानकाले पश्यन्तीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – और भी, उस इन्द्रियों से अग्राह्य अव्यक्त परमात्मा के रूप को धीर लोग आराधन से सम्पन्न समाधि के समय में देखते हैं, यह बात श्रुतिस्मृतिवाक्यों से अवगत होती है।

३४३. प्रकाशादिवच्चाऽवैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ३।२।२५॥

उपाधिभूतेषु कार्येषु अङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु सत्सु ऋजुवक्रादिभावप्राप्त्या सविशेषाणामिव प्रतीयमानानामपि प्रकाशाऽऽकाशप्रभृतीनां यथा वस्तुतोऽवैशेष्यं भवति तथैव परमात्मनोऽपि उपाधिवशाद् भेदमिव प्राप्तस्याऽपि वस्तुतो निर्विशेषत्वेनाऽव्यक्तत्वमेव भवति, कार्येषूपाधिषु आरोपात् तु परमात्मनो विविधरूपेण सविशेषत्वेन प्रकाशोऽपि भवतीत्यर्थः। एवं च ध्यानादिकर्मणि उपाधौ ध्यातृ-ध्येयभेदोऽपि परमात्मन उपपद्यत एवेति भावः। कर्मणि=कार्ये उपाधौ, अभ्यासात्=प्रक्षेपणाद्=आरोपात्।

हिन्दी – जैसे अङ्गुलि, ओले, जल इत्यादि उपाधियों से संयोग होने पर ऋजु-वक्रादिभाव में प्राप्त होने से सविशेषरूप में प्रतीयमान होने पर भी प्रकाश आकाश इत्यादि तत्त्व वस्तुतः अविशेष ही रहते हैं, वैसे ही उपाधिवश सविशेषत्व में प्राप्त प्रतीत होने पर भी परमात्मा का वस्तुतः अवैशेष्य (निर्विशेषत्व) ही होता है, अतः परमात्मा का अव्यक्तत्व ही होता है; उपाधिभूत कार्यों में आरोपित होने

से परमात्मा का विविधरूप से सविशेषरूप में प्रकाश भी होता ही है। (इस प्रकार से ध्यानादिकर्मरूप उपाधि होने पर परमात्मा का ध्याता और ध्येय के रूप में स्थिति भी हो सकती ही है)।

३४४. अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ३।२।२६॥

परमात्मन उपाधिवशेन सविशेषत्वेऽपि वस्तुतो निर्विशेषत्वादेव तेनाऽनन्तेन निर्विशेषेण सर्वनिषेधशेषेण परमात्मना जीवोऽविद्यां विधूयैकतां गच्छति, तथा हि **"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।८, का.वा.बृह. ४।४।६), **"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"** (मुण्डको.३।२।९) इत्यादिका श्रुतिस् तत्र लिङ्गमस्तीत्यर्थः। जीवस्य ब्रह्मणैक्यमुपदिश्यमानमपि भेदस्यौपाधिकत्वे ब्रह्मणो वस्तुतो निर्विशेषत्वे च लिङ्गमस्तीति भावः।

हिन्दी – परमात्मा उपाधिवश सविशेष प्रतीत होने पर भी वस्तुतः निर्विशेष होने से ही उस अनन्त परमात्मा से जीव अविद्या को हटाकर एक हो सकता है, इस वस्तुस्थिति का गमक लिङ्ग *"ब्रह्म ही रहता हुआ जीव ब्रह्म में प्राप्त होता है"* इत्यादि बताने वाली श्रुतियाँ हैं। श्रुतियों में प्राप्त जीव का ब्रह्म से एकता का उपदेश भी भेद औपाधिक होने का और ब्रह्म निर्विशेष होने का लिङ्ग है, यह भाव है।

३४५. उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ३।२।२७॥

"यऽआत्तँमानमन्तरो यमयति स तऽआत्तँमाऽन्तर्य्याम्म्यमृतः" (मा.वा. शत.१४।६।७।३०) इत्यादौ भेदेनाऽभेदेन चेत्युभयरूपेण व्यपदेशाज् जीवपरमात्मनोरहिकुण्डलन्यायेनाऽभेदो भेदश्च स्वीकर्तव्य इत्यर्थः। यथा सामान्यतयाऽहिरित्यभेदः, तस्यैवाऽहेर् वलयाकारा-ऽऽभुग्नाकार-दण्डाकारादिसंस्थानविशेषैरवस्थानभेदश्च भवति तथैव जीवपरमात्मनोरपि अभेदो भेदश्च स्वीकर्तव्य इति भावः।

हिन्दी – "यऽआत्तँमानमन्तरो यमयति" इत्यादि श्रुति में जीव और परमात्मा का भेद और अभेद दोनों का उल्लेख होने से जैसे सर्प के रूप में अभेद ही होने पर भी उसी सर्प की वलयाकार वक्राकार दण्डाकार इत्यादि अवस्थाओं में भेद भी हो सकता है वैसे ही परमात्मा का वस्तुतः अभेद होने पर भी उपाधिवश जीवादि रूप में भेद भी होता है, यह बात अवगत होती है।

३४६. प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात् ३।२।२८॥

यथा सावित्रः प्रकाशस् तदाश्रयः सविता च तेजस्त्वाविशेषान् नाऽत्यन्तं भिन्नौ भेदव्यवहारभाजौ च तथैव जीवपरमात्मानावपि नाऽत्यन्तं भिन्नौ भेदव्यवहारभाजौ च भवत इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे सूर्य का प्रकाश और उस का आश्रय सूर्य दोनों तेज के रूप में भेद न होने से अत्यन्त भिन्न भी नहीं हैं, और उन में भेद का व्यवहार भी होता है; वैसे ही जीव और परमात्मा भी चिद्रूप में भेद न होने से अत्यन्त भिन्न भी नहीं हैं, और उन में उपाधिवश भेदव्यवहार भी होता है।

३४७. पूर्ववद् वा ३।२।२९॥

वस्तुतस्तु भेदाऽभेदयोः पारमार्थिकयोरेकत्र विरोधात् पूर्वत्र **"प्रकाशादिवच् चाऽवैशेष्यम्"** (३।२।२५) इत्यत्र यथा औपाधिको जीवब्रह्मभेदो न पारमार्थिक इत्युक्तं तथैवाऽवगन्तव्यममित्यर्थः। वाशब्दः पूर्वपक्षनिराकरणपूर्वकेऽवधारणे सूत्रकाराणां प्रसिद्धः कात्यायनश्रौतसूत्रादिषु तथा प्रयोगाणां दर्शनात्।

हिन्दी – वस्तुतः पारमार्थिक भेद और अभेद एक साथ न रह सकने से "प्रकाशादिवच् चाऽवैशेष्यम्" इत्यादि पूर्वसूत्र में जैसे जीव-ब्रह्मभेद का केवल औपाधिक होना पारमार्थिक न होना बताया गया है वैसा ही समझना चाहिए।

३४८. प्रतिषेधाच्च ३।२।३०॥

"नाऽन्योऽस्ति द्द्रष्टा" (मा.वा.शत.१४।६।७।३१, का.वा.बृह.३।७।२३) इति परस्मादात्मनोऽन्यस्य द्रष्टुः प्रतिषेधाच्च जीवपरमात्मनोरौपाधिक एव भेदः पारमार्थिकस् त्वभेद एवाऽवगन्तव्य इत्यर्थः। एवञ्चाऽऽविद्यिकप्रपञ्चविषयो नेतिनेति प्रतिषेधो ब्रह्मशेषो नाऽभावशेष इति भावः।

हिन्दी – "नाऽन्न्योऽस्त्ति द्द्रष्टा" इस श्रुति में परमात्मा से भिन्न दूसरे द्रष्टा का निषेध किए जाने से भी जीव और परमात्मा का भेद केवल औपाधिक होने की और पारमार्थिक न होने की बात अवगत होती है। इस प्रकार "नेतिनेति" यह प्रतिषेध अविद्याजनित प्रपञ्च का है और ब्रह्म का नहीं, अतः यह प्रतिषेध ब्रह्मशेषक है अभावशेषक नहीं है, यह अधिकरण का तात्पर्यार्थ है।

अथ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अथाऽतऽआदेशो नेतिनेति न ह्येतस्मादिति नेति" इति श्रुतिः।

विशयः– एषा श्रुतिर् ब्रह्मणो रूपे ब्रह्म च प्रतिषेधति उत ब्रह्मणो रूपे एव प्रतिषेधतीति।

पूर्वपक्षः– प्रकृतत्वाऽविशेषाद् ब्रह्मणो रूपे ब्रह्म च प्रतिषेधतीति।

उत्तरम्– प्रतिषेधानन्तरमपि अन्यत् परमस्तीति वदन्ती श्रुतिर् ब्रह्म प्रतिपादयतीति, अव्यक्तं ब्रह्म सर्वदृश्यनिषेधसाक्षित्वान् निषेद्धुं न शक्यते इति, अव्यक्तमपि ब्रह्म धीराः पश्यन्तीति, उपाधिवशाद् भेदमिव प्राप्तस्याऽपि ब्रह्मणो वस्तुतो निर्विशेषत्वेनाऽव्यक्तत्वं भवतीति, अनिषेध्येनाऽविनाशिना निर्विशेषेण ब्रह्मणैव जीवस्याऽभेद उपदेष्टुं युज्यते, श्रुतिश्च द्रष्टारं जीवं ब्रह्मतोऽभिन्नं प्रतिपादयति चेति प्रकृतं यद् इयत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेव नेतिनेतीति श्रुतिः प्रतिषेधति, ब्रह्म तु परिशिनष्टीति।

निर्णयः– प्रकृतम् इयत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपमेव नेतिनेतीति श्रुतिः प्रतिषेधति, ब्रह्म परिशिनष्टीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अथाऽत आदेशो नेति-नेतीति श्रूयते श्रुतिः।
२. सा निषेधति रूपं वा ब्रह्माऽपीति तु शंसयः॥१॥

३. निषेधतीयं प्रकृतमुभयं हीति के चन।
४-५. प्रतिषेधति रूपं हि न ब्रह्मेति तु निर्णयः॥२॥

९९.(७) पराधिकरणम् (सू. ३१-३७)

ब्रह्मातिरिक्तस्य वस्तुनो श्रुत्या सर्वथा निषिद्धत्वमुपपादयितुमाह—

३४९. परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ३।२।३१॥ इति।

"अथ य आत्मा स सेतुर् विधृतिः" (छा.८।४।१) इति आत्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वस्य सङ्कीर्तनात्, लोके सेतुतोऽन्यस्य वस्तुनः सत्तायाः प्रसिद्धत्वेन सेतुरूपाद् ब्रह्मणोऽपि अन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वस्य प्रतीयमानत्वात्; **"तदेतच् चतुष्पाद् ब्रह्म"** (छा.३।१८।२), **"सोऽयमात्मा चतुष्पात्"** (माण्डूक्यो.२) इति ब्रह्मण उन्मानस्य व्यपदेशात्, यथा लोके उन्मानवतः कार्षापणादेरन्यस्य वस्तुनः सत्ता भवति, तथैव उन्मानवतो ब्रह्मणोऽपि भिन्नस्य कस्याऽपि पदार्थस्य सत्ता स्यादिति प्रतीयमानत्वात्; **"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति"** (छा.६।८।१), **"प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तः"** (मा.वा.शत.१४।७।१।२१, का.वा.बृह. ४।३।२१) इति ब्रह्मणः सम्बन्धस्य व्यपदेशात्, सम्बद्धाद् वस्तुनश्चाऽन्यस्य वस्तुनः सत्ताया लोके प्रसिद्धत्वात्; **"अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषः"** (छा.१।७।५) इत्युक्तस्य पुरुषस्य भेदेन व्यपदेशाच्चाऽतो ब्रह्मणोऽपि परं किञ्चिदस्तीति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – ब्रह्म को सेतु कहे जाने से और सेतु कहने से ही सेतु से भिन्न पदार्थ की भी प्रतीति होने से, ब्रह्म को चतुष्पाद् कहे जाने से और चतुष्पाद् कहने से ही उस से भिन्न पदार्थ की सत्ता भी प्रतीत होने से, प्राज्ञ आत्मा के रूप में उल्लिखित परमात्मा से क्षेत्रज्ञ पुरुष का आलिङ्गित होने की बात से परमात्मा का क्षेत्रज्ञ से सम्बन्ध अवगत होने से और इस से उस सम्बन्ध से सम्बद्ध परमात्मा से भिन्न पदार्थ की भी प्रतीति होने से, और आदित्याधारक ईश्वर से अक्ष्याधारक ईश्वर का भेद प्रतिपादित होने से भी इस से (ब्रह्म से) भी परे कोई तत्त्व होने की बात अवगत होती है।

३५०. सामान्यात् तु ३।२।३२॥

यथा लोकप्रसिद्धसेतोर् जलविधारकत्वं तथैव ब्रह्मणोऽपि जगन्मर्यादाविधारकत्वमिति विधारकत्वसामान्यादेव तु ब्रह्मणः सेतुशब्देन व्यपदेशः कृतो वेदितव्यः। अतो न सेतुव्यपदेशाद् ब्रह्मणः परस्याऽन्यस्य वस्तुनः सिद्धिरित्यर्थः।

हिन्दी – जैसे लोकप्रसिद्ध सेतु का जल-विधारकत्व होता है वैसे ही ब्रह्म का भी जगत् की मर्यादा का विधारकत्व होता है। इसी विधारकत्वरूप सामान्य धर्म को लेकर ब्रह्म को सेतु कहा गया है। अत एव ब्रह्म को सेतु कहने से ही ब्रह्म से परे दूसरे वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है।

३५१. बुद्ध्यर्थः पादवत् ३।२।३३॥

सर्वदा सर्वेषां पूर्णेन कार्षापणेन व्यवहर्तुमसमर्थत्वाद् व्यवहारसौकर्याय यथा कार्षापणे पादविभागः क्रियते तथैव ब्रह्मण उन्मानव्यपदेशो निर्विशेषे ब्रह्मणि सर्वेषां बुद्धेः समाधाने सामर्थ्यस्याभावान् मन्दानुग्रहार्थम् उपासनरूपाय बुद्धि-समाधानाय कृतोऽस्तीत्यर्थः। एवं च नोन्मानव्यपदेशेनाऽपि ब्रह्मणः परस्याऽन्यस्य वस्तुनः सिद्धिर् भवतीति भावः।

हिन्दी– सर्वदा सभी लोगों का पूर्ण कार्षापण से व्यवहार करने में असमर्थ होने से व्यवहार में सुविधा के लिए जैसे कार्षापण में पादों का (पाइयों का) विभाग किया जाता है, वैसे ही निर्विशेष ब्रह्म में बुद्धि की एकाग्रता करने में सभी लोगों का सामर्थ्य न होने से मन्द लोगों के अनुग्रह के लिए उपासनारूप बुद्धि की एकाग्रता हेतु ब्रह्म का उन्मान का व्यवहार किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म का उन्मानव्यपदेश अपारमार्थिक एवं केवल व्यवहारार्थ होने से परमार्थतः ब्रह्म से परे कोई वस्तु की सिद्धि नहीं होती है।

३५२. स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ३।२।३४॥

स्थानविशेषरूपादुपाधिविशेषादेव प्रकाशादिष्विव जीवपरमात्मनोरपि सम्बन्धस्य भेदस्य च व्यपदेश उपपन्नो भवतीत्यर्थः। एवञ्च औपाधिकाज् जीव-परमात्मनोः सम्बन्धस्य भेदस्य च व्यपदेशाद् वस्तुत एव ब्रह्मणः परं किमपि वस्त्वस्तीति तु न सिद्ध्यतीति भावः।

हिन्दी– स्थानविशेषरूप उपाधि से ही जैसे प्रकाश आकाश इत्यादि में सम्बन्ध और भेद का व्यवहार होता है वैसे ही आदित्य, चक्षु, बुद्धि इत्यादि स्थानविशेषरूप उपाधि से ही जीव और परमात्मा का सम्बन्ध और भेद का व्यपदेश होता है। अतः जीव और परमात्मा का औपाधिक सम्बन्ध और भेद के व्यपदेश से ही ब्रह्म से परे किसी वस्तु की वास्तविक सत्ता की सिद्धि नहीं होती है।

३५३. उपपत्तेश्च ३।२।३५॥

"स्वमपीतो भवति" (छा.६।८।१) इति जीवपरमात्मनोः स्वरूपसम्बन्धस्य प्रतिपादितत्वात्, **"स वाऽअयमात्माँ ब्रह्म"** (मा.वा.शत.१४।७।२।६, का.वा.बृह. ४।४।५) इति, **"एकमेवाऽद्वितीयम्"** (छा.६।२।१,२) इति च जीवपरमात्मनोरैक्यस्य अद्वितीयत्वस्य च प्रतिपादितत्वाच्च सम्बन्धभेदव्यपदेशयोर् द्वयोरेवौपाधिकयो-रेवोपपत्तेश्च ततो ब्रह्मणः परं किमपि वस्तु पारमार्थिकमेवाऽस्तीति तु न सिध्यतीत्यर्थः।

हिन्दी– श्रुतियों में जीव और परमात्मा का स्वरूपसम्बन्ध का और एकत्व तथा अद्वितीयत्व का प्रतिपादन देखे जाने से जीव और परमात्मा का केवल औपाधिक ही सम्बन्ध और भेद का व्यपदेश हो सकने से भी ब्रह्म से परे कोई वस्तु पारमार्थिक रूप में ही रहने की बात सिद्ध नहीं हो सकती सकती है।

३५४. तथाऽन्यप्रतिषेधात् ३।२।३६॥

ब्रह्मणः परं वस्तु अस्तीति साधने सेतुव्यपदेशादीनामहेतुत्वस्य **"सामान्यात् तु"** (३।२।३२) इत्यादिना साधितत्वाद् ब्रह्मणः परं वस्तु नास्तीति यथाऽवगम्यते तथैव ब्रह्मणोऽन्यस्य वस्तुनः **"नेह नानाऽस्ति किञ्चन"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२१, का.वा.बृह.४।४।१९, कठो.२।१।११), **"यस्मात् परं नाऽपरमस्ति किञ्चित्"** (श्वेता. ३।९), **"पुरुषान् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः"** (कठो.१।३।११) इत्यादिभिः श्रुतिवाक्यैः प्रतिषेधाच्चाऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – ब्रह्म से परे अन्य वस्तु की सत्ता के साधन में सेतुव्यपदेशादि का अहेतुत्व "सामान्यात् तु" इत्यादि तर्कों से सिद्ध किए जाने से ब्रह्म से परे दूसरा तत्त्व नहीं होने की बात जैसे अवगत होती है वैसे ही "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से निषेध किए जाने से भी अवगत होती है।

३५५. अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ३।२।३७॥

"यावान् वा अयमाकाशस् तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" (छा.८।१।३), **"आकाशवत् सर्वगतं सुसूक्ष्मम्"** (शाण्डिल्यो.२।१) **"ज्यायान् दिवः"** (छा.३।१४।३), **"ज्यायान् दिवो ज्ज्यायानाकाशाज् ज्यायानस्यै पृथिव्यै ज्ज्यायान् त्सर्वेभ्यो भूतेभ्यः"** (मा.वा.शत.१०।६।३।२) इत्यादिभ्यो ब्रह्मणो व्यापकत्वस्य प्रतिपादकेभ्यो वेदशब्देभ्यः, **"नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः"** (गीता.२।४) इत्यादिभ्यश् चाऽऽयामवाचकस्मृतिशब्देभ्यः, **"यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्"** (२।३।७) इति सूत्रे प्रोक्तात् तर्काद् अव्यापकत्वे ब्रह्मणोऽपि अनित्यतायाः प्रसङ्गाच्च अनेन निषेधशेषेण अधिष्ठानरूपेण निर्विशेषेणाऽद्वितीयेन ब्रह्मणा अध्यस्तस्य सर्वस्य जगतो व्याप्तत्वमवगम्यते इत्यर्थः। एवं च ब्रह्मणः परं किमपि पारमार्थिकं वस्तु नास्तीति तात्पर्यम्।

"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (२।१।१४) इत्यत्रैव सर्वस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे प्रदर्शितेऽपि सेत्वादिव्यपदेशनिमित्तकशङ्काविशेषनिरासायेदमधिकरण-मारब्धं बोध्यम्। अथवा तत्र प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वस्य प्रदर्शने तात्पर्यम्, अत्र तु ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वस्य प्रदर्शने तात्पर्यमिति विशेषोऽवगन्तव्यः।

हिन्दी – ब्रह्म के सर्वव्यापक आयाम के बोधक श्रुतिस्मृतियों के शब्दों से, "यावद्विकारं तु" इत्यादि पूर्वसूत्र में प्रोक्त तर्क से अव्यापक होने पर ब्रह्म की अनित्यता मानने की आपत्ति आजाने से भी इस निषेधशेष, अधिष्ठानरूप, निर्विशेष, अद्वितीय ब्रह्म से अध्यस्त सम्पूर्ण जगत् का व्याप्तत्व अवगत होता है। इस वस्तुस्थिति से ब्रह्म से परे किसी भी पारमार्थिक वस्तु की सत्ता न होने की बात भी स्पष्ट हो जाती है।

अथ पराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अथ य आत्मा स सेतुर् विधृतिः" (छा.८।४।१) इत्यादिषु श्रुतिवाक्येषु प्रतीयमानं ब्रह्मणः परं वस्तु।

विशयः– ब्रह्मणः परमन्यद् वस्तु विद्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणः सेतुत्वेन श्रवणात्, सेतुतः परं वस्तु भवतीति लोके दृष्टत्वात्, ब्रह्मण उन्मानस्य श्रुतत्वाद् उन्मानवतः कार्षपणादेर् वस्तुनोऽपि भिन्नानां वस्तूनां लोके दृश्यमानत्वात्, जीव-ब्रह्मणोः सम्बन्धस्य श्रुतत्वात् सम्बद्धस्य वस्तुनः परस्य च वस्तुनो लोके प्रसिद्धत्वात्, आदित्यपुरुषाच् चाक्षुषपुरुषस्य भेदस्य श्रुतावेव प्रतिपादितत्वाच्च ब्रह्मणः परमपि किमपि वस्तु अस्तीति गम्यते इति।

उत्तरम्– ब्रह्मणो जगन्मर्यादाविधारकत्वेन विधारकत्वसामान्यात् सेतुत्वेनोपचारात्, वस्तुतो ब्रह्मणः सेतुत्वस्याऽभावात्, मन्दानुग्रहार्थमुपासनरूपाय बुद्धिसमाधानायैव ब्रह्मण उन्मानस्याऽऽश्रितत्वाद् वस्तुतो ब्रह्मण उन्मानस्याऽभावात्, जीवपरमात्मनोः सम्बन्धस्य भेदस्य चौपाधिकत्वेन वास्तविकत्वस्याऽभावात्, ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वस्य श्रुताववधारितत्वेन औपाधिकानामेव सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशानामुपपत्तेः, वास्तविकानां तेषामनुपपत्तेः, ब्रह्मणोऽन्यस्य वस्तुनः **"नेह नानाऽस्ति किञ्चन"** इत्यादिना श्रुतिवाक्येन प्रतिषेधात्, अधिष्ठानरूपस्य ब्रह्मणोऽध्यस्तसर्वजगद्व्यापकत्वस्य शब्दादिभ्योऽवगतत्वेन वस्तुतो ब्रह्मभिन्नस्य वस्तुनः सर्वथाऽभावस्याऽवगम्यमानत्वाच्च ब्रह्मणः परं वास्तविकं वस्तु किमपि नास्तीति गम्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मणः परं किमपि पारमार्थिकं वस्तु नास्तीति निश्चीयते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सेत्वादिरूपता स्पष्टा ब्रह्मणः श्रूयते श्रुतौ।
२. सेत्वादिरूपात् तस्मात् तु परं किञ्चिद् भवेन् न वा॥१॥
३. दृष्टान्तात् तु ब्रह्मणोऽपि परं स्यादिति के चन।
४-५. ब्रह्माऽन्यप्रतिषेधात् तु परं नास्तीति निर्णयः॥२॥

१००.(८) फलाधिकरणम् (सू. ३८-४१)

ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य वस्तुनः परमार्थतो निषेधेऽपि ब्रह्मणो व्यावहारिकफलदातृत्वस्य सम्भवाद् वस्तुतो ब्रह्मणो निर्विशेषत्वमुपपन्नमिति प्रतिपादयितुमाह–

३५६. फलमत उपपत्तेः ३।२।३८॥ इति।

चेतनस्येश्वरस्यैव फलदातृताया उपपत्तेर् ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेऽपि औपाधिकात् सांव्यवहारिकाद् ईश्वररूपाद् ब्रह्मणः शुभाऽशुभव्यामिश्रकर्मकारिणाम्

इष्टाऽनिष्टव्यामिश्रफलं भवतीति गम्यते इत्यर्थः। एवं च ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे फलदातृत्वमनुपपन्नं स्यादिति शङ्का निरस्ता भवति, निर्विशेषमेव ब्रह्म श्रुतिषु तात्पर्येण प्रतिपादितमित्युभयलिङ्गाधिकरणनिर्णयश्च समर्थितो भवति।

हिन्दी – चेतन ईश्वर का ही फलदातृत्व उपपन्न होने से वस्तुतः निर्विशेष होते हुए भी औपाधिक सांव्यवहारिक ईश्वररूप में रहने वाले ब्रह्म से शुभ वा अशुभ वा मिश्रित कर्म करने वाले लोगों को कर्मानुसार इष्ट वा अनिष्ट वा मिश्रित फल मिलती है, यह बात अवगत होती है।

३५७. श्रुतत्वाच्च ३।२।३९॥

"स वाऽएष महानजऽआतत्ँमाऽन्नादो बसुदानः" (मा.वा.शत.१४।७।२।२९, का.वा.बृह.४।४।२४) इत्यादौ परमेश्वरस्यैव हविषो भोक्तुः फलदत्वस्य श्रुतत्वाच्च ईश्वररूपाद् ब्रह्मण एव कर्मफलं भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "स वाऽएष महानजऽआतत्ँमाऽन्नादो बसुदानः" इत्यादि श्रुतिवाक्य में 'वसुदानः' पद से परमेश्वर का ही फलप्रदत्व बताए जाने से भी कर्मफल ईश्वररूप ब्रह्म से ही मिलता है।

३५८. धर्मं जैमिनिरत एव ३।२।४०॥

सर्वसाधारणस्येश्वरस्य विचित्रफलदातृत्वस्याऽनुपपत्तेः, प्राणिभिः कृतस्य अनुक्षणं विनाशिनोऽपि विविधस्य कर्मण एव अपूर्वद्वारा विविधफलदातृत्वस्योपपत्तेः, **"स्वर्गकामो यजेत"** (ताण्डि.१६।१५।५) इति श्रुतेश्च जैमिनिराचार्यो धर्मं कर्मफलदातारं मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – सर्वसाधारण ईश्वर का विचित्रफलदातृत्व अनुपपन्न होने से और प्राणियों से किए जाने वाले विविध कर्मों का ही विविधफलदातृत्व उपपन्न होने से और "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि श्रुति से यज्ञादि कर्मों से ही स्वर्गादि फल मिलने की बात अवगत होने से भी आचार्य जैमिनि धर्म को (कर्म को) ही फलप्रद मानते हैं।

३५९. पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ३।२।४१॥

"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" (कौषी.३।८) इति श्रुतौ, **"योयो यांयां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति। तस्यतस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस् तस्याऽऽराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्"** (गीता.७।२१) इति स्मृतौ च ईश्वरस्यैव धर्माधर्मयोरपि कारयितृत्वेन हेतुत्वेन व्यपदेशाद् बादरायण आचार्यः पूर्वतरसूत्रोक्तमीश्वररूपं ब्रह्मैव कर्मफलदातृ मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति" इत्यादि श्रुति में और "योयो यांयां तनुं भक्तः" इत्यादि स्मृति में भी धर्म वा अधर्म में कारयितृरूप में ईश्वर के ही हेतुत्व का उपदेश होने से पूर्वतर सूत्र में उक्त ईश्वररूप ब्रह्म को ही बादरायण आचार्य कर्म फल देने वाला मानते हैं।

अथ फलाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– प्राणिभुज्यमानविविधभोगरूपफलहेतुत्वम्।

विशयः– प्राणिभुज्यमानविविधभोगरूपफलहेतुत्वं कर्मण उत ब्रह्मण इति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेन फलहेतुत्वस्यासम्भवात्, उपाधिवशादीश्वरत्वं प्राप्तस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वसाधारणत्वाद् विचित्रफलदातृत्वस्याऽनौचित्यात्, तथात्वे वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्य प्रसङ्गात्, प्राणिभिः कृतस्याऽनुक्षणं विनाशिनोऽपि विविधस्य कर्मण एवाऽपूर्वद्वारा विविध-फलदातृत्वस्योपपत्तेः, **"स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्यो यागादीनां स्वर्गाद्यु-त्पादकताया अवगम्यमानत्वाद्, यागादीनां स्वर्गादिफलकत्वस्याऽभावे यागाद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यस्य प्रसङ्गाच्च कर्मण एव फलप्रदत्वं भवतीति।

उत्तरम्– अचेतनस्य कर्मणः फलदातृत्वस्याऽनुपपत्तेः, ईश्वरस्य चेतनस्यैव लौकिकस्य स्वामिन इव फलप्रदत्वस्योपपत्तेः, **"स वाऽएष महानजऽआतत्ँमाऽन्नादो वसुदानः"** इति श्रुत्या **"वसुदानः"** इति पदेन परमात्मन एव हविर्भोक्तुः फलप्रदत्वस्य प्रतिपादितत्वात्, **"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति"** इत्यादिकया श्रुत्या तदनुसारिण्या स्मृत्या चेश्वर-स्यैव धर्माऽधर्मयोरपि कारयितृत्वेन हेतुत्वेनोक्तत्वाच्च ईश्वरभावं प्राप्तस्य ब्रह्मण एव प्राणिनां कृते तत्तत्प्राणिकृत-कर्मानुसारं फलप्रदत्वं भवतीति।

निर्णयः– निर्विशेषस्य ब्रह्मण एव व्यवहारदशायामीश्वरभावं प्राप्तस्य प्राणिनां कृते तत्-तत्प्राणिकृत-कर्मानुसारं फलप्रदत्वं भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. दृश्यते भुज्यमानं हि प्राणिभिर् विविधं फलम्।
२. तत् कर्मणो भवेद् वाऽथो ब्रह्मणो वेति संशयः॥१॥
३. तत् कर्मणः स्यादिति हि मन्यते जैमिनिर् मुनिः।
४-५. ईश्वराद् ब्रह्मणस् तत् स्यादिति श्रीबादरायणः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ मोक्षसाधननिरूपणपरे तृतीयेऽध्याये द्वितीयो
जीवब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरः (तत्पदार्थ-त्वम्पदार्थ-
निरूपणपरः) पादः समाप्तः॥

अथ तृतीयः पादः

(सगुणब्रह्मविद्यागुणोपसंहाराऽनुपसंहारनिर्गुणब्रह्मवाक्य-पदोपसंहारानुपसंहारादिनिरूपणपरः)

१०१.(१) सर्ववेदान्तप्रत्ययाऽधिकरणम् (सू. १-४)

अथ ब्रह्मप्राप्तिसाधननिरूपणायाऽऽरब्धे तृतीयेऽध्याये प्रथमद्वितीय-पादाभ्यां वैराग्य-जीवस्वरूप-ब्रह्मस्वरूपेषु प्रतिपादितेषु ब्रह्मज्ञानसाधनरूप-सगुणब्रह्मोपासनादिस्वरूपनिरूपणाय तृतीयः पाद आरभ्यते—

३६०. सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ३।३।१॥ इति।

"यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद" (मा.वा.शत.१४।९।२।१, का.वा.बृह. ६।१।१, छा.५।१।१) इत्यादीनां पुरुषव्यापारपराणां चोदनानाम्, **"ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानाम् भवति"** (मा.वा.शत.१४।९।२।१, का.वा.बृह.६।१।१, छा.५।१।१) इत्यादीनां फलसंयोगानाम्, ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषान्वितप्राणतत्त्वादीनां रूपाणाम्, प्राणविद्येत्यादीनां समाख्यानां चेति आदिशब्दसङ्गृहीतानाम् **"एकं वा संयोग-रूप-चोदना-ऽऽख्याऽविशेषात्"** इति धर्ममीमांसा-शाखान्तराधिकरण-सिद्धान्तसूत्रेण (२।४।१६) उक्तानां हेतूनां भेदस्याभावात् सर्वेषु वेदान्तेषु प्रत्येतव्यं प्राणादीनामुपा-स्यानां रूपं विज्ञानं चाऽप्येकमेवेत्यर्थः। शब्दादिभेदाधिकरणादुत्तरोऽयं विचारः।

हिन्दी – चोदना, फलसंयोग, रूप और समाख्या में भेद न होने से सभी उपनिषदों में प्रत्येतव्य प्राणादि उपास्यों का रूप और प्राणादिविज्ञान भी एक ही है।

३६१. भेदान् नेति चेन् नैकस्यामपि ३।३।२॥

वेदान्तेषु पञ्चाग्निविद्यादिषु **"तस्याग्ग्ँनिरेवाऽग्ग्ँनिर् भ्भवति"** (मा.वा. शत.१४।९।१।१७, का.वा.बृह.६।२।१४) इत्यादिना वेदान्तान्तरे छान्दोग्यादावनु-क्तस्य षष्ठाग्न्यादेः प्रतिपादनस्य दर्शनेन ज्ञायमानाद् भेदात् सर्ववेदान्तप्रत्ययं विज्ञानमेकमिति सिद्धान्तो नोपपद्यते इति चेत्, एकस्यामपि विद्यायां गुणभेद-स्योपपन्नत्वाद् गुणस्योपसंहारस्य सम्भवाच्च न तथा स्वीकर्तुं युज्यते इत्यर्थः। एवं च प्राणाद्युपासनं सर्ववेदान्तप्रत्ययमेकमेवेति स्वीकर्तव्यमेवेति भावः।

हिन्दी – उपनिषदों में पञ्चाग्निविद्यादि में कतिपय विषयों में देखे गए भेद से सभी उपनिषदों में प्रतिपादित प्राणोपासनादि का एकत्व स्वीकार्य नहीं हो सकता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि विभिन्न उपनिषदों में प्रतिपादित एक ही विद्या में भी कुछ गुणों में भेद और एकत्र श्रुत उन गुणों का अन्यत्र उपसंहार भी हो सकता है।

३६२. स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच् च तन्नियमः ३।३।३॥

"शिरोव्रतं च सांवत्सरिकं वेदव्रतेनैव व्याख्यातम्" (अथर्वपरिशिष्ट ४५।१।७) इति प्रतिपादिते आथर्वणिकानां समाचारे स्वाध्यायस्यैव शिरोव्रतमङ्गमित्यवगम्यमानत्वात्, "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मुण्डको.३।२।११) इति अधिकृतविषयाद् एतच्छब्दाद् अध्ययनशब्दाच् च वेदान्तरोदितत्रेताग्निसम्बन्धरहिताऽथर्वणोक्तैकाग्न्यभिसम्बद्धसौर्यादिशतौदनपर्यन्तयज्ञविशेषस्येव शिरोव्रतस्याऽपि तेष्वाथर्वणिकेष्वेव नियमः, न ब्रह्मविद्यायामित्यवगम्यते इत्यर्थः। एवं च शिरोव्रतं न विद्याभेदनिमित्तमिति भावः।

हिन्दी– आथर्वणिकों के स्वाध्यायाध्ययन का ही शिरोव्रत अङ्ग होने की बात उन के सदाचार से अवगत होने से, और "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" इस श्रुति के एतत्शब्द से तथा अध्ययनवाचक शब्द से भी, जैसे आथर्वणोक्त सौर्यादि यज्ञों का आथर्वणिकों से ही सम्बन्ध है वैसे ही, शिरोव्रत का भी आथर्वणिकों से ही सम्बन्ध है, ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध नहीं है, यह बात अवगत होती है। अतः शिरोव्रत विद्याभेद का निमित्त नहीं होता है, यह भाव है।

३६३. दर्शयति च ३।३।४॥

"एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः" (ऐ.आ.३।२।३, शा.आ.८।४), "तमेतमग्ग्ँनिरित्त्यद्ध्वर्य्यवऽउपासते यजुरित्त्येष हीदꣳ सर्व्वय्ँ युनक्क्ति, सामेतिच्छन्दोगाऽएतस्म्मिन् न्हीदꣳ सर्व्वꣳ समानम्, उक्क्थमिति बह्वृचाऽएष हीदꣳ सर्व्वमुत्थापयति"(मा.वा.शत.१०।५।२।२०) "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" (कठो.१।२।१५), इत्यादिका श्रुतिः सर्वेषु वेदेषु प्रतिपाद्यं ब्रह्मतत्त्वमेकमेव दर्शयति चेत्यर्थः। प्रायदर्शनन्यायेन सर्वेषु वेदान्तेषु प्रत्येतव्यं प्राणाद्युपासनमपि एकमेवेत्यवगम्यते इति भावः।

हिन्दी– "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" इत्यादि श्रुति सभी वेदों में प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व को एक ही दिखाती भी है। इस से सभी उपनिषदों में प्रतिपाद्य प्राणादि की उपासनाएँ भी एक ही हैं, यह बात भी अवगत होती है, यह भाव है।

अथ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– नानावेदशाखासु प्रतिपादितं प्राणविद्यादिकमुपासनम्।

विशयः– एकस्यां शाखायां प्रतिपादितं प्राणविद्यादिकमुपासनम् अन्यस्यां शाखायामुक्तं प्राणविद्यादिकमुपासनं चाऽनेकमुतैकमिति।

पूर्वपक्षः– ऐतरेयकं शाङ्खायनकं कौषीतककं तैत्तिरीयकं माध्यन्दिनीयकं कौथुमकं राणायनीयकं पैप्पलादकं शौनककम् इत्यादिकानां विद्यानाम्नां भेदात्, प्राणसंवादे माध्यन्दिनीयके रेतस्सहितानां पञ्चानां प्राणानामुक्तत्वेन कौथुमके चतुर्णामेव प्राणानामुक्त-

त्वेन च रूपभेदात्, शिरोव्रतादीनां धर्माणां कस्यां चिच् छाखायां दर्शनात् कस्यां चित् त्वदर्शनाच् चेति प्रतिशाखं प्राणविद्यादिरूपमुपासनं भिन्नमिति।

उत्तरम्– माध्यन्दिनीयके कौथुमके च **"यो ह वै ज्ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद"** इत्यादिकानां चोदनानाम् **"ज्येष्ठश्च्च श्रेष्ठश्च्च स्वानाम् भवति"** इत्यादिभिर् वचनैः प्रतिपादितानां फलसंयोगानाम्, ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषान्वितप्राणत्वादीनां रूपाणाम्, प्राणविद्येत्यादीनामाख्यानां चाऽविशेषात्, ऐतरेयकं माध्यन्दिनीयकमित्यादीनां नाम्नां चाऽध्येतृमात्रप्रसिद्धत्वाद् उपासनाभिस् तेषामसम्बन्धात्, शिरोव्रतादीनां च धर्माणामध्ययनमात्रसम्बद्धत्वाच्च शाखाभेदेऽपि प्राणविद्यादिकम् उपासनमेकमेवेति।

निर्णयः– चोदनाद्यभेदे सर्ववेदान्तप्रत्ययं प्राणविद्यादिकमुपासनमेकमेवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. प्राणाद्युपासनं नानाशाखासु श्रूयते खलु।
२. उपासनं तच् शाखाया भेदाद् भिन्नं भवेन् न वा॥१॥
३. नामरूपादिभेदेन तद् भिन्नमिति के चन।
४-५. चोदनादेरभेदात् तदभिन्नमिति निर्णयः॥२॥

१०२.(२) उपसंहाराधिकरणम् (सू. ५)

विद्यैक्यविषयके विचारे कृते तस्य प्रयोजनं गुणोपसंहारं प्रतिपादयन्नाह–

३६४. उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च ३।३।५॥ इति।

यथाऽग्निहोत्रादिविधिशेषस्याऽङ्गस्य शाखान्तरे श्रुतस्य अर्थाभेदात् शाखान्तरस्याऽग्निहोत्रादौ उपसंहारो भवति तथैव समाने उपासने शाखान्तरे श्रुतस्य गुणस्य शाखान्तरस्योपासनेऽपि उपासनस्याऽभेदादुपसंहारो भवतीत्यर्थः।

सत्यपि सर्वशाखासाधारणे जैमिनीये धर्ममीमांसासूत्रे यथाऽग्निहोत्रादौ शाखान्तरोक्ताङ्गोपसंहारेणाऽग्निहोत्रस्य प्रयोगाय तत्तच्छाखीयाग्निहोत्रादिकर्मकल्पसूत्राणामावश्यकत्वं तथैव सत्यपि बादरायणीये सर्वशाखासाधारणे सूत्रे तत्तच्छाखोक्तप्राणोपासनाद्युपासन-प्रयोग-व्यवस्थापनाय तत्तच्छाखीयमुपासनकल्पसूत्रमावश्यकं दृश्यते। किन्तु तादृशं कल्पसूत्रमनुपलभ्यमानं प्रतीयते। पञ्चदश्याम् (९।२७,२८), वेदान्तकल्पतरुपरिमले (३।३।५), सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे (३।८) च तादृशानि कल्पसूत्राणि उल्लिखितानि दृश्यन्ते, तानि विद्वद्भिरन्वेष्टव्यानि।

हिन्दी – जैसे अग्निहोत्रादि के विधि का अङ्ग अन्य शाखा में विहित होने पर भी मुख्य कर्म में अभेद होने से अन्य शाखा के अग्निहोत्रादि में भी उपसंहत (समुच्चित) होता है, वैसे ही समान उपासना में अन्य शाखा में विहित गुण अन्य शाखा में विहित उपासना में भी उपसंहत (समुच्चित) होता है।

३६२. स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच् च तन्नियमः ३।३।३॥

"शिरोव्रतं च सांवत्सरिकं वेदव्रतेनैव व्याख्यातम्" (अथर्वपरिशिष्टे ४५।१।७) इति प्रतिपादिते आथर्वणिकानां समाचारे स्वाध्यायस्यैव शिरोव्रतमङ्गमित्यवगम्यमानत्वात्, "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मुण्डको.३।२।११) इति अधिकृतविषयाद् एतच्छब्दाद् अध्ययनशब्दाच् च वेदान्तरोदितत्रेताग्निसम्बन्धरहिताऽथर्वणोक्तैकाग्न्यभिसम्बद्धसौर्यादिशतौदनपर्यन्तयज्ञविशेषस्येव शिरोव्रतस्याऽपि तेष्वाथर्वणिकेष्वेव नियमः, न ब्रह्मविद्यायामित्यवगम्यते इत्यर्थः। एवं च शिरोव्रतं न विद्याभेदनिमित्तमिति भावः।

हिन्दी – आथर्वणिकों के स्वाध्यायाध्ययन का ही शिरोव्रत अङ्ग होने की बात उन के सदाचार से अवगत होने से, और "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" इस श्रुति के एतत्शब्द से तथा अध्ययनवाचक शब्द से भी, जैसे आथर्वणोक्त सौर्यादि यज्ञों का आथर्वणिकों से ही सम्बन्ध है वैसे ही, शिरोव्रत का भी आथर्वणिकों से ही सम्बन्ध है, ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध नहीं है, यह बात अवगत होती है। अतः शिरोव्रत विद्याभेद का निमित्त नहीं होता है, यह भाव है।

३६३. दर्शयति च ३।३।४॥

"एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः" (ऐ.आ.३।२।३, शा.आ.८।४), "तमेतमग्गृँनिरित्त्यद्ध्वर्य्यवऽउपासते यजुरित्त्येष हीदꣳ सर्व्वय्ँ युनक्क्ति, सामेतिच्छन्दोगाऽएतस्मिन् न्हीदꣳ सर्व्वꣳ समानम्, उक्क्थमिति बह्वृचाऽएष हीदꣳ सर्व्वमुत्थापयति" (मा.वा.शत.१०।५।२।२०) "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" (कठो.१।२।१५), इत्यादिका श्रुतिः सर्वेषु वेदेषु प्रतिपाद्यं ब्रह्मतत्त्वमेकमेव दर्शयति चेत्यर्थः। प्रायदर्शनन्यायेन सर्वेषु वेदान्तेषु प्रत्येतव्यं प्राणाद्युपासनमपि एकमेवेत्यवगम्यते इति भावः।

हिन्दी – "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" इत्यादि श्रुति सभी वेदों में प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व को एक ही दिखाती भी है। इस से सभी उपनिषदों में प्रतिपाद्य प्राणादि की उपासनाएँ भी एक ही हैं, यह बात भी अवगत होती है, यह भाव है।

अथ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – नानावेदशाखासु प्रतिपादितं प्राणविद्यादिकमुपासनम्।

विशयः – एकस्यां शाखायां प्रतिपादितं प्राणविद्यादिकमुपासनम् अन्यस्यां शाखायामुक्तं प्राणविद्यादिकमुपासनं चाऽनेकमुतैकमिति।

पूर्वपक्षः – ऐतरेयकं शाङ्खायनकं कौषीतककं तैत्तिरीयकं माध्यन्दिनीयकं कौथुमकं राणायनीयकं पैप्पलादकं शौनककम् इत्यादिकानां विद्यानाम्नां भेदात्, प्राणसंवादे माध्यन्दिनीयके रेतस्सहितानां पञ्चानां प्राणानामुक्तत्वेन कौथुमके चतुर्णामेव प्राणानामुक्त-

त्वेन च रूपभेदात्, शिरोव्रतादीनां धर्माणां कस्यां चिच् छाखायां दर्शनात् कस्यां चित् त्वदर्शनाच् चेति प्रतिशाखं प्राणविद्यादिरूपमुपासनं भिन्नमिति।

उत्तरम्– माध्यन्दिनीयके कौथुमके च **"यो ह वै ज्ज्येष्ठञ्च श्श्रेष्ठञ्च वेद"** इत्यादिकानां चोदनानाम् **"ज्येष्ठश्च्च श्श्रेष्ठश्च्च स्वानाम् भवति"** इत्यादिभिर् वचनैः प्रतिपादितानां फलसंयोगानाम्, ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषान्वितप्राणत्वादीनां रूपाणाम्, प्राणविद्येत्यादीनामाख्यानां चाऽविशेषात्, ऐतरेयकं माध्यन्दिनीयकमित्यादीनां नाम्नां चाऽध्येतृमात्रप्रसिद्धत्वाद् उपासनाभिस् तेषामसम्बन्धात्, शिरोव्रतादीनां च धर्माणामध्ययनमात्रसम्बद्धत्वाच्च शाखाभेदेऽपि प्राणविद्यादिकम् उपासनमेकमेवेति।

निर्णयः– चोदनाद्यभेदे सर्ववेदान्तप्रत्ययं प्राणविद्यादिकमुपासनमेकमेवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. प्राणाद्युपासनं नानाशाखासु श्रूयते खलु।
२. उपासनं तच् शाखाया भेदाद् भिन्नं भवेन् न वा॥१॥
३. नामरूपादिभेदेन तद् भिन्नमिति के चन।
४-५. चोदनादेरभेदात् तदभिन्नमिति निर्णयः॥२॥

१०२.(२) उपसंहाराधिकरणम् (सू. ५)

विद्यैक्यविषयके विचारे कृते तस्य प्रयोजनं गुणोपसंहारं प्रतिपादयन्नाह–

३६४. उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च ३।३।५॥ इति।

यथाऽग्निहोत्रादिविधिशेषस्याऽङ्गस्य शाखान्तरे श्रुतस्य अर्थाभेदात् शाखान्तरस्याऽग्निहोत्रादौ उपसंहारो भवति तथैव समाने उपासने शाखान्तरे श्रुतस्य गुणस्य शाखान्तरस्योपासनेऽपि उपासनस्याऽभेदादुपसंहारो भवतीत्यर्थः।

सत्यपि सर्वशाखासाधारणे जैमिनीये धर्ममीमांसासूत्रे यथाऽग्निहोत्रादौ शाखान्तरोक्ताङ्गोपसंहारेणाऽग्निहोत्रस्य प्रयोगाय ततत्च्छाखीयाग्निहोत्रादिकर्मकल्पसूत्राणामावश्यकत्वं तथैव सत्यपि बादरायणीये सर्वशाखासाधारणे सूत्रे तत्तच्छाखोक्तप्राणोपासनाद्युपासन-प्रयोग-व्यवस्थापनाय ततत्च्छाखीयमुपासनकल्पसूत्रमावश्यकं दृश्यते। किन्तु तादृशं कल्पसूत्रमनुपलभ्यमानं प्रतीयते। पञ्चदश्याम् (९।२७,२८), वेदान्तकल्पतरुपरिमले (३।३।५), सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे (३।८) च तादृशानि कल्पसूत्राणि उल्लिखितानि दृश्यन्ते, तानि विद्वद्भिरन्वेष्टव्यानि।

हिन्दी – जैसे अग्निहोत्रादि के विधि का अङ्ग अन्य शाखा में विहित होने पर भी मुख्य कर्म में अभेद होने से अन्य शाखा के अग्निहोत्रादि में भी उपसंहृत (समुच्चित) होता है, वैसे ही समान उपासना में अन्य शाखा में विहित गुण अन्य शाखा में विहित उपासना में भी उपसंहृत (समुच्चित) होता है।

अथोपसंहाराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– नानाशाखासु श्रुता उपास्यगुणाः।

विशयः– एकस्योपास्यस्य एकस्यां शाखायां श्रुता गुणा अन्यस्यां शाखायां श्रुते तस्मिन्नेवोपास्ये उपसंहर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः– एकस्यां शाखायां श्रुतैस् तस्योपास्यस्य गुणैरेव तस्यां शाखायां विहितस्य तस्योपासनस्योपकारो भवतीति शाखान्तरे प्रोक्तास् तस्योपास्यस्य गुणाः शाखान्तरोक्ते उपास्ये नोपसंहर्तव्या इति।

उत्तरम्– अग्निहोत्रादिकर्मसु बहुवेदगतन्यायविवेकज्ञैस् तत्तच्छाखाकल्पसूत्रकारैः शाखान्तरोक्तानामपि केषाञ्चिदङ्गानामुपसंहारस्य कृतत्वात्, उपासनेऽपि समानस्योपास्यस्य शाखान्तरे प्रोक्ता गुणा अपि **"कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वम्"** (शाबरभाष्ये १०।६।६२, ११।१।१५) इति न्यायाच्चोपसंहर्तव्या इति वाजसनेयकादिषु प्राणोपासनादौ श्रुता रेतआख्यगुणादयः (मा.वा.शत.१४।९।२।१२, का.वा.बृह.६।१।१२) छान्दोग्यादिषु श्रुतेषु (५।१।१-१५) प्राणोपासनादिष्वपि उपसंहर्तव्या अवगन्तव्या इति।

निर्णयः– वाजसनेयकादिषु प्राणोपासनादौ श्रुता रेतआख्यगुणादयश् छान्दोग्यादिषु श्रुतेषु प्राणोपासनादिष्वपि उपसंहर्तव्या अवगन्तव्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. नानाशाखासु विविधा उपास्यानां गुणाः श्रुताः।
२. एकत्रोक्तास् तु तेऽन्यत्रोपसंहार्या न वा मताः॥१॥
३. तेऽनाहार्याः स्वशाखायामनुक्तेरिति के चन।
४-५. आहार्यास्ते फलाधिक्यायाऽग्निहोत्राङ्गवन् मताः॥२॥

१०३.(३) अन्यथात्वाधिकरणम् (सू. ६-८)

गुणसामान्यकृते विद्यैक्ये प्रतिपादिते तदपवादं प्रतिपादयन्नाह–

३६५. अन्यथात्वं शब्दादिति चेन् नाऽविशेषात् ३।३।६॥ इति।

"ते ह देवाऽऊचुर् हन्ताऽसुरान् न्यजज्ञ ऽउद्द्गीथेनाऽत्ययामेति" (मा.वा.शत.१४।४।१।२, का.वा.बृह.१।३।१) इत्युक्तायाः प्राणविद्यायाः, **"तद् ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति"** (छा.१।२।१) इत्युक्तायाः प्राणविद्यायाश्च **"त्वन् नऽउद्द्गाय"** (मा.वा.शत.१४।४।१।२, का.वा.बृह.१।३।२) इति एकत्र प्राणस्य उद्गीथकर्तृत्वस्य प्रतिपादकाच्छब्दात्, अन्यत्र **"तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे"** (छा. १।२।७) इति प्राणस्य उपास्योद्गीथत्वस्य प्रतिपादकात् शब्दाच्च नानात्वमिति

चेत्, देवासुरसङ्ग्रामोपक्रमादीनां बहूनामर्थानामुभयत्राऽविशेषेण समानत्वान् न तथा मन्तव्यमित्यर्थः।

हिन्दी – प्राणविद्या में बृहदारण्यक में प्राण को उद्‌गीथ के कर्ता के रूप में प्रतिपादन करने वाला शब्द होने से और छान्दोग्योपनिषद् में प्राण को उपास्य उद्‌गीथ के रूप में प्रतिपादन करने वाला शब्द होने से उन प्राणविद्याओं में भेद है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि उपक्रमादि में कोई विशेष (भेद) न होने से उन प्राणविद्याओं में भेद नहीं माना जा सकता है।

३६६. न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ३।३।७॥

वाजसनेयके सकलोद्‌गीथभक्तिरुच्यते, उद्‌गातुर् ऋत्विजः प्राणत्वेनोपासनं चोच्यते इति, छान्दोग्ये तु उद्‌गीथावयवे ओङ्कारे एव प्राणदृष्टिरुपदिश्यते इति उपक्रमयोर् भेदाद् उपास्यभेदेन छान्दोग्योक्तपरोवरीयस्त्वगुणकोद्‌गीथोपासन-(१।९।२)-हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणकोद्‌गीथोपासनयोर् (१।६।१-८) यथा नाऽभेदस् तथैवाऽनयोरुद्‌गीथोपनयोरपि नाऽभेदः, किन्तु भेद एवेत्यर्थः।

हिन्दी – उपास्य में भेद होने से जैसे परोवरीयस्त्वादिगुणयुक्त उद्‌गीथोपासन और हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणयुक्त उद्‌गीथोपासन में अभेद नहीं हो सकता है, वैसे ही उपक्रम में भेद होने से बृहदारण्यकोपनिषद् के प्राणोपासना में और छान्दोग्योपनिषद् के प्राणोपसना में भी अभेद नहीं हो सकता है।

३६७. सञ्ज्ञातश्चेत् तदुक्तमस्ति तु तदपि ३।३।८॥

उद्‌गीथविद्येति अध्येतृप्रसिद्धाया अभिन्नायाः संज्ञाया दर्शनाद् वाजसनेयकोक्त-छान्दोग्योक्तोद्‌गीथविद्यायामप्यभेद युक्त इति चेत्, तदुत्तरं तु **“न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत्”** (३।३।७) इत्यनेन पूर्वसूत्रेणैवोक्तम्, उद्‌गीथविद्येति संज्ञाया अभेदेऽपि परोवरीयस्त्वादिगुणकोद्‌गीथोपासन-हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणकोद्‌गीथोपासनादिषु उपासनभेदोऽस्त्येव, तस्मात् संज्ञायामभेदो विद्यायामभेदे निर्णायको हेतुर् भवितुं न शक्नोतीत्यर्थः।

हिन्दी – ‘उद्‌गीथविद्या’ इस संज्ञा में अभेद होने से बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रतिपादित उद्‌गीथविद्या में और छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित उद्‌गीथ विद्या में भी अभेद मानना युक्तियुक्त है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि इस शङ्का का समाधान “न वा प्रकरणभेदात्” (३।३।७) इत्यादि सूत्र से ही किया जा चुका है; संज्ञा में अभेद होनेपर भी परोवरीयस्त्वादिगुणयुक्त उद्‌गीथोपासन में और हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणयुक्त उद्‌गीथोपासन में भेद है ही; अत एव संज्ञा में अभेद विद्या के अभेद होने में निर्णायक हेतु नहीं हो सकता है।

अथाऽन्यथात्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– वाजसनेयके “ते ह देवाऽऊचुर् हन्ताऽसुरान् न्यजज्ञऽउद्‌द्‌गीथेनाऽत्ययामेति” (मा.वा.शत.१४।४।१।२, का.वा.बृह.१।३।१) इति प्रतिपादिता उद्‌गीथविद्या,

छान्दोग्ये "तद् ध देवा उद्‌गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति" (१।२।१) इति प्रतिपादिता चोद्‌गीथविद्या।

विशयः– उक्तयोरुद्‌गीथविद्ययोरभेदो भेदो वेति।

पूर्वपक्षः– देवासुरसङ्ग्रामादीनां बहूनामर्थानामुभयत्र समानत्वात् समाख्याया एकत्वाच्च उक्तयोरुद्‌गीथविद्ययोरभेद इति।

उत्तरम्– वाजसनेयके सकलाया उद्‌गीथभक्तेरुक्तत्वात्, उद्‌गातुर् ऋत्विजः प्राणत्वेनोपास्यतायाः प्रतिपादनात्; छान्दोग्ये तु उद्‌गीथभक्तेरवयवे ओङ्कारे एव प्राणदृष्टेरुपदिष्टत्वाच्चोपास्यभेदात्, उपास्यभेदे समाख्याया अभेदस्य विद्याया अभेदे हेतुत्वस्याऽयोगात् तयोरुद्‌गीथविद्ययोरभेदो नेत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– वाजसनेयकोक्त-छान्दोग्योक्तयोरुद्‌गीथोपासनयोरभेदो नैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. उद्‌गीथविद्या छान्दोग्ये तथा वाजसनेयके।
२. तत्राऽभेदोऽथवा भेदो भवेदिति तु संशयः॥१॥
३. नाम्नोर् बहूनां चाऽर्थानां साम्यात् स्यादेकता तयोः।
४-५. उपास्यभेदाद् भेदो हि तयोरिति तु निर्णयः॥२॥

१०४.(४) व्याप्त्यधिकरणम् (सू. ९)

पूर्वविचारितायामुद्‌गीथविद्यायामेव विशेषमाह–

३६८. व्याप्तेश्च समञ्जसम् ३।३।९॥ इति।

"ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत" (छा.१।१।१) इति वाक्ये प्रोक्तस्य ओङ्काररूपस्याऽक्षरस्य सर्वेषु वेदेषु प्रयुज्यमानतया व्याप्तेर् दर्शनाच्च कतमद् अक्षरमुपासनाय ग्राह्यमिति सन्देहे उद्‌गीथगतमेव ओमित्येतदक्षरमुपासनाय ग्राह्यमिति निर्णयाय उद्‌गीथमिति विशेषणं समञ्जसं भवतीत्यर्थः।

हिन्दी– "ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत" इस वाक्य में बताए गए ओङ्काररूप अक्षर का सभी वेदों में प्रयुज्यमान होने से सर्वत्र व्याप्ति देखे जाने से भी उपासन के लिए किस अक्षर का ग्रहण करना चाहिए इस सन्देह का निराकरण करने के लिए उद्‌गीथभक्ति में विद्यमान 'ओम्' यह अक्षर ही उपासना के लिए ग्राह्य है ऐसे निर्णय के लिए उक्त वाक्य में प्रयुक्त "उद्‌गीथम्" यह विशेषण युक्तियुक्त है।

अथ व्याप्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत" (छा.१।१।१) इति वाक्यम्।

विशयः– ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमिति सामानाधिकरण्यं शालग्रामशिला विष्णुरित्यत्रेव आरोपे वा चौरः स्थाणुरित्यत्रेवाऽपवादे वा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यत्रेव एकत्वे वा नीलमुत्पलमित्यत्रेव विशेष्यविशेषणभावे वा स्यादिति।

पूर्वपक्षः– पक्षविशेषस्य निर्धारणे कारणस्याऽभावादनिर्धारणमिति।

उत्तरम्– आरोपेऽपवादेऽपि फलस्याऽभावात्, साम्नः सकलायां द्वितीयभक्तौ उद्गीथे ओङ्कार-शब्दस्याऽप्रयुज्यमानतया एकत्वस्य चाऽभावात्, सकलवेदगतस्योङ्कारस्य व्यावर्तनेन उद्गीथभक्तिगतस्योङ्कारस्य बोधनेनोद्गीथशब्दस्य विशेषणतया चरितार्थत्वाद् विशेषण-विशेष्यभावे सामानाधिकरण्यमेतदिति।

निर्णयः– **"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"** (छा.१।१।१) इति वाक्ये अक्षरोद्गीथयोः सामानाधिकरण्यं विशेष्यविशेषणभावे एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रूयतेऽक्षरमुद्गीथमुपासीतेति हि श्रुतिः।
२. सामानाधिकरण्यं तदारोपेऽन्यत्र वा भवेत्॥१॥
३. निर्धारणे हेत्वभावाद् यत्र कुत्राऽपि तत् खलु।
४-५. विशेषणविशेष्यत्वे तदस्तीति तु निर्णयः॥२॥

१०५.(५) सर्वाभेदाऽधिकरणम् (सू. १०)

गुणोपसंहारसिद्धान्तं प्रपञ्चयन्नाह–

३६९. सर्वाभेदादन्यत्रेमे ३।३।१०॥ इति।

सर्वेषु वेदान्तेषु प्राणविद्याया उपास्यफलैकत्वादिना अभेदादेकत्र श्रुता इमे वसिष्ठत्वादयो गुणा अन्यत्राऽपि उपसंहार्या इत्यर्थः।

हिन्दी– सभी उपनिषदों में प्रतिपादित प्राणविद्याओं में उपास्य फल इत्यादि में अभेद होने से एक उपनिषद् की प्राणविद्या में श्रुत ये वसिष्ठत्वादि गुण अन्य उपनिषद् की प्राणविद्या में भी जोडे जाने चाहिए।

अथ सर्वाभेदाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– वाजसनेयके छान्दोग्ये च प्राणविद्यायां श्रुता वागादीनां वसिष्ठत्वादयो गुणाः।

विशयः– किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणा कौषीतकिनामाम्नाये अन्यत्र च श्रुतायां वसिष्ठ-त्वादिगुणोल्लेखरहितायां प्राणविद्यायामुपसंहार्या न वेति।

पूर्वपक्षः– **"एवं विद्वान्"** (कौषी.२।९) इत्युक्त्या तच्छाखोक्तगुणानामेव परामर्शात् तच्-छाखोक्तप्राणविद्यायामन्यशाखोक्तगुणा नोपसंहार्या इति।

उत्तरम्– उपास्य-फलैकत्वादिना सर्वत्र प्राणविद्याया अभेदाद् उपास्यद्वारा सन्निहितानां शाखान्तरोक्तगुणानामपि सङ्ग्रहीतुं शक्यत्वाद् वाजसनेयके छान्दोग्ये च प्राणविद्यायां श्रुता वसिष्ठत्वादयो गुणा कौषीतकिनामाम्नायेऽन्यत्र च श्रुतायां प्राणविद्यायामप्युपसंहार्या इति।

निर्णयः– समानायां विद्यायामेकत्र श्रुता गुणा अन्यत्राऽपि उपसंहार्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. छान्दोग्यादिप्राणविद्या-वसिष्ठत्वादिका गुणाः।
२. कौषीतक्यादिक-प्राण-विद्यासु यान्ति ते न वा ॥१॥
३. एवंशब्दात् स्वशाखोक्तग्रहणात् तु न यान्ति ते।
४-५. उपास्यैक्यात् तु सर्वत्र ते यान्तीति तु निर्णयः ॥२॥

१०६.(६) आनन्दाद्यधिकरणम् (सू. ११-१३)

गुणोपसंहारसिद्धान्तमेव कृत्वाचिन्तान्यायेनाऽपि प्रपञ्चयन्नाह—

३७०. आनन्दादयः प्रधानस्य ३।३।११॥ इति।

प्रधानस्य ब्रह्मण एकत्र वेदान्ते श्रुता आनन्दादयो धर्माः प्रधानस्य ब्रह्मणः सर्वेषु वेदान्तेषु अभेदाद् अन्यत्राऽपि उपसंहार्या इत्यर्थः।

हिन्दी – प्रधान ब्रह्म के एक उपनिषद् में श्रुत आनन्दादि धर्म सभी उपनिषदों में प्रतिपाद्य प्रधान ब्रह्म एक ही होने से अन्य उपनिषद् में श्रुत प्रधान ब्रह्म में भी जोडे जाने चाहिए।

३७१. प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ३।३।१२॥

प्रियमोदादिषूपचयापचययोः सत्त्वात् तयोश्च भेदे सत्येव सम्भवाद् तैत्तिरीयके **"तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः"** (२।५) इत्यादिना प्रोक्तानां प्रियशिरस्त्वादिधर्माणाम् अन्यत्रोक्ते भेदरहिते ब्रह्मणि उपसंहारस्याऽप्राप्तिरवगन्तव्येत्यर्थः।

आनन्दमयाधिकरणे प्रियशिरस्त्वादीनां कोशधर्मत्वस्योक्तत्वात् परस्मिन् ब्रह्मणि चित्तावतारस्योपायत्वेनैव तेषां परिकल्पितत्वाच्च तेषां ब्रह्मधर्मत्वाभावाद् ब्रह्मणि तेषामुपसंहारस्य शङ्कैव नोदेतीति प्रियशिरस्त्वादीन् ब्रह्मधर्मान् कृत्वा सूत्रकारेण न्यायमात्रमत्र प्रदर्शितमिति मन्तव्यम्।

हिन्दी – प्रिय मोद इत्यादि में उपचय और अपचय हो सकने से तथा भेद होने पर ही उपचय और अपचय सम्भव होने से अन्य स्थल में प्रतिपादित भेदरहित ब्रह्म में तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रोक्त प्रियशिरस्त्वादि धर्मों का उपसंहार नहीं हो सकता है। इस सूत्र को कृत्वाचिन्तापरक माना जाता है।

३७२. इतरे त्वर्थसामान्यात् ३।३।१३॥

इतरे तु आनन्दादयो ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थाः सर्वे धर्माः प्रतिपाद्यस्याऽर्थस्य ब्रह्मण एकत्वात् तत्तद्विरुद्धधर्मत्यागेन ब्रह्म लक्षयितुं सर्वत्र वेदान्तेषूपसंहर्तव्या इत्यर्थः।

हिन्दी – प्रियशिरस्त्वादि से भिन्न अन्य आनन्दादि ब्रह्मज्ञानोपयोगी सभी धर्म तो प्रतिपाद्य अर्थरूप ब्रह्म एक ही होने से उस उस विरुद्ध धर्म के त्याग से ब्रह्म को लक्षित करने के लिए सभी उपनिषदों के ब्रह्मस्वरूप के निरूपणों में जोडे जाने चाहिए।

अथाऽऽनन्दाद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "आनन्दो ब्रह्म" (तै.३।६), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.२।१) इत्यादिषु तैत्तिरीयश्रुतिवाक्यादिषु श्रुता धर्माः।

विशयः– एते आनन्दादयो धर्माः "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ.३।५।३) इत्यादिषु ऐतरेयिश्रुति-वाक्यादिषु ब्रह्मवाक्येषु उपसंहर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः– उपास्यब्रह्मधर्मा इव ज्ञेयब्रह्मधर्मा आनन्दादयोऽपि एकत्र श्रुतिवाक्ये श्रुता अन्यत्र श्रुतिवाक्ये नोपसंहर्तव्या इति।

उत्तरम्– धेयत्वेन विधीयमानेषु धर्मेषु यथाविधि व्यवस्थाया उचितत्वेऽपि अविधेयेषु प्रतिपत्तिफलेषु आनन्दादिषु व्यवस्थाया हेतोरभावात् ते सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति।

निर्णयः– आनन्दादयो ज्ञेयब्रह्मधर्मा ब्रह्मप्रतिपत्तिवाक्येषु सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आनन्दसत्यज्ञानाद्या ब्रह्मधर्माः श्रुताः क्व चित्।
२. ते सर्वत्रोपसंहार्या न वेति खलु संशयः॥१॥
३. नोपसंहरणीयास्ते वामनीत्वादयो यथा।
४-५. प्रतिपत्त्यर्थकत्वात् तूपसंहार्या हि ते मताः॥२॥

१०७.(७) आध्यानाधिकरणम् (सू. १४-१५)

विद्याऽभेदाऽभेदविचारप्रसङ्गेन प्रकरणविशेषे प्रतिपाद्यभेदाभेदं विचारयितुमाह–

३७३. आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ३।३।१४॥ इति।

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" (कठो.१।३।११) इत्यादौ अर्थादीनां ततस्ततः परत्वेन प्रतिपादने प्रयोजनस्याऽभावाद् आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनाय पुरुष एवाऽर्थादिभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादि श्रुति में अर्थादि पदार्थों का इन्द्रियादि से परत्व के प्रतिपादन का ध्यान के लिए कोई प्रयोजन न होने से ध्यानपूर्वक सम्यग्दर्शन के लिए केवल पुरुष का ही सभी पदार्थों से परत्व का तात्पर्यार्थ के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

३७४. आत्मशब्दाच्च ३।३।१५॥

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठो.१।३।१२) इति प्रकृते पुरुषे प्रयुक्ताद् आत्मशब्दाच्च

उत्तरम्– उपास्य-फलैकत्वादिना सर्वत्र प्राणविद्याया अभेदाद् उपास्यद्वारा सन्निहितानां शाखान्तरोक्तगुणानामपि सङ्ग्रहीतुं शक्यत्वाद् वाजसनेयके छान्दोग्ये च प्राणविद्यायां श्रुता वसिष्ठत्वादयो गुणा कौषीतकिनामाम्नायेऽन्यत्र च श्रुतायां प्राणविद्यायामप्युपसंहार्या इति।

निर्णयः– समानायां विद्यायामेकत्र श्रुता गुणा अन्यत्राऽपि उपसंहार्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. छान्दोग्यादिप्राणविद्या-वसिष्ठत्वादिका गुणाः।
२. कौषीतक्यादिक-प्राण-विद्यासु यान्ति ते न वा॥१॥
३. एवंशब्दात् स्वशाखोक्तग्रहणात् तु न यान्ति ते।
४-५. उपास्यैक्यात् तु सर्वत्र ते यान्तीति तु निर्णयः॥२॥

१०६.(६) आनन्दाद्यधिकरणम् (सू. ११-१३)

गुणोपसंहारसिद्धान्तमेव कृत्वाचिन्तान्यायेनाऽपि प्रपञ्चयन्नाह—

३७०. आनन्दादयः प्रधानस्य ३।३।११॥ इति।

प्रधानस्य ब्रह्मण एकत्र वेदान्ते श्रुता आनन्दादयो धर्माः प्रधानस्य ब्रह्मणः सर्वेषु वेदान्तेषु अभेदाद् अन्यत्राऽपि उपसंहार्या इत्यर्थः।

हिन्दी– प्रधान ब्रह्म के एक उपनिषद् में श्रुत आनन्दादि धर्म सभी उपनिषदों में प्रतिपाद्य प्रधान ब्रह्म एक ही होने से अन्य उपनिषद् में श्रुत प्रधान ब्रह्म में भी जोडे जाने चाहिए।

३७१. प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ३।३।१२॥

प्रियमोदादिषूपचयापचययोः सत्त्वात् तयोश्च भेदे सत्येव सम्भवाद् तैत्तिरीयके **"तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः"** (२।५) इत्यादिना प्रोक्तानां प्रियशिरस्त्वादिधर्माणाम् अन्यत्रोक्ते भेदरहिते ब्रह्मणि उपसंहारस्याऽप्राप्तिरवगन्तव्येत्यर्थः।

आनन्दमयाधिकरणे प्रियशिरस्त्वादीनां कोशधर्मत्वस्योक्तत्वात् परस्मिन् ब्रह्मणि चित्तावतारस्योपायत्वेनैव तेषां परिकल्पितत्वाच्च तेषां ब्रह्मधर्मत्वाभावाद् ब्रह्मणि तेषामुपसंहारस्य शङ्कैव नोदेतीति प्रियशिरस्त्वादीन् ब्रह्मधर्मान् कृत्वा सूत्रकारेण न्यायमात्रमत्र प्रदर्शितमिति मन्तव्यम्।

हिन्दी– प्रिय मोद इत्यादि में उपचय और अपचय हो सकने से तथा भेद होने पर ही उपचय और अपचय सम्भव होने से अन्य स्थल में प्रतिपादित भेदरहित ब्रह्म में तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रोक्त प्रियशिरस्त्वादि धर्मों का उपसंहार नहीं हो सकता है। इस सूत्र को कृत्वाचिन्तापरक माना जाता है।

३७२. इतरे त्वर्थसामान्यात् ३।३।१३॥

इतरे तु आनन्दादयो ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थाः सर्वे धर्माः प्रतिपाद्यस्याऽर्थस्य ब्रह्मण एकत्वात् तत्तदविरुद्धधर्मत्यागेन ब्रह्म लक्षयितुं सर्वत्र वेदान्तेषूपसंहर्तव्या इत्यर्थः।

हिन्दी – प्रियशिरस्त्वादि से भिन्न अन्य आनन्दादि ब्रह्मज्ञानोपयोगी सभी धर्म तो प्रतिपाद्य अर्थरूप ब्रह्म एक ही होने से उस उस विरुद्ध धर्म के त्याग से ब्रह्म को लक्ष्यित करने के लिए सभी उपनिषदों के ब्रह्मस्वरूप के निरूपणों में जोडे जाने चाहिए।

अथाऽऽनन्दाद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "आनन्दो ब्रह्म" (तै.३।६), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.२।१) इत्यादिषु तैत्तिरीयश्रुतिवाक्यादिषु श्रुता धर्माः।

विशयः– एते आनन्दादयो धर्माः **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** (ऐ.३।५।३) इत्यादिषु ऐतरेयिश्रुति-वाक्यादिषु ब्रह्मवाक्येषु उपसंहर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः– उपास्यब्रह्मधर्मा इव ज्ञेयब्रह्मधर्मा आनन्दादयोऽपि एकत्र श्रुतिवाक्ये श्रुता अन्यत्र श्रुतिवाक्ये नोपसंहर्तव्या इति।

उत्तरम्– धेयत्वेन विधीयमानेषु धर्मेषु यथाविधि व्यवस्थाया उचितत्वेऽपि अविधेयेषु प्रतिपत्तिफलेषु आनन्दादिषु व्यवस्थाया हेतोरभावात् ते सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति।

निर्णयः– आनन्दादयो ज्ञेयब्रह्मधर्मा ब्रह्मप्रतिपत्तिवाक्येषु सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आनन्दसत्यज्ञानाद्या ब्रह्मधर्माः श्रुताः क्व चित्।
२. ते सर्वत्रोपसंहार्या न वेति खलु संशयः॥१॥
३. नोपसंहरणीयास्ते वामनीत्वादयो यथा।
४-५. प्रतिपत्त्यर्थकत्वात् तूपसंहार्या हि ते मताः॥२॥

१०७.(७) आध्यानाधिकरणम् (सू. १४-१५)

विद्याऽभेदाऽभेदविचारप्रसङ्गेन प्रकरणविशेषे प्रतिपाद्यभेदाभेदं विचारयितुमाह–

३७३. आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ३।३।१४॥ इति।

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" (कठो.१।३।११) इत्यादौ अर्थादीनां ततस्ततः परत्वेन प्रतिपादने प्रयोजनस्याऽभावाद् आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनाय पुरुष एवाऽर्थादिभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादि श्रुति में अर्थादि पदार्थों का इन्द्रियादि से परत्व के प्रतिपादन का ध्यान के लिए कोई प्रयोजन न होने से ध्यानपूर्वक सम्यग्दर्शन के लिए केवल पुरुष का ही सभी पदार्थों से परत्व का तात्पर्यार्थ के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

३७४. आत्मशब्दाच्च ३।३।१५॥

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठो.१।३।१२) इति प्रकृते पुरुषे प्रयुक्ताद् आत्मशब्दाच्च

आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनाय पुरुष एवाऽस्मिन् प्रकरणे इन्द्रियादिभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यते इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादि श्रुति के प्रकरण में आए हुए "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" इस वचन में प्रकृतपुरुषवाचकरूप में प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द से भी इस प्रकरण में ध्यान पूर्वक सम्यग्दर्शन के लिए केवल पुरुष का ही सभी पदार्थों से परत्व प्रतिपादित होने की बात अवगत होती है।

अथाऽध्यानाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" (कठो.१।३।११) इत्यादिकं प्रकरणम्।

विशयः– किमेतस्मिन् प्रकरणे किमेते सर्व एवाऽर्थादयस् ततस् ततः परत्वेन तात्पर्येण प्रतिपाद्यन्ते उत पुरुष एव इन्द्रियादिभ्यः सर्वेभ्यः परस् तात्पर्येण प्रतिपाद्यते इति।

पूर्वपक्षः– वाक्यानां बहुत्वात् प्रत्येकमेतेषामर्थादीनां परत्वं प्रतिपाद्यते इति।

उत्तरम्– अर्थादीनां परत्वस्य प्रतिपादने प्रयोजनस्याऽभावात्, पुरुषस्य परत्वस्य प्रतिपादन एव पुरुषसम्यग्ज्ञानेन मोक्षसिद्धेः प्रयोजनस्य सत्त्वात्, प्रकृतस्य पुरुषस्याऽऽत्मत्वेन दुर्दर्शत्वेन च प्रतिपादितत्वाच्चाऽस्मिन् प्रकरणे पुरुषस्यैव इन्द्रियादिभ्यः सर्वेभ्यः परत्वं प्रतिपाद्यते इति।

निर्णयः– "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादिके प्रकरणे पुरुष एव इन्द्रियादिभ्यः सर्वेभ्यः पर इति तात्पर्येण प्रतिपाद्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ततस्ततः परत्वेन प्रोक्ता अर्थादयः श्रुतौ।
२. अर्थादीनां परत्वेऽस्ति तात्पर्यं तु श्रुतेर् न वा॥१॥
३. तात्पर्यमस्ति वाक्यानां बहुत्वादिति के चन।
४-५. पुरुषस्य परत्वे हि तात्पर्यमिति वैदिकाः॥२॥

१०८.(८) आत्मगृहीत्यधिकरणम् (सू. १६-१७)

विद्याया ऐक्यस्य प्रतिपादकं न्यायं प्रपञ्चयन् वाक्यशेषेण वाक्यार्थनिर्णयं प्रदर्शयन्नाह–

३७५. आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ३।३।१६॥ इति।

इतरेषां वाजसनेयिनाम् "कतमऽआत्मा" (मा.वा.शत.१४।७।१।७, का.वा.बृह.४।३।७) इत्यत्र यथा आत्मनो ग्रहणं तथैवात्र "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"

(छा.६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि उत्तरात् **"स आत्मा तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७) इत्यादिकात् तादात्म्योपदेशात् सच्छब्देन आत्मन एव ग्रहणं भवितुमर्हतीत्यर्थः।

हिन्दी – वाजसनेयियों की शाखा में "कतम ऽआत्तँमा" इत्यादि में जैसे आत्मा का ग्रहण है, वैसे ही सामवेदियों के "सदेव सोम्येदम्" इत्यादि वाक्य में भी आगे किए गए "स आत्मा तत् त्वमसि" इत्यादि में सत् से आत्मा के तादात्म्य के उपदेश से सत्शब्द से आत्मा का ही ग्रहण अवगत होता है।

३७६. अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ३।३।१७।

उपक्रमस्य प्रकरणेऽन्वयाद् उपक्रमे च छान्दोग्ये आत्मशब्दस्याभावान् न तत्राऽऽत्मग्रहणमिति चेत्, उपक्रमे **"येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्"** (छा.६।१।१) इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्याऽवधारणात्, सच्छब्देन आत्मनः अग्रहणे चान्यविज्ञानेन आत्मनो विज्ञानस्यासम्भवात्, आत्मविज्ञानेन तु आरम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वेन ज्ञायमानानाम् आत्मातिरिक्तवस्तूनां सर्वेषाम् आत्माऽनन्यत्वेन तेषां विज्ञानस्य सम्भवाच्च छान्दोग्ये सच्छब्देन आत्मनो ग्रहणं स्यादेवेत्यर्थः।

एवञ्च बृहदारण्यके **"कतम ऽआत्तँमा"** इत्यादिकेन प्रकरणेन, छान्दोग्ये **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** इत्यादिकेन प्रकरणेन च प्रतिपाद्योऽर्थः प्रतिपादन-प्रकारभेदेऽपि अभिन्न एवेत्यवगन्तव्यमिति भावः।

एवञ्च द्वयोरेव विद्ययोरभेदोऽनेनाऽधिकरणेन प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः।

एतदधिकरणसूत्रार्थप्रतिपादनं ब्रह्मानन्दसरस्वतीकृतां वेदान्तसूत्रमुक्ता-वलिमपि विचार्य कृतं वेदितव्यम्।

हिन्दी – उपक्रम का प्रकरण में अन्वय होने से और उपक्रम में छान्दोग्य में आत्मशब्द का ग्रहण न होने से छान्दोग्य के उपक्रम के "सदेव" इत्यादि वाक्य के सत्शब्द से आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि छान्दोग्य के उपक्रम में "येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादि वाक्य से एक के विज्ञान से सभी पदार्थों के ज्ञान का अवधारण किए जाने से, और सत्-शब्द से आत्मा को न लेने पर अन्य पदार्थों के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान न हो सकने से, आत्मा का ज्ञान होने पर तो आरम्भणशब्दादि से अनृत रूप में ज्ञायमान आत्मभिन्न सभी पदार्थों का आत्मा से अनन्य रूप में ज्ञान हो सकने से छान्दोग्य के उपक्रम के "सदेव" इत्यादि वाक्य के सत्शब्द से आत्मा का ग्रहण माना ही जाना चाहिए।

अथाऽऽत्मगृहीत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** (छा.६।२।१) इत्यादिकं **"कतम ऽआत्तँमेति"** (मा.वा.शत.१४।७।१।७, का.वा.बृह.४।३।७) इत्यादिकं च प्रकरणम्।

विशयः– किमेते प्रकरणे अतुल्यार्थे तुल्यार्थे वेति।

पूर्वपक्षः– छान्दोग्ये सदेवेति सच्छब्देनोपक्रमाद् बृहदारण्यके तु कतम आत्मेत्यात्मशब्देनोपक्रमात् प्रकरणयोरतुल्यत्वाद् अतुल्यार्थे एव प्रकरणे इति।

उत्तरम्– छान्दोग्येऽपि उत्तरत्र सत आत्मना तादात्म्यस्योपदेशात्, उपक्रमेऽपि एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्याऽवधारणात्, सत आत्मत्वे स्वीकृते एव तस्योपपत्तेः सम्भवाच् च छान्दोग्यप्रकरणमपि आत्मप्रतिपादनपरमेवेति सदेवेत्यादिकं छान्दोग्यप्रकरणं कतम आत्मेत्यादिकं बृहदारण्यकप्रकरणं च तुल्यार्थकं निर्गुणविद्यापरमेवेति।

निर्णयः– सदेवेत्यादिकं छान्दोग्यप्रकरणं कतम आत्मेत्यादिकं बृहदारण्यकप्रकरणं च तुल्यार्थकमेवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सदेवेति च कतम आत्मेति च श्रुती श्रुते।
२. तयोर् भिन्नार्थता स्याद् वैकार्थतेति हि संशयः॥१॥
३. भिन्नार्थतोपक्रमस्य भेदादिति हि के चन।
४-५. आत्मतादात्म्योपदेशान् मताऽभिन्नार्थता विदाम्॥२॥

१०९.(९) कार्याख्यानाऽधिकरणम् (सू. १८)

पूर्वं वाक्यशेषाद् वाक्यार्थे निर्णीते क्वचित् प्रमाणान्तरेण वाक्यशेषस्य बाधेनाऽपि वाक्यार्थनिर्णयो भवतीति प्रदर्शयन् प्राणोपासनाङ्गवाक्यार्थं निरूपयति–

३७७. कार्याख्यानादपूर्वम् ३।३।१८॥ इति।

स्मृत्या विहितस्य कार्यस्य पुरुषमात्रसम्बद्धस्याऽऽचमनस्य **"तस्माद् वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाऽद्भिः परिदधति"** (छा.५।२।२, द्र.- मा.वा. शत.१४।९।२।१५, का.वा.बृह.६।१।१४) इत्यादिभिः श्रुतिभिः अनुवादमात्ररूपेणाऽऽख्यानाद् अन्यतोऽप्राप्तम् अनस्याऽनग्नतायाश् चिन्तनमेव **"अनग्नो ह भवति"** (छा.५।२।२), **"एतमेव तदनमनगग्ँनङ्कुरुते"** (मा.वा.शत.१४।९।२।१५, द्र.- का.वा.बृह.६।१।१४) इत्यादिभिः श्रुतिभिर् विधीयते, न तु प्राप्तमाचमनमित्यर्थः।

हिन्दी– स्मृति से विहित आचमन का ही "तस्माद् वा" इत्यादि श्रुतिवाक्य में अनुवाद के रूप में बताए जाने से अन्य विधि से अप्राप्त अपूर्व प्राण की अनग्नता का चिन्तन ही "अनग्नो ह भवति" इत्यादि श्रुतिवाक्य से विहित है, अन्य विधि से प्राप्त आचमन विहित नहीं है।

अथ कार्याख्यानाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तस्माद् वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताचोपरिष्टाचाऽद्भिः परिदधति" (छा.५।२।२) इत्यादिकाः श्रुतयः।

विशयः– एताः श्रुतय आचमनं विदधति उत प्राणाऽनग्नताचिन्तनं विदधति इति।

पूर्वपक्षः– माध्यन्दिनीयके **"तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेत्"** (मा.वा.शत.१४।९।२।१५) इति स्पष्टतया आचमने एव विधिविभक्तेः श्रूयमाणत्वात् समानप्रकरणस्था एताः सर्वाः श्रुतय आचमनं विदधतीति।

उत्तरम्– कां चनाऽन्यां श्रुतिमनुसृत्य स्मृत्या विहितस्य पुरुषमात्रसम्बद्धस्य प्रायत्यार्थस्याऽऽचमनस्याऽनुवादं कृत्वा एताः श्रुतयस् तेनाऽऽचमनेन कृतायाः प्राणस्याऽनग्नतायाः प्राणोपासकैः कर्तव्यं चिन्तनमेवाऽन्यतोऽप्राप्तं विदधति, माध्यन्दिनीयानामाचामेदिति पाठोऽपि समानप्रकरणस्थाऽन्यश्रुतिवाक्यानुरोधादाचमनानुवादपर एव मन्तव्य इति।

निर्णयः– **"तस्माद् वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाऽद्भिः परिदधति"** इत्यादिकाः श्रुतयोऽपूर्वं प्राणस्याऽनग्नतायाश् चिन्तनमेव विदधतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतमाचमनं प्राणाऽनग्नताचिन्तनं तथा।
२. विधीयतेऽत्राऽऽचमनं वाऽनग्नत्वविचिन्तनम्॥१॥
३. तद्विभक्त्याऽत्राऽऽचमनं विधीयेतेति के चन।
४-५. अपूर्वत्वादनग्नत्वचिन्तनं हि विधीयते॥२॥

११०.(१०) समानाधिकरण् (सू. १९)

विद्याभेदाऽभेद-गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविचारमेव प्रपञ्चयन्नाह—

३७८. समान एवं चाऽभेदात् ३।३।१९॥ इति।

यथा विभिन्नेषु चरणेषु आम्नातानां विद्यानाम् उपास्यस्याऽभेदाद् ऐक्यं गुणानामुपसंहारश्च एवमेव समाने चरणेऽपि उपास्यस्याऽभेदाद् एकस्मिन् प्रकरणे पठिताया विद्याया अन्यस्मिन् प्रकरणे पठितया विद्यया सहाऽभेदः, एकस्मिन् प्रकरणे पठितानामुपास्यगुणानाम् अन्यस्मिन् प्रकरणे पठिते उपास्ये उपसंहारश्च भवतीत्यर्थः। एवञ्च माध्यन्दिनीयके अग्निरहस्यकाण्डे **"सत्त्यम् ब्रह्मेत्त्युपासीत"** (१०।६।२।१) इत्युपक्रम्य **"सऽआत्तँमानमुपासीत मनोमयम् प्राणशरीरम्"** (मा.वा. शत.१०।६।२।२) इति पठिताया विद्याया बृहदारण्यककाण्डे **"मनोमयोऽयम् पुरुषो भाः सत्त्यः"** (मा.वा.शत.१४।८।८।१) इति पठितायाश्च विद्याया एकत्वं गुणोपसंहारश्च भवतीति बोध्यम्।

हिन्दी– जैसे वेदों के विभिन्न शाखासमूहों में पठित विद्याओं में उपास्य के अभेद होने से विद्याओं का ऐक्य होता है, और उपास्यगुणों का उपसंहार भी होता है, वैसे ही वेद के एक ही शाखासमूह में अथवा शाखा में पठित विद्याओं में भी उपास्य का अभेद होने पर एक प्रकरण में पठित विद्या का दूसरे प्रकरण में पठित विद्या से ऐक्य और उपास्यगुणों का उपसंहार भी होता है।

अथ समानाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– समाने चरणे विभिन्नेषु प्रकरणेषु पठितास् तुल्या विद्याः।

विशयः– समाने चरणे विभिन्नेषु प्रकरणेषु पठितानां तुल्यानां विद्यानामैक्यम् उपास्यगुणोपसंहारश्च भवितुमर्हति न वेति।

पूर्वपक्षः– समाने चरणे विभिन्नेषु प्रकरणेषु पठितानां तुल्यानां विद्यानामैक्ये स्वीकृते पौनरुक्त्यदोषस्य प्रसङ्गात् न तादृशीनां विद्यानामैक्यं न वा तत्र उपास्यगुणोपसंहार इति।

उत्तरम्– उपास्यस्यैकत्वे विद्याभेदस्य स्वीकर्तुमशक्यत्वात्, विद्याया अभेदे उपास्यगुणानाम् अनुपसंहारस्य चाऽनुचितत्वात्, एकत्र विद्याया आम्नानं विद्याविधानार्थमितरत्र च गुणविधानार्थमिति अपौनरुक्त्यमिति वक्तुं शक्यत्वाच्च समाने चरणे पठितानामपि तुल्यानां विद्यानामैक्यम् उपास्यगुणोपसंहारश्च भवति। एवं च माध्यन्दिनीयके अग्नि-रहस्यकाण्डे पठितायाः शाण्डिल्यविद्यायाः बृहदारण्यककाण्डे पठितायाः शाण्डिल्यविद्या-याश्चैक्यं तत्र गुणोपसंहारश्च भवतीति।

निर्णयः– समाने चरणे विभिन्नेषु प्रकरणेषु पठितानामपि तुल्यानां विद्यानामैक्यं तत्र गुणोपसंहारश्च भवितुमर्हतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुता शाण्डिल्यविद्या द्विः खलु वाजसनेयके।
२. द्विविधैव भवेदेका विद्या वा सेति संशयः॥१॥
३. एकत्वे पौनरुक्त्यस्य प्रसङ्गाद् द्विविधा भवेत्।
४-५. प्रत्यभिज्ञानतस्त्वेका विद्या भेदो विधौ हि सः॥२॥

१११.(११) सम्बन्धाधिकरणम् (सू. २०-२२)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविचारमेव प्रपञ्चयति–

३७९. सम्बन्धादेवमन्यत्राऽपि ३।३।२०॥ इति।

यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाऽप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त एवमेव एकविद्याभिसम्बन्धाद् अन्यत्राऽपि **"आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्त्यमसृजन्त सत्त्यम् ब्रह्म"** (मा.वा.शत.१४।८।६।१, का.वा.बृह.५।५।१) इत्युपक्रम्य सत्यस्य ब्रह्मणोऽधिदैवतमध्यात्मं चाऽऽयतनविशेषमुपदिश्य उक्तया आदित्यमण्डलपुरुषस्य अहरित्युपनिषदा उपलक्षिताया दक्षिणाक्षिपुरुषस्य अहमित्युपनिषदा उपलक्षितायाश् च विद्यायाश् चेति द्वयोः सत्यब्रह्मविद्ययोश्च परस्परं गुणोपसंहारः स्यात्, एवञ्चोभे अप्युपनिषदावुभयत्राऽनुसन्धातव्ये इति पूर्वः पक्षः। उपनिषद्=रहस्यं नाम।

हिन्दी – जैसे पृथक् पृथक् पठित होने पर भी शाण्डिल्यविद्या में गुणोपसंहार होने की बात प्रतिपादित की गई है, वैसे ही सत्यब्रह्मविद्यादि में अन्यत्र भी गुणों का एक ही विद्या में अभिसम्बन्ध होने से परस्पर गुणोपसंहार होना चाहिए।

३८०. न वा विशेषात् ३।३।२१।।

उपास्यस्य ऐक्येऽपि उपनिषदोः रहस्यनामरूपयोः स्थानविशेषाऽभि-सम्बन्धविशेषाद् भेदात् सत्यब्रह्मविद्ययोः परस्परगुणोपसंहारो नैव भवतीत्यर्थः।

हिन्दी – उपास्य के एक होने पर भी रहस्य नामों का स्थानविशेष से सम्बन्ध के कारण भेद होने से दो सत्यब्रह्मविद्याओं में परस्पर में रहस्यनामरूप गुणों का उपसंहार नहीं होता है।

३८१. दर्शयति च ३।३।२२।।

आदित्यपुरुषरूपादिकं स्थानविशेषनियतत्वाद् अक्षिपुरुषे स्वतोऽप्राप्तं स्वीकृत्य तत् तत्राऽतिदिशन्ती **"तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन् नाम तन् नाम"** (छा.१।७।५) इति श्रुतिर् धर्माणां स्थानविशेषेण नियतत्वं दर्शयति चेत्यर्थः।

हिन्दी – आदित्यपुरुष के रूपादि को स्थानविशेष में नियत होने से अक्षिपुरुष में स्वतः प्राप्त न हो सकने की बात मानकर आदित्यपुरुष के रूपादि का अक्षिपुरुष में अतिदेश करती हुई "तस्यैतस्य तदेव रूपम्" इत्यादि श्रुति धर्मों (गुणों) का स्थानविशेष में नियतत्व दिखाती ही है।

अथ सम्बन्धाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– माध्यन्दिनीय-वाजसनेयके बृहदारण्यककाण्डे सत्यब्रह्मविद्यायां **"तस्योपनिष-दहरिति"** (१४।८।६।४) इति **"तस्योपनिषदहमिति"** (१४।८।६।५) इति श्रुते देवता-प्रकाशकरहस्यनामरूपे उपनिषदौ।

विशयः– एते उपनिषदौ अधिदैवतम् अध्यात्मं चोभयत्राऽनुसन्धेये उत एका अधिदैवतम् अपरा अध्यात्मम् अनुसन्धेया इति।

पूर्वपक्षः– एकविद्याऽभिसम्बन्धादुभे उपनिषदौ उभयत्राऽनुसन्धेये इति।

उत्तरम्– उपनिषदोः स्थानविशेषाऽभिसम्बन्धात्, स्थानविशेषाभिसम्बद्धानां गुणानां चैकत्रोक्ता-नामन्यत्राऽप्राप्तेः सूचिकायाः **"तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्"** (छा.१।७।५) इति श्रुतेर् दर्शनाच्च स्थानव्यवस्थयैका उपनिषदधिदैवतम् अपरा चाऽध्यात्ममनुसन्धेयेति।

निर्णयः– अधिदैवतम् अध्यात्मं च यथोपदेशं व्यवस्थया एका उपनिषद् अनुसन्धेया नोभे उभयत्रेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सत्यविद्योपनिषदौ स्थानद्वयगते श्रुते।
२. प्रयोज्ये उभयत्रोभे ते न वेति तु संशयः।।१।।

३. एकविद्याभिसम्बन्धाद् योज्ये सत्रेति के चन।
४-५. स्थानव्यवस्थया योज्ये नैकत्रेति तु निर्णयः॥२॥

११२.(१२) सम्भृत्यधिकरणम् (सू. २३)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविचारमेव प्रपञ्चयति—

३८२. सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चाऽतः ३।३।२३॥ इति।

न वेत्यनुषज्यते। अत आयतनविशेषयोगात् सम्भृति-द्युव्याप्ति-प्रभृतयो ब्रह्मधर्मा अपि एकत्र कौथुमराणायनीयानामेव खिलग्रन्थे इदानीं पूर्णग्रन्थरूपेणाऽनुपलभ्यमाने श्रुता अन्यत्र तेषामेवोपनिषदि श्रुतासु शाण्डिल्यविद्योपकोसलविद्यादहरविद्यादिषु न वोपसंहर्तव्या इत्यर्थः।

सम्भृतिद्युव्याप्ती अपि चाऽतः इति के चन सूत्रं पठन्ति। सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तदिदं सम्भृतिद्युव्याप्ति इति भामतीव्याख्यानात्, सम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः इति शङ्करव्याख्यानाच्च न द्विवचनान्तं सूत्रपदं पठितुमुचितमित्यवगम्यते।

हिन्दी– इसी आयतनविशेष से सम्बन्ध रूप हेतु से एक जगह कौथुम-राणायनीयों के खिलग्रन्थ में श्रुत वीर्यसम्भृति द्युनिवेशन इत्यादि ब्रह्मधर्म अन्य जगह उन्ही लोगों के शाण्डिल्यविद्या उपकोशलविद्या दहरविद्या इत्यादि में उपसंहृत नहीं होते हैं।

अथ सम्भृत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माऽग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान। ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनाऽर्हति स्पर्धितुं ब्रह्मणा कः" (पैप्पलादाथर्ववेदमन्त्रसंहितायाम् ८।९।१, द्र.- अथर्व.१९।२२।२१, १९।२३।३०) इति कौथुमराणायनीयानां खिलेषु पठितत्वेन शङ्करेणोक्तायां श्रुतौ श्रुता वीर्यसम्भृति-द्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो धर्माः।

विशयः– ते धर्माः कौथुमराणायनीयानामेवोपनिषदि पठितासु शाण्डिल्यविद्योपकोसलविद्यादहरविद्यादिषु ब्रह्मविद्यासु उपसंहर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः–शाण्डिल्यविद्यो-(छा.३।१४।३)पकोसलविद्या-(छा.४।१५।१)दहरविद्या-(छा.८।१।१)ऽदिष्वपि "ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः" (छा.३।१४।३) इत्यादिकानामाधिदैविकीनां विभूतीनामुपदिष्टत्वात् खिलग्रन्थब्रह्मविद्यायामपि वीर्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतीनां विभूतीनामाधिदैविकीनामेवोपदिष्टत्वात् ता अपि शाण्डिल्यविद्यादिषूपसंहर्तव्या इति।

उत्तरम्– शाण्डिल्यविद्यादिषु आध्यात्मिकस्याऽऽयतनस्य प्रधानत्वात् खिलग्रन्थे आधिदैविकीनामेव विभूतीनां श्रुतत्वात् तत्राऽऽयतनभेदस्य स्पष्टत्वात् खिलग्रन्थे श्रुता धर्माः शाण्डिल्यविद्यादिषु न श्रुता इति तासां विद्यानामेकविद्यात्वेन प्रत्यभिज्ञानस्य अभावाच वीर्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो धर्माः शाण्डिल्यविद्यादिषु नोपसंहर्तव्या इति।

निर्णयः– कौथुम-राणायनीयानां खिलग्रन्थे श्रुतत्वेन गृह्यमाणायां श्रुतौ श्रुता वीर्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो धर्माः तेषामेवोपनिषदि श्रुतासु शाण्डिल्यविद्यादिषु नोपसंहर्तव्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सम्भृत्याद्या ब्रह्मधर्माः कौथुमानां खिले श्रुताः।
२. शाण्डिल्यविद्यादिषु ते योज्या वा नेति संशयः॥१॥
३. उपास्यैक्यात् तु ते योज्या इति के चन मन्वते।
४-५. स्थानभेदात् प्रत्यभिज्ञाऽभावाद् योज्या न ते स्मृताः॥२॥

११३.(१३) पुरुषविद्याधिकरणम् (सू. २४)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविचारमेव प्रपञ्चयति–

३८३. पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ३।३।२४॥ इति।

न वेत्यनुषज्यते। पैङ्गिराणायनीयानां रहस्यब्राह्मणे कौथुमराणायनीयानां ताण्डिनां रहस्यब्राह्मणे च पठितायाम् **"पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत् प्रातःसवनम्"** (छा.३।१६।१) इत्यादिकायां पुरुषविद्यायामिव इतरेषां पुरुषायुषसवनत्रयायुर्वृद्धिफलादीनां पदार्थानां तैत्तिरीयके पठितायां **"तस्यैवंविदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी"** (महानारायणो.२५।१) इत्यादिकायां पुरुषयज्ञकल्पनायाम् अनाम्नानात्, तस्याः पुरुषयज्ञकल्पनायास् तत्पूर्वोक्तब्रह्मविद्याप्रशंसामात्रपरत्वेन स्वतन्त्रविद्यात्वस्याऽभावाच्च आशीर्मन्त्रादयः कौथुमराणायनीरहस्यब्राह्मणाद्युक्तपुरुषविद्याधर्मास् तैत्तिरीयकोक्तपुरुषयज्ञकल्पनायां न वोपसंह्रियन्ते इत्यर्थः।

हिन्दी– कौथुम राणायनीय ताण्डियों के रहस्यब्राह्मण छान्दोग्योपनिषद् में और पैङ्गिराणायनीयों के रहस्यब्राह्मण में भी पठित पुरुषविद्या में जैसा पुरुषायुष सवनत्रय इत्यादि पदार्थों का उल्लेख है वैसा उल्लेख तैत्तिरीयशाखा के महानाराणोपनिषद् में पठित पुरुषयज्ञकल्पना में न होने से ताण्डियों के और पैङ्गियों के रहस्यब्राह्मण में पठित पुरुषविद्या के आशीर्मन्त्रादि पदार्थों का तैत्तिरीयशाखा के महानारायणोपनिषद् में पठित पुरुषयज्ञकल्पना में उपसंहार नहीं होता है।

अथ पुरुषविद्याधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसन्तनुतेति, माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति" (छा.३।१६।२) इत्यादीनामाशीर्मन्त्राणां जप इत्यादयो पुरुषयज्ञधर्माः।

विशयः– पैङ्गि-ताण्डि-कौथुम-राणायनीयानां रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्यायां श्रुता आशीर्मन्त्र-जपादयः पुरुषयज्ञधर्मास् तैत्तिरीयके श्रुतायां पुरुषयज्ञकल्पनायामुपसंहार्या न वेति।

पूर्वपक्षः– मरणावभृथत्वादिसाम्यात् पुरुषयज्ञत्वाऽविशेषात् पैङ्गि-ताण्डि-कौथुमराणायनीय-रहस्यब्राह्मणोक्तपुरुषविद्याधर्मास् तैत्तिरीयकोक्तपुरुषयज्ञविद्यायामपि उपसंहार्या इति।

उत्तरम्– पुरुषायुषसवनत्रयायुर्वृद्धिफलादीनां तैत्तिरीयकेऽनाम्नानात्, तैत्तिरीयके पुरुष-रूपस्य यज्ञस्य अनुक्तत्वात्, पुरुषकर्तृकयज्ञस्यैव तत्रोक्तत्वात्, पुरुषयज्ञकल्पनायाः पूर्वानुवाकोक्त-ब्रह्मविद्या-प्रशंसामात्रपरत्वेन स्वतन्त्रविद्यात्वस्याऽभावाच् च विद्यायास् तुल्यत्वस्यैवाऽभावात् पैङ्गि-ताण्डि-कौथुम-राणायनीय-रहस्यब्राह्मणोक्त-पुरुषविद्याधर्मा आशीर्मन्त्रजपादयस् तैत्तिरीयकोक्तपुरुषयज्ञकल्पनायां नोपसंहार्या इति।

निर्णयः– आशीर्मन्त्र-जपादयः पैङ्गि-ताण्डि-कौथुमराणायनीयरहस्यब्राह्मणोक्त-पुरुषविद्या-धर्मास् तैत्तिरीयकोक्तपुरुषयज्ञकल्पनायां नैवोपसंहार्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आशीर्मन्त्रादयो धर्माः श्रुताः पैङ्ग्यादिकश्रुतौ।
२. ते तैत्तिरीयके ग्राह्या न वेति खलु संशयः॥१॥
३. ग्राह्याः पुरुषयज्ञत्वाऽविशेषादिति के चन।
४-५. न ग्राह्यास् तत्र पुरुषायुषादीनामकीर्तनात्॥२॥

११४.(१४) वेधाद्यधिकरणम् (सू. २५)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविचारप्रसङ्गेनैवाऽऽह–

३८४. वेधाद्यर्थभेदात् ३।३।२५॥ इति।

न वेत्यनुषज्यते। आरण्यककाण्डारम्भे ऐतरेयिणः खलु **"इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवद् यन् महाव्रतमभवत् तन् महाव्रतस्य महाव्रतत्वम्"** (१।१।१) इत्यादिकं महाव्रतब्राह्मणं पठन्ति, तथैव शाङ्खायनीया अपि **"प्रजापतिर् वै संवत्सरः"** (शा.आर.१।१) इत्यादिकं महाव्रतब्राह्मणमेव पठन्ति, कौषीतकिनः खलु **"ब्रह्म वा अग्निष्टोमः"** (शा.आ.२।१८) इत्यादिकमग्निष्टोमब्राह्मणं पठन्ति, तैत्तिरीयाश्च **"भद्रं कर्णेभिः"** (तै.आर.१।१) इत्यादिकमारुणकेतुकाग्निचयनब्राह्मणं पठन्ति, माध्य-

न्दिनीयवाजसनेयिनस्तु **"देवा ह वै सत्रन् निषेदुः"** इत्यादिकं प्रवर्ग्यब्राह्मणम् (मा.वा.शत. १४।१।१।१) पठन्ति, कौथुमराणायनीयास्तु उपनिषद्ब्राह्मणस्याऽऽदौ छान्दोग्योपनिषदः पूर्वं द्वाभ्यां प्रपाठकाभ्यां **"देव सवितः प्रसुव यज्ञम्"** (छा.ब्रा. १।१।१) इत्यादिकान् मन्त्रान् पठन्ति। आथर्वणिकाः खलु के चन उपनिषत्काण्डारम्भे **"सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य"** इत्यादिकं मन्त्रसमाम्नायं पठन्ति किल।

तत्र सर्वं प्रविध्येत्येवंजातीयकमन्त्रसम्बद्धानां सर्ववेधादीनामर्थानां महाव्रताऽग्निष्टोमाऽग्निचयनप्रवर्ग्यादीनां चाऽर्थानाम् उपनिषदुदिताभ्यो विद्याभ्यो भिन्नत्वात् तेषाम् उपनिषदुदितविद्यासु उपसंहारो न भवतीत्यर्थः।

हिन्दी – शत्रुहृदयवेधादि अर्थों का उपनिषदों में बताए गए ब्रह्मात्मैक्यादिरूप अर्थ से अत्यन्त भेद होने से शत्रुहृदयवेधादि अर्थों का उपनिषदों में प्रतिपादित विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है।

अथ वेधाद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– नानावेदशाखासु आरण्यकप्रारम्भे पठिता नानाविधा मन्त्रसमाम्नाया अर्थाश्च।

विशयः– उक्तविधानां मन्त्रसमाम्नायानामर्थानां चौपनिषदविद्यासूपसंहारो भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– सन्निधौ पाठात्, स्थानरूपस्य सन्निधिपाठस्य पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायां **"श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"** इति (३।३।१४) सूत्रे अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धप्रकाशनसामर्थ्यस्य स्वीकृतत्वाच्च नानावेदशाखासु आरण्यककाण्डप्रारम्भे पठितानां नानाविधानां मन्त्रसमाम्नायानां महाव्रताग्निष्टोमाऽग्निचयन-प्रवर्ग्य-वेधादीनां चार्थानां तत्तच्छाखोपनिषदुक्तविद्यासूपसंहारः स्यादिति।

उत्तरम्– तत्तन्मन्त्रसमाम्नायसम्बद्धानां सर्ववेधादीनामर्थानां महाव्रतादीनां चार्थानां तत्तदुपनिषदुक्तविद्याभ्यो भिन्नत्वाद् अभिचारकर्मादिसमवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन दुर्बलं सन्निधिं प्रबाध्य मन्त्राणामभिचारादिकर्माङ्गताया बोधितत्वात्, प्रवर्ग्यादीनां कर्मणां सन्निधेर् बलीयसा श्रुत्यादिना प्रमाणेन ज्योतिष्टोमादिकर्माङ्गताया बोधितत्वाच्च तेषां मन्त्रादीनां वेधाद्यर्थानां चौपनिषदविद्यासूपसंहारो न भवतीति।

निर्णयः– सर्वं प्रविध्येत्यादिकानां मन्त्राणां प्रवर्ग्यादीनां कर्मणां वेधाद्यर्थानां चौपनिषदविद्यासूपसंहारो नैव भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आरण्यकादौ वेदेषु श्रूयन्तेऽर्थाः पृथग्विधाः।
२. स्युर् विद्यासूपसंहार्या न वौपनिषदीषु ते॥१॥
३. सान्निध्यादुपसंहार्यास् ते स्युरित्यपि के चन।
४-५. अर्थभेदात् तु ते नोपसंहार्या इति वैदिकाः॥२॥

११५.(१५) हान्यधिकरणम् (सू. २६)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारचिन्ताप्रसङ्गेनैवाऽऽह—

३८५. हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशा-छन्द-स्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ३।३।२६॥ इति।

न वेति निवृत्तम्। तुशब्दोच्चारणात्। यथा भाल्लविनां श्रुतौ **"कुशा वानस्पत्याः स्थ"** इति सामान्ये श्रुतेऽपि शाट्यायनिनां श्रुतौ **"औदुम्बराः कुशाः"** इति विशेषस्य श्रवणात् सामान्ये श्रुत्यन्तरगतविशेषस्याऽन्वयेन सर्वत्र औदुम्बर्यः कुशाः आश्रीयन्ते, यथा वा क्वचिद् देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्ये प्रतीयमाने **"देवच्छन्दांसि पूर्वाणि"** इति पैङ्गिब्राह्मणे श्रवणात् सामान्ये श्रुत्यन्तरविशेषस्याऽन्वयेन सर्वत्र देवच्छन्दसां पूर्वं प्रयोगः आश्रीयते, यथा वा क्वचित् षोडशिस्तोत्रोपाकरणे कालविशेषस्याऽश्रुतावपि **"समयाविषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति"** (तै.सं. ६।६।११।६) इति तैत्तिरीयके श्रवणात् सामान्ये श्रुत्यन्तरगतविशेषस्याऽन्वयेन सर्वत्र समयाविषिते काले षोडशिस्तोत्रमुपाक्रियते, यथा वा **"यावन्तः प्रसृप्तास् स्युस् ते सर्वेऽग्निष्टोममुपगायेयुः"** (काठक.२६।१, कपिष्ठलकठ.४०।४) इत्यादौ सामान्यतया श्रुते शाखान्तरे **"नाऽध्वर्युरुपगायेत्"** (तै.सं.६।३।१।५) इति विशेषेण श्रवणात् सर्वत्र अध्वर्युव्यतिरिक्तानामेवोपगानमाश्रीयते, तथैव **"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर् मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंविशामि"** (छा.८।१३।१), **"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"** (मुण्डको.३।१।३) इत्यादौ कुत्रचित् पुण्यपापयोर् हानावेव श्रुतायामपि उपायनशब्दस्य **"तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्"** (कौषी.१।४) इत्यादौ हानवाचकशब्दशेषत्वस्य दर्शनात् **"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय"** इत्यादावपि उपायनस्यापि अन्वय आश्रीयते; एतादृशं यत् सामान्यवाक्यस्य विशेषवाक्यसापेक्षत्वं तज् जैमिनिनाऽपि धर्ममीमांसासूत्रे **"अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्"** (१०।८।४) इति सूत्रेणोक्तमस्त्येवेत्यर्थः।

सूत्रे हानौ तु इत्यत्र तु-शब्दो गुणाऽनुपसंहारप्रतिपादकवेधाद्यधिरणान्ताऽधिकरणविलक्षणत्वेन उपायनस्यान्वयस्य प्रतिपादकत्वमस्याऽधिकरणस्य सूचयति। उपायनशेषत्वादित्यनुक्त्वा उपायनशब्दशेषत्वादिति वदन् सूत्रकार उपायनान्वयवादस्य स्तुत्यर्थतां सूचयति। एतत्सूत्रभाष्यव्याख्याने **"कुशाच्छन्दस्"** इति सूत्रांशस्योपपादनाय वाचस्पतिना **"छन्द एवाऽऽच्छन्द आच्छादनादाच्छन्दो भवति"**

इति यदुक्तं तत् खलु वाचस्पतेर् वैदिककर्मकाण्डविषयक-कुशा-शब्दस्याऽपरिचयं सूचयत् तस्य वेदाध्ययनमान्द्यमवगमयत्येव। कुशाशब्दस्याऽर्थोऽस्माभिरपि यथागमं वेदभाषानिघण्टौ भूलोककाण्डे ब्रह्मवर्गे **"प्रादेशो विष्टुतौ योज्यः शङ्कुरौदुम्बरः कुशा"** (श्लो.४७३) इति प्रतिपादितोऽस्ति। सूत्रे छन्दस्तुत्युपेति पाठः **"वा शर्प्रकरणे खर्परे (विसर्गस्य) लोपः"** (पा.व्या.भा.८।३।३६) इत्यनुशासनानुशिष्टो बोध्यः। अत्र शङ्करोल्लिखिताः भाल्लवि-शाट्यायनि-पैङ्गिब्राह्मणग्रन्था इदानीं पूर्णा नोपलभ्यन्त इति अस्माभिर् यथासम्भवं श्रुत्यन्तरवाक्यानि दर्शितानि बोध्यानि। यदपि शङ्करेण **"समयाध्युषिते सूर्ये इत्यार्चश्रुतेः"** इत्युल्लिखितं तदपि अनुपलभ्यमानाकरमित्यस्माभिस् तैत्तिरीयसंहितावचनं तदर्थे उदाहृतं बोध्यम्। अत्र तैत्तिरीयश्रुतेरानन्दज्ञानपाठे **"समयाध्युषिते"** इति पाठश्चिन्त्यः। अत्र वर्णकान्तरं वेदान्तसूत्रमुक्तावलावपि उपेक्षितमित्यस्माभिरपि तदेवानुसृतमवगन्तव्यम्।

हिन्दी – जैसे सामगान की विष्टुति में प्रयोज्य शङ्कुरूप कुशाओं का एक श्रुति में सामान्य रूप में विधान होने पर भी दूसरी श्रुति में गूलर की कुशाओं का विधान होने से प्रयोग में सभी शाखाओं में गूलर की ही कुशाएँ ली जाती हैं, जैसे देवच्छन्द और असुरच्छन्द के पौर्वापर्य का एक श्रुति में विशेष विधान न होने पर भी दूसरी श्रुति में देवच्छन्द का पूर्वत्व का विधान होने से प्रयोग में सभी शाखाओं में देवच्छन्द का पूर्वत्व अपनाया जाता है; जैसे षोडशिस्तोत्रप्रयोग के कालविशेष का एक श्रुति में विशेष विधान न होने पर भी दूसरी श्रुति में समयाविषित रूप काल (सूर्य-नक्षत्रदर्शन-रहित सन्निहितसूर्यक काल) का विधान होने से प्रयोग में सभी शाखाओं में समयाविषित काल में ही षोडशिस्तोत्रोपाकरण किया जाता है; जैसे एक श्रुति में सामान्यतया प्रसर्पण करने वाले सभी लोगों का अग्निष्टोम साम का उपगान विहित होने पर भी दूसरी श्रुति में प्रसर्पण करने वालों में से अध्वर्युव्यतिरिक्त सभी लोगों का अग्निष्टोम साम का उपगान विहित होने से प्रयोग में सभी शाखाओं में प्रसर्पण करने वालों में से अध्वर्युव्यतिरिक्त ही सभी लोग अग्निष्टोम साम का उपगान करते हैं; उसी प्रकार से मुण्डकश्रुत्यादि में कहींपर विद्वान् के पुण्य-पापों की हानि (त्याग) का ही प्रतिपादन होने पर भी कौषीतकिश्रुत्यादि में अन्यत्र उपायनप्रतिपादक शब्द का हानिवाचकशब्दाङ्गत्व देखे जाने से मुण्डकश्रुत्यादि में भी उपायन (विद्वान् के प्रिय जनों से विद्वान् के पुण्यों के फलों का ग्रहण और विद्वान् के अप्रिय जनों से विद्वान् के पाप के फलों का ग्रहण) का भी अन्वय की अवगति होती है; ऐसा सामान्यवाक्य का विशेषवाक्य-सापेक्षत्व पूर्वतन्त्र धर्ममीमांसा में भी (१०।८।४) कहा ही गया है।

अथ हान्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्" (छा.८।१३।१), "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (मुण्डको.३।१।३) इत्यादिकानि पुण्यपापहानिवाक्यानि।

विशयः– एतेषु पुण्यपापहानिवाक्येषु पुण्यपापोपायनवाक्यानि अनुयन्ति न वेति।

पूर्वपक्षः– अश्रुतत्वाद् हानेन उपायनस्य अनाक्षेप्यत्वाच्च पुण्यपापहानिवाक्येषु पुण्य-पापोपायनवाक्यानि नाऽनुयन्तीति।

उत्तरम्– उपायनशब्दस्य हानशब्दशेषत्वस्य कौषीतकिनामाम्नाये दर्शनात् कुशाप्रभृतिषु सामान्यश्रवणेऽपि अन्यत्र श्रुतस्य विशेषस्याऽन्वयस्य स्वीक्रियमाणत्वात्, जैमिनिनाऽपि सामान्यवाक्यस्य विशेषवाक्यसापेक्षत्वस्य स्वीकृतत्वाच्च हानवाक्येष्वपि उपायनवाक्यानि अनुयन्तीति।

निर्णयः– यासु शाखासु पुण्यपापहानिवाक्यान्येव पठ्यन्ते तत्राऽपि पुण्यपापोपायनवाक्यान्यपि अनुयन्तीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतिषु श्रूयते हानिर् विदुषः पुण्यपापयोः।
२. तयोरुपायनं क्वापि श्रुतं तास्वैति वा न वा॥१॥
३. नैत्यश्रुतत्वाच्च तत्रोपायनं त्विति के चन।
४-५. अन्वेत्युपायनं तासु वैशेष्यादिति वैदिकाः॥२॥

११६.(१६) साम्परायाधिकरणम् (सू. २७-२८)

पूर्वं विद्याया कर्महानिहेतुत्वं स्वीकृत्य कर्महानिमात्रश्रवणस्य स्थलेऽपि उपायनस्योपसंहारः प्रतिपादित इति विद्याया कर्महानिहेतुत्वं निरूपयन्नाह–

३८६. साम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ३।३।२७॥ इति।

उत्पन्नज्ञानस्य देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माऽभिप्रस्थितस्य सुकृत-दुष्कृताभ्यां प्राप्तव्यस्याऽभावाद् देहादपसर्पणे एव विद्यासामर्थ्यात् सुकृतदुष्कृत-हानिर् भवति, तथा हि अन्ये ताण्डि-कौथुम-राणायनीयाः **"अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्"** (छा.८।१३।१) इति, शाट्यायनिनश्च **"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्"** इति देहादपसर्पणस्य समये एव सुकृत-दुष्कृतहानिमामनन्तीत्यर्थः।

साम्पराये सम्+परा+अयः सम्परायः=प्रायणम्, तस्याऽयम्= साम्परायः प्रयाणकालः तस्मिन् साम्पराये=देहादपसर्पणस्य काले।

अत्र भाष्ये न्यायनिर्णये रत्नप्रभायां च दृश्यमानो **व्यध्वनि** इति प्रयोगः **"उपसर्गादध्वनः"** इति (५।४।८५) इति पाणिनीयस्याऽनुशासनस्य **"व्यध्वो दुरध्वो विपथः"** इति नामलिङ्गानुशासनस्य (२।१।१६) च प्रतिकूलोऽपि अनित्याः समासान्ता इति कथञ्चित् सोढव्यः स्यात्।

हिन्दी– ज्ञान होने पर देवयान मार्ग से पर्यङ्कस्थ ब्रह्म प्रति जाने वाले पुरुष के लिए पुण्य से अथवा पाप से प्राप्तव्य कुछ भी नहीं होने से देह छोडने के समय में ही विद्या के सामर्थ्य से पुण्य का

और पाप का हान (त्याग) होता है, यह बात केवल कौषीतकि लोग ही नहीं अन्य ताण्डि-कौथुम-राणायनीय लोग तथा शाट्यायनि लोग भी स्वस्वशाखा में पढते हैं।

३८७. छन्दत उभयाऽविरोधात् ३।३।२८॥

यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्य जीवतैव च्छन्दतोऽनुष्ठातुं शक्यत्वात् तत्फलं सुकृतदुष्कृतहानमपि जीवत एव देहत्यागवेलायां भवितुमर्हति, तथा सति निमित्तनैमित्तिकभावस्य ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्चाऽविरोधस्य सम्भवादिति शाङ्करभाष्यानुसारी अर्थः।

वस्तुतस्तु निर्गुणब्रह्मविद्यावतो देहत्यागसमये एव पुण्यपापहानिः सगुणब्रह्मविद्यावतोऽर्चिरादिमार्गमध्येऽपि पुण्यपापहानिरिति अभिप्रायविशेषाद् मुण्डकश्रुति-कौषीतकिब्राह्मणश्रुत्योरविरोधान् निर्गुणब्रह्मविद्यावतो देहत्यागसमये एव पुण्यपापहानिर् भवतीत्यस्याऽधिकरणस्याऽर्थः प्रतीयते।

हिन्दी– सुकृत और दुष्कृत के क्षय के कारण यमनियमादि का इच्छानुसार अनुष्ठान जीवितावस्था में ही हो सकने से और निमित्त-नैमित्तिकभाव का और ताण्डि-कौथुम-राणायनीयश्रुति तथा शाट्यायनिश्रुति का अविरोध भी हो सकने से भी सुकृत और दुष्कृत का हान (त्याग) भी जीवितावस्था में ही देहत्यागकाल में होने की बात अवगत होती है।

अथ साम्परायाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (मुण्डको.३।१।३) इत्यादिषु श्रुतो विदुषः पुण्यपापविधूननस्य समयः।

विशयः– विदुषः पुण्यपापविधूननस्य कालो देहत्यागसमयः किं वा अर्चिरादिमार्गमध्य-प्राप्तिसमय इति।

पूर्वपक्षः– "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवाऽत्येति तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते" (कौषी.१।४) इति श्रवणाद् अर्चिरादिमार्गमध्यप्राप्तिसमयो विदुषः पुण्यपाप-विधूननसमय इति।

उत्तरम्– विदुषो देहत्यागात् परं सुकृतदुष्कृताभ्यां प्राप्तव्यस्य कस्याऽप्यर्थस्याऽभावात् ताण्डि-कौथुम-राणायनीय-शाट्यायनिप्रभृतिभिश्च देहत्यागसमय एव विदुषः पुण्यपाप-विधूननस्य "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्" (छा.८।१३।१) इत्यादिना पठित-त्वात्, देहत्यागसमये पुण्यपापविधूनने स्वीकृते एव युक्तेः श्रुतेश्चाऽविरोधस्य सम्भवाद् विदुषो देहत्यागस्य समये पुण्यपापविधूननं भवतीति।

निर्णयः– विदुषो देहत्यागस्य समये एव पुण्यपापविधूननं भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रूयते विदुषः पुण्य-पापहानं श्रुतिष्विह।
२. तद् देहत्यागसमये व्यध्वे वेति तु संशयः॥१॥

३. कौषीतकिश्रुतेर् व्यध्वे तद् भवेदिति के चन।
४-५. प्राप्याभावाच् छ्रुतेश्चाऽपि देहत्यागे हि तद् भवेत्॥२॥

११७.(१७) गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् (सू. २९-३०)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहार-चिन्ताप्रसङ्गेन देवयान-मार्गोपसंहाराऽनुपसंहारं विचारयितुमाह—

३८८. गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ३।३।२९॥ इति।

देवयानगतेः सगुणविद्यासु योगो निर्गुणविद्यासु तु अयोगश्चेति उभयथा विभागेन प्रयोजनवत्त्वं मन्तव्यम्, अन्यथा सर्वासु सगुणनिर्गुणविद्यासु देवयान-गतेर् योग एवेति स्वीकारे हि निर्गुणविद्यायां गत्यभावं प्रतिपादयन्त्याः **"पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमसाम्यमुपैति"** (मुण्डको.३।१।३) इत्यादिकया श्रुत्याऽस्य सिद्धान्तस्य विरोधः स्यादित्यर्थः।

हिन्दी— देवयान मार्ग से गमन का सगुण ब्रह्मविद्या में सम्बन्ध और निर्गुण ब्रह्मविद्या में असम्बन्ध ये दोनों बातें मानने पर ही समुचित सार्थकता होती है, सगुण-निर्गुण सभी विद्याओं में देवयान मार्ग से गमन का सम्बन्ध मानने पर तो निर्गुणविद्या में देवयान मार्ग से गमन न होने की बात बताने वाली "पुण्यपापे विधूय" इत्यादि श्रुतियों से इस सिद्धान्त का विरोध होगा।

३८९. उपपन्नस् तल्लक्षणार्थोपलब्धेर् लोकवत् ३।३।३०॥

यथा लोके ग्रामान्तरप्राप्तौ गतिरपेक्ष्यते न स्वास्थ्यप्राप्तौ तथैव सगुणब्रह्म-विद्यायां देशान्तरगमनसाध्यस्य पर्यङ्कारोहणादिलक्षणस्य फलस्य श्रुतावुपलब्धेः सत्त्वाद् गतेरर्थवत्त्वम्, निर्गुणब्रह्मविद्यायां तु तादृशस्य फलस्याऽनुपलब्धेर् गतेर् निष्प्रयोजनत्वमिति उभयथाभाव उपपन्नो भवतीत्यर्थः।

हिन्दी— जैसे लोक में दूसरे गाँव की प्राप्ति के लिए गति आवश्यक होती है और स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए नहीं, वैसे ही सगुणब्रह्मविद्या में देशान्तर में गमन के द्वारा प्राप्य पर्यङ्कारोहणादि फल का श्रुति में प्रतिपापदन पाए जाने से गति की सार्थकता होती है, और निर्गुणब्रह्मविद्या में वैसे फल का प्रतिपापदन श्रुति में नहीं पाए जाने से गति की सार्थकता नहीं होती है, अतः यह यथोचित रूप में गति का भाव और अभाव के रूप का उभयथाभाव उपपन्न होता है।

अथ गतेरर्थवत्त्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः— सुकृतदुष्कृतहानसन्निधौ कुत्र चित् श्रूयमाणा देवयानमार्गगतिः।

विशयः— यत्र हानसन्निधौ देवयानमार्गगतिर् न श्रूयते तत्राऽपि सा उपसंह्रियते न वेति।

पूर्वपक्षः— हानौ उपायनवद् देवयानमार्गगतिरपि सर्वत्र उपसंह्रियेतेति।

उत्तरम्– सगुणब्रह्मविद्याकृतायां सुकृतदुष्कृतहानावेव देशान्तरगमनसाध्यस्य फलस्य श्रूयमाणत्वात् तत्रैव गतेः सप्रयोजनत्वम्, निर्गुणब्रह्मविद्याकृतायां सुकृतदुष्कृतहानौ तु तादृशस्य फलस्याऽभावाद् गतेर् निष्प्रयोजनत्वमिति, निर्गुणब्रह्मविद्याकृतायां सुकृतदुष्कृतहानावपि गतेः स्वीकारे **"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"** (मुण्डको.३।१।३) इत्यादेः श्रुतेर् विरोधस्य प्रसङ्ग इति च सगुणब्रह्मविद्याकृतायामेव सुकृतदुष्कृतहानौ देवयानमार्गगतेरन्वयो न निर्गुणब्रह्मविद्याकृतायामिति।

निर्णयः– सगुणब्रह्मविद्याकृतायामेव सुकृतदुष्कृतहानौ देवयानमार्गगतेरन्वयो न निर्गुणब्रह्मविद्याकृतायामिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. देवयानगतिः पापहानौ हि श्रूयते क्वचित्।
२. पापहानिषु सर्वासु सा योज्या वा न वा मता ॥१॥
३. सा चोपायनवद् योज्या सर्वत्रेति हि के चन।
४-५. विद्यासु सगुणास्वेव योज्या सेति हि निर्णयः ॥२॥

११८.(१८) अनियमाधिकरणम् (सू. ३१)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारचिन्ताप्रसङ्गेनैव सर्वासु सगुणविद्यासु देवयानमार्गोपसंहारं प्रतिपादयति–

३९०. अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ३।३।३१॥ इति।

सर्वासां सगुणब्रह्मविद्यानां देवयानमार्गगतिसंयोगेऽविशेषो ज्ञेयः, **"ते यऽएवमेतद्विदुर् य्ये चामीऽअरण्ये श्श्रद्धाᳬ सत्त्यमुपासते तेर्च्चिरभिसम्भवन्ति"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।१५, द्र.- छा.५।१०।१) इति श्रुत्या **"शुक्लकृष्णे गती ह्येते"** (गीता.८।२६) इत्यादिकया स्मृत्या च सर्वासु सगुणब्रह्मविद्यासु देवयानमार्गगतेः प्राप्तेर् बोधितत्वाद् एतस्याऽर्थस्य पञ्चाग्निविद्यादिप्रकरणेनाऽपि अविरोध एवाऽप्यवगन्तव्य इत्यर्थः। अनियमः=अविशेषः।

हिन्दी– सभी सगुणब्रह्मविद्याओं का देवयानमार्ग के गति से सम्बन्ध होने के विषय में कोई विभेद नहीं है, "ते य एवमेतद् द्विदुः" इत्यादि श्रुति से और "शुक्लकृष्णे गती" इत्यादि स्मृति से भी सभी सगुणब्रह्मविद्याओं में देवयानमार्ग की गति का सम्बन्ध अवगत होने से उक्त अर्थ का पञ्चाग्निविद्याप्रकरण से भी कोई विरोध नहीं होता है।

अथाऽनियमाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– पर्यङ्कविद्यायाम् (कौषी.१।३), पञ्चाग्निविद्यायाम् (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।१५, छा.५।१०।१), उपकोसलविद्यायाम् (छा.४।१५।५), दहरविद्यायां (छा.८।६।५,६) च श्रुता देवयानमार्गगतिः।

विशयः– किमियं देवयानमार्गगतिः पर्यङ्कविद्यादिष्वेव नियम्येत उताऽन्यासु मधुविद्या-शाण्डिल्यविद्यादिषु चाऽभिसम्बध्येतेति।

पूर्वपक्षः– प्रकरणाद् देवयानमार्गगतिः पर्यङ्कविद्यादिष्वेव नियम्येतेति।

उत्तरम्– "ते य एवमेतद् विदुः" इत्यादिकया श्रुत्या "शुक्लकृष्णे गती ह्येते" इत्यादिकया स्मृत्या च सर्वासु सगुणब्रह्मविद्यासु देवयानमार्गगतेः प्राप्तेर् बोधितत्वात्, प्रकरणस्य श्रुतितो दुर्बलत्वेन प्रकरणेन श्रुतेरनियमनाद् मधुविद्यादिषु सर्वास्वेव सगुणब्रह्मविद्यासु देवयानमार्गगतिरभिसम्बध्यते इति।

निर्णयः– सर्वासु सगुणब्रह्मविद्यासु देवयानमार्गगतिरभिसम्बध्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुता सगुणविद्यासु देवयानगतिः क्वचित्।
२. विद्यासु तादृशीष्वेषाऽन्यत्र सम्बध्यते न वा॥१॥
३. यासु श्रुता प्रकरणात् सा तत्रैवेति के चन।
४-५. श्रुतेः स्मृतेश्च साऽन्यत्राऽप्यन्वेतीति तु निर्णयः॥२॥

११९.(१९) यावदधिकाराधिकरणम् (सू. ३२)

देवयानमार्गोपसंहारचिन्ताप्रसङ्गेन निर्गुणविद्यायां देवयानमार्गोपसंहारा-ऽभावं प्रतिपादयितुमाह—

३९१. यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ३।३।३२॥ इति।

परमेश्वरेण लोकस्थितयेऽधिकारविशेषे नियुक्तानामपान्तरतमःप्रभृतीना-माधिकारिकाणां पुरुषाणां समधिगतसकलवेदार्थानां सम्यग्दर्शनवतामपि यावद-धिकारं तेनैव देहेन देहान्तरग्रहणेन वाऽपि अवस्थितिर् भवतीत्यर्थः। एवं च आधिकारिकाणां यावदधिकारं स्थितावपि निर्गुणब्रह्मविद्यायाः सर्वकर्महानिहेतुत्वं सद्योमुक्तिहेतुत्वं चाऽविरुद्धमिति भावः। तथा च निर्गुणब्रह्मविद्यायां नैव देवयान-मार्गोपसंहार इति हृदयम्।

हिन्दी– परमेश्वर से लोक की स्थिति के लिए कार्यविशेष सम्पादनहेतु नियुक्त अपान्तरतमा इत्यादि आधिकारिक महापुरुषों का सम्पूर्ण वेदार्थ जानने पर और आत्मज्ञान होनेपर भी अधिकार समाप्त न होने तक उसी देह में रह कर के अथवा दूसरे देह का ग्रहण कर के भी संसार में स्थिति होती रहती है।

अथ यावदधिकाराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "भिद्यते हृदयग्रन्थिश् छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मुण्डको.२।२।९) इत्यादिषु श्रुतिषु प्रतिपादिता निर्गुणब्रह्म-विद्याया मोक्षहेतुता।

विशयः– निर्गुणब्रह्मविद्याया मोक्षहेतुता अस्ति न वेति।

पूर्वपक्षः– समधिगतसकलवेदार्थानां सम्यग्दर्शनवतामपि वसिष्ठ-भृगु-सनत्कुमार-दक्ष-नारदा-ऽपान्तरतमःप्रभृतीनां देहान्तरोत्पत्तेः इतिहास-पुराण-स्मृतिषु वर्णितत्वात् निर्गुणब्रह्मविद्यायाः श्रूयमाणा मोक्षहेतुता प्रशंसामात्ररूपा भवितुमर्हतीति।

उत्तरम्– यथा जातनिर्गुणब्रह्मज्ञानस्याऽन्यस्य विदुषो यावत्प्रारब्धक्षयं जीवतोऽवस्थितिर् भवति तथैव आधिकारिकाणां वसिष्ठादीनां महापुरुषाणामपि यावदधिकारक्षयम् अवस्थितिर् भवति, अधिकारक्षयानन्तरं ते मोक्षं प्राप्नुवन्तीति निर्गुणब्रह्मविद्याया मोक्षहेतुताऽस्तीति।

निर्णयः– निर्गुणब्रह्मविद्याया मोक्षहेतुता अस्त्येवेति। एवं च न निर्गुणब्रह्मविद्यासु देवयान-मार्गस्योपसंहार इति च।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. निर्गुणब्रह्मविद्यायाः श्रूयते मोक्षहेतुता।
२. भवेत् प्रशंसैव सा वा यथार्था वेति संशयः॥१॥
३. पुनर्जनेर् ज्ञानिनोऽपि प्रशंसा सेति के चन।
४-५. अधिकारात् पुनर्जन्म, सा यथार्थेति निर्णयः॥२॥
देवयानस्य मार्गस्य विद्यासु निर्गुणासु तु।
नैव स्यादुपसंहार इत्यपि स्थितमेव हि॥३॥

१२०.(२०) अक्षरध्यधिकरणम् (सू. ३३)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारचिन्ताप्रसङ्गेन निषेधश्रुतिष्वश्रुतानामपि निषेधानां श्रुत्यन्तरादुपसंहारं प्रतिपादयति–

३९२. अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ३।३।३३॥ इति।

"जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणाऽयजत" (तै.सं.७।१।९।१) इति यजुर्वेदे उत्पन्ने जामदग्न्येऽहीनयागे **"पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ति"** (तै.सं.७।१।९।१, ताण्डि. २१।१०।१०, कात्यायनश्रौ.२३।२।२५,२६) इति पुरोडाशयुक्तासूपसत्सूपदिष्टासु यथा औपसदानाम् अध्वर्युकर्तृकपुरोडाशशेषाणाम् **"अग्ने वेर् होत्रं वेरध्वरम्"** (ताण्डि. २१।१०।११) इत्यादिकानां मन्त्राणां सामवेदेऽन्यत्र कुत्राऽपि वा श्रुतानामपि अध्वर्युभिरभिसम्बन्धो भवति, तथैव **"एतद् द्वै तदक्षरङ् गार्गि ब्राह्मणाऽअभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्"** (मा.वा.शत.१४।६।८।८, का.वा.बृह.३।८।८), **"शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।८),

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (कठो.१।३।१५), **"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्"** (श्वेता.६।१९), **"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत् तदद्रेश्यमग्राह्य-मगोत्रमवर्णम्"** (मुण्डको.१।१।५,६) इत्यादिषु नानाशाखाश्रुतिषु यत्र कुत्राऽपि श्रुतानाम् अक्षरब्रह्मप्रमितिविषयाणां निषेधानामपि द्वैतप्रपञ्चनिरसनपूर्वकब्रह्म-प्रतिपादनकार्यस्य सर्वत्र समानत्वात् तस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणोऽपि सर्वत्र वाक्येषु एकरूपेणैव भावाच्च शाखाभेदेऽपि अक्षरतन्त्रत्वात् तत्तद्विशेषणानाम् अक्षरा-ऽभिसम्बन्धरूपः अक्षरे अवरोधो भवति; तदनुकूलतया गुण-मुख्य-विसंवादे मुख्येन सम्बन्धो भवतीति जैमिनिनाऽपि **"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान् मुख्येन वेदसंयोगः"** इति (जै.ध.मी.३।३।८) उक्तमेवाऽस्तीत्यर्थः।

यथा अध्वर्युप्रयोज्यपुरोडाशाङ्गानां मन्त्राणां यत्र क्वचिद् वेदविशेषे पठितानामपि अध्वर्युणाऽभिसम्बन्धः, एवमेवाक्षरब्रह्मप्रमितिशेषाणां निषेधानामपि यत्र क्वचन शाखायां श्रुतानामपि अक्षरब्रह्मणा अभिसम्बन्धो भवतीति सरलोऽर्थः।

एतस्मिन् सूत्रेऽन्यत्र च (३।३।५६) **"अग्नेर् वेर् होत्रम्"** इत्यादिको भाष्या-दिषु सम्प्रति दृश्यमानो पाठश् चिन्त्यः, ताण्डिब्राह्मणे **"अग्ने वेर् होत्रम्"** (२१।१०।११) इत्यादिकस्य पाठस्य दर्शनात्। तस्य मन्त्रस्य **"वेर् देवगणस्य होत्रम् अध्वरं च, कर्माऽग्नेस् त्वत्त एव"** इति रत्नप्रभाव्याख्यानं (३।३।३३) चाऽशुद्धमूलं चिन्त्यम्, ताण्डिब्राह्मणव्याख्यायां **"हे अग्ने होत्रं होतुः कृत्यं वेः विद्धि"** इत्यादिकायाः सायणव्याख्याया दर्शनात्; **"अग्ग्ने वेर् होत्रम्"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.२।९) इत्यत्र **"हे अग्ने वेः, विदज्ञाने, विद्धि जानीहि, अवगतार्थो भव"** इत्यादिकाया उव्वटव्याख्यायाश्च दर्शनात्।

हिन्दी – जैसे उपसत् इष्टि के अध्वर्युकर्तृक पुरोडाश के अङ्ग मन्त्रों का ऋग्वेद-सामवेद जहाँ कहीं उपदेश होने पर भी उन मन्त्रों का अध्वर्यु से ही सम्बन्ध होता है, वैसे ही नानाशाखाओं में जहाँ कहीं आए हुए ब्रह्मज्ञानविषयक निषेधों का भी द्वैतप्रपञ्चनिरसनपूर्वक ब्रह्मप्रतिपादन कार्य सर्वत्र एक ही होने से और उन के प्रतिपाद्य ब्रह्म भी सर्वत्र एक ही होने से भी शाखाभेद होने पर भी तत्तद् विशेषण अक्षर ब्रह्म के अधीन होने से उन सभी निषेधपरक विशेषणों का अक्षर ब्रह्म से ही सम्बन्ध होता है; इस व्यवस्था के अनुकूल रूप में *'गौण उत्पत्ति का और मुख्य विनियोग का विसंवाद होने पर उत्पत्ति विनियोग के लिए ही होने से मुख्य विनियोग की व्यवस्था से मन्त्र का मुख्य प्रयोक्ता अध्वर्यु से ही सम्बन्ध होता है'* यह बात पूर्वतन्त्र में जैमिनि मुनि से भी बताई गई है।

अथाऽक्षरध्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– अस्थूलमनण्वह्रस्वमित्यादिकासु श्रुतिषु श्रुताः विशेषप्रतिषेधधियः।

विशयः– अक्षरब्रह्मविषया एकत्र श्रुता विशेषप्रतिषेधधियः सर्वत्रोपसंहार्या न वेति।

पूर्वपक्षः– शाखाभेदाद् अनपेक्षणीयत्वाच्च नोपसंहार्या इति।

उत्तरम्– सर्वासु शाखासु श्रुतानां सर्वेषां ब्रह्मप्रतिपादनपराणां प्रतिषेधविशेषाणां विशेष-निराकरणरूपस्य ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारस्य समानत्वात्, प्रतिपाद्यस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणश्च सर्वासु शाखासु एकत्वेन प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च सर्वासु शाखासु श्रुता विशेषप्रतिषेधधियः सर्वत्रोपसंहार्या इति।

निर्णयः– सर्वासु शाखासु श्रुताः अक्षरब्रह्मविषया विशेषप्रतिषेधधियः सर्वत्रोपसंहार्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अस्त्थूलमित्याद्याः सन्ति निषेधाः श्रुतिषु श्रुताः।
२. ते सर्वत्रोपसंहार्या न वेति खलु संशयः॥१॥
३. शाखाभेदात् तु ते नोपसंहार्या इति के चन।
४-५. ते सर्वत्रोपसंहार्याः प्रतिपाद्यैक्यतो मताः॥२॥

१२१.(२१) इयदधिकरणम् (सू. ३४)

विद्याधर्मविशेषोपसंहारं प्रतिपादयितुमाह—

३९३. इयदामननात् ३।३।३४॥ इति।

द्वित्वेन इयत्तया परिच्छिन्नस्य वेद्यस्य तिसृष्वेव शाखासु **"ऋतं पिबन्तौ"** (कठो.१।३।१) इति, **"द्वा सुपर्णा"** (श्वेता.४।६, मुण्डको.३।१।१) इति चाऽऽमननाद् विद्याया एकत्वाद् एकत्र **"अन्यत्र धर्माद्"** (कठो.१।२।१४) इत्यादौ श्रुतानां धर्माद्य-त्ययादीनां धर्माणामन्यत्राऽपि उपसंहारो भवतीत्यर्थः। उपसंहार इत्यर्थकस्य अवरोध इत्यस्याऽत्राऽनुषङ्गो ज्ञेयः।

अस्य सूत्रस्यार्थस्य प्रतिपादने वेदान्तसूत्रमुक्तावल्या भूम्नाऽनुसरणं कृतं वेदितव्यम्। **"तस्माच्चाऽधिकधर्मोपसंहारः"** इति भाष्येऽप्युक्तमेवेति त्ववधेयम्।

हिन्दी – कठशाखा, श्वेताश्वतरशाखा, शौनक्याथर्वणशाखा इन सभी शाखाओं में द्वित्व रूप इयत्ता से परिच्छिन्न वेद्य का प्रतिपादन होने से विद्या का एकत्व निश्चित होने से एक जगह में "अन्यत्र धर्मात्" इत्यादि से प्रतिपादित धर्माद्यतीतत्वादि धर्मों का दूसरे जगह में भी उपसंहार होता है।

अथेयदधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्येत्यादिकासु श्रुतिषु श्रुतानां विद्यानां धर्माः।

विशयः– तासु विद्यासु एकत्र श्रुतानामधिकानां धर्माणामन्यत्रोपसंहारो भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– तासु विद्यासु कुत्र चिद् द्वयोरेव भोक्तृत्वं कुत्र चिदेकस्य भोक्तृत्वमन्यस्य त्वभोक्तृत्वमुक्तमिति विद्याभेदादेकत्र श्रुतानामधिकधर्माणामन्यत्रोपसंहारो न भवतीति।

उत्तरम्– तासु विद्यासु द्वित्वोपेतत्वेन इयत्तापरिच्छिन्नस्य वेद्यरूपस्य जीवद्वितीयस्येश्वरस्य प्रतिपादितत्वाद् विद्यैकत्वाद् एकत्र श्रुतानां धर्माद्यतीतत्वादीनां धर्माणामन्यत्रा-ऽप्युपसंहारो भवतीति।

निर्णयः– तासु विद्यासु एकत्र श्रुतानां धर्माणामन्यत्राऽपि उपसंहारो भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ऋतंपिबन्तावित्यादिविद्याधर्मा ह्यनेकधा।
२. श्रुता एकत्र तेऽन्यत्रोपसंहार्या न वा मता॥१॥
३. विद्याभेदात् तु ते नोपसंहार्या इति के चन।
४-५. विद्यैक्यादुपसंहार्यास् ते भवन्तीति वैदिकाः॥२॥

१२२.(२२) अन्तराधिकरणम् (सू. ३५-३६)

विद्याधर्मविशेषोपसंहारं प्रतिपादयितुमाह—

३९४. अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ३।३।३५॥ इति।

अवरोध इति आमननादिति चाऽनुषज्यते। **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"** (श्वेता.६।११) इत्यादौ यथा आत्मनो भूतग्रामे सर्वान्तरत्वस्याऽऽमननम्, तथैव **"एष तऽआत्तँमा सर्व्वान्तरः"** (मा.वा.शत.१४।६।४।१, का.वा.बृह.३।५।१) इत्यत्र, **"यः प्प्राणेन प्प्राणिति स तऽआत्तँमा सर्व्वान्तरः"** (मा.वा.शत.१४।६।५।१, का.वा.बृह. ३।४।१) इत्यत्र चेत्युभयत्र स्वात्मनः सर्वान्तरत्वेनाऽऽमननाद् वेद्यैकत्वेन विद्याया एकत्वाद् एकत्रोक्तानां धर्माणामन्यत्राऽप्युपसंहारो भवतीत्यर्थः। अन्तरा=सर्वान्तररूपेणेत्यर्थः।

हिन्दी – इस सूत्र में गत सूत्रों से "अवरोधः" और "आमननात्" ये दो पद जुड जाते हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादि श्रुति में जैसे आत्मा का भूतग्रामों में सर्वान्तरत्व प्रतिपादित है, वैसे ही "एष तऽआत्तँमा" इत्यादि श्रुति में और "यः प्प्राणेन प्प्राणिति" इत्यादि श्रुति में दोनों जगह आत्मा का सर्वान्तर रूप में प्रतिपादित होने से इन सभी विद्याओं का एकत्व अवगत होने से एक जगह बताए गए धर्म दूसरे जगह भी उपसंहृत होते हैं।

३९५. अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन् नोपदेशान्तरवत् ३।३।३६॥

विद्याभेदाऽनङ्गीकारे एकस्यामेव शाखायां द्विः पाठेन कृतस्याऽऽम्नानभेदस्याऽनुपपत्तिरिति चेत्, यथा विद्याया अभेदेऽपि तत् त्वमस्यादिकेऽन्यस्मिन्नुपदेशे नवकृत्वः कृतेऽपि नाऽऽम्नानभेदस्याऽनुपपत्तिस्तथैव विद्याया अभेदेऽपि आत्मनः सर्वान्तरत्वस्योपदेशेऽपि नाऽऽम्नानभेदस्याऽनुपपत्तिरिति नोक्ता शङ्का उचितेत्यर्थः।

दशमे समानाधिकरणे विद्याविधि-गुणविधिभेदेन प्रधानाऽप्रधानभावेन विद्ययोरैक्यम्, अत्र तु तुल्ययोरेव विद्ययोर् वेद्यैकत्वेन एकत्वमित्यस्याऽधिकरणस्य विशेषो ज्ञेयः।

हिन्दी – आत्मा के सर्वान्तरत्व का उपदेश करने वाली इन विद्याओं में भेद न मानने पर एक ही शाखाओं में दो वार पाठ कर के किए गए उपदेशभेद की अनुपपत्ति हो जायगी, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि जैसे विद्या में अभेद होने पर भी "तत् त्वमसि" इत्यादि दूसरे उपदेशों में एक ही शाखा में नौ वार उपदेश करने पर भी विषय बहूत ही गहन होने से उपदेशभेद की अनुपपत्ति नहीं होती है, वैसे ही विद्या में अभेद होने पर भी आत्मा के सर्वान्तरत्व के उपदेश में एक ही शाखा में दो वार उपदेश करने पर भी विषय बहूत गहन होने से उपदेशभेद की अनुपपत्ति नहीं होती है।

अथाऽन्तराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "एष तऽआत्त्ँमा सर्व्वान्तरः" इत्युक्तयोर् विद्ययोः श्रुता धर्माः।

विशयः– तयोर् विद्ययोरेकत्र श्रुतानामधिकधर्माणामन्यत्रोपसंहारो भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– एकस्यामेव शाखायामेकस्या एव विद्याया द्विरुपदेशे प्रयोजनाभावेन विद्याभेदस्य स्वीकार्यत्वाद् एकत्र श्रुतानां धर्माणामन्यत्रोपसंहारो न भवतीति।

उत्तरम्– यथा छान्दोग्योपनिषदि षष्ठेऽध्याये "तत् त्वमसि" (८।७, ९।४, १०।३, ११।३, १२।३, १३।३, १४।३, १५।३, १६।३) इति नवकृत्व उपदिष्टेऽपि उपक्रमोपसंहारयोरविशेषाद् विद्यैक्यं तथैवाऽत्राऽपि ब्राह्मणद्वये उपक्रमोपसंहारयोरविशेषाद् उपदेशभेदेऽपि विद्यैक्यमुपपन्नमिति तयोरेकत्रोपदिष्टानाम् अशनाया-पिपासा-शोक-मोहाद्यतीतत्वादीनां धर्माणाम् अन्यत्राऽपि उपसंहारो भवतीति।

निर्णयः– उक्तयोर् विद्ययोर् एकत्र श्रुतानाम् अशनायाद्यतीतत्वादीनां धर्माणामन्यत्राऽप्युपसंहारो भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. धर्मा एष त आत्मेति विद्ययोर् विविधाः श्रुताः।
२. श्रुतास्त्वेकत्र तेऽन्यत्रोपसंहार्या न वा स्मृताः॥१॥
३. ते भेदाद् विद्ययोर् नोप-संहार्या इति केचन।
४-५. तयोरैक्यात् ते खलूपसंहार्या इति वैदिकाः॥२॥

१२३.(२३) व्यतिहाराधिकरणम् (सू. ३७)

आत्मेश्वरयोर् व्यतिहारेण चिन्तनस्य आत्मग्रहोपासनेषूपसंहार्यत्वं प्रतिपादयत्रि–

३९६. व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ३।३।३७॥ इति।

यस्मादुभयोच्चारणेन परस्परं विशिंषन्त्यध्येतारस् तस्मात् **"तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्"** (ऐ.आ.२।२।४।६) इत्यत्र ऐतरेयिणामाम्नाये **"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि"** इत्यत्र जाबालानामन्येषां च (वराहो.२।३४) आम्नायेऽपि दृष्टः परस्परविशेषणविशेष्यभावयुक्तोभयरूपमतिकरणरूपो व्यतिहारः

[illegible] प्रयोजन[illegible] आध्यानाय[illegible]नीतोऽहं-
ग्रहोपासनेषु सर्वत्रोपसंहर्तव्य इत्यर्थः।

हिन्दी — आम्नाताओं से "योऽहं सोऽसौ" इस प्रकार और "योऽसौ सोऽहम्" इस प्रकार "असौ" को "अहम्" से और "अहम्" को "असौ" से विशेषित किए जाने से [illegible] उच्चारण करने: [illegible] "तद् योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्" इस प्रकार का और आम्नातादियों के आम्नाय में [illegible] इस प्रकार का जो व्यतिहार है वह अन्य सर्वत्र[illegible] [illegible] उपदिष्ट होने से सभी अहंग्रहोपासनाओं में उपसंहर्तव्य है।

अथ व्यतिहाराधिकरणस्वरूपम्

विषयः— "तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रुतो व्यतिहारः।

विशयः— अयं व्यतिहारोऽन्यत्राऽहंग्रहोपासनासूपसंहर्तव्यो न वेति।

पूर्वपक्षः— उत्कृष्टे निकृष्टबुद्धेः कर्तुमनुचितत्वाद् व्यतिहारस्यैव कर्तव्यताया असिद्धत्वात् तस्याऽन्यत्रोपसंहारस्य तु शङ्कैव नोत्थातुमर्हतीति न तस्याऽन्यत्रोपसंहारः कर्तव्य इति।

उत्तरम्— परस्परविशेषणविशेष्यभावं प्रतिपादयन्त्याः श्रुतेरर्थवत्त्वाय द्विरूपाया मतेः कर्तव्यत्वात्, ऐकात्म्यचिन्तने निकर्षस्याऽप्रतीतेश्च व्यतिहारस्य कर्तव्यतायाः सिद्धत्वात् सोऽन्यत्र समाने विषयेऽहंग्रहोपासने उपसंहर्तव्य इति।

निर्णयः— आम्नातव्यतयोपदिष्टोऽयं व्यतिहारः सर्वेषु अहंग्रहोपासनेषूपसंहर्तव्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतौ तद् योऽहमित्यादौ व्यतिहारः श्रुतोऽस्ति हि।
२. सोऽन्यत्राऽप्युपसंहार्यो भवेन् नो वेति संशयः॥१॥
३. कैश्चित् तु व्यतिहारोऽयं नोपसंहार्य उच्यते।
४-५. श्रौतत्वादुपसंहार्यस् तुल्ये तु विषये मतः॥२॥

१२४.(२४) सत्याद्यधिकरणम् (सू. ३८)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविशेषविचारमेव सन्तनोति—

३९७. सैव हि सत्यादयः ३।३।३८॥ इति।

हि यस्मात् "तद् द्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैवमेतन्महद् यक्षम् प्रथमजं वेद सत्यम् ब्रह्मेति जयतीमांल् लोकान्" (मा.वा.शत. १४।८।५।१, का.वा.बृह.५।४।१) इत्याद्युक्त्वा "तद् यत् तत् सत्यमसौ सऽआदित्य यऽएषऽ एतस्मिन्न् मण्डले पुरुषो यश्चायन् दक्षिणेऽक्षन्न् पुरुषः" (मा.वा. शत.१४।८।६।३, का.वा.बृह.५।५।२) इति प्रकृताकर्षणेन पूर्वविद्यासम्बद्धमेव सत्य-मुत्तरत्र प्रतिपादितं तस्मात् सा सत्यविद्यैकैव, तस्मात् सर्वे सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्या इत्यर्थः।

हिन्दी– "तद् द्वै तदेतदेव" इत्यादि श्रुति में जो सत्यविद्या प्रतिपादित है उसी सत्यविद्या को ही लेकर "तद् यत् त्सत्त्यम्" इत्यादि उत्तरश्रुति में भी सत्य प्रतिपादित होने से सत्यविद्या एक ही है, अत एव सभी सत्यादि गुणों को एक ही प्रयोग में उपसंहृत करना चाहिए।

अथ सत्याद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– वाजसनेयके श्रुता "तद् द्वै तदेतदेव तदास" इत्यादिका सत्यविद्या।

विशयः– तत्र किं पूर्वत्रोत्तरत्र च सत्यादयो गुणा उपसंहर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः– पूर्वत्र लोकजयरूपस्य फलस्योक्तत्वाद् उत्तरत्र तु पापहननरूपस्य फलस्य श्रवणात् फलभेदेन विद्याभेदात् सत्यादयो गुणा नोपसंहर्तव्या इति।

उत्तरम्– "तद् यत् तत् त्सत्त्यमसौ स ऽआदित्यः" इति प्रकृताकर्षणेनोक्तत्वात्, अङ्गान्तरविधानस्तुतिपरकफलान्तरश्रवणेऽपि अङ्गिफलभेदस्याऽसिद्धत्वाच्च सत्यविद्यैकैवेति तत्र श्रूयमाणाः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्या इति।

निर्णयः– वाजसनेयके सत्यविद्यायां श्रुता सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. तद् द्वै तदेतदित्याद्या सत्यविद्या श्रुता श्रुतौ।
२. सर्वे सत्यादयस् तत्रोपसंहार्या न वा मताः॥१॥
३. विद्याभेदात् तु ते नोपसंहार्या इति के चन।
४-५. विद्यैक्यादुपसंहार्या सर्व एवेति निर्णयः॥२॥

१२५.(२५) कामाद्यधिकरणम् (सू. ३९)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारचिन्तामेवाऽनुसन्तनोति–

३९८. कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः ३।३।३९॥ इति।

छान्दोग्योपनिषदि **"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर् विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः"** (८।१।५) इत्यत्र श्रुतं परमात्मनः कामादिगुणजातमितरत्र **"स वाऽअयमातत्तँमा सर्ब्बस्स्य वशी सर्ब्बस्स्येशानः"** (मा.वा.शत. १४।७।२।२४, द्र.- का.वा.बृह.४।४।२२) इत्यादौ वाजसनेयकोक्ते परमात्मनि उपसंहर्तव्यम्, वाजसनेयके श्रुतं वशित्वादि च तत्र च छान्दोग्योपनिषदि उक्ते दहरेऽपि उपसंहर्तव्यमिति उभयत्र श्रुतेभ्यो हृदयायतन-वेद्यात्म-तत्सेतुत्वादिभ्यो बहुभ्यः सामान्येभ्योऽर्थेभ्योऽवगम्यते इत्यर्थः।

आध्यानार्थक-सर्वात्मत्व-प्रभृतिधर्मयुक्ताऽन्याऽऽम्नायवद् आध्यानायाऽऽम्नातोऽहं-ग्रहोपासनेषु सर्वत्रोपसंहर्तव्य इत्यर्थः।

हिन्दी – अध्येताओं से "योऽहं सोऽसौ" इस प्रकार और "योऽसौ सोऽहम्" इस प्रकार उच्चारण करके "असौ" को "अहम्" से और "अहम्" को "असौ" से विशेषित किए जाने से ऐतरेयियों के आम्नाय में "तद् योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्" इस प्रकार का और जाबालादियों के आम्नाय में "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि" इस प्रकार का जो व्यतिहार है वह अन्य सर्वात्मत्वप्रभृति-धर्मयुक्त उपदेश की तरह ही ध्यान के लिए उपदिष्ट होने से सभी अहंग्रहोपासनाओं में उपसंहर्तव्य है।

अथ व्यतिहाराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रुतो व्यतिहारः।

विशयः– अयं व्यतिहारोऽन्यत्राऽहंग्रहोपासनासूपसंहर्तव्यो न वेति।

पूर्वपक्षः– उत्कृष्टे निकृष्टबुद्धेः कर्तुमनुचितत्वाद् व्यतिहारस्यैव कर्तव्यताया असिद्धत्वात् तस्याऽन्यत्रोपसंहारस्य तु शङ्कैव नोत्थातुमर्हतीति न तस्याऽन्यत्रोपसंहारः कर्तव्य इति।

उत्तरम्– परस्परविशेषणविशेष्यभावं प्रतिपादयन्त्याः श्रुतेरर्थवत्त्वाय द्विरूपाया मतेः कर्तव्यत्वात्, ऐकात्म्यचिन्तने निकर्षस्याऽप्रतीतेश्च व्यतिहारस्य कर्तव्यतायाः सिद्धत्वात् सोऽन्यत्र समाने विषयेऽहंग्रहोपासने उपसंहर्तव्य इति।

निर्णयः– आध्यातव्यतयोपदिष्टोऽयं व्यतिहारः सर्वेषु अहंग्रहोपासनेषूपसंहर्तव्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतौ तद् योऽहमित्यादौ व्यतिहारः श्रुतोऽस्ति हि।
२. सोऽन्यत्राऽप्युपसंहार्यो भवेन् नो वेति संशयः॥१॥
३. कैश्चित् तु व्यतिहारोऽयं नोपसंहार्य उच्यते।
४-५. श्रौतत्वादुपसंहार्यस् तुल्ये तु विषये मतः॥२॥

१२४.(२४) सत्याद्यधिकरणम् (सू. ३८)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविशेषविचारमेव सन्तनोति–

३९७. सैव हि सत्यादयः ३।३।३८॥ इति।

हि यस्मात् **"तद् द्वै तदेतदेव तदास सत्त्यमेव स यो हैवमेतन्न् महद् द्यक्क्षम् प्रथमजवं् वेद सत्त्यम् ब्रह्मेति जयतीमाल्ँ लोकान्"** (मा.वा.शत. १४।८।५।१, का.वा.बृह.५।४।१) इत्याद्युक्त्वा **"तद् यत् तत् त्सत्त्यमसौ सऽआदित्त्य यऽएषऽ एतस्म्मिन्न् मण्डले पुरुषो यश्च्चायन् दक्क्षिणेऽक्क्षन्न् पुरुषः"** (मा.वा. शत.१४।८।६।३, का.वा.बृह.५।५।२) इति प्रकृताकर्षणेन पूर्वविद्यासम्बद्धमेव सत्य-मुत्तरत्र प्रतिपादितं तस्मात् सा सत्यविद्यैकैव, तस्मात् सर्वे सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्या इत्यर्थः।

हिन्दी– "तद् द्वै तदेतदेव" इत्यादि श्रुति में जो सत्यविद्या प्रतिपादित है उसी सत्यविद्या को ही लेकर "तद् य्यत् त्सत्त्यम्" इत्यादि उत्तरश्रुति में भी सत्य प्रतिपादित होने से सत्यविद्या एक ही है, अत एव सभी सत्यादि गुणों को एक ही प्रयोग में उपसंहृत करना चाहिए।

अथ सत्याद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– वाजसनेयके श्रुता "तद् द्वै तदेतदेव तदास" इत्यादिका सत्यविद्या।

विशयः– तत्र किं पूर्वत्रोत्तरत्र च सत्यादयो गुणा उपसंहर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः– पूर्वत्र लोकजयरूपस्य फलस्योक्तत्वाद् उत्तरत्र तु पापहननरूपस्य फलस्य श्रवणात् फलभेदेन विद्याभेदात् सत्यादयो गुणा नोपसंहर्तव्या इति।

उत्तरम्– "तद् य्यत् तत् त्सत्त्यमसौ सऽआदित्त्यः" इति प्रकृताकर्षणेनोक्तत्वात्, अङ्गान्तरविधानस्तुतिपरकफलान्तरश्रवणेऽपि अङ्गिफलभेदस्याऽसिद्धत्वाच्च सत्यविद्यैकैवेति तत्र श्रूयमाणाः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्या इति।

निर्णयः– वाजसनेयके सत्यविद्यायां श्रुता सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. तद् द्वै तदेतदित्याद्या सत्यविद्या श्रुता श्रुतौ।
२. सर्वे सत्यादयस् तत्रोपसंहार्या न वा मताः॥१॥
३. विद्याभेदात् तु ते नोपसंहार्या इति के चन।
४-५. विद्यैक्यादुपसंहार्या सर्व एवेति निर्णयः॥२॥

१२५.(२५) कामाद्यधिकरणम् (सू. ३९)

गुणोपसंहाराऽनुपसंहारचिन्तामेवाऽनुसन्तनोति–

३९८. कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः ३।३।३९॥ इति।

छान्दोग्योपनिषदि **"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर् विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः"** (८।१।५) इत्यत्र श्रुतं परमात्मनः कामादिगुणजातमितरत्र **"स वाऽअयमात्त्माँ सर्व्वस्स्य वशी सर्व्वस्स्येशानः"** (मा.वा.शत. १४।७।२।२४, द्र.- का.वा.बृह.४।४।२२) इत्यादौ वाजसनेयकोक्ते परमात्मनि उपसंहर्तव्यम्, वाजसनेयके श्रुतं वशित्वादि च तत्र च छान्दोग्योपनिषदि उक्ते दहरेऽपि उपसंहर्तव्यमिति उभयत्र श्रुतेभ्यो हृदयायतन-वेद्यात्म-तत्सेतुत्वादिभ्यो बहुभ्यः सामान्येभ्योऽर्थेभ्योऽवगम्यते इत्यर्थः।

छान्दोग्योपनिषदि उपदिष्टाया दहरविद्यायाः सगुणब्रह्मविद्यात्वाद् वाजसनेयके उपदिष्टायाः परमात्मविद्याया निर्गुणब्रह्मविद्यात्वाद् विद्याभेदेऽपि गुणवतो ब्रह्मण एकत्वाद् ब्रह्मविभूतिप्रदर्शनायाऽयं परस्परगुणोपसंहारः प्रतिपादितो नोपासनायेति चाऽवगन्तव्यम्।

हिन्दी – दोनों स्थलों में श्रुत हृदयाऽऽयतनत्वादि गुणों की समातना से छान्दोग्योपनिषद् में "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादि वाक्य में श्रुत कामादि सभी गुणों को वाजसनेयिशाखा में "स वा एष महानजऽआत्तुँमा" इत्यादि वाक्य में प्रतिपादित परमात्मा में जोडने की बात और वाजसनेयिशाखा में उक्त वशित्वादि सभी गुणों को छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित दहरात्मा में भी जोडने की बात भी अवगत होती है।

यह गुणोपसंहार परमात्मा की विभूति के प्रदर्शन के लिए है उपासना के लिए नहीं है, यह बात दहरविद्या और परमात्मविद्या के भेद होने से अवगत होती है।

अथ कामाद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः – "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छा.८।१।५) इत्यादौ, "सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशानः" (मा.वा.शत.१४।७।२।२४) इत्यादौ च श्रुता गुणाः।

विशयः – एकत्र श्रुतास् ते गुणा अन्यत्रोपसंहर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः – छान्दोग्योपनिषदुक्तदहरविद्यायाः सगुणब्रह्मविद्यात्वात्, वाजसनेयकोक्तात्मविद्यायास्तु निर्गुणब्रह्मविद्यात्वाद् विद्ययोर् भेदात् परस्परगुणोपसंहारो न भवितुमर्हतीति।

उत्तरम् – विद्ययोर् भेदेऽपि उपासनाद्यर्थं गुणोपसंहारस्योपयोगस्याऽभावेऽपि गुणवतो ब्रह्मण एकत्वात्, आयतनादीनां बहूनामर्थानामुभयत्र समानत्वाच्च ब्रह्मविभूतिप्रदर्शनार्थम् एकत्र इतरगुणोपसंहारो भवितुमर्हतीति।

निर्णयः – ब्रह्मविभूतिप्रदर्शनार्थम् एकत्रेतरगुणोपसंहारो भवितुमर्हतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सत्यकामत्वादिब्रह्मगुणाः श्रुतिषु कीर्तिताः।
२. श्रुता ह्येकत्र तेऽन्यत्रोपसंहार्या न वा मताः॥१॥
३. विद्याभेदाद् धि ते नोपसंहार्या इति के चन।
४-५. तथापि चोपसंहार्या विभूतिव्यक्तये स्मृताः॥२॥

१२६.(२६) आदराधिकरणम् (सू. ४०-४१)

यथा सगुणब्रह्मोपासनायां श्रुता अपि ब्रह्मधर्मा निर्गुणब्रह्मविद्यायामुपासनाया लोपेऽपि ब्रह्मविभूतिप्रतिपादनार्थमनुवर्तन्ते इत्युक्तं तथैव भोजनस्य लोपेऽपि गृहपतिपूर्वभोजन-माहात्म्य-प्रतिपादानार्थं प्राणाग्निहोत्रस्याऽनुवृत्तिर् भवतीति स्वीकर्तव्यं स्यादिति शङ्कां निराकर्तुं प्रासङ्गिकविचारं प्रस्तौति–

३९९. आदरादलोपः ३।३।४०॥ इति।

"यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तद्" इति अतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा **"पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्"** इति स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्त्या वैश्वानरविद्याप्रकरणस्थयैव जाबालश्रुत्या वैश्वानरविदः प्राणाग्निहोत्रे प्रदर्शिताद् आदरात् **"स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात् तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहा"** (छा.५।१९।१) इत्यादिना छान्दोग्ये प्रोक्तस्य प्राणाग्निहोत्रस्य स्वामिनो भोजनलोपेऽपि अलोपो भवति। एवं च वैश्वानरविद्याविदा भोजनलोपेऽपि अद्भिर् अन्येन वाऽविरुद्धेन द्रव्येण प्राणाग्निहोत्रं कर्तव्यमिति अवगम्यते इति पूर्वः पक्षः।

हिन्दी – अतिथिभोजन के प्रथमत्व की निन्दा कर के गृहस्वामी के अतिथि से पूर्व भोजन का विधान करनेवाली जाबाल श्रुति से प्राणाग्निहोत्र में प्रदर्शित आदर से छान्दोग्योपनिषद् में विहित प्राणाग्निहोत्र का गृहस्थाश्रमी के भोजन का लोप होने पर भी लोप न होने की बात अवगत होती है।

४००. उपस्थितेऽतस् तद्वचनात् ३।३।४१॥

"तद् यद् भक्तं प्रथममागच्छेत् तद् धोमीयम्" (छा.५।१९।१) इति भक्तोपनिपातपरामर्शेन प्राणाहुतीनां परार्थद्रव्यसाध्यताया उक्तत्वाद् उपस्थिते भोजने अस्मादेव भोजनद्रव्यात् प्राणाग्निहोत्रं कर्तव्यं नाऽनुपस्थिते भोजनद्रव्ये इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जो भोजन प्रथमतः प्राप्त होता है उसी को होमने का विधान देखे जाने से भोजन उपस्थित होने पर ही उसी भोजनद्रव्य से प्राणाग्निहोत्र करने की बात अवगत होती है।

अथाऽऽदराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– वैश्वानरविद्यागतं प्राणाग्निहोत्रम्।

विशयः– भोजनलोपे प्राणाग्निहोत्रस्य लोपो भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– "पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्" इति गृहस्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्त्या वैश्वानरविद्याप्रकरणस्थया जाबालश्रुत्या प्राथम्यलोपमप्यसहमानया अग्निहोत्रलोपस्याऽसहनेन तत्राऽऽदरस्य प्रदर्शितत्वात्, गुणस्य लोपेऽपि मुख्यस्याऽलोप्यत्वात्, भक्तलोपेऽपि प्रतिनिधिन्यायेनाऽद्भिरन्येन केन चिदविरुद्धेन द्रव्येण प्राणाग्निहोत्रस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वाच्च भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रस्याऽलोपः कार्योऽवगम्यते इति।

उत्तरम्– "यद् भक्तं प्रथममागच्छेत् तद् धोमीयम्" इति भक्तोपनिपातपरामर्शेन प्राणाहुतीनां परार्थद्रव्यसाध्यताया वचनात्, अर्थवादगतेनाऽग्निहोत्रशब्देन नित्याऽग्निहोत्रवद्भावस्य विधातुमशक्यत्वेन भक्ताभावे प्रतिनिधिन्यायेन द्रव्यान्तरस्याऽविधानात्, जाबालश्रुत्या प्रतिपादितस्य गृहस्वामिभोजनप्राथम्यस्य भोजनपक्षे चारितार्थ्याच् च भोजनार्थे भक्ते उपस्थिते तस्मादेव भक्तात् प्राणाग्निहोत्रसम्पादनं नाऽनुपस्थिते भक्ते इति अनुपस्थिते भक्ते प्राणाग्निहोत्रस्य लोपः कार्य इति।

निर्णयः– भोजनलोपे प्राणाग्निहोत्रस्य लोप एव कार्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. प्राणाग्निहोत्रं तद् वैश्वानरविद्यागतं श्रुतम्।
२. लोपः प्राणाग्निहोत्रस्य भक्तलोपे भवेन् न वा॥१॥
३. भक्तस्य लोपे चाऽलोप आदरादिति के चन।
४-५. भक्तलोपेऽग्निहोत्रस्य लोप एवेति निर्णयः॥२॥

१२७.(२७) तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् (सू. ४२)

यथा भोजनार्थे भक्ते उपस्थिते प्राणाग्निहोत्रस्याऽऽवश्यकत्वं तथैव कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु प्रयुक्तेषु तदाश्रितानि उपासनान्यपि आवश्यकानि स्युरिति शङ्कां निराकुर्वन्नाह–

४०१. तन्निर्धारणाऽनियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ३।३।४२॥ इति।

यस्मात् कारणात् कर्माङ्गभूतोद्गीथाद्याश्रितोपासनविशेषस्य कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धविशेषरूपं कर्मफलात् पृथगेव फलं **"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति"** (छा.१।१।१०) इति श्रूयते, तस्मात् कारणात्, **"तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद"** (छा.१।१।१०) इत्यनुपासकस्याऽपि कर्मण्यधिकारस्य दर्शितत्वेन उपासनस्य कर्मसु अनियमस्य दर्शनाच्च तेषां रसतमादि-तत्-तद्गुणविशिष्टोद्गीथादिकर्माङ्गाणामुपासनानां कर्मसु अनियमोऽवगम्यते इत्यर्थः। निर्धारणं नितरां धारणं निश्चितैकरूपबुद्धिधारणम् इति निर्धारणमुपासनम्। यदेव करोति तदेव विद्यादिभिर् वीर्यवत्तरं भवतीति यदेवेत्यादिश्रुतेरर्थः।

हिन्दी– कर्माङ्गभूत उद्गीथादि में आश्रित उपासनविशेष का कर्मफल की सिद्धि में अप्रतिबन्धरूप विशेष फल पृथग्रूप में श्रुति में प्रतिपादित होने से, श्रुति में अनुपासक का भी कर्म में अधिकार दिखाए जाने का प्रसङ्ग देखे जाने से भी रसतमादि तत्तद्गुणविशिष्ट उद्गीथादि कर्माङ्गों के उपासनों का कर्मों में अनियतत्व अवगत होता है।

अथ तन्निर्धारणानियमाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छा.१।१।१) इत्यादिषु श्रुतिषु विहितानि कर्माङ्गाश्रयाणि उपासनानि।

विशयः– तानि उपासनानि कर्मसु नित्यानि उताऽनित्यानीति।

पूर्वपक्षः– यथा **"यस्य पर्णमयी जुहूर् भवति न स पापं श्लोकं शृणोति"** (तै.सं.३।५।७) इत्यादीनामप्रकरणपठितानामपि पर्णमयीत्वादीनां जुह्वादिद्वारेण क्रतौ प्रवेशात् प्रकरणपठितानामर्थानामिव नित्यता तथैवाऽनारभ्याऽधीतानामपि उद्गीथाद्युपासनानाम् उद्गीथद्वारा क्रतौ प्रवेशान् नित्यत्वमिति।

उत्तरम्– यथा **"कंसेन ब्रह्मवर्चसकामस्य (अपः) प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्य मृन्मयेन प्रतिष्ठाकामस्येति विज्ञायते"** (भारद्वाजश्रौ.१।१७।११, आपस्तम्बश्रौ.१।१६।२, वैखानसश्रौ.४।२।९) इत्यादिना, **"का॑स्य-वानस्पत्त्य-मार्त्तिकैरभिचार-ब्रह्म्मवर्चस-प्प्रतिष्ठाकामा यथासङ्ख्यम्"** (कात्यायनश्रौ.२।३।५) इत्यादिना च पृथक्फलार्थं विहितानां गोदोहनपात्ररूपाऽप्प्रणयनपात्रादीनां क्रत्वनाकाङ्क्षितत्वेन न नित्याङ्गत्वं तथैव पृथक्फलार्थं विहितानाम् उद्गीथोपासनादीनामपि न नित्याङ्गत्वम् इति, अनुपासकस्याऽपि **"तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद"** (छा.१।१।१०) इति कर्मणोऽनुमतत्वम् इति चोद्गीथोपासनादीनां कर्मसु न नित्यत्वमिति।

निर्णयः– उद्गीथोपासनादीनां पृथक्फलार्थं विहितानां कर्माङ्गाश्रयोपासनानां कर्मसु नैव नित्यत्वमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. उपासनानि कर्माङ्गाऽऽश्रितानि विहितानि हि।
२. तानि कर्मसु नित्यानि न वेति खलु संशयः॥१॥
३. तानि पर्णमयीत्वादिन्वन् नित्यानीति के चन।
४-५. गोदोहनादिवत् तानि ह्यनित्यानीति निर्णयः॥२॥

१२८.(२८) प्रदानाधिकरणम् (सू. ४३)

कर्माङ्गाणां तदाश्रितोपासनानां च फलभेदात् प्रयोगे तयोरनित्ये सम्बन्धे प्रतिपादिते फलैक्ये सर्वत्र प्रयोगेऽप्यैक्यं स्यादिति शङ्कां निरस्यंन्नाह–

४०२. प्रदानवदेव तदुक्तम् ३।३।४३॥ इति।

यथा **"यं कामयेताऽन्नादः स्यादिति तस्मा एतं त्रिधातुं निर्वपेदिन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाऽधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे"** (तै.सं.२।३।६।१) इत्यत्रेन्द्रस्यैकत्वेऽपि राजाऽधिराजस्वराजगुणभेदेन देवताभेदात् पुरोडाशप्रदानानि भिन्नानि भवन्ति, तथैव संवर्गविद्यायाम् **"तेन ह वा तत्त् कुलमाचक्षते यस्स्मिन्न् कुले भवति यऽएवव्ं वेद"** (मा.वा.शत.१४।४।३।३२, का.वा.बृह.१।५।२१), **"स यथैषाम् प्राणानाम् मद्ध्यमः प्प्राणऽएवमेतासान् देवतानाव्ं वायुः"** (मा.वा.शत.१४।४।३।३३, का.वा.बृह.१।५।२२), **"तेनोऽएतस्स्यै देवतायै सायुज्ज्यꣳ सलोकताञ् जयति यऽएवव्ं वेद"** (मा.वा.शत.१४।४।३।३४, का.वा.बृह.१।५।२३) इति वाजसनेयके, छान्दोग्ये च **"तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु"** (४।३।४), **"सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद"** (४।३।८) इति चोपास्यत्वेनोक्तयोर् वायुप्राणयोस् तत्त्वत एकत्वेऽपि कार्यकारणभेदेन अध्यात्माधिदैवस्वरूपभेदेन च भेदाद् आध्यान-

भेदेनैव उपासनं भवति; यत् तत्त्वाऽभेदेऽपि गुणावस्थादिभेदेन भेदकरणं तत् पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायां सङ्कर्षकाण्डेऽपि **"नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्"** (२।२।३६) इत्युक्तमेवेत्यर्थः। यथा अग्निहोत्रस्यैक्येऽपि सायम्प्रातःकालभेदाद् भिन्ने आहुती भवतस् तथैव संवर्गविद्याया एकत्वेऽपि ध्येयभेदाद् वायुप्राणविषये भिन्ने प्रवृत्ती भवत इति भावः।

हिन्दी – जैसे पुरोडाशप्रदान में इन्द्र देवता एक होने पर भी राजत्व अधिराजत्व स्वराजत्व गुणों के भेद से देवताभेद होने से पुरोडाशप्रदान भी भिन्न भिन्न होते हैं, वैसे ही संवर्गविद्या में उपास्य तत्त्व वस्तुतः एक होनेपर भी कार्यकारणभेद से और अध्यात्म और अधिदैव स्वरूपों के भेद से भी उपास्य तत्त्व में भेद होने से ध्यानभेद होता है; तत्त्व में अभेद होनेपर भी गुण-अवस्था इत्यादि में भेद होने से देवताभेद मानने की बात पूर्वतन्त्र धर्ममीमांसा में भी सङ्कर्षकाण्ड में "नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्" (२।२।३६) इस सूत्र में बताई गई है।

अथ प्रदानाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः – वाजसनेयके छान्दोग्ये च श्रुतायां संवर्गविद्यायामुक्तौ वायुप्राणौ।

विशयः – संवर्गविद्यायां वायुप्राणौ एकीकृत्य ध्येयावुत पृथक्पृथग् ध्येयाविति।

पूर्वपक्षः – वायुप्राणयोस् तत्त्वस्यैकत्वात् तौ एकीकृत्य ध्येयाविति।

उत्तरम् – यथा इन्द्रस्यैकत्वेऽपि राजा-ऽधिराज-स्वराजगुणभेदेन देवताभेदात् पुरोडाशप्रदानानि भिन्नानि भवन्ति, यथा वाऽग्निहोत्रस्यैक्येऽपि सायम्प्रातःकालभेदाद् भिन्ने आहुती भवतः, तथैव तत्त्वस्यैकत्वेऽपि विद्याया अपि एकत्वेऽपि कार्यकारणभेदात् अध्यात्माधिदैव-स्वरूपावस्थाभेदेन भेदाच्च वायुप्राणयोरनुचिन्तनभेदेनोपासनं भवतीति।

निर्णयः – संवर्गविद्ययायां वायुप्राणयोरनुचिन्तनभेदेनोपासनं भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. उभौ संवर्गविद्यायां वायुप्राणौ श्रुतौ खलु।
२. एकीकृत्यैव चिन्त्यौ तौ नाना वेति तु संशयः॥१॥
३. चिन्त्यावेकीकृत्य तत्त्वाऽभेदादिति हि के ऽचन।
४-५. दानेष्विव गुणे भेदाच् चिन्त्यौ नानेति निर्णयः॥२॥

१२९.(२९) लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् (सू. ४४-५२)

प्रयोगैक्यासम्भवात् संवर्गविद्यायां वायुप्राणोपासनयोः प्रयोगे भेदे प्रतिपादिते प्रयोगैक्यसम्भवादिष्टकाचितेन बाह्याग्निना सह मनश्चिदादीनामग्नीनां तु प्रयोगे ऐक्यं स्यादिति शङ्कां परिहरन्नाह–

४०३. लिङ्गभूयस्त्वात् तद् धि बलीयस् तदपि ३।३।४४॥ इति।

तन्निर्धाणानियमः इति अनुवर्तते। यस्मात् कारणात् प्रकरणाल् लिङ्गं बलीयः, तच्च प्रकरणाल् लिङ्गस्य बलीयस्त्वं पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायाम् **"श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"** (जै.ध.मी.सू.३।३।१३) इति सूत्रे उक्तमपि अस्ति, तस्माद् मनश्चिदादिविद्याप्रकरणे मनश्चिदाद्युपासनानां चयनयागाऽनङ्गतायाः केवलविद्यात्मकताया उपोद्बलकानां **"यत् किञ्चेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः"** (मा.वा.शत. १०।५।३।३), **"तान् न्हैतानेवव्ंविदे सर्व्वदा सर्व्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते"** (मा.वा.शत.१०।५।३।१२) इत्येवञ्जातीयकानां लिङ्गानां बहुलत्वाच्च **"तत् त्षट्‌त्रिᳯंशत् त्सहस्राण्यपश्यदात्तँमनोऽग्ग्ँनीनर्क्कान्न् मनोमयान्न् मनश्चिच्चतः"** (मा.वा.शत.१०।५।३।३) इत्यादिना प्रतिपादितानां तासां मनश्चिदाद्युपासनानां चयन-यागेऽनियमोऽवगम्यते इत्यर्थः। अनियमोऽनियतत्वमसम्बद्धत्वमिति यावत्।

४०४. पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत् ३।३।४५॥

यथा द्वादशाहस्य दशमेऽविवाक्येऽहनि **"अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्रजापतये जुष्टं गृह्णामीति प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति"** (शाबरभाष्ये १०।६।३४,३८; कात्यायनश्रौ.१२।४।१४,१५; सत्याषाढश्रौ.१६।४।१५; बौधायनश्रौ.१६।७; आपस्त-म्बश्रौ.२१।१०।१-५) इति विहितो मानसो मनोमयप्राजापत्यग्रहग्रहणादिरूपः कर्म-विशेषोऽपि प्रकरणाद् दशमस्याऽह्नः कर्मण एव शेषस् तथैव मनश्चिदाद्यग्न्युपासन-मपि प्रकरणात् पूर्वस्येष्टकाचिताग्नेरेव विशिष्टोऽङ्गरूपः कल्पः प्रकारविशेषरूपः सन् क्रियाशेषरूपा क्रियैव स्यान् न स्वतन्त्रा विद्येत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे द्वादशाहयज्ञ में विहित मनोमय प्राजापत्य ग्रह का मानस ग्रहणरूप कर्मविशेष मानस मात्र होनेपर भी प्रकरण से द्वादशाहयज्ञ के दशम दिन में किए जाने वाले कर्मों का ही अङ्ग मात्र है, स्वतन्त्र विद्या नहीं है, वैसे ही मनश्चिद् आदि अग्नि का उपासन भी प्रकरण से पूर्वप्रतिपादित इष्टकाचित अग्नि का ही अङ्गरूप कर्मप्रकारविशेष है, और कर्मका अङ्गरूप कर्म ही है, स्वतन्त्र विद्या नहीं है।

४०५. अतिदेशाच्च ३।३।४६॥

एतेषां मनश्चिदादीनामग्नीनाम् इष्टकाचितेनाऽग्निना तुल्यतायाः **"षट्‌त्रिᳯंशत्त्सहस्राण्यग्ग्ँनयोऽर्क्कास्त् तेषामेकैकऽएव तावान् न्यावानसौ पूर्व्वः"** (मा.वा.शत.१०।५।३।३,४,५,६,७,९) इति प्रतिपादनाच्च मनश्चिदाद्युपासनस्य क्रिया-ङ्गत्वमवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – मनश्चित् इत्यादि अग्नियों की इष्टकाचित अग्नि से तुल्यता श्रुति से प्रतिपादित होने से भी मनश्चित् इत्यादि अग्नियों का उपासन क्रिया का अङ्ग ही अवगत होता है, स्वतन्त्र विद्या नहीं।

४०६. विद्यैव तु निर्धारणात् ३।३।४७॥

मनश्चिदादीनामग्नीनां **"ते हैते विद्याचितऽएव"** (मा.वा.शत.१०।५।३।१२) इति, **"विद्यया हैवैतऽएवंविदश्च् चिता भवन्ति"** (मा.वा.शत.१०।५।३।१२) इति विद्याविषयत्वेन निर्धारणान् मनश्चिदाद्यग्न्युपासनं स्वतन्त्रा विद्यैव न कर्माङ्ग-मित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में मनश्चित् इत्यादि अग्नियों का विद्याविषय के रूप में स्पष्टतया निर्धारण देखे जाने से मनश्चित् इत्यादि अग्नियों का उपासन स्वतन्त्र विद्या ही अवगत होती है, कर्माङ्ग नहीं।

४०७. दर्शनाच्च ३।३।४८॥

मनश्चिदादीनां सङ्कल्पमात्रतायाः प्रतिपादकानां **"सतत् किञ्चेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः"** (मा.वा.शत.१०।५।३।३) इत्यादिकानां लिङ्गानां भूयसामत्र प्रकरणे दर्शनाच्च मनश्चिदाद्युपासनं स्वतन्त्रा विद्यैव न कर्मा-ङ्गमित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – मनश्चित् इत्यादि अग्नियों की सङ्कल्पमात्रस्वरूपता के प्रतिपादक प्रभूत लिङ्ग श्रुति में देखे जाने से भी मनश्चित् इत्यादि अग्नियों का उपासन स्वतन्त्र विद्या ही अवगत होती है, कर्माङ्ग नहीं।

४०८. श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ३।३।४९॥

प्रकरणात् श्रुति-लिङ्ग-वाक्यानां बलवत्तरत्वात्, **"ते हैते विद्याचित एव"** (मा.वा.शत.१०।५।३।१२) इति एवकारश्रुतेः, **"सर्ब्बदा सर्ब्बाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्स्वपते"** (मा.वा.शत.१०।५।३।१२) इति विधिवाक्यस्थस्य कर्माङ्गताऽननुकूलस्य सर्वदाऽनुष्ठीयमानत्वस्य लिङ्गस्य, **"विद्यया हैवैत एवंविदश्च्विता भवन्ति"** (मा.वा.शत.१०।५।३।१२) इति मानसानामग्नीनां कर्मसम्बन्धं विहाय पुरुषसम्बन्धं प्रदर्शयतो वाक्यस्य चाऽस्मिन् ब्राह्मणे दर्शनाच्च न दुर्बलेन कर्मप्रकरणेन मनश्-चिदादिविद्यायाः स्वतन्त्रताया बाधः स्वीकर्तुं शक्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – प्रकरण की अपेक्षा श्रुति-लिङ्ग-वाक्यों का अधिक बलवत्त्व पूर्वतन्त्र धर्ममीमांसा में ही सम्यक् प्रतिपादित होने से और एवकार श्रुति का, कर्माङ्गता के अननुकूल सर्वदा अनुष्ठीयमानत्व-रूप लिङ्ग का, और मानस अग्नियों के कर्मसम्बन्ध को छोडकर पुरुषसम्बन्ध को दिखाने वाले वाक्य का भी इस प्रकरण में दर्शन होने से भी प्रकरण मात्र से मनश्चित् इत्यादि अग्नियों के उपासन का स्वतन्त्र विद्यात्व बाधित नहीं होता है।

४०९. अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ३।३।५०॥

यथा शाण्डिल्यविद्यादीनां (छा.३।१४।१-४) विज्ञानान्तराणां स्वस्वानुबन्धेनाऽनुबध्यमानानां कर्मभ्यो विज्ञानान्तरेभ्यश्च पृथक्त्वम्, तथैव **"ते मनसैवाऽधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैव ग्ग्रहाऽअगृह्यन्त मनसाऽस्तुवत मनसाऽशꣳसन् न्यत्त् किञ्च यज्ञेꣳ कर्म्म क्क्रियते यत्त् किञ्च यज्ञियङ् कर्म्म मनसैव तेषु तन् मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्क्रियत"** (मा.वा.शत.१०।५।३।३) इति क्रियावयवानामाधानादीनां मनआदिव्यापारेषु अनुबन्धात्, पूर्वोक्तेभ्यः श्रुति-लिङ्ग-वाक्येभ्यश्च मनश्चिदाद्युपासनस्य कर्मणो विज्ञानान्तरेभ्यश्च पृथक्त्वमवगन्तव्यम्, दृष्टश्च राजसूयप्रकरणपठिताया अवेष्टेरिष्टेः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धात्, तच्च पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायाम् **"क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्"** (जै.ध.मी.सू.११।४।७) इति उक्तमेवेत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे अनुबन्ध-श्रुति-लिङ्ग-वाक्यादि से कर्मों से और अन्य विद्याओं से शाण्डिल्यविद्या इत्यादि विद्याओं का पृथक्त्व अवगत होता है, वैसे ही कर्मावयव आधानादियों का मनआदिव्यापारों में अनुबन्ध से और श्रुति-लिङ्ग-वाक्यों से भी मनश्चित् इत्यादि अग्नियों के उपासन का भी कर्म से और अन्य विद्याओं से पृथक्त्व अवगत होता है; वर्णत्रय से अनुबन्ध होने से राजसूयप्रकरण में पठित होनेपर भी अवेष्टि इष्टि का प्रकरण से उत्कर्ष देखा ही गया है; यह बात पूर्वतन्त्र धर्ममीमांसा में उक्त ही है।

४१०. न सामान्यादप्युपलब्धेर् मृत्युवन् न हि लोकापत्तिः ३।३।५१॥

यथा **"सऽएषऽएव मृत्त्युर्य्यऽएषऽएतस्मिन्न् मण्डले पुरुषः"** (मा.वा.शत.१०।५।२।३,२३) इत्यत्रोक्तस्याऽऽदित्यपुरुषस्य **"अग्ग्निर् ब्बै मृत्त्युः"** (मा.वा.शत.१४।६।२।१०, का.वा.बृह.३।२।१०) इत्यत्रोक्तस्याऽग्नेश्च मृत्युशब्दबोध्यत्वेन साम्येऽपि नाऽत्यन्तसमानत्वम्, यथा च **"असौ वाव लोको गौतमाऽग्निस्तस्याऽऽदित्य एव समित्"** (छा.५।४।१) इत्यादिकायां श्रुतावुक्तानां लोकानां समिदादिभिरङ्गैर् लौकिकेनाऽग्निना समानत्वेनोक्तत्वेऽपि न हि सर्वथाऽग्नित्वस्याऽऽपत्तिः, तथैव मनश्चिदादीनां प्राजापत्येन मानसग्रहेण सह मानसत्वेन रूपेण समानत्वेऽपि मनश्चिदादिषु केवलपुरुषार्थत्वरूपविशेषस्य श्रुत्यादिभिः प्रमाणैरुपलभ्यमानत्वान् नाऽत्यन्तमेव समानत्वमिति न क्रियाशेषत्वमित्यर्थः।

हिन्दी – जैसे आदित्यपुरुष का और अग्नि का मृत्युशब्दबोध्य होने से कुछ समानता होनेपर भी अत्यन्त समानता नहीं मानी जाती है, जैसे द्युलोकादि लोकों का समित् प्रभृति अङ्गों से लौकिक अग्नि से साम्य होनेपर भी सर्वथा अग्नित्व की प्राप्ति नहीं होती है; वैसे ही मनश्चित् प्रभृति अग्नियों का प्राजापत्य ग्रह से मानसत्वरूप में साम्य होनेपर भी मनश्चित् प्रभृति अग्नियों में केवलपुरुषार्थत्वरूप विशेष का श्रुत्यादि प्रमाण से ज्ञान होने से प्राजापत्य ग्रह से पूर्णतया साम्य नहीं होता है। अतः मनश्चित् प्रभृति अग्नियों को प्राजापत्य ग्रह की तरह क्रत्वङ्ग नहीं माना जा सकता है।

४११. परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः ३।३।५२॥

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाऽविद्वाँसस्तपस्विनः" (मा.वा.शत.१०।५।४।१६) इति विद्यारहितं यज्ञादि कर्म च निन्दता परेण ब्राह्मणेन "सोऽमृतो भवति मृत्युर् ह्यस्यस्याऽऽत्तँमा भवति" (मा.वा.शत.१०।५।२।२३) इति विद्याफलेनैवोपसंहरता पूर्वेण ब्राह्मणेन च तयोर् मध्ये पठिते मनश्चिदादिप्रतिपादकब्राह्मणेऽपि शब्दस्य कर्माऽननुबद्धविद्याविधित्वं द्योत्यते, अतो मनश्चिदाद्युपासनानां स्वतन्त्रविद्यात्वमेव; विद्यायां सम्पादयितव्याना-मग्न्यवयवानां भूयस्त्वात् तु विद्याप्रतिपादकानामप्येतेषां ब्राह्मणानां बृहदारण्य-ककाण्डेऽनुबन्धमकृत्वाऽग्निरहस्यकाण्डेऽनुबन्धः कृतो वेदितव्य इत्यर्थः।

हिन्दी – विद्यारहित यज्ञादि कर्म की और तप की निन्दा करने वाले उत्तर ब्राह्मण से और विद्याफल से ही उपसंहार करने वाले पूर्व ब्राह्मण से भी इन दो ब्राह्मणों के मध्य में आए हुए मनश्चित् प्रभृति अग्नि के प्रतिपादक ब्राह्मण में भी शब्द का कर्म में अननुबद्ध विद्या की प्रतिपादकता द्योतित होती है, अतः मनश्चिदादि अग्नियों का उपासन स्वतन्त्र विद्या है, कर्माङ्ग नहीं; सम्पादयितव्य (समारोप्य) अग्न्यवयवों का विद्या में बाहुल्य होने से ही विद्या के प्रतिपादक होनेपर भी ये ब्राह्मणग्रन्थ बृहदारण्यक-काण्ड में न जोडकर अग्निरहस्यकाण्ड में जोडे गए हैं।

अथ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– माध्यन्दिनीयवाजसनेयिशतपथब्राह्मणे अग्निरहस्यकाण्डे श्रुतं मनश्चिदाद्यग्नीना-मुपासनम्।

विशयः– एतदुपासनं कर्मसम्बद्धमुत स्वतन्त्रविद्यारूपमिति।

पूर्वपक्षः– अग्निचयनकर्मप्रकरणपठितत्वात्, स्वतन्त्रविद्यालिङ्गस्याऽपि "तान् ह्यैतानेवंव्-विदे सर्व्वदा सर्व्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्यर्थवादवाक्यगतत्वाद् अन्यार्थदर्शनरूपत्वेन दुर्बलत्वाच्च मनश्चिदाद्यग्नीनामुपासनम् अग्निचयनकर्माङ्गमिति।

उत्तरम्– अस्मिन् प्रकरणे लिङादेरश्रवणाच् छाब्दस्य विधेरभावाद् अर्थवादोन्नेयविधौ चा-ऽर्थवादगतलिङ्गस्याऽपि विध्युद्देशगतलिङ्गवदेव प्राबल्यात्, "ते हैते विद्याचित ऽएव" इति श्रुतेः, "विद्यया हैवैत ऽएवंव्विदश्च् चिता भवन्ति" इति वाक्यात्, कर्मा-वयवानामाधानादीनां मनआदिव्यापारेषु अनुबन्धात्, प्रकरणस्य श्रुत्यादिभिर् बाधनात्, पूर्वपरब्राह्मणयोश्च विद्याया एव प्रतिपादितत्वाच्च मनश्चिदाद्यग्नीनामुपासनं स्वतन्त्रा विद्या न तु कर्माङ्गमिति।

निर्णयः– मनश्चिदाद्यग्नीनामुपासनं स्वतन्त्रा विद्या न तु कर्माङ्गमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. मनश्चिदादग्न्युपास्तिः श्रुता वाजसनेयके।
२. सा हि स्वतन्त्रा विद्या स्यात् कर्माङ्गं वेति संशयः॥१॥

३. कर्माङ्गं स्यात् प्रकरणादित्याहुः खलु के चन।
४-५. लिङ्गाच् श्रुत्यादितो विद्या स्वतन्त्रा सेति निर्णयः॥२॥

१३०.(३०) शरीरव्यतिरिक्तात्माधिकरणम् {ऐकात्म्याधिकरणम्} (सू. ५३-५४)

मनश्चिदादीनां न क्रत्वर्थत्वं किन्तु पुरुषार्थत्वमिति मनश्चिदादयः स्वतन्त्रा विद्या इति निर्णीते शरीरातिरिक्तस्य पुरुषस्यैवाऽभावात् तत् पुरुषार्थत्वमनुपपन्नमिति शङ्कामपाकर्तुं पुरुषं निरूपयितुमाह—

४१२. एक आत्मनः शरीरे भावात् ३।३।५३॥ इति।

एके देहात्मवादिनो लौकायतिकाः शरीरे सत्येव चैतन्यसुखादीनां भावात्, शरीरे असति तु तेषामप्यभावाद् आत्मनः शरीराऽव्यतिरेक इति वदन्तीत्यर्थः। देह एवाऽऽत्मा न देहभिन्न आत्माऽस्तीति लौकायतिकानां मतमिति भावः।

हिन्दी – चार्वाकादि कोई मतवादी शरीर होनेपर ही चैतन्य-सुखादि की सत्ता देखे जाने से और शरीर न होनेपर चैतन्य-सुखादि की सत्ता नहीं देखे जाने से शरीर से पृथक् कोई तत्त्व न होने की बात करते हैं।

४१३. व्यतिरेकस् तद्भावाभावित्वान् न तूपलब्धिवत् ३।३।५४॥

यथा विषयसत्त्वे विषयोपलब्धिः, विषयाभावे विषयोपलब्धेरप्यभावः, न तु तथा शरीरसत्त्वे चैतन्यसत्त्वं शरीराभावे चैतन्याभावः, किन्तु मृतावस्थायां शरीरस्य सत्त्वेऽपि चैतन्यस्याऽभावात् केवलचितिरूपस्याऽऽत्मनः शरीराद् व्यतिरेक एवेत्यर्थः। सिद्धे शरीरव्यतिरिक्तत्वे चाऽऽत्मनः शरीरस्याऽभावेऽपि भावस् तर्केणाऽपि सम्भावितो भवत्येवेति भावः। आत्मरूपायाश् चितेर् नाशस्य अनुभवाऽगोचरत्वाच्च शरीरव्यतिरिक्तोऽविनाशी आत्मा अनुभवस्याऽपि अविरुद्ध एवाऽवगन्तव्य इति च भावः। **"अविनाशी वाऽअरेऽयमात्तँमाऽनुच्छित्तिधर्म्मा"** (मा.वा.शत. १४।७।३।१५, का.वा.बृह.४।५।१४) इत्यादिभिः श्रुतिवाक्यैश् चैतादृश आत्मा प्रतिपादित एवाऽस्तीत्याकूतम्।

हिन्दी – मरणावस्था में शरीर रहनेपर भी चैतन्य का अभाव होने से शरीर से चिन्मात्ररूप आत्मा का व्यतिरेक अवगत होता है, जैसे विषय रहनेपर ही विषय की उपलब्धि होती है, विषय नरहनेपर नहीं वैसी स्थिति शरीर और आत्मा में नहीं।

अथ शरीरव्यतिरिक्तात्माधिकरणस्वरूपम्

विषयः– कर्मणां कर्माङ्गाणां स्वतन्त्राणां चोपासनानामपि फलस्य भोक्ता आत्मा।

विशयः– आत्मा शरीरादव्यतिरिक्तो व्यतिरिक्तो वेति।

पूर्वपक्षः– शरीरे सत्येव चैतन्यस्य भावात् शरीरे असति त्वभावात् शरीरादव्यतिरिक्तः चेतन आत्मेति।

उत्तरम्– मृतावस्थायां शरीरे सत्यपि चैतन्यस्याऽभावात् शरीराद् व्यतिरिक्त एव लोकान्तरगामी पुनर्जन्मादिभाक् कर्मणां कर्माङ्गाणां स्वतन्त्राणां चोपासनानामपि फलस्य भोक्ता नित्योऽनुच्छित्तिधर्मा उपनिषत्सु प्रतिपादित आत्मेति।

निर्णयः– शरीराद् व्यतिरिक्त एवाऽऽत्मेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. कर्मोपास्तिफलानां हि भोक्ताऽऽत्माऽभिहितः श्रुतौ।
२. स शरीरादभिन्नः स्याद् भिन्नो वेति तु संशयः॥१॥
३. कैश्चिच् शरीरे चैतन्यसत्त्वात् सोऽभिन्न उच्यते।
४-५. शरीरे सति चैतन्याऽभावाद् भिन्नस्तु स स्मृतः॥२॥

१३१.(३१) अङ्गावबद्धाधिकरणम् (सू. ५५,५६)

यथा शरीरात्मनोर् भेदादात्मधर्माणां न शरीरे सम्भवस् तथा एकस्यां शाखायां स्थितानामुद्गीथादीनाम् अन्यस्यां शाखायां स्थितेभ्य उद्गीथादिभ्यः स्वरादिभेदेन भिन्नत्वाद् एकस्यां शाखायां स्थितेषु उद्गीथादिषु स्थितानामुपासनानाम् अन्यस्यां शाखायां स्थितेषु उद्गीथादिषु असम्भवः स्यादिति उपासनाविचारं प्रपञ्चयन्, शङ्कामपाकुर्वँश्चाऽऽह–

४१४. अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ३।३।५५॥ इति।

"उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी" (ऐ.आ. २।१।२) **"अयवं वाव लोकऽएषोऽग्ग्ँनिश्च् चितः"** (मा.वा.शत.१०।५।४।१), **"लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत"** (छा.२।२।१) इत्यादिका ऋग्वेदादिशाखाविशेषेषु प्रतिपादिता उक्थादिकर्माङ्गसम्बद्धा विद्यास् तु प्रतिवेदं तासुतासु शाखासु स्थितेषु उक्थादिषु एव व्यवस्थिता न भवन्ति, किन्तु शाखान्तरेष्वपि अनुवर्तन्ते इत्यर्थः।

हिन्दी– ऋग्वेदादि वेदों की शाखाओं मे प्रतिपादित उक्थादि कर्माङ्गों से सम्बद्ध उपासनाएँ तो उस उस वेद की उसी उसी शाखा में ही सीमित नहीं होती हैं, किन्तु दूसरी शाखाओं में भी अनुवृत्त होती हैं।

४१५. मन्त्रादिवद् वाऽविरोधः ३।३।५६॥

"अग्ने वेर् होत्रं वेरध्वरम्" इत्यादिकस्य सामवेदिनां ताण्डिनां ब्राह्मणे (२१।१०।११) आम्नातस्य मन्त्रस्य **"तेषा॰ होमोऽग्ग्ँने वेर् होत्त्रवं वेरद्ध्वरम्"**

(कात्यायनश्रौ.२३।३।१, २) इत्यादौ याजुषकल्पे परिग्रहः; यस्यां शाखायां समिदादयः प्रयाजा नाऽऽम्नातात् तस्यां शाखायामपि **"ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः"** (मैत्रायणीयसं.१।४।१२, शाबरभा.२।४।३०) इति गुणविधौ तेषां परिग्रहः; यस्यां शाखायाम् **"अजोऽग्नीषोमीयः"** (काठक.२४।७, शाबरभा.१०।४।३२) इति जाति-विशेषोपदेशो नाऽऽम्नायते तस्यामपि **"छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि"** (तै.ब्रा.३।९।८।१) इति तद्विषयकमन्त्रस्योपदेशेन जातिविशेषस्य परिग्रह इति यथा आश्रयरूपाणां कर्माङ्गाणां मन्त्र-कर्म-गुणानां सर्वत्राऽनुवृत्तिस् तथैव कर्माङ्गमाश्रि-तानामुपासनानामपि उक्थादिषु सर्वत्राऽनुवृत्तिरित्यङ्गीकारे न कोऽपि विरोध इत्यर्थः। वाशब्दः पूर्वमेव व्याख्यातः (३।२।२९)।

हिन्दी – जैसे वेद की एक शाखा में उपदिष्ट कर्माङ्ग मन्त्र कर्म और गुणरूप आश्रयों का अन्य शाखाओं में अनुवृत्ति होने में कोई विरोध नहीं आता है, वैसे ही कर्माङ्गों में आश्रित उपासनों की उक्थादि में सर्वत्र अनुवृत्ति होने में भी कोई विरोध नहीं आता है।

अथाऽङ्गावबद्धाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – प्रतिवेदं शाखासु आम्नाताः कर्माङ्गाश्रया विद्याः (उपासनाः)।

विशयः – ता विद्याः किं तत्तच्छाखागतोक्थादिष्वेव व्यवस्थिता उत अन्यशाखा-गतोक्थादिष्वपि अनुवर्तन्ते इति।

पूर्वपक्षः – सामान्यविहितानां विद्यानां विशेषाकाङ्क्षायां सन्निहितेन स्वशाखागतेन विशेषेण विशेषाकाङ्क्षाया निवृत्तेः, शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणस्याऽभावाच्च तत्तच्छाखासु विहिता उक्थादिविद्यास् तत्तच्छाखागतोक्थादिष्वेव व्यवस्थिता भवन्तीति।

उत्तरम् – सर्वासु शाखासु उक्थत्वादीनामविशेषाद् उक्थादिविद्याः सामान्यतया श्रुत्या विधीयमानाः श्रुतितो दुर्बलेन सन्निधानेन तत्तद्वेदशाखास्वेव नियन्तुं न शक्यन्ते, यथा मन्त्र-कर्म-गुणा एकस्यां शाखायां विहिता अपि अन्यस्यां शाखायामपि परिगृह्यन्ते तथैव उक्थादिविद्या अपि एकस्यां शाखायां विहिता अपि अन्यशाखागतेषूक्थादिष्वपि परिगृह्यन्ते इति।

निर्णयः – कर्माङ्गावबद्धा विद्याः सर्वत्र शाखासु अनुवर्तन्ते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. उक्थादिविद्याः वेदानां शाखासु बहवः श्रुताः।
२. तत्तच्छाखास्वेव ता हि नियता वा न वा मताः॥१॥
३. तत्तच्छाखासु नियताः सान्निध्यादिति के चन।
४-५. अन्यत्राऽप्यनुवर्त्यास् ताः श्रुत्या बाधात् तु सन्निधेः॥२॥

१३२.(३२) भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् (सू. ५७)

उपासनाविचारमेव प्रपञ्चयन्, यथा सन्निधिप्राप्तव्यवस्थां बाधित्वा श्रुत्या उद्गीथोपास्तीनां शाखान्तरोद्गीथेष्वपि अनुवृत्तिः प्रतिपादिता, तथैव सन्निधि-प्राप्तसमस्तोपास्तिस्तुर्यथत्वं बाधित्वा श्रुत्या व्यस्तोपास्तिरेव विहिता मन्तव्या स्यादिति शङ्कामपाकुर्वँश्चाऽऽह–

४१६. भूम्नः क्रतुवज् ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ३।३।५७॥ इति।

यथा **"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति गायत्रियैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन् नवकपालस् त्रिवृतैवाऽस्मिन् तेजो दधाति, यद् दशकपालो विराजैवाऽस्मिन्नन्नाद्यं दधाति, यदेकादशकपालस् त्रिष्टुभैवाऽस्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद् द्वादशकपालो जगत्यैवाऽस्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति"** (तै.सं. २।२।५।३-४) इति विहिते क्रतौ अष्टाकपालपुरोडाशनिर्वपणादिभ्योऽननुष्ठेयत्वेनोक्तेभ्यो द्वादशकपालपुरोडाशनिर्वपणोत्कर्षप्रदर्शनमात्रफलेभ्यो द्वादशकपालपुरोडाशनिर्वपणस्याऽनुष्ठेयस्य प्रकृष्टत्वेन ज्यायस्त्वम् (द्र.–शाबरभा.१।४।२२), तथैव माध्यन्दिनीयवाजसनेयिशुक्लयजुर्वेदशाखाशतपथब्राह्मणेऽग्निरहस्यकाण्डे **"अथ हैतेऽरुणऽऔपवेशौ समाजग्ग्ँमुः सत्त्ययज्ञ्ँञः पौलुषिः"** (१०।६।१।१) इत्यादिके वैश्वानरविद्याप्रकरणे, छान्दोग्योपनिषदि **"प्राचीनशाल औपमन्यवः"** (५।११।१) इत्यादिके वैश्वानरविद्याप्रकरणे चाऽपि भूम्नोऽधिकतराङ्गयुक्तस्य समस्तस्य वैश्वानरस्योपासनस्यैवाऽनुष्ठेयतया विहितत्वात् समस्तोपासनोत्कर्षप्रदर्शनमात्रफलेभ्यो द्युलोकाद्येकैकाङ्गोपासनेभ्यो भूम्नोऽधिकतराङ्गयुक्तस्य समस्तस्य वैश्वानरस्योपासनस्यैव ज्यायस्त्वमवगन्तव्यम्; तथा हि उपक्रमे एकैकाङ्गोपासकानामृषीणामकृतार्थत्वेन राजानं प्रति गमनं प्रतिपादयन्ती, **"पादौ तेऽम्लास्स्यताम्"** (मा.वा.शत. १०।६।१।४), **"मूर्धा ते व्यपतिष्यत्"** (छा.५।१२।२) इत्यादिना व्यस्तोपासनं निन्दन्ती, **"न हाऽस्य ब्बुवाणञ्चन वैश्श्वानरो हिनस्ति"** (मा.वा.शत.१०।६।१।११), **"स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति"** (छा.५।१८।१) इति समस्तोपासनं प्रशंसन्ती, समस्तोपासनेनैव प्रकरणस्योपसंहारं कुर्वती च श्रुतिः समस्तोपासनस्यैव ज्यायस्त्वमस्मिन् प्रकरणे विहितत्वं च दर्शयतीत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे पुत्त्रजन्म में कर्तव्य आत्रेय-तैत्तिरीय-संहितोक्त यज्ञ में अष्टाकपालादि पुरोडाशों के निर्वपण से द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वपण का ज्यायस्त्व (उत्तमत्व) अवगत होता है, वैसे ही माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखा के शतपथ ब्राह्मण में और छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित वैश्वानरविद्या में भी अधिकतरअङ्गयुक्त समस्त वैश्वानर के उपासन का ज्यायस्त्व (उत्तमत्व) अवगत होता है; उपक्रम में एकएक अङ्ग के उपासक ऋषियों की अकृतार्थता दिखाने वाली, व्यस्तो-

पासन की निन्दा करनेवाली, समस्तोपासन की प्रशंसा करने वाली तथा समस्तोपासन से ही प्रकरण का उपसंहार करने वाली श्रुति समस्तोपासन का उत्तमत्व और तात्पर्येण विहितत्व दिखाती ही है।

अथ भूमज्यायस्त्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– माध्यन्दिनीयके छान्दोग्ये चोक्तं वैश्वानरोपासनम्।

विशयः– तत्र वैश्वानरस्य व्यस्तस्य समस्तस्य चोपासनं विहितमुत समस्तस्यैवेति।

पूर्वपक्षः– अवयवोपासनेष्वपि **"तस्मात् त्वम् प्रतिष्ठितः प्रजया पशुभिरसि"** (मा.वा. शत.१०।६।१।४) **"तस्मात् तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते"** (छा.५।१२।१) इत्यादिभिर् वाक्यैः फलानामुक्तत्वाद् व्यस्तस्य समस्तस्य चोपासनं विहितमिति।

उत्तरम्– यथा तैत्तिरीयसंहितोक्तवैश्वानरपुरोडाशयागे अष्टाकपालपुरोडाशयागादीनामपि फलेषु श्रूयमाणेष्वपि उपक्रमोपसंहारवैशिष्ट्याद् द्वादशकपालपुरोडाशयागस्यैव विहितत्वं निश्चीयते तथैव द्युलोकाद्येकैकाङ्गोपासनानामपि फलेषु श्रूयमाणेष्वपि उपक्रमोपसंहारयोर् निन्दाप्रशंसयोश्च विशेषात् समस्तोपासनस्यैव वैश्वानरविद्याप्रकरणे विहितत्वमवगम्यते इति।

निर्णयः– वैश्वानरविद्यायां समस्तोपासनस्यैव विहितत्वमवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतं वैश्वानरध्यानं वेदे माध्यन्दिनीयके।
२. तत्राऽङ्गस्याऽपि च ध्यानं कृत्स्नस्यैव हि वा भवेत्॥१॥
३. अङ्गस्याऽपि भवेद् ध्यानं तत्राऽपि फलदर्शनात्।
४-५. कृत्स्नस्यैवोपक्रमादिदर्शनाद् ध्यानमिष्यते॥२॥

१३३.(३३) शब्दादिभेदाधिकरणम् (सू. ५८)

सगुणब्रह्मविद्यानां भेदं स्वीकृत्य गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविचारे कृते सगुणब्रह्मविद्यानां भेदं प्रतिपादयन्नाह—

४१७. नाना शब्दादिभेदात् ३।३।५८॥ इति।

छान्दोग्योपनिषदादिकासु श्रुतिषु श्रुताः उद्गीथविद्या-शाण्डिल्यविद्योपकोसलविद्या-वैश्वानरविद्या-दहरविद्यादिविद्याः (द्र.-छा.१।१।१, ३।१४।१-४, ४।१४।१, ५।११।१-, ८।१।१,२) **"उपासीत"** (छा.३।१४।१), **"वेद"** (छा.४।१।६), **"अनुविद्य व्रजन्ति"** (छा.८।१।६) इत्यादिकानां विधिशब्दानाम्, फलसंयोगानाम्, रूपाणाम्, समाख्यानां च भेदाद् नाना भवन्तीत्यर्थः। पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायां **"शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्"** (जै.ध.मी.सू.२।२।१) इत्यादिना ये कर्मभेदहेतवः प्रतिपादितास् तेषामेवाऽऽदिशब्देन सङ्ग्रहः कृतोऽवगन्तव्यः।

१३२.(३२) भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् (सू. ५७)

उपासनाविचारमेव प्रपञ्चयन्, यथा सन्निधिप्राप्तव्यवस्थां बाधित्वा श्रुत्या उद्गीथोपास्तीनां शाखान्तरोद्गीथेष्वपि अनुवृत्तिः प्रतिपादिता, तथैव सन्निधिप्राप्तसमस्तोपास्तिस्तुत्यर्थत्वं बाधित्वा श्रुत्या व्यस्तोपास्तिरेव विहिता मन्तव्या स्यादिति शङ्कामपाकुर्वँश्चाऽऽह—

४१६. भूम्नः क्रतुवज् ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ३।३।५७॥ इति।

यथा **"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति गायत्रियैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन् नवकपालस् त्रिवृतैवाऽस्मिन् तेजो दधाति, यद् दशकपालो विराजैवाऽस्मिन्नन्नाद्यं दधाति, यदेकादशकपालस् त्रिष्टुभैवाऽस्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद् द्वादशकपालो जगत्यैवाऽस्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति"** (तै.सं. २।२।५।३-४) इति विहिते क्रतौ अष्टाकपालपुरोडाशनिर्वपणादिभ्योऽननुष्ठेयत्वेनोक्तेभ्यो द्वादशकपालपुरोडाशनिर्वपणोत्कर्षप्रदर्शनमात्रफलेभ्यो द्वादशकपालपुरोडाशनिर्वपणस्याऽनुष्ठेयस्य प्रकृष्टत्वेन ज्यायस्त्वम् (द्र.–शाबरभा.१।४।२२), तथैव माध्यन्दिनीयवाजसनेयिशुक्लयजुर्वेदशाखाशतपथब्राह्मणेऽग्निरहस्यकाण्डे **"अथ हैतेऽरुणऽऔपवेशौ समाजग्मुः सत्त्ययज्ञः पौलुषिः"** (१०।६।१।१) इत्यादिके वैश्वानरविद्याप्रकरणे, छान्दोग्योपनिषदि **"प्राचीनशाल औपमन्यवः"** (५।११।१) इत्यादिके वैश्वानरविद्याप्रकरणे चाऽपि भूम्नोऽधिकतराङ्गयुक्तस्य समस्तस्य वैश्वानरस्योपासनस्यैवाऽनुष्ठेयतया विहितत्वात् समस्तोपासनोत्कर्षप्रदर्शनमात्रफलेभ्यो द्युलोकाद्येकैकाङ्गोपासनेभ्यो भूम्नोऽधिकतराङ्गयुक्तस्य समस्तस्य वैश्वानरस्योपासनस्यैव ज्यायस्त्वमवगन्तव्यम्; तथा हि उपक्रमे एकैकाङ्गोपासकानामृषीणामकृतार्थत्वेन राजानं प्रति गमनं प्रतिपादयन्ती, **"पादौ तेऽम्लास्यताम्"** (मा.वा.शत. १०।६।१।४), **"मूर्धा ते व्यपतिष्यत्"** (छा.५।१२।२) इत्यादिना व्यस्तोपासनं निन्दन्ती, **"न हाऽस्य ब्रुवाणश्चन वैश्वानरो हिनस्ति"** (मा.वा.शत.१०।६।१।११), **"स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति"** (छा.५।१८।१) इति समस्तोपासनं प्रशंसन्ती, समस्तोपासनेनैव प्रकरणस्योपसंहारं कुर्वती च श्रुतिः समस्तोपासनस्यैव ज्यायस्त्वमस्मिन् प्रकरणे विहितत्वं च दर्शयतीत्यर्थः।

हिन्दी— जैसे पुत्रजन्म में कर्तव्य आत्रेय-तैत्तिरीय-संहितोक्त यज्ञ में अष्टाकपालादि पुरोडाशों के निर्वपण से द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वपण का ज्यायस्त्व (उत्तमत्व) अवगत होता है, वैसे ही माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदशाखा के शतपथ ब्राह्मण में और छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित वैश्वानरविद्या में भी अधिकतरअङ्गयुक्त समस्त वैश्वानर के उपासन का ज्यायस्त्व (उत्तमत्व) अवगत होता है; उपक्रम में एकएक अङ्ग के उपासक ऋषियों की अकृतार्थता दिखाने वाली, व्यस्तो-

पासन की निन्दा करनेवाली, समस्तोपासन की प्रशंसा करने वाली तथा समस्तोपासन से ही प्रकरण का उपसंहार करने वाली श्रुति समस्तोपासन का उत्तमत्व और तात्पर्येण विहितत्व दिखाती ही है।

अथ भूमज्यायस्त्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– माध्यन्दिनीयके छान्दोग्ये चोक्तं वैश्वानरोपासनम्।

विशयः– तत्र वैश्वानरस्य व्यस्तस्य समस्तस्य चोपासनं विहितमुत समस्तस्यैवेति।

पूर्वपक्षः– अवयवोपासनेष्वपि **"तस्मात् त्वम् प्रतिष्ठितः प्रजया पशुभिरसि"** (मा.वा. शत.१०।६।१।४) **"तस्मात् तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते"** (छा.५।१२।१) इत्यादिभिर् वाक्यैः फलानामुक्तत्वाद् व्यस्तस्य समस्तस्य चोपासनं विहितमिति।

उत्तरम्– यथा तैत्तिरीयसंहितोक्तवैश्वानरपुरोडाशयागे अष्टाकपालपुरोडाशयागादीनामपि फलेषु श्रूयमाणेष्वपि उपक्रमोपसंहारवैशिष्ट्याद् द्वादशकपालपुरोडाशयागस्यैव विहितत्वं निश्चीयते तथैव द्युलोकाद्येकैकाङ्गोपासनानामपि फलेषु श्रूयमाणेष्वपि उपक्रमोपसंहारयोर् निन्दाप्रशंसयोश्च विशेषात् समस्तोपासनस्यैव वैश्वानरविद्याप्रकरणे विहितत्वमवगम्यते इति।

निर्णयः– वैश्वानरविद्यायां समस्तोपासनस्यैव विहितत्वमवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतं वैश्वानरध्यानं वेदे माध्यन्दिनीयके।
२. तत्राऽङ्गस्याऽपि च ध्यानं कृत्स्नस्यैव हि वा भवेत्॥१॥
३. अङ्गस्याऽपि भवेद् ध्यानं तत्राऽपि फलदर्शनात्।
४-५. कृत्स्नस्यैवोपक्रमादिदर्शनाद् ध्यानमिष्यते॥२॥

१३३.(३३) शब्दादिभेदाधिकरणम् (सू. ५८)

सगुणब्रह्मविद्यानां भेदं स्वीकृत्य गुणोपसंहाराऽनुपसंहारविचारे कृते सगुणब्रह्मविद्यानां भेदं प्रतिपादयन्नाह—

४१७. नाना शब्दादिभेदात् ३।३।५८॥ इति।

छान्दोग्योपनिषदादिकासु श्रुतिषु श्रुताः उद्गीथविद्या-शाण्डिल्यविद्योप-कोसलविद्या-वैश्वानरविद्या-दहरविद्यादिविद्याः (द्र.-छा.१।१।१, ३।१४।१-४, ४।१४।१, ५।११।१-, ८।१।१,२) **"उपासीत"** (छा.३।१४।१), **"वेद"** (छा.४।१।६), **"अनुविद्य व्रजन्ति"** (छा.८।१।६) इत्यादिकानां विधिशब्दानाम्, फलसंयोगानाम्, रूपाणाम्, समाख्यानां च भेदाद् नाना भवन्तीत्यर्थः। पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायां **"शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्"** (जै.ध.मी.सू.२।२।१) इत्यादिना ये कर्मभेदहेतवः प्रतिपादितास् तेषामेवाऽऽदिशब्देन सङ्ग्रहः कृतोऽवगन्तव्यः।

विद्यानानात्वे सिद्धे सत्येव शाण्डिल्यविद्यादिविद्याः प्रतिवेदान्तं भिन्ना वैका वेति चिन्तोचितेति एतदधिकरणं खल्वेतस्मिन् पादे उत्सर्गतया प्रथमं निबन्धनीयमपि प्रसङ्गादत्र निबद्धमवगन्तव्यम्। एतच्च भाष्यकारेणाऽपि **"स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम्"** इति प्रतिपादितमेव।

हिन्दी– "उपासीत" "वेद" इत्यादि विधिशब्दों के भेद से, फलभेद से, रूपभेद से और उद्गीथविद्या, गायत्रीविद्या, शाण्डिल्यविद्या, पुरुषयज्ञविद्या, संवर्गविद्या, उपकोसलविद्या, प्राणविद्या, पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानरविद्या, भूमविद्या, दहरविद्या, मधुविद्या, पर्यङ्कविद्या इत्यादि समाख्या (नाम) में भी भेद होने से उद्गीथविद्या इत्यादि विद्याएँ भिन्न भिन्न विद्याएँ हैं।

अथ शब्दादिभेदाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– छान्दोग्योपनिषदादिषु श्रुता उद्गीथविद्यादिका विद्याः।

विशयः– एतासां विद्यानामेकत्वमुत नानात्वमिति।

पूर्वपक्षः– वेद्यं हि रूपं विद्याया इति, वेद्यश्चैक एवेश्वर इति एतासां सर्वासामेव विद्यानामेकत्वम्, तस्मादासु विद्यासु स्वशाखापरशाखाविहितम् एकवेद्यव्यपाश्रयं गुणजातं च विद्याकात्स्न्र्यायोपसंहर्तव्यञ्चेति।

उत्तरम्– एकस्याऽपीश्वरस्य प्रतिप्रकरणं भिन्नानां गुणानामुक्तत्वाद् गुणभेदेनोपास्यस्य च भेदात्, तत्तदुपासनाविधायकानां शब्दानामपि भेदस्य स्वीकर्तव्यत्वात्, तत्तदुपासनानां फलानाम्, रूपाणाम्, समाख्यानां च भेदात्, वेद्यैकत्वमात्रेण विद्यैकत्वे तत्तद्विद्यासम्बद्ध-सर्वशाखागत-सर्वगुणोपसंहारस्य प्राप्तौ तस्य चाऽशक्यत्वाद् उपासनानां प्रयोगस्याऽसम्भवाच्च उद्गीथविद्यादिविद्यानां नानात्वमवगम्यते इति।

निर्णयः– उद्गीथविद्यादिविद्यानां नानात्वमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुता उद्गीथविद्यादिविद्या उपनिषत्सु हि।
२. ता अभिन्ना अथो भिन्ना भवेयुरिति संशयः॥१॥
३. वेद्यैकत्वादभिन्नास् ता इत्याहुः खलु के चन।
४-५. शब्दादिभेदादौचित्यादपि भिन्ना हि ता मताः॥२॥

१३४.(३४) विकल्पाधिकरणम् (सू. ५९)

सगुणब्रह्मविद्यानां नानात्वे प्रतिपादिते तासां समुच्चयेन प्रयोग उत विकल्पेनेति निरूपयितुमाह–

४१८. विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ३।३।५९॥ इति।

उपास्यसाक्षात्काररूपफलयुतानाम् अहंग्रहोपासनरूपाणां शाण्डिल्यविद्योपकोसलविद्यादीनां विद्यानां सर्वासामेवाऽभिन्नफलत्वाद् एकयैव सिद्ध्या

कृतार्थत्वस्य लाभात् तस्योपासकस्य कृते द्वितीयाया विद्याया निरर्थकत्वात् तासामनुष्ठाने विकल्पोऽवगन्तव्य इत्यर्थः। तासां विद्यानामनुष्ठाने समुच्चये कदाचिदेकस्याऽऽकारस्य चिन्तनं कदाचिदन्यस्येति चित्तविक्षेपेण चित्तैकाग्रतायां बाधाया उपस्थापनस्य प्रसङ्गाच्च अविशिष्टफलानां विद्यानामेकतमां स्वाभिमतां कां चनाऽऽदायोपास्यस्य साक्षात्करणे नैरन्तर्येण यत्नः कर्तव्य इति भावः।

हिन्दी – उपास्य के साक्षात्कार के लिए की जाने वाली उपास्योपासकाऽभेदचिन्तनयुक्त उपासनाओं के फल में अभेद होने से एक उपासना सिद्ध होनेपर दूसरी उपासना निरर्थक हो जाने से शाण्डिल्यविद्यादि अहंग्रहोपासनाओं के प्रयोग में विकल्प होता है, अर्थात् अहंग्रहोपासनाओं में किसी एक उपासना का अवलम्बन करना चाहिए।

अथ विकल्पाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – उपास्यसाक्षात्कारफला अहंग्रहोपासनरूपाः शाण्डिल्यविद्यादिका विद्याः।

विशयः – तादृशीनां विद्यानामनुष्ठाने समुच्चय उत विकल्प इति।

पूर्वपक्षः – तादृशीनां विद्यानामनुष्ठानस्य नियमे हेतोरभावाद् यथारुचि तासां समुच्चयो वा विकल्पो वेति।

उत्तरम् – अहंग्रहोपासनरूपाणां शाण्डिल्यविद्यादीनां विद्यानामुपास्यसाक्षात्काररूपे उपास्यतादात्म्याभिमानरूपे वा फले विशेषस्याऽभावात्, एकया विद्यया फले जनिते द्वितीयायाः प्रयोजनस्याऽभावात्, कदाचिद् एकस्या विद्याया अवलम्बने कदाचिच्चाऽन्यस्या विद्याया अवलम्बने च चित्तविक्षेपेण चित्तैकाग्रताया भङ्गाद् उपासनाया असिद्धेः प्रसङ्गाच् च एतासां विद्यानामनुष्ठाने विकल्पो न समुच्चय इति।

निर्णयः – उपास्यसाक्षात्कारफलानां शाण्डिल्यविद्यादीनां विद्यानामनुष्ठाने विकल्प एव न समुच्चय इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अहंग्रहोपास्तिरूपा बह्व्यो विद्याः श्रुतौ श्रुताः।
२. तासां समुच्चयो वा स्याद् विकल्पो वेति संशयः॥१॥
३. समुच्चयोऽपि नियमाभावात् स्यादिति के चन।
४-५. फलेऽविशेषाद् युक्तेश्च विकल्पो हीति निर्णयः॥२॥

१३५.(३५) काम्याधिकरणम् (सू. ६०)

काम्यानां प्रतीकब्रह्मविद्यानां तु समुच्चयेनाऽपि प्रयोगो भवितुमर्हतीत्याह–

४१९. काम्यास्तु यथाकामं समुचीयेरन् न वा पूर्वहेत्वभावात् ३।३।६०॥ इति।

काम्यफला अदृष्टेन फलविशेषं साधयन्त्यो वायु-नामोपासनादिका विद्यास्तु पूर्वोक्तस्याऽविशिष्टफलत्वरूपस्य विकल्पहेतोरभावाद् अनुष्ठाने यथा-रुचि पुरुषेच्छया समुच्चीयेरन् न वा समुच्चीयेरन्नित्यर्थः।

हिन्दी– अदृष्टद्वारा कामनानुरूप पृथक् पृथक् फल देने वाली वायूपासना नामोपासना इत्यादि उपासनाएँ तो समानफलकत्वरूप पूर्वोक्त हेतु न होने से उपासक की इच्छा से समुच्चित होंगी अथवा समुच्चित नहीं भी होंगी।

अथ काम्याधिकरणस्वरूपम्

विषयः– काम्याभ्युदयरूपविशिष्टफला अनहंग्रहा अ-कर्माऽविबद्धा प्रतीकोपासनारूपा वायु-नामोपासनादयो विद्याः।

विशयः– एतासां विद्यानामनुष्ठाने समुच्चयो विकल्पो वेति।

पूर्वपक्षः– विद्याऽविशेषाद् अहंग्रहोपासनानामिवैतासामप्यनुष्ठाने विकल्पः स्यादिति।

उत्तरम्– अविशिष्टफलत्वस्य विकल्पनियमहेतोरभावात्, एकया विद्ययाऽन्यस्या गतार्थ-ताया अभावाच्च काम्याभ्युदयरूपविशिष्टफला विद्या यथाकाममनुष्ठाने समुच्चीयेरन् विकल्प्येरन् वेति।

निर्णयः– काम्याभ्युदयरूपविशिष्टफलाः प्रतीकोपासनरूपा विद्याः अनुष्ठाने उपासकपुरुषेच्छया समुच्चीयेरन् विकल्प्येरन् वेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. प्रतीकोपासनारूपा विद्याः काम्यफलाः श्रुताः।
२. तासां समुच्चयो नित्यं विकल्पो वेति संशयः।।१।।
३. अहंग्रहोपास्तिवद् धि विकल्पोऽत्रेति के चन।
४-५. समुच्चयः फले भेदाद् विकल्पो वेति निर्णयः।।२।।

१३६.(३६) यथाश्रयभावाधिकरणम् (सू. ६१-६६)

उपासनासमुच्चयविकल्पविचारप्रसङ्गे अङ्गावबद्धोपासनानां समुच्चय-विकल्पयोः सम्भवित्वं प्रतिपादयति–

४२०. अङ्गेषु यथाश्रयभावः ३।३।६१॥ इति।

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु आश्रितानां वेदत्रयविहितानां विद्यानां यथा आश्रयाणां स्तोत्रादीनां समुच्चितानां प्रयोगो भवति तथैव समुच्चितभावेन प्रयोगो भवतीत्यर्थः। यथाश्रयं भावो यथाश्रयभावः, आश्रयसमुच्चयभावानुरूपः समुच्चयभावः।

हिन्दी – ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ब्राह्मणग्रन्थों में विहित कर्मों के अङ्ग उद्गीथादि में आश्रित उपासनाओं का, जैसा उन उपासनाओं के आश्रयभूत कर्माङ्गों का समुचित प्रयोग होता है, वैसा ही उपासनाओं का भी समुच्चित प्रयोग होता है।

४२१. शिष्टेश्च ३।३।६२॥

आश्रयाणां स्तोत्रादीनामिवैव तदाश्रितानां विद्यानामपि प्रतिवेदम् उपदेशाच्च आश्रयाणामिवाऽऽश्रितानां विद्यानामपि समुच्चयेन प्रयोगोऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – विद्याओं के आश्रयभूत स्तोत्रादि का जैसे ऋग्वेदादि वेदों के ब्राह्मणग्रन्थों में उपदेश है वैसे ही उन स्तोत्रादि में आश्रित विद्याओं का भी ऋग्वेदादि वेदों के ब्राह्मणग्रन्थों में उपदेश होने से विद्याओं का भी समुच्चय से प्रयोग अवगत होता है।

४२२. समाहारात् ३।३।६३॥

"होतृषदनाद् धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" (छा.१।५।५) इति श्रुताद् ऋग्वेदविहितशस्त्र-सामवेदविहितोक्थ-गत-प्रणवैक्यचिन्तन-माहात्म्यप्रकाशकाद् अनुसमाहाराल् लिङ्गात् सर्ववेदोदितानां कर्माङ्गाश्रितानां विद्यानां समुच्चयोऽवगम्यते इत्यर्थः। उद्गाता स्वकृतात् स्वरादिप्रमादाद् दुष्टमपि उद्गीथं होत्रा सम्यक् कृतात् शंसनात् शस्त्रोद्गीथगतप्रणवैक्यचिन्तनद्वारा निर्दोषं करोतीति होतृषदनाद् धैवापीत्यादिकस्य श्रुतिवाक्यस्यार्थः।

हिन्दी – ऋग्वेद के ब्राह्मणग्रन्थ में विहित शस्त्र के प्रणव का और सामवेद के ब्राह्मण में विहित उक्थ के प्रणव का ऐक्य के चिन्तन का माहात्म्य बताने वाले अनुसमाहाररूप लिङ्ग से भी कर्माङ्गों में आश्रित सर्ववेदविहित विद्याओं का समुच्चय से प्रयोग अवगत होता है।

४२३. गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ३।३।६४॥

विद्याश्रयत्वाद् विद्यागुणभूतस्य ओङ्कारस्य **"तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति"** (छा.१।१।९) इति वेदत्रयसाधारण्यस्य श्रुतेश्च लिङ्गात् तदाश्रितानां वेदत्रयविहितानां विद्यानामपि सहभावेन समुच्चयोऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – विद्या के आश्रय होने से विद्या के गुण के रूप में स्थित ओङ्कार का वेदत्रयसाधारणत्व "तेनेयं त्रयी विद्या" इत्यादि श्रुतिवाक्य में श्रुत होने से भी उस ओङ्कार में आश्रित वेदत्रयविहित विद्याओं का सहभाव से समुच्चय अवगत होता है।

४२४. न वा तत्सहभावाऽश्रुतेः ३।३।६५॥

यथाऽङ्गानां स्तोत्र-शस्त्रादीनां सहभावः **"ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्यात्"** (तै.सं.३।१।२।४), **"प्रस्तोतः सामानि गाय"** (मैत्रायणीयसं.४।९।२),

"अथाऽऽह साम गायेति" (मा.वा.शत.४।४।५।६, १४।३।१।१०), **"स्तुतमनु शंसति शान्त्यै"** (तै.ब्रा.३।२।६।३, ताण्डि.९।८।१०), **"स्तुवतेऽथ शꣳसति"** (मा.वा.शत. ८।१।३।३), **"होतर् घर्ममभिष्टुहि"** (मैत्रायाणीयसं.४।९।२), **"होतर्ष्यज"** (मा.वा.शु. य.वे.म.सं.२१।२९-, मैत्रायणीयसं.३।६।८, ३।११।२, ४।१३।२), **"उक्क्थशा यज सोमस्स्य"** (कात्यायनश्रौ.९।१३।३३) इत्यादिषु वचनेषु श्रूयते, तथाऽङ्गाश्रितानां विद्यानां सहभावस्याऽश्रुतेर् न वाऽङ्गाश्रिता विद्या नियमेन समुच्चीयेरन्, किन्तु यथाकाममेवाऽनुष्ठीयेरन्नित्यर्थः।

हिन्दी – जैसे कर्म के अङ्ग स्तोत्र-शस्त्रादि का सहभाव "ग्रहं वा गृहीत्वा" इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्यों में श्रुत है वैसे कर्माङ्ग में आश्रित विद्याओं (उपासनाओं) का सहभाव श्रुति-स्मृतिवाक्यों में श्रुत नहीं होने से कर्माङ्गों में आश्रित विद्याओं का प्रयोग में नियमतः समुच्चय नहीं होता है, किन्तु उपासक की इच्छा से समुच्चय से अथवा असमुच्चय से उन का प्रयोग होता है।

४२५. दर्शनाच्च ३।३।६६॥

सर्वासां कर्माङ्गाश्रितानां विद्यानां नित्ये समुच्चये कर्तव्ये सति सर्वे स्वस्ववेदविदो यजमानाध्वर्युप्रभृतयः सर्वविद्याविद एव स्युरिति तेषाम् **"एवंविद् ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश् चर्त्विजोऽभिरक्षति"** (छा.४।१७।१०) इति ब्रह्मणा परिपाल्यत्वं न सङ्कीर्त्येत; तथा कीर्तनात् खलु न यजमानादयः सर्वे सर्वविद्याविदः, किन्तु स्वस्ववेदविहितविद्यामात्रविद इति ज्ञायमानतया विद्यानामसहभावस्य दर्शनाच्च कर्माङ्गाश्रिता विद्या न नियमेन समुच्चीयेरन्, किन्तु यथाकाममेव समुच्चयेन विकल्पेन वाऽनुष्ठीयेरन्नित्यर्थः।

हिन्दी – यज्ञ में उपासनाविद् ब्रह्मा से यज्ञ, यजमान, और अन्य सभी ऋत्विजों की रक्षा होने का तथ्य श्रुति में उपदिष्ट होने से यजमान-अध्वर्यु-होता-उद्गाताओं का असर्वविद्यावित्त्व अर्थतः ज्ञात होने पर यजमान-अध्वर्युप्रभृति में विद्याओं का असहभाव अर्थतः देखे जाने से भी कर्माङ्गों में आश्रित विद्याओं का नियमतः समुच्चय से नहीं, उपासक के इच्छानुसार समुच्चय से वा विकल्प से अनुष्ठान होने की बात अवगत होती है।

अथ यथाश्रयभावाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु आश्रिता वेदत्रयविहिता विद्याः।

विशयः– ताः किं नियमेन समुच्चीयेरन् किं वा यथाकाममनुष्ठीयेरन्निति।

पूर्वपक्षः– कर्माङ्गाश्रितानां विद्यानां कर्माङ्गाणामिव समुच्चयस्यौचित्यात्, कर्माङ्गतदाश्रित-विद्ययोः प्रतिवेदं विधानस्य च तुल्यत्वात्, **"होतृषदनाद् धैवाऽपि दुरुद्गीथमनु-समाहरति"** इत्यादिकासु श्रुतिषु विद्यासमुच्चयलिङ्गस्य दर्शनाच्च कर्माङ्गाश्रिता विद्या नियमेन समुच्चयेनाऽनुष्ठीयेरन्निति।

उत्तरम्– कर्माङ्गाणां सहभावस्य विधायिकाः श्रुतयो यथा दृश्यन्ते तथा कर्माङ्गाश्रितानां विद्यानां सहभावस्य विधायिकानां श्रुतीनामभावात्, कर्माङ्गाणां क्रत्वर्थत्वेन सहभावेऽपि कर्माङ्गाश्रितानां विद्यानां फलभेदात् पुरुषार्थत्वेन सहभावस्याऽनावश्यकत्वात्, विद्या-समुचयस्याऽभावे **"एवंविद् ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश् चर्त्विजोऽभिरक्षति"** (छा.४।१७।१०) इति श्रुतौ लिङ्गस्य दर्शनाच्च कर्माङ्गाश्रिता विद्या यथाकामं समुच्चयेन विकल्पेन वाऽनुष्ठीयेरन्निति।

निर्णयः– कर्माङ्गाश्रिता विद्या यथाकामं समुच्चीयेरन् विकल्पेन वाऽनुष्ठीयेरन्निति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुता उद्गीथविद्याद्या विद्याः कर्माङ्गमाश्रिताः।
२. आसां समुच्चयो याथा-काम्यं वाऽनुष्ठितौ भवेत्॥१॥
३. नानावेदगताङ्गानामिवाऽऽसां स्यात् समुच्चयः।
४-५. सहभावाऽश्रुतेरासां यथाकामं समुच्चयः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां वृत्तौ मोक्षसाधन–निरूपणपरे तृतीयेऽध्याये तृतीयः परापरविद्याभेदाऽभेदगुणोपसंहाराऽनुपसंहारादि-निरूपणपरः पादः समाप्तः॥

अथ चतुर्थः पादः

(निर्गुणब्रह्मविद्या-तदन्तरङ्गबहिरङ्ग-साधनादिविचारपरः)

१३७.(१) पुरुषार्थाधिकरणम् (सू. १-१७)

अथ ब्रह्मप्राप्तिसाधननिरूपणायाऽऽरब्धे तृतीयेऽध्याये तृतीये पादे ब्रह्म-ज्ञानसाधनरूपसगुणब्रह्मोपासनादिस्वरूपादिषु विचारितेषु निर्गुणब्रह्मज्ञानतदन्त-रङ्गबहिरङ्गसाधनादिनिरूपणाय चतुर्थः पाद आरभ्यते–

४२६. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ३।४।१॥ इति।

अस्मादात्मज्ञानात् स्वतन्त्राद् मोक्षरूपः परमः पुरुषार्थः सिध्यतीति **"तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्त्वमनुपश्श्यतः"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।७, का.ईशा. ७), **"अभयवं वै जनक प्राप्तोऽसि"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३०, का.वा.बृह.४।२।४),

"अभयᳫ हि वै ब्रह्म भवति यऽएवं वेद" (मा.वा.शत.१४।७।२।३१, का.वा.बृह. ४।४।२५), **"एतावदरे खल्वमृतम्"** (मा.वा.शत.१४।७।३।२५, का.वा.बृह.४।५।१५), **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"** (तै.२।१।१), **"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"** (श्वेता.२।१५, ४।१६), **"तरति शोकमात्मवित्"** (छा.७।१।३), **"एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य"** (मुण्डको.२।१।१०), **"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"** (मुण्डको.३।२।९) इत्यादिकाद् वेदशब्दादवगम्यते इति बादरायण आचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – इस आत्मज्ञान से स्वतन्त्ररूप में ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ सिद्ध होने की बात "तत्र को मोहः कः शोक एकत्त्वमनुपश्यतः" इत्यादि वेदशब्द से अवगत होती है, यह बात बादरायण आचार्य मानते हैं।

४२७. शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ३।४।२॥

यथा जुह्वादिषु अन्येषु कर्माङ्गेषु **"यस्य पर्णमयी जुहूर् भवति न स पापं श्लोकं शृणोति"** (तै.सं.३।५।७।२) इत्यादिका फलश्रुतिरर्थवादस् तथैवाऽऽत्मनोऽपि कर्तृत्वेन कर्माङ्गत्वाद् आत्मज्ञाने **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"** (तै.२।१।१), **"तरति शोकमात्मवित्"** (छा.७।१।३) इत्यादिकः पुरुषार्थवादोऽपि अर्थवाद एवेति आत्मज्ञानात् स्वतन्त्राद् मोक्षरूपः पुरुषार्थो न सिध्यति, किन्तु कर्मोपकारकत्वेनैव आत्मज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिर् भवतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः। उक्तं हि पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायां जैमिनिना **"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्"** (४।३।१) इति।

हिन्दी – जैसे जुहू प्रभृति अन्य कर्माङ्गों में फलश्रुति केवल अर्थवाद है, वैसे ही कर्ता के रूप में आत्मा भी कर्म का ही अङ्ग होने से उस के ज्ञान की फलश्रुति भी केवल अर्थवाद ही है, आत्मा के ज्ञानमात्र से पुरुषार्थसिद्धि नहीं होती है, यह बात जैमिनि आचार्य मानते हैं।

४२८. आचारदर्शनात् ३।४।३॥

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे" (मा.वा.शत.१४।६।१।१, का.वा.बृह. ३।१।१), **"यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि"** (छा.५।११।५), **"श्वेतकेतुर् हाऽऽरुणेय आस तं पितोवाच"** (छा.६।१।१) इत्यादिषु वेदवाक्येषु ब्रह्मविदामपि यजन-पुत्रानुशासनादिकर्मणामनुष्ठानस्य दर्शनात् कर्मोपकारकत्वेनैव आत्मज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिर् भवति न केवलादात्मज्ञानादित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – ब्रह्मज्ञानियों के भी यजन और पुत्रानुशासन इत्यादि आचारों का "जनको ह" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में देखे जाने से कर्म के अङ्ग के रूप में ही आत्मा के ज्ञान से पुरुषार्थसिद्धि होने की बात अवगत होती है, स्वतन्त्र रूप में नहीं, यह बात जैमिनि आचार्य मानते हैं।

४२९. तच्छ्रुतेः ३।४।४॥

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा. १।१।१०) इति विद्यायाः कर्मसहकारितायाः श्रुतेश्च कर्मोपकारकत्वेनैवाऽऽत्मज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिर् न केवलादात्मज्ञानादित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – विद्या की कर्मसहकारिता "यदेव विद्यया" (जो विद्यादियुक्त व्यक्ति करता है वह वीर्यवत्तर होता है) इत्यादि श्रुति में सुनी जाने से कर्म के अङ्ग के रूप में ही आत्मा के ज्ञान से पुरुषार्थसिद्धि होने की बात अवगत होती है, स्वतन्त्र रूप में नहीं, यह बात जैमिनि आचार्य मानते हैं।

४३०. समन्वारम्भणात् ३।४।५॥

"तवं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते" (मा.वा.शत.१४।७।२।३, का.वा.बृह. ४।४।२) इति श्रुतौ श्रुताद् विद्याकर्मणोः सहकारित्वेन फलारम्भणाच्च कर्मोपकारकत्वेनैव आत्मज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिर् न केवलादात्मज्ञानादित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "तवं विद्याकर्म्मणी" इत्यादि श्रुति में श्रुत विद्या और कर्म की सहकारिता से फलप्रदान की बात से भी कर्म के अङ्ग के रूप में ही आत्मा के ज्ञान से पुरुषार्थसिद्धि होने की बात अवगत होती है, स्वतन्त्र रूप में नहीं, यह बात जैमिनि आचार्य मानते हैं।

४३१. तद्वतो विधानात् ३।४।६॥

"आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाऽभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः" (छा.८।१५।१), "यो वाऽएतदक्षरङ् गागर्य्यविदित्त्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजति तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्रा-ण्यन्तवदेवाऽस्य तद्द् भवति" (मा.वा.शत.१४।६।८।१०, का.वा.बृह.३।८।१०) इत्येवंजातीयकासु श्रुतिषु समस्तवेदार्थविज्ञानवतः पुरुषस्य गृहस्थकर्मणां स्वाध्यायाध्ययन-प्रजनन-यजनादीनां विधानाच्च कर्मोपकारकत्वेनैवाऽऽत्मज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिर् न केवलादात्मज्ञानादित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – समस्त वेदार्थज्ञान वाले पुरुष के लिए भी "आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में गृहस्थकर्म स्वाध्यायाध्ययन सन्तानोत्पादन यजन इत्यादि का विधान होने से भी कर्म के अङ्ग के रूप में ही आत्मा के ज्ञान से पुरुषार्थसिद्धि होने की बात अवगत होती है, स्वतन्त्ररूप में नहीं, यह बात जैमिनि आचार्य मानते हैं।

४३२. नियमाच्च ३।४।७॥

"कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (मा.वा.शु.य.वे.म.सं. ४०।२, का.ईशा.२), "एतद् द्वै जरामर्य्यꣳ सत्रयं यदग्ग्निहोत्रञ् जरया वा ह्य्येत-स्मान्न् मुच्च्यते मृत्त्युना वा" (मा.वा.शत.१२।४।१।१) इत्येवंजातीयकात् कर्मणो

नित्यतायाः प्रदर्शकाद् नियमाच्च कर्मोपकारकत्वेनैवाऽऽत्मज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिर् भवति न केवलादात्मज्ञानादित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – कर्म की नित्यता को दिखाने वाले "कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि" इत्यादि नियम से भी कर्म के अङ्ग के रूप में ही आत्मा के ज्ञान से पुरुषार्थसिद्धि होने की बात अवगत होती है, स्वतन्त्र रूप में नहीं, यह बात जैमिनि आचार्य मानते हैं।

४३३. अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ३।४।८॥

कर्मोपयोगिनः कर्मफलभोक्तुः कर्तुः शारीरादात्मनोऽधिकस्येश्वरस्य परमात्मनो जैमिनीये नये कर्मकाण्डेऽनपेक्षितस्य वेदान्तेषूपदेशात् तु बादरायणस्य एतत्पादप्रथमसूत्रोक्तम् आत्मज्ञानात् स्वतन्त्रादेव परमपुरुषार्थसिद्धिरित्येवं मत-मेवोपादेयम् इति दर्शनम्; एवमधिकोपदेशश्च **"एतस्स्य वाऽअक्क्षरस्स्य प्प्रशासने गार्ग्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ बिधृतौ तिष्ठतः"** (मा.वा.शत.१४।६।८।९, का.वा.बृह.३।८।९), **"सोऽशनायापिपासे शोकम् मोहञ् जराम् मृत्त्युमत्त्येति"** (मा.वा.शत. १४।६।४।१, का.वा. बृह.३।५।१), **"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः"** (छा.८।१२।३) इत्यादिषु श्रुतिषु तस्याऽधिकोपदेशस्य दर्शनादवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – कर्म के अङ्ग के रूप में आवश्यक और कर्मफलभोग करने वाले शारीर आत्मा (जीवात्मा) से ऊपर के ईश्वर परमात्मा का भी उपनिषदों में उपदेश होने से और इस प्रकार के ईश्वर परमात्मा की जैमिनीय कर्मसिद्धान्त में कोई आवश्यकता न होने से उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मज्ञान कर्माङ्ग न होने की बात अवगत होती है। अतः इस पाद के प्रथम सूत्र में प्रतिपादित स्वतन्त्र आत्म-ज्ञान से ही परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होने का बादरायण मुनि का सिद्धान्त ही उपादेय प्रमाणित होता है। जीवात्मा से अधिक ईश्वर परमात्मा का उपनिषदों में उपदेश होने की बात "एतस्स्य वाऽ अक्क्षरस्स्य प्प्रशासने गार्ग्गि" इत्यादि वचन उपनिषदों में देखे जाने से स्पष्ट हो जाती है।

४३४. तुल्यं तु दर्शनम् ३।४।९॥

आत्मज्ञानस्य कर्मानङ्गत्वेन स्वतन्त्रतायाः पक्षेऽपि **"एतद् ध स्म वै तद् विद्वांस आहुर् ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे"** (ऐ.आ.३।२।६), **"एतद् ध वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रुः"** (कौषी.२।४), **"एतवं वै तमात्तँमानवं विदित्त्वा ब्ब्राह्मणाः पुत्त्रैषणायाश्च्च बित्तैषणायाश्च्च लोकैषणायाश्च्च ब्ब्युत्थाय भिक्क्षाचर्य्यञ् चरन्ति"** (मा.वा.शत.१४।६।४।१, का.वा.बृह.३।५।१) इत्येवंजातीयासु श्रुतिषु आचारदर्शनं तु तुल्यमेवेत्यर्थः।

सोपाधिकब्रह्मज्ञाने हि **"यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि"** (छा.५।११।५) इत्यादिकं कर्मसाहित्यदर्शनं सम्भवतीति शङ्कर्ः।

वयं तु कर्मसाहित्यदर्शनं निर्गुणनिरुपाधिकब्रह्मज्ञानेऽपि सुतरां सम्भवतीति मन्यामहे "आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाऽभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याऽहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" (छा.८।१५।१), "ईशा वास्स्यमिदꣳ सर्व्वं यत्त् किञ्च जगत्त्याञ् जगत्। तेन त्यक्क्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्स्यस् स्विद् धनम्॥ कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच् छतꣳ समाः। एवन् त्वयि नाऽन्यथेतोऽस्त्ति न कर्म्म लिप्प्यते नरे" (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।१,२; का.वा.ईशा.१,२), "तदाहुरात्तँमयाजी श्श्रेयाइन् देवयाजी३ऽ इत्त्यात्तँमयाजीति ह ब्ब्रूयात् त्स ह वाऽआत्तँमयाजी यो वेदेदम् मेऽनेनाऽङ्गꣳ सँस्क्रियतऽइदम् मेऽनेनाङ्गमुपधीयतऽइति स यथाऽहिस्त्वचो निर्म्मुच्च्येतैवमस्म्मान्न् मर्त्त्याच् छरीरात्त् पाप्प्मनो निर्म्मुच्च्यते सऽऋङ्ङ्मयो यजुर्म्मयः साममयऽआहुतिमयः स्वर्ग्गल् लोकमभिसम्भवति" (मा.वा.शत.११।२।६।१३), "कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः" (ब्र.मी.सू.३।४।४८), "वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः। अहिंसा गुरुसेवा च निश्श्रेयसकरं परम्॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्। किञ्चिच् छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति॥ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद् ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ षण्णामेव तु पूर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च। श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥ वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः। अन्तर्भवन्ति क्रमशस् तस्मिँस्तस्मिन् क्रियाविधौ॥ सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्श्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ इह चाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं *ज्ञानपूर्वं* तु *निवृत्त*मुपदिश्यते॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। *निवृत्तं* सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्ना*त्मयाजी* स्वाराज्यमधिगच्छति" (मनु.१२।८३-९१), "कर्मणा प्राप्यते धर्मो ज्ञानेन च न संशयः। तस्माद् ज्ञानेन सहितं कर्मयोगं समाश्रयेत्। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्। ज्ञानपूर्वं निवृत्तं स्यात् प्रवृत्तं यदतोऽन्यथा" (कूर्मपु.१।२।६२-६४), "श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक् कर्म वर्णाश्रमात्मकम्। अध्यात्मज्ञानसहितं मुक्तये सततं कुरु" (कूर्मपु.१।१२।२५४), "तस्मात् सर्वप्रयत्नेन धर्मार्थं वेदमाश्रयेत्। धर्मेण सहितं ज्ञानं परं ब्रह्म प्रकाशयेत्" (कूर्मपु.१।१२।२७४), "*आत्मयाज्*युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते" (भाग.७।१५।५५), "त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः" (गीता.४।२०),

"गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते" (गीता.४।२३), "साङ्ख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर् विन्दते फलम्॥ यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते। एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (गीता.५।४,५) "योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते" (गीता.५।७), "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाऽम्भसा" (गीता.५।१०), "अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर् न चाऽक्रियः" (गीता.६।१) इत्यादिकानां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासवचनानां दर्शनात्, "सहकारित्वेन च" (३।४।३३), "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्" (४।१।१६) इत्यादिकस्य सूत्रकारवचनस्य दर्शनाच्च।

हिन्दी – जैसे ज्ञान होनेपर भी कर्मसेवन रूप आचार का "जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे" (मा.वा.शत.१४।६।१।१, का.वा.बृह.३।१।१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में दर्शन होता है, वैसे ही ज्ञान होनेपर कर्मत्याग रूप आचार का भी "तद् ध स्म वै तद् विद्वांस आहुर् ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे" (ऐ.आ.३।२।६) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में तुल्य रूप में दर्शन होता है। अतः कर्म के अङ्ग के रूप में ही पुरुषार्थसिद्धि में आत्मज्ञान कारण होने का जैमिनि का मत ग्राह्य नहीं है, बादरायण का स्वतन्त्र रूप में भी आत्मज्ञान पुरुषार्थसिद्धि का कारण होने का सिद्धान्त ही ग्राह्य है, यह भाव है।

इस सूत्र की व्याख्या में शङ्कर सोपाधिक ब्रह्म के ज्ञान में ही कर्मसाहित्य हो सकने की बात करते हैं। प्रस्तुत वृत्तिकार को वह दृष्टि मान्य नहीं है। निर्गुणब्रह्मज्ञान में भी लौकिक दृष्टि से कर्मसाहित्य हो सकने की बात श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास इत्यादि शास्त्रों के वचनों से भी सिद्ध होती है।

४३५. असार्वत्रिकी ३।४।१०॥

विद्यायाः कर्मशेषत्वं दर्शयन्ती पूर्वमुदाहृता "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा.१।१।१०) इत्येषा श्रुतिः प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रविषयत्वाद् असार्वत्रिकी, न सर्वत्र विद्यासु प्रवृत्तेत्यर्थः।

हिन्दी – विद्या का कर्माङ्गत्व दिखाने वाली पूर्वोदाहृत "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुति केवल प्रकृत उद्गीथ विद्या के विषय में ही प्रवृत्त होने से सभी विद्याओं के विषय में प्रवृत्त होने वाली नहीं है, अतः सभी विद्याएँ कर्माङ्ग नहीं मानी जा सकती हैं।

४३६. विभागः शतवत् ३।४।११॥

यथा 'शतमेताभ्यां दीयताम्' इत्युक्ते विभज्य पञ्चाशदेकस्मै दीयते, पञ्चाशदन्यस्मै; तथैव "तवं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते" (मा.वा.शत.१४।७।२।३, का.वा.बृह. ४।४।२) इत्यत्राऽपि विद्याऽन्यं पुरुषमन्वारभते कर्माऽन्यं पुरुषमिति विभागोऽवगन्तव्य इत्यर्थः।

"**तवं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते**" इति वाक्यस्य संसारिविषयकत्वादविभागेनाऽपीदं समन्वारम्भवचनमुपपद्यते इति शङ्करः। तत्पक्षे सूत्रं समन्वारम्भणस्य संसारि-मुमुक्षु-साधारणत्वेऽपि विभागोऽवगन्तव्य इति कृत्वाचिन्तान्यायेन व्याख्येयम्।

हिन्दी – जैसे 'सौ इन दो को दिया जाय' कहने पर पचास एक को और पचास दूसरे को दिया जाता है, वैसे ही "तवं विद्याकर्म्मणी समन्न्वारभेते" इस वाक्य में भी स्थिति के मुताविक विद्या किसी पुरुष का अनुगमन करती है कर्म किसी दूसरे प्रकार के पुरुष का अनुगमन करता है, ऐसा विभाग मानना चाहिए, विद्या और कर्म का सदा नियमतः सहगमन नहीं।

४३७. अध्ययनमात्रवतः ३।४।१२॥

"**आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य**" (छा.८।१५।१) इत्यत्राऽध्ययनमात्रस्य श्रुतत्वाद् शब्दाध्ययनमात्रवतः कर्माधिकार उक्त इति न नियमेन औपनिषदस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावकस्याऽऽत्मनोऽनुभवावसानं ज्ञानं कर्माङ्गमित्यवगम्यते इत्यर्थः।

यत् त्वत्र वाचस्पतिना "**उपनिषदध्ययनापेक्षं मात्रग्रहणं नाऽर्थबोधापेक्षमित्यर्थः**" इति व्याख्यानं कृतं तत् तु न सरहस्यवेदाध्ययनव्यवस्थानुकूलमिति दर्शनग्रन्थ-व्याख्यान-व्यसनिनो वाचस्पतेर् वेदाध्ययनव्यवस्था-ज्ञानमान्द्यमेव सूचयति। एतस्मिन् विषये शङ्करस्य "**वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर् विवक्षितः, शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाऽक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति**" इति मुण्डकोपनिषदुक्तपराऽपरविद्याविभागोपपादनपरं व्याख्यानं (१।१।५) चाऽनुशीलनीयम्।

हिन्दी – "आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य" इस वचन में केवल अध्ययन मात्र का श्रवण होने से शब्दराशिरूप वेद के अध्ययन मात्र से सम्पन्न का ही कर्माधिकार अवगत होता है, औपनिषद नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा का अनुभवान्त ज्ञान प्राप्त करने वाले का ही कर्म में नियमतः अधिकार होने की बात तो अवगत नहीं होती है। अतः उपनिषदुक्त आत्मज्ञान नियमतः कर्माङ्ग नहीं माना जा सकता है।

४३८. नाऽविशेषात् ३।४।१३॥

"**कुर्व्वन्निवेह कर्म्माणि जिजीविषेच् छतँ समाः**" (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।२, का.ईशा.२) इत्यादिषु नियमेषु विदुषोऽविदुषश्च नियमस्य विहितत्वेनाऽविशेषाद् आत्मज्ञानस्य नियमेन कर्माङ्गत्वं नाऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "कुर्ब्बन्नेवेह" इत्यादि नियम में आत्मज्ञानी तथा आत्माऽज्ञानी दोनों के लिए नियम बताए जाने से कोई विशेष अवगत न होने से उस से आत्मज्ञान का नियमतः कर्माङ्गत्व अवगत नहीं हो सकता है।

४३९. स्तुतयेऽनुमतिर् वा ३।४।१४॥

यावज्जीवं कर्म कुर्वतोऽपि विदुषः पुरुषस्य आत्मज्ञानसामर्थ्यान् न कर्म मुक्तिप्रतिबन्धकतया फलदानाय भवतीति आत्मज्ञानस्य स्तुतये विदुषः प्रत्यपि

"कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच् छत॑ समाः" इति कर्मणोऽनुमतिः क्रियते इति वाऽवगन्तव्यमित्यर्थः।

हिन्दी – जीवनभर कर्म करनेपर भी आत्मज्ञानी पुरुष का कर्म आत्मज्ञान के सामर्थ्य से मुक्ति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है, आत्मज्ञान इस प्रकार महनीय है, इस प्रकार आत्मज्ञान की स्तुति के लिए विद्वान् के लिए भी "कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि" इत्यादि वचन से कर्म की अनुमति मात्र दी गई है; इस से आत्मज्ञान का कर्माङ्गत्व का नियम अवगत नहीं होता है।

४४०. कामकारेण चैके ३।४।१५॥

एके शाखिनो विदुषामनुभूतात्मज्ञानफलानां कामकारेण कर्मसाधनप्रजादित्यागम् "एतद् ध स्म्म वै तत्त् पूर्व्वे ब्ब्राह्म्मणाऽअनूचाना विद्द्वा॑ऽसः प्प्रजान् न कामयन्ते किम् प्रजया करिष्ष्यामो येषान् नोऽयमात्त्माऽयल्ं लोकः" (मा.वा.शत.१४।७।२।२६, का.वा.बृह.४।४।२२) इत्यामनन्तीति नाऽऽत्मज्ञानं कर्माङ्गमित्यर्थः।

हिन्दी – कोई वेदशाखाविशेषाध्यायी लोग आत्मज्ञान का फल प्राप्त करने वाले विद्वानों से स्वेच्छा से कर्म के साधनों के त्यागे जाने के तथ्य के प्रतिपादक "एतद् ध स्म्म" इत्यादि वेदवाक्य को पढते भी हैं। इस से भी आत्मज्ञानियों के लिए कर्मों की आवश्यकता न होने की बात अवगत होती है। अतः आत्मज्ञान को कर्म का अङ्ग नहीं माना जा सकता है।

४४१. उपमर्दं च ३।४।१६॥

एके शाखिनः कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्य आत्मज्ञानेनोपमर्दं च "यत्र त्त्वस्स्य सर्व्वमात्त्मैवाभूत् तत्त् केन कम् पश्श्येत् तत्त् केन कञ् जिग्घ्रेत्" (मा.वा.शत.१४।५।४।१६, १४।७।३।२५; का.वा.बृह.२।४।१४, ४।५।१५) इत्यादौ स्पष्टतया आमनन्तीत्यर्थः। एवं चाऽऽत्मज्ञानस्य कर्मविरोधित्वान् न तस्य कर्माङ्गत्वमिति भावः।

हिन्दी – कोई वेदशाखाविशेषाध्यायी लोग आत्मज्ञान से कर्माधिकार के लिए आवश्यक क्रिया, कारक, फल इत्यादि समस्त प्रपञ्च का नाश ही होने के तथ्य के प्रतिपादक "यत्र त्त्वस्स्य सर्व्वमात्त्मैवाऽभूत्" इत्यादि वेदवाक्य को पढते भी हैं। अतः आत्मज्ञान को कर्म का अङ्ग नहीं माना जा सकता है।

४४२. ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ३।४।१७॥

येषां पत्न्यादिरहितानां नैष्ठिकब्रह्मचारिप्रभृतीनाम् अग्न्याधानाग्निहोत्रादीनि कर्माणि श्रुत्या न विहितानि तेषु ऊर्ध्वरेतस्सु नैष्ठिकब्रह्मचारिप्रभृतिषु च आत्मज्ञानं "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा.२।२३।१) इत्यादौ शब्दप्रमाणरूपे वेदे हि श्रूयते, अतो न कर्मणोऽङ्गमात्मज्ञानम्, किन्तु स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनमित्यर्थः।

हिन्दी – जिन पत्न्यादिरहित नैष्ठिक ब्रह्मचारिप्रभृति का अग्न्याधान, अग्निहोत्र इत्यादि कर्म श्रुति में विहित ही नहीं है, उन ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारिप्रभृति में भी आत्मज्ञान रह सकने की

बात "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्यादि वेदशब्द में ही प्रतिपादित है; अतः आत्मज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं, स्वतन्त्र रूप में ही परमपुरुषार्थ मोक्ष का साधन है, यह बात अवगत होती है।

अथ पुरुषार्थाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– उपनिषत्सु प्रतिपादितम् आत्मज्ञानम्।

विशयः– उपनिषत्सु प्रतिपादितम् आत्मज्ञानं कर्मणोऽङ्गम् उत स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनमिति।

पूर्वपक्षः– आत्मज्ञानस्य कमपिक्षितकर्तृज्ञानरूपत्वात्, आत्मज्ञानवतां जनकादीनां कर्मसु प्रवृत्तेर् दर्शनात्, विद्यायाः कर्मसहकारितायाः श्रवणात्, परलोकं यान्तमनु विद्याकर्मणोर् गमनस्य श्रुतत्वात्, सकलवेदार्थविदः कर्मणो विधानात्, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेद् इति नियमस्य दर्शनाच्च औपनिषदम् आत्मज्ञानं कर्माङ्गमित्यवगम्यते इति।

उत्तरम्– **"तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्त्वमनुपश्श्यतः"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।७, का.वा.ईशा.७) इत्यादिकात् शब्दात्, कर्मोपयोगिनः कर्मफलभोक्तुः शारीरादात्मनोऽधिकस्य कर्मानुपयोगिनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य परमात्मन उपनिषत्सूपदेशात्, आत्मज्ञानवतां कामकारकृतस्याऽपि कर्मत्यागस्य श्रुतौ दर्शनात्, विद्यायाः कर्मसहकारितायाः श्रवणस्य असार्वत्रिकत्वात्, सकलवेदशब्दार्थविदोऽपि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मसाक्षात्काराभावस्य सम्भवात्, **"कुर्ब्बन्नेवेह कर्म्माणि"** इत्यादिना विहितस्य नियमस्याऽपि विद्वदविद्वत्साधारणत्वात्, आत्मज्ञानस्तुतिमात्ररूपत्वेनाऽपि तस्य नियमस्योपपद्यमानत्वात्, औपनिषदात्मज्ञानेन कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य प्रपञ्चस्योपमर्दात्, कर्माधिकाररहितेषु ऊर्ध्वरेतस्सु नैष्ठिकब्रह्मचारिप्रभृतिषु चाऽऽत्मज्ञानस्य सम्भावितत्वस्य श्रुतौ प्रतिपादितताया दर्शनाच्च आत्मज्ञानं न कर्मणोऽङ्गम्, किन्तु स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनमिति।

निर्णयः– औपनिषदमात्मज्ञानं स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. वेदान्तेष्वात्मनो ज्ञानं दृश्यते प्रतिपादितम्।
२. तत् कर्माङ्गं स्वतन्त्रं वा फलायेति तु संशयः॥१॥
३. कर्माङ्गमेव तज् ज्ञानमित्याहुः किल कर्मिणः।
४-५. स्वतन्त्रमात्मविज्ञानं फलायेति तु मोक्षिणः॥२॥

१३८.(२) परामर्शाधिकरणम् (सू. १८-२०)

"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा.२।२३।१) इति श्रुत्या चतुर्थे आश्रमे च कर्मरहिताया अपि विद्याया उक्तत्वाद् विद्यायाः कर्मनिरपेक्षतया पुरुषार्थसाधनत्वमुक्तमिति ब्रह्मविद्यावतो मोक्षसिद्धिः समर्थितेति उक्तायां श्रुतौ चतुर्थस्याऽऽश्रमस्य विधानमस्ति न वेति निर्णेतुमाह—

४४३. परामर्शं जैमिनिरचोदना चाऽपवदति हि ३।४।१८॥ इति।

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याऽऽचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्; सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति; ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा.२।२३।१) इत्यत्र अन्यत्र वाक्येषु विहितानामाश्रमाणामनुवादरूपं परामर्शमेव केवलं जैमिनिराचार्यो मन्यते, न विधिम्; पारिव्राज्यं तु "आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" (तै.१।११), "नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ति" (ऐ.ब्रा.३३।१), "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" (तै.सं.१।५।२।१) इत्यादिका श्रुतिरपवदतीति पारिव्राज्यस्य तु सर्वथा चोदनाऽभाव इति चाऽऽचार्यो जैमिनिर् मन्यते इत्यर्थः। अन्यत्राऽपि विधेरभावात् पारिव्राज्यस्य तु परामर्शोऽपि नैव सम्भवतीति भावः।

हिन्दी– "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादि वाक्य में विधिबोधक कोई प्रत्यय न देखे जाने से अन्य वाक्यों में विहित गार्हस्थ्यादि आश्रमों का अनुवाद ही है, कोई नवीन विधि नहीं; पारिव्राज्य (सन्न्यास) को तो "आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य" इत्यादि श्रुतियाँ निरवकाश करती हैं, अतः पारिव्राज्य का तो विधि का सर्वथा अभाव ही है, यह बात जैमिनि आचार्य मानते है।

४४४. अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ३।४।१९॥

"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादौ आश्रमान्तरस्य सन्न्यासस्याऽपि च गार्हस्थ्येन सह साम्येन श्रुतेः आश्रमान्तरं सन्न्यासमपि चानुष्ठेयं बादरायण आचार्यो मन्यते। यथा श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यमत्र परामृष्टं तथैव सन्न्यासोऽपि श्रुत्यन्तरविहित एवाऽत्र परामृष्ट इति तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाऽऽश्रमान्तरस्याऽपीति बादरायणस्याऽऽचार्यस्य मतं बोध्यम्।

हिन्दी– "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इस वाक्य में अन्य आश्रमों का भी गार्हस्थ्य के साथ में समान रूप में श्रवण होने से गार्हस्थ्यभिन्न आश्रम सन्न्यासाश्रम को भी बादरायण आचार्य अनुष्ठेय मानते हैं।

४४५. विधिर् वा धारणवत् ३।४।२०॥

यथा "अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" {तन्त्रवार्तिके ३।४।१९(६), द्र.- आपस्तम्बश्रौ.९।३।४१-४२(९।११।९-१०)}, "नोपरिष्टात्त्समिधमभ्यस्य हरति यदधोपरिष्टात्त्समिधमभ्यस्य हरेद् देवत्रा कुर्य्यादधस्तादुपास्य हरति पितृदेवत्यमेवैनन् तत्त् करोति" (मा.वा.शत.१२।५।१।१०, द्र.- कात्यायनश्रौ.२५।८।८-११) इत्यत्र महापितृयज्ञ-प्रेताग्निहोत्रान्यतर-गताऽऽहुतिधर्मविशेष-विधायकवचने आहुतिविशेष-विषयकाधोधारणेनैकवाक्यतायाः प्रतीतौ

सत्यामपि अपूर्वत्वाद् वाक्यभेदेन दैवाहुतिविषयकस्य उपरिधारणस्याऽपि विधिरेव स्वीक्रियते कल्पसूत्रेषु {द्र.- आपस्तम्बश्रौ.६।२।८० (६।८।५), कात्यायनश्रौ. ४।१४।१२)}, पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायां च **"विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्"** इत्यत्र (तन्त्र-वार्तिके शबराऽव्याख्यातषट्सूत्र्याम्, सू.६, आनन्दाश्रम., पृ.३१८, जैमिनीयधर्ममी. ३।४।१५); तथैवाऽत्राऽपि आश्रमविध्यन्तराऽदर्शनादपूर्वत्वाद् ब्रह्मसंस्थत्वस्तुति-परतया प्रतीयमानामपि एकवाक्यतां परित्यज्य वाक्यभेदेनाऽऽश्रमविधिरेवाऽभ्युप-गन्तव्य इत्यर्थः। जाबालानाम् **"प्रव्रजेत्"** (जाबालो.४) इति प्रत्यक्षं विधिमनपेक्ष्य कृत्वाचिन्तान्यायेन सूत्रकारेणाऽयमाश्रमविधिविचारः कृत इति शङ्करः।

सर्वकर्मत्यागात्मकस्य पारिव्राज्यस्याऽपि आश्रमान्तराणामिवैव श्रुत्या विहितत्वाच्च आत्मज्ञानस्य न कर्माङ्गत्वम्, किन्तु स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनत्व-मिति चाऽधिकरणतात्पर्यमवगन्तव्यम्।

हिन्दी – जैसे "अधस्तात् समिधम्" इत्यादि वाक्य में महापितृयज्ञादिगत आहुतिविशेष के धर्म के विधायक वाक्य से एकवाक्यता प्रतीत होनेपर भी **"उपरि हि देवेभ्यो धारयति"** इस वाक्य का अर्थ अन्य वाक्य से अप्राप्त होने से वाक्यभेद को भी स्वीकार कर के पित्र्यादि कर्म में समिधा का हविर्युक्त सुगदण्ड से नीचे धारण करने के विधि के साथ में देव कर्म में समिधा का हविर्युक्त सुगदण्ड से ऊपर धारण करने के विधि को भी स्वीकारा जाता है, वैसे ही "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादि वाक्य में *"गृहस्थादि तीनों पुण्यलोक मात्र प्राप्त करते हैं, ब्रह्मसंस्थ तो अमृतत्व प्राप्त करता है"* इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति होने से एकवाक्यता प्रतीत होनेपर भी अन्य वाक्य से आश्रमों का विधि प्राप्त न होने से इसी वाक्य से गृहस्थ, वानप्रस्थ और नैष्ठिकब्रह्मचारी के आश्रमों के विधि के साथ में ब्रह्मसंस्थ (सन्न्यासी) के आश्रम के विधि को भी स्वीकारना चाहिए।

अथ परामर्शाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"त्रयो धर्मस्कन्धाः"** (छा.२।२३।१) इत्यादिके वाक्ये आश्रमाणां श्रवणम्।

विशयः– तत्राऽऽश्रमाणामनुवादमात्रं वा विधिर् वेति।

पूर्वपक्षः– तत्र विधिप्रत्ययाश्रवणात्, पारिव्राज्यस्य तु **"वीरहा वा एष योऽग्निमुद्वास-यते"** (तै.सं.१।५।२।१) इत्यादिकया श्रुत्याऽपोदितत्वेन तस्य विधेः कुत्राऽपि स्वीकर्तु-मशक्यत्वाच्च तत्राऽऽश्रमाणामनुवादमात्रं मन्तव्यं न विधिरिति।

उत्तरम्– त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र गार्हस्थ्येन सह साम्येनाऽऽश्रमान्तराणामपि श्रुतत्वात्, **"वीरहा वा एष योऽग्निमुद्वासयते"** (तै.सं.१।५।२।१) इति निन्दाया उत्सन्नाग्निक-गृहस्थविषयकत्वाद् गार्हस्थ्यस्येव पारिव्राज्यस्याऽपि अनुष्ठेयतायाः प्रतीतेः, अन्यस्माद् वाक्याद् अप्राप्तत्वेनाऽपूर्वत्वात् तत्राऽऽश्रमाणां विधेः स्वीकर्तव्यत्वाच्च तत्राऽऽश्रमाणां विधिः स्वीकर्तुं युज्यते इति।

निर्णयः– **"त्रयो धर्मस्कन्धाः"** इत्यादिके वाक्ये आश्रमाणां विधिरेवाऽऽश्रयणीय इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. छन्दोगानां त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिका श्रुतिः।
२. अनुवादो विधिर् वा स्यादाश्रमाणां तु तत्र हि ॥१॥
३. अनुवादश् चोदनाया अभावादिति केचन।
४-५. अप्राप्तत्वादन्यतस् तु विधिरेवेति निर्णयः ॥२॥

१३९.(३) स्तुतिमात्राधिकरणम् (सू. २१-२२)

अनुष्ठेयाश्रमसाम्यश्रुतेर् यथा पारिव्राज्यस्याऽप्यनुष्ठेयत्वम्, तथैव **"इयमेव जुहूः"** (मा.वा.शत.१।३।२।२) इत्यादिकाभिः कर्माङ्गस्तुतिभिः साम्यात् **"स एष रसानां रसतमः परमः"** (छा.१।१।३) इत्यादेर् वाक्यस्याऽपि स्तुतिमात्रपरत्वमित्याशङ्कामपाकर्तुमाह—

४४६. स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन् नाऽपूर्वत्वात् ३।४।२१॥ इति।

"स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः" (छा.१।१।३), **"तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी"** (ऐ.आ.२।१।२) इत्यादिकं कथनं खलु उद्गीथादीनां कर्माङ्गाणामुपादानात् स्तुतिमात्रमिति चेत्, नैवं मन्तव्यम्, अन्यतोऽप्राप्तत्वेनाऽपूर्वत्वाद् रसतमादिविधिरेव एवञ्जातीयासु श्रुतिष्ववगन्तव्य इत्यर्थः।

हिन्दी – "स एष रसानां रसतमः" इत्यादि में उद्गीथादि कर्माङ्गों का ग्रहण होने से वह सब स्तुतिमात्र है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्यों कि अन्य वाक्यों से अप्राप्त होने से उस प्रकार की श्रुतियों में उद्गीथादि का रसतमरूपादि में ध्यान का विधि ही मानना चाहिए।

४४७. भावशब्दाच्च ३।४।२२॥

तत्रतत्र समीपे श्रूयमाणाद् **"उद्गीथमुपासीत"** (छा.१।१।१), **"अहमुक्थमस्मीति विद्यात्"** (ऐ.आ.२।१।२) इत्यादिकात् सुस्पष्टाद् विधिशब्दाच् चैवञ्जातीयासु श्रुतिषु उपासनाविधिरेवाऽवगन्तव्य इत्यर्थः।

यथा मुख्याया ब्रह्मविद्याया न कर्माङ्गत्वं तथैव उद्गीथादिविद्याया अपि न कर्माङ्गत्वमिति प्रतिपादने स्तुतिमात्राधिकरणस्य तात्पर्यमवगम्यते।

हिन्दी – उस उस स्थल में श्रूयमाण "उद्गीथ का उपासन करे" इत्यादि स्पष्ट विधिशब्द से भी इस प्रकार की श्रुतियों में उपासनविधि ही अवगत होता है।

अथ स्तुतिमात्राधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स एष रसानां रसतमः" (छा.१।१।३) इत्यादिकाः श्रुतयः।

विशयः– तत्रोद्गीथादिस्तुतिमात्रमुत रसमयत्वादिविशिष्टोद्गीथाद्युपासनाविधिरिति।

पूर्वपक्षः– यथा "**इयमेव जुहूः**" (मा.वा.शत.१।३।२।२), "**स यः स कूर्म्मोऽसौ स ऽआदित्यः**" (मा.वा.शत.७।५।१।६), "**असौ लोक ऽआहवनीयः**" (मा.वा.शत.१२।४।१।३) इत्यादिकं वाक्यजातं कर्माङ्गाणां जुह्वादीनामुपादानात् स्तुतिमात्रम्, तथैव "**स एष रसानां रसतमः**" (छा.१।१।३) इत्यादावपि कर्माङ्गाणामुद्गीथादीनामुपादानात् "**स एष रसानां रसतमः**" इत्यादिकमपि स्तुतिमात्रमेवेति।

उत्तरम्– उद्गीथादिकर्माङ्गविधिसन्निधौ अपठितानां प्रदेशान्तरपठितानामेतेषां "**स एष रसानां रसतमः**" इत्यादिकानां वाक्यानां कर्माङ्गविधिवाक्यशेषत्वस्याऽभावात्, अपूर्वत्वात्, "**उद्गीथमुपासीत**" इत्यादिकात् समीपस्थाद् विधिशब्दाच्च एतेषां वाक्यानां रसतमत्वादिविधिपरत्वमवगम्यते इति।

निर्णयः– "**स एष रसनां रसतमः**" इत्यादीनां वाक्यानां रसतमत्वादिविधिपरत्वमेवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतं रसतमत्वादि खलूद्गीथादिषु श्रुतौ।
२. स्तुतिमात्रं तदथवा तत्त्वदृष्टिविधिर् भवेत्॥१॥
३. कर्माङ्गाणामुपादानात् स्तुतिरेवेति के चन।
४-५. अपूर्वत्वाद् विधेः शब्दात् तत्त्वदृष्टिविधिः स्मृतः॥२॥

१४०.(४) पारिप्लवाधिकरणम् (सू. २३-२४)

"**स एष उद्गीथो रसानां रसतमः**" (छा.१।१।३) इत्यत्र वाक्यस्य स्तुतिमात्रपरत्वं निराकृत्य विधिपरत्वस्याऽऽश्रितत्वाद् वेदान्तेष्वागतानामाख्यायिकानामपि विद्यास्तुतिमात्रपरत्वमस्वीकृत्य पारिप्लवविधिपरत्वमास्थेयम्, ततश्च उपनिषदर्थानामपि कर्मशेषत्वं चास्थेयमित्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह—

४४८. पारिप्लवार्था इति चेन् न विशेषितत्वात् ३।४।२३॥ इति।

"**अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्द्वे भार्य्ये बभूवतुः**" (मा.वा.शत.१४।७।३।१, का.वा.बृह.४।५।१) इत्यादिका आख्यानश्रुतयः अश्वमेधप्रयोगान्तर्गतपारिप्लवाख्याने आख्यानाय पठिता न विद्याप्रधाना इति चेत्, अध्वर्युणा प्रेषितेन होत्रा प्रथमादिषु दशमान्तेषु दिनेषु पुनःपुनः क्रमेणाऽऽवर्तनेन संवत्सरमाख्येयस्य पारिप्लवस्य "प्रथमेऽहनि '**मनुर्ब्बैवस्स्वतो राजा**' (मा.वा.शत.१३।४।३।३) इत्यादिकमाह", "द्वितीयेऽहनि '**यमो वैवस्स्वतो राजा**' इत्यादिकमाह" इत्यादिकेन वचनजातेन विशेषितत्वात् (द्र.- मा.वा.शत.१३।४।३।१-१५) नाऽव्यवस्थया यस्य कस्याप्याख्यानस्य पारिप्लवे आख्येयत्वमिति न "**अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्द्वे भार्य्ये बभूवतुः**"

इत्यादिका आख्यानश्रुतयः पारिप्लवार्था इत्यर्थः। तस्मादेता वेदान्तेषु श्रुता आख्यानश्रुतय आत्मज्ञानादिप्रतिपत्तिसौकर्यार्था आत्मज्ञानादिस्तुतिरूपा एवेति भावः।

हिन्दी – "अथ ह याज्ञवल्क्यस्य" इत्यादि आख्यानश्रुतियाँ अश्वमेधप्रयोगान्तर्गत पारिप्लवाख्यान में पढने के लिए हैं, विद्याप्रधान नहीं हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता है, क्यों कि अश्वमेध के पारिप्लवाख्यान में पढे जाने वाले आख्यान जो कोई आख्यान नहीं हैं, विशिष्ट आख्यान ही हैं; उन आख्यानों में "अथ ह याज्ञवल्क्यस्य" इत्यादि आख्यान परिगणित नहीं है, अतः ये आख्यान पारिप्लव आख्यान के लिए नहीं हैं, आत्मविद्यादिस्तुति के लिए ही हैं।

४४९. तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ३।४।२४॥

तथा **"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य"** इत्यादीनामाख्यानानां पारिप्लवार्थत्वस्याभावेऽवगते सति च तदाख्यानश्रुतीनां सन्निहितात्मज्ञानादिवाक्यैरेकवाक्यतया उपबन्धाद् आत्मज्ञानादिप्रतिपत्त्यर्थत्वम् आत्मज्ञानादिस्तुतिरूपत्वं चाऽवगन्तव्यमित्यर्थः। एवं च स्वतन्त्रत्वमेवाऽऽत्मज्ञानस्य न कर्माङ्गत्वमिति भावः।

हिन्दी – इस प्रकार "अथ ह याज्ञवल्क्यस्य" इत्यादि आख्यानों का पारिप्लवार्थत्व का अभाव अवगत होनेपर उन आख्यानश्रुतियों का आत्मज्ञानादिवाक्य से एकवाक्यतायुक्तरूप में निबद्ध होने से उन का आत्मज्ञान की सुखप्रतिपत्ति के लिए और आत्मज्ञानादि की स्तुति के लिए होने की बात अवगत होती है।

अथ पारिप्लवाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये बभूवतुः" इत्यादिका वेदान्तेषु श्रुता आख्यानश्रुतयः।

विशयः – एताः श्रुतयः पारिप्लवार्था उत आत्मज्ञानप्रतिपत्तिसौकर्याद्यर्था इति।

पूर्वपक्षः – "सर्व्वाणि राज्ज्यान्याचष्टे सर्व्वा विशः सर्व्वान् न्वेदान्" (मा.वा.शत. १४।४।३।१५) इति वचनात् क्रियासु प्रातिस्विकरूपेणाऽविनियुक्तानां वेदभागानां पारिप्लवाख्याने प्रयोक्तव्यतायाः प्रतीयमानत्वात् **"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये बभूवतुः"** इत्यादिका वेदान्तेषु श्रुता आख्यानश्रुतयोऽपि पारिप्लवार्था इति।

उत्तरम् – पारिप्लवाख्यानस्य "प्रथमेऽहनि '**मनुर्व्वैवस्वतो राजा**' (मा.वा.शत.१३।४।३।३) इत्यादिकमाह", "द्वितीयेऽहनि '**यमो वैवस्वतो राजा**' (मा.वा.शत.१३।४।३।६) इत्यादिकमाह" इत्यादिकेन वचनजातेन विशेषितत्वात्, **"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य"** इत्यादिकानां वेदान्तेषूक्तानामाख्यानानां तत्राऽनुपादानात्, **"सर्व्वान् न्वेदानाचष्टे"** इति वचनस्य च तत्प्रकरणोपात्तवेदविशेषमात्रपरत्वात्, वेदान्तेषु श्रुतानामाख्यानश्रुतीनां सन्निहितात्मज्ञानादिवाक्यैः सहैकवाक्यतयोपबन्धाच्च नैतासामाख्यानश्रुतीनां पारिप्लवार्थत्वम्, किन्तु आत्मज्ञानप्रतिपत्तिसौकर्याद्यर्थत्वमेवेति।

निर्णयः – वेदान्तेषु श्रुता **"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य"** इत्याद्या आख्यानश्रुतय आत्मज्ञानप्रतिपत्तिसौकर्याद्यर्था एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आख्यानश्रुतयो बह्व्यो वेदान्तेषु श्रुताः खलु।
२. पारिप्लार्थास् ता आत्मविद्यार्था वेति संशयः॥१॥
३. पारिप्लवार्थाः स्युः सर्ववेदाख्यानश्रुतेः किल।
४-५. पारिप्लवेऽप्रवेशात् तु विद्यार्था इति निर्णयः॥२॥

१४१.(५) अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् (सू. २५)

आख्यानानां विद्यासान्निध्येन विद्याशेषत्वे विद्याप्रकरणे यज्ञेन दानेनेत्यादेः पाठात् सान्निध्येन यज्ञादिकर्मणां विद्याशेषत्वं स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन्, पुरुषार्थाधिकरणे ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्ये प्रतिपादिते तत्प्रसक्ते विचारे च समाप्ते ब्रह्मविद्यायाः स्वफलदानेऽपि आश्रमकर्मानपेक्षां प्रतिपादयति–

४५०. अत एव चाऽग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ३।४।२५॥ इति।

एवम् आत्मज्ञानस्य सर्वथा कर्मानुप्रवेशं विनैव स्वतन्त्रतया पुरुषार्थहेतुत्वात् तस्य फलजनने अग्नीन्धनादिकानां नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमकर्मणां सहायत्वेन अनपेक्षा भवतीत्यर्थः। सहायनिरपेक्षं स्वतन्त्रमेवाऽऽत्मज्ञानं परमपुरुषार्थमोक्षसाधनमिति भावः।

हिन्दी – इस प्रकार आत्मज्ञान कर्म का अङ्ग न होकर स्वतन्त्र रूप में ही परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन होने से आत्मज्ञान को मोक्षरूप फल देने के लिए गुरु के अग्नि का परिचरण इत्यादि नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमादि-आश्रमकर्मों की सहायता की कोई अपेक्षा नहीं होती है।

अथाऽग्नीन्धनाद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः – आत्मज्ञानस्य मुक्तिफलोत्पादने नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमकर्मापेक्षा।

विशयः – स्वफले मोक्षे साधनीये आत्मज्ञानस्य सहकारित्वेन नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमकर्मणामपेक्षा भवति न वेति।

पूर्वपक्षः – "तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च" (मा.वा.शत.१४।७।२।१२, का.वा.बृह.४।४।९) इति श्रुत्या ज्ञानकर्मसमुच्चयेन मोक्षस्य प्राप्तेः कथनाद् आत्मज्ञानस्य स्वफले मोक्षे साधनीये सहकारित्वेन नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमकर्मणामपेक्षा भवतीति।

उत्तरम् – पूर्वेषु अधिकरणेषु आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रस्यैव पुरुषार्थहेतुताया निर्णीतत्वात्, "तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च" (मा.वा.शत.१४।७।२।१२, का.बृह. ४।४।९) इति श्रुतेश्च 'पुण्यकृत् तैजसः शुद्धसत्त्वः सन् ब्रह्मविद् भूत्वा तेन ब्रह्मवेदनरूप-

मार्गेण मोक्षं गच्छति' इति व्याख्येयत्वाच् चाऽऽत्मज्ञानस्य मोक्षे जनयितव्ये सहकारित्वेन नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमकर्मणामपेक्षा न भवतीति।

निर्णयः– आत्मज्ञानस्य स्वफले मोक्षे साधनीये सहकारित्वेन नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रम-कर्मणांमपेक्षा न भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. तेनैति ब्ब्रह्मवित् पुण्यकृदिति श्रूयते श्रुतिः।
२. तत्र ज्ञानस्य मोक्षाय कर्मापेक्षोदिता न वा?
३. सोदिता ब्रह्मवित् पुण्यकृदिति श्रवणात् किल।
४-५. ज्ञानस्य मोक्षजनने स्वातन्त्र्यान् नैव सोदिता॥२॥

१४२.(६) सर्वापेक्षाधिकरणम् (सू. २६-२७)

ब्रह्मविद्यायाः फलदाने कर्मानपेक्षत्वे प्रतिपादिते उत्पत्तावपि तस्याः कर्मानपेक्षत्वं स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन्नाह–

४५१. सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ३।४।२६॥ इति।

यथाऽश्वस्य लाङ्गलकर्षणाय नाऽपेक्षा, रथचर्यायै त्वपेक्षा भवति, तथैव ज्ञानफलोत्पत्तये आश्रमकर्मणामनपेक्षा, ज्ञानोत्पत्तये तु सर्वेषामेवाऽऽश्रमकर्मणाम् अपेक्षा भवतीति **"तमेतवं् वेदानुवचनेन बिविदिषन्ति ब्ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्श्रद्धया यज्ञ्ञेनाऽनाशकेन च"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२५, द्र.– का.वा.बृह.४।४।२२) इत्यादिकायां श्रुतौ विविदिषोत्पादनद्वारा यज्ञादीनामाश्रमकर्मणां ज्ञानोत्पत्तौ हेतुतायाः श्रुतत्वादवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे हल खीचने के लिए घोडे की अपेक्षा नहीं होती है, रथ खीचने के लिए तो होती है; वैसे ही ज्ञान के फल मोक्ष की सिद्धि के लिए आश्रमकर्मों की अपेक्षा नहीं होती है, विविदिषा के उत्पादन से ज्ञान के उत्पादन में तो सभी आश्रमकर्मों की अपेक्षा होती है; यह बात "तमेतवं् वेदानुवचनेन बिविदिषन्ति" इत्यादि श्रुति में यज्ञादि के ग्रहण से अवगत होती है।

४५२. शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस् तदङ्गतया तेषामवश्याऽनुष्ठेयत्वात् ३।४।२७॥

यदि **"तमेतवं् वेदानुवचनेन बिविदिषन्ति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२५, द्र.– का.वा.बृह.४।४।२२) इत्यादिका श्रुतिरात्मज्ञानस्तुतिमात्रपरा न आत्मज्ञानार्थकयज्ञादिविधिपरेति यज्ञादीनामात्मज्ञानोत्पत्तये नाऽनुष्ठेयता, तथापि तु शमदमादीनाम् **"तस्मादेवव्ंविच् छान्तो दान्तऽउपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा-**

ऽत्तँमन्येवाऽत्तँमानम् पश्येत्" (मा.वा.शत.१४।७।२।२८, का.वा.बृह.४।४।२३) इति श्रुतौ विधानाद् आत्मज्ञानसाधनतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वाद् आत्मसाक्षात्कारार्थी शमदमोपरतितिक्षासमाधानश्रद्धायुक्तो भवेदित्यर्थः।

एतेन यज्ञादीनामात्मज्ञानं प्रति बहिरङ्गसाधनत्वं शमदमादीनां त्वन्तरङ्गसाधनत्वमपि सूचितमिति शङ्करः। आश्रमधर्मानधिकारादिना अशक्त्यादिना वापि केनाऽपि हेतुना वेदानुवचनादीनामनुष्ठानेऽसम्भविनि सत्यपि आत्मसाक्षात्कारार्थी शमदमाद्युपेतस् त्ववश्यं स्यादित्येवाऽस्य सूत्रस्याऽर्थ इति त्वस्माकं प्रतिभाति।

हिन्दी – यदि आत्मज्ञान के लिए यज्ञादि का विधान नहोने से अथवा यज्ञादि का अनुष्ठान किसी कारण से असम्भव होने से यज्ञादि का अनुष्ठान न भी हो सके तथापि शमदमादिका "तस्मादेवंवित् छान्तो दान्तः" इत्यादि श्रुति में विधान होने से आत्मज्ञान के साधन अङ्ग रूप में अथवा विक्षेपपरिहारद्वारा आत्मज्ञान के सुदृढीकरण वा सुस्थिरीकरण करने वाले अङ्ग के रूप में अथवा आत्मज्ञान के अलङ्कार रूप अङ्ग के रूप में शमदमादि अवश्य अनुष्ठेय होने से और शमदमादिका पालन सर्वदा सम्भव होने से आत्मसाक्षात्कारार्थी (अथवा आत्मसाक्षात्कारवान् भी) शमदमादियुक्त तो अवश्य ही होवे।

अथ सर्वापेक्षाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – आत्मज्ञानस्योत्पत्तौ आश्रमकर्मापेक्षा।

विशयः – आत्मज्ञानस्योत्पत्तौ आश्रमकर्माऽपेक्षाऽस्ति न वेति।

पूर्वपक्षः – यथा मुक्तिरूपफलोत्पादने आत्मज्ञानस्य नाऽऽश्रमकर्मापेक्षा तथैव स्वोत्पत्तावपि नाऽऽश्रमकर्मापेक्षेति।

उत्तरम् – यथा हलकर्षणायाऽश्वस्य नापेक्षा, रथचर्यायै त्वपेक्षा भवति; तथैव मुक्तिरूपफलोत्पादने आत्मज्ञानस्य कृते नाऽऽश्रमकर्मणामपेक्षा, स्वोत्पत्तये तु आश्रमकर्मणामपेक्षेति वक्तुं शक्यत्वात्, **"तमेतवं वेदानुवचनेन बिविदिषन्ति"** इत्यादिकया श्रुत्या विविदिषोत्पादनद्वारा नैष्ठिकब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमधर्माणां वेदानुवचनादीनामात्मज्ञानोत्पत्तौ हेतुतायाः प्रतिपादितत्वात्, वेदानुवचनादीनामसम्भवेऽपि शमदमादीनामनुष्ठानस्य प्रत्यक्षविधेर्दर्शनाच्च आत्मज्ञानस्य स्वोत्पत्तये सर्वेषामाश्रमकर्मणां शमदमादीनां चापेक्षा भवतीति।

निर्णयः – स्वोत्पत्तये आत्मज्ञानस्य सर्वेषामेवाऽऽश्रमकर्मणां शमदमादीनां चाऽपेक्षा भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. एतं विविदिषन्तीत्या-दिका हि श्रूयते श्रुतिः।
२. तत्राऽऽत्मविज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षा मता न वा॥१॥
३. फलोत्पत्ताविवाऽत्राऽपि नाऽपेक्षेति हि के चन।
४-५. ज्ञानोत्पत्तौ त्वभिमता कर्मापेक्षेति वैदिकाः॥२॥

१४३.(७) सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् (सू. २८-३१)

विविदिषन्तीत्यत्र लेट्लकारार्थाश्रयणेन विधित्वे निर्णीते भवतीत्यत्राऽपि लेट्लकारार्थाश्रयणेन विधित्वमाश्रयणीयं स्यादितिशङ्कामपाकुर्वन् प्राणविद्यायाः स्तुत्यर्थं सर्वान्नानुज्ञानमिति निरूपयितुमाह—

४५३. सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ३।४।२८॥ इति।

प्राणात्ययसम्भावनांप्राप्तौ परोच्छिष्टस्य स्वोच्छिष्टस्य पर्युषितस्याऽन्यविधस्य चेति सर्वविधस्यैवाऽभक्ष्यस्य भक्षणस्य **"मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर् ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास; स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे, तं होवाच— नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति; एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ, हन्ताऽनुपानमिति, उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच, न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति, न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति"** (छा.१।१०।१-४) इति श्रुतौ दर्शनात् प्राणात्ययप्रसङ्गे हि परस्यामापदि सर्वस्याऽन्नस्य भक्षणेऽनुमतिः श्रुत्या दीयते नाऽन्यदेति अवगम्यमानत्वात् "न ह वाऽअस्स्याऽनन्नञ् जग्धम् भवति नाऽनन्नम् परिगृहीतम्" (मा.वा.शत.१४।९।२।१४, का.वा.बृह.६।१।१४), **"न ह वा एवंविदि किञ्चनाऽनन्नं भवति"** (छा.५।२।१) इत्यादिकासु श्रुतिषु प्रतीयमाना प्राणविद्यावतः सर्वान्नाऽनुमतिः प्राणविद्यायां कार्यस्य "सर्वं प्राणस्याऽन्नम्" इति चिन्तनस्य स्तुतिमात्रम्, न शमदमादिवद् विद्याङ्गतया सर्वविधस्यान्नस्य भोज्यतायाः विधानमित्यर्थः।

हिन्दी– अभक्षण से प्राण जाने की सम्भावना होनेपर प्राणधारण के लिए जिस किसी प्रकार का अभक्ष्य भी खाने की बात "मटचीहतेषु कुरुषु" इत्यादि छान्दोग्यश्रुति में देखी जाने से परम आपत्ति के समय में प्राणधारण के लिए ही अभक्ष्यभक्षण की अनुमति श्रुति से दी जाने की बात अवगत होने से "न ह वाऽअस्स्याऽनन्नञ् जग्धम् भवति" इत्यादि श्रुतियों में प्रतीयमान प्राणोपासक के लिए सर्वान्नानुमति भी प्राणविद्या की स्तुति ही केवल है, शमदमादि की तरह विद्या के अङ्ग के रूप में वह विहित नहीं है, यह बात अवगत होती है।

४५४. अबाधाच्च ३।४।२९॥

उक्तायाः प्रतीयमानायाः सर्वान्नानुमतेः स्तुतिमात्रत्वे हि **"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः"** (छा.७।२६।२) इत्यादिकस्य भक्ष्याऽभक्ष्यविभागशास्त्रस्याऽबाधाच् चोक्तायाः सर्वान्नानुमतेः स्तुतिमात्रत्वमवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– उक्त सर्वान्नानुमति का स्तुतिमात्रत्व माननेपर ही "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" इत्यादि वचन से की गई भक्ष्याऽभक्ष्यव्यवस्था का अबाध होने से भी उक्त सर्वान्नानुमति विद्या की केवल स्तुति ही होने की बात स्पष्ट होती है।

४५५. अपि च स्मर्यते ३।४।३०॥

विद्वदविद्वत्साधारणो भक्ष्याऽभक्ष्यविभागः खलु **"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"** (मनु.१०।१०४), **"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमाद्रियतेऽन्त्यजात्। आकाश इव पङ्केन न स पापेन लिप्यते"** (स्कन्द. प्रभास.१।१२९।२५), **"प्राणात्यये तथाऽज्ञानादाचरन् मदिरामपि। आदेशितो धर्मपरैः पुनः संस्कारमर्हति"** (महा.शान्ति.३४।२०), **"लशुनपलाण्डुगृञ्जनभक्षणे सूतिकाऽभोज्यान्नमधुमांसमूत्ररेतोऽमेध्याऽभक्ष्यभक्षणे सावित्र्यष्टसहस्रेण मूर्ध्नि सम्पातानवनयेत्। एतान्येवाऽऽतुरस्य भिषक्क्रियायामप्रतिषिद्धानि भवन्ति। यानि चाऽन्यान्यप्येवंप्रकारकाणि तेष्वप्यदोषः"** (सुमन्तुवचनम्, गौतमध., मिता. ३।५।२६, आनन्दाश्रम.पृ.१९९, याज्ञ.मिताक्षरायाम् ३।२८९, अपरार्कव्याख्यायां च, पृ.११५८), **"मद्यं नित्यं ब्राह्मणः (वर्जयेत्)"** (गौतमध.१।२।२०), **"सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः सुराम्, मृतः शुध्येत्"** (गौतमध.३।५।१) इत्यादिषु स्मृतिवाक्येषु स्मर्यतेऽपि चेत्यर्थः। एतत् स्मरणमपि उक्तायाः सर्वान्नानुमतेः स्तुतिमात्रपरत्वमवगमयतीति भावः।

हिन्दी – विद्वान् अविद्वान् प्राणोपासक अप्राणोपासक सभी के लिए साधारणतया भक्ष्य और अभक्ष्य का विभाग धर्मसूत्रादि स्मृतियों में प्रतिपादित किया जाता है। इस से भी उक्त सर्वान्नानुमति प्राणविद्या की केवल स्तुति ही है, यह बात अवगत होती है।

४५६. शब्दश्चाऽतोऽकामकारे ३।४।३१॥

उक्तायाः प्रतीयमानायाः सर्वान्नानुमतेः स्तुतिमात्रपरत्वादेव कामकारनिवृत्तये काठकसंहितादिष्वाम्नातः **"तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नेत् सृज्या इति"** (१२।१२) इत्यादिकः शब्दश्चाऽसङ्कुचितार्थकरूपेणैवोपपन्नो भवतीत्यर्थः।

आत्मसाक्षात्कारार्थी कृतात्मसाक्षात्कारोऽपि वा भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रपालनमपि कुर्यादेवेत्यधिकरणतात्पर्यमवगम्यते।

हिन्दी – उक्त प्रतीयमान सर्वान्नानुमति प्राणविद्यास्तुतिमात्ररूप होने से ही भक्ष्याऽभक्ष्यपेयाऽपेयादि के विषय में स्वेच्छाचारिता की निवृत्ति के लिए काठकसंहितादि ग्रन्थ में आम्नात "तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबति" इत्यादि शब्द अन्यवचन-विरोधरहित होने से यथाश्रुत अर्थ में ही उपपन्न होता है।

अथ सर्वान्नानुमत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "न ह वा ऽ अस्याऽनन्नञ् जग्धम् भवति" इत्यादौ प्रतीयमाना सर्वान्नानुमतिः।

विशयः– तत्र प्रतीयमाना सर्वान्नानुमतिर् विधिर् वा स्तुतिमात्रं वेति।

पूर्वपक्षः– प्राणविद्यासन्निधानात् तदङ्गत्वेन सर्वान्नभोजनानुमतिर् विधिरूपेति।

उत्तरम्– श्वकुक्कुटहस्त्युष्ट्रादीनामन्नस्य गूथ-खाट्कृतक-पिप्पलकाष्ठ-शमी-करीर-कण्टकाऽऽदिकस्य प्राणोपासकेन मनुष्येण भक्षयितुमशक्यत्वाद् अशक्ये विधेरसम्भवात्, अन्यत्राऽपि श्रुतौ प्राणात्ययप्रसङ्गे महत्यामापदि एव सर्वान्नानुमतेर् दर्शनात्, सदा सर्वान्नानुमतेरदर्शनात्, प्राणविद्यागतायाः सर्वान्नानुमतेर् विधित्वे "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" (छा.७।२६।२) इत्यादेर् भक्ष्याऽभक्ष्यविधानशास्त्रस्य बाधस्य प्रसङ्गात्, स्मृतिष्वपि भक्ष्याऽभक्ष्यविभागस्य स्मर्यमाणत्वात्, श्रुतावपि सुरापानप्रतिषेधादीनां दृश्यमानत्वाच्च प्राणविद्यागता सर्वान्नानुमतिः "सर्वं प्राणस्याऽन्नम्" इति चिन्तनस्य स्तुतिरेव न सर्वान्नभोजनविधिरिति।

निर्णयः– प्राणविद्यायां प्रतीयमाना सर्वान्नानुमतिः प्राणविद्यास्तुतिमात्रम्, न सर्वान्नभोजनविधिरिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सर्वान्नानुमतिः प्राणविद्यायां हि प्रतीयते।
२. सा विधिः स्तुतिमात्रं वा भवेदिति तु शंसयः॥१॥
३. विद्याङ्गत्वविधिः सन्निधानादिति हि के चन।
४-५. शास्त्रान्तराऽबाधनात् तु स्तुतिमात्रं हि सा मता॥२॥

१४४.(८) आश्रमकर्माधिकरणम् (सू. ३२-३५)

यज्ञादीनां विद्यार्थकर्मत्वे प्रतिपादिते तेषां नित्यकर्मत्वं न स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन्नाह–

४५७. विहितत्वाच् चाऽऽश्रमकर्माऽपि ३।४।३२॥ इति।

यज्ञादिकं खलु **"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्"** (द्र.-का.वा.शत.३।१।१०।३, ४), **"एतद् द्वै जरामर्य्यँ सत्रय्ँ यदग्ग्ँनिहोत्रम्"** (मा.वा.शत.१२।४।१।१) इत्यादिकाभिः श्रुतिभिर् विहितत्वाद् नित्याऽऽश्रमकर्मरूपमपि अस्ति, न केवलं विद्याकामकर्मरूपमित्यर्थः।

हिन्दी– "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादि श्रुतियों से विहित होने से अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म नित्य और निष्काम आश्रमकर्ममात्र के रूप का भी है, केवल विद्याकाम पुरुष के कर्म के रूप का ही नहीं।

४५८. सहकारित्वेन च ३।४।३३॥

यज्ञादिकम् आत्मयाजिनामपि विहितत्वाद् मननादिना विद्याया दृढीकरणे समर्थत्वाच्च विद्यासहकारित्वेन धर्मेण च युक्तमवगन्तव्यमित्यर्थः। शङ्करस्तु विद्योत्पत्तौ सहकारित्वेनैव यज्ञानां विद्यासहकारित्वमनेन सूत्रेणोक्तमित्याह। तत्तु सर्वापेक्षा चेत्यादिके सूत्रे एवोक्तमिति पुनरुक्तिदोषाक्रान्तत्वाच् चिन्त्यं प्रतीयते।

हिन्दी – आत्मयाजियों के लिए भी विहित होने से और मननादि से विद्या के दृढीकरण में समर्थ भी होने से यज्ञकर्म विद्यासहकारित्वरूप धर्म से भी युक्त है।

४५९. सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ३।४।३४॥

विद्याकामकर्मत्वे, देवयाजिकार्यनित्याश्रमकर्मत्वे, आत्मयाजिकार्यात्मज्ञानसहकारिनित्याश्रमकर्मत्वेऽपि यज्ञादयः खलु **"तमेतवं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२५, द्र.- का.वा.बृह.४।४।२२) इत्यादिकायाः सिद्धवदुत्पन्नरूपाणामेव यज्ञादीनां विविदिषायां विनियोजनं कुर्वत्याः श्रुतेर् लिङ्गात्, **"तदाहुरात्तँमयाजी श्श्रेया३न् देवयाजी३ऽइत्त्यात्तँमयाजीति ह ब्ब्रूयात्"** (मा.वा.शत.११।२।६।१३) इत्यादिकायास्तेषामेव यज्ञानां देवयाजिनिर्वर्त्यत्वेन निर्देशं कुर्वत्याः श्रुतेर् लिङ्गात्, **"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर् न चाऽक्रियः"** (गीता.६।१) इति, **"स्वाध्यायेन व्रतैर् होमैस् त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः"** (मनु.२।२८) इति, **"इत्येते चत्वारिंशत् संस्काराः"** (गौतमध.१।८।२२) इति च विज्ञातेतिकर्तव्यताकस्यैव कर्मणो विद्योत्पत्त्यर्थत्वं दर्शयन्त्याः श्रौतयज्ञानामपि संस्कारेषु गणनया तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिं सूचयन्त्याश्च स्मृतेर् लिङ्गात्, **"सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्श्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ इह चाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति"** (मनु.१२।८८-९१) इति आत्मयाजिकृतस्य नित्याश्रमकर्मणो ज्ञानपूर्वकत्वेन ज्ञानसहकारित्वं दर्शयन्त्याः स्मृतेर् लिङ्गाच्चेति श्रुतिस्मृत्युभयलिङ्गात् त एव, समानस्वरूपा एव, न नित्याग्निहोत्र-कुण्डपायिनामयनगताग्निहोत्रवत् परस्परं भिन्ना इत्यर्थः। एवं च विद्यार्थत्वे, सामान्यनित्यत्वे आत्मज्ञानसहकारिनित्यत्वे चाऽपि यज्ञानां स्वरूपे अभेदाद् यज्ञादीनां त्रिविधत्वस्य स्वीकारे न कश्चिद् विरोधो भवतीति भावः।

उत्पन्नविद्येनाऽपि आश्रमकर्मरूपेण वेदानुवचनादिकं यथायथं कर्तव्यमित्यधिकरणतात्पर्यमवगम्यते।

हिन्दी – श्रुति में देखे गए लिङ्ग और स्मृतियों में देखे गए लिङ्ग दोनों लिङ्गों से विद्या की कामना करने वाले से किए जाने वाले, देवयाजियों से नित्य आश्रमकर्म के रूप में किए जाने वाले, और आत्मयाजियों से आत्मज्ञानसहकारी के रूप में नित्य आश्रम कर्म के रूप में किए जाने वाले सभी अग्निहोत्रादि यज्ञ स्वरूपतः समान ही हैं। अतः यज्ञों का विद्यार्थत्व, सामान्य नित्य आश्रमकर्मत्व तथा आत्मज्ञानसहकारि-नित्याश्रमकर्मत्व मानने पर कोई विरोध नहीं आता है, यह भाव है।

४६०. अनभिभवं च दर्शयति ३।४।३५॥

"एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणाऽनुविन्दते" (छा.८।५।३) इत्यादिका श्रुतिर् ब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमधर्मरूपसाधनसम्पन्नस्य रागादिभिः क्लेशैरात्मज्ञानस्यानभिभवं दर्शयति चेति यज्ञादिकं विद्यासहकारित्वेन धर्मेण युक्तं चाऽवगन्तव्यमित्यर्थः।

हिन्दी– "एष ह्यात्मा न नश्यति" इत्यादि श्रुति ब्रह्मचर्याश्रमादि आश्रमों के धर्मरूप साधन से सम्पन्न पुरुष के आत्मज्ञान का रागादि क्लेश से अभिभूत न होने की बात बताती है। अतः आश्रमधर्मरूप यज्ञादि में विद्यासहकारित्व का होना अवगत होता है।

अथाऽऽश्रमकर्माधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "तमेतव् वेदानुवचनेन विविदिषन्ति" इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतं वेदानुवचनादिकम्।

विशयः– एतद् वेदानुवचनादिकं विद्याकामकर्मैव वा नित्यमाश्रमकर्माऽपीति।

पूर्वपक्षः– "तमेतव् वेदानुवचनेन" इत्यादिकया श्रुत्या वेदानुवचनादिकस्य विद्योत्पत्तिसाधनत्वेन विहितत्वाद् विद्याकामकर्मत्वम्, विद्यानिरपेक्षस्य फलान्तरं कामयमानस्य यज्ञादिकं नाऽनुष्ठेयमिति तन् न नित्यमाश्रमकर्मेति।

उत्तरम्– "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादिकाभिः श्रुतिभिर् जीवनमात्रनिमित्तेनाऽग्निहोत्रादीनां विहितत्वात्, विदुषामात्मयाजिनां गृहस्थानामपि विद्यासहकारित्वेन च तेषां विहितत्वात्, आश्रमकर्मवतो रागादिभिः क्लेशैरात्मज्ञानस्याऽनभिभवस्य श्रुत्या दर्शितत्वाच्च वेदानुवचनयज्ञादिकं न केवलं विद्योत्पत्तिसाधनं विद्याकामकर्म, किन्तु विद्वदविद्वत्साधारणं देवयाजिना आत्मयाजिनाचाप्यनुष्ठेयं नित्यमाश्रमकर्माऽप्यस्तीति।

निर्णयः– वेदानुवचनयज्ञादिकं विद्वदविद्वत्साधारणं नित्यमाश्रमकर्माऽप्यस्तीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. वेदानुवचनाद्यस्ति ह्यनेकश्रुतिषु श्रुतम्।
२. तद् विद्याकामकर्मैव भवेद् वाऽऽश्रमकर्म च॥१॥
३. विद्यार्थं विहितत्वात् तत् स्याद् विद्याकामकर्म हि।
४-५. यावज्जीवं विधानात् तत् स्मृतमाश्रमकर्म च॥२॥

१४५.(९) विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्माधिकरणम् (सू. ३६-३९)

आश्रमकर्मणां ब्रह्मविद्यासहकारित्वे निरूपिते विधुरादिकर्मणां ब्रह्मविद्यासहकारित्वं न स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन्नाह–

४६१. अन्तरा चाऽपि तु तद्दृष्टेः ३।४।३६॥ इति।

जपोपवासादिकं विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्म चाऽपि रैक्व-वाचक्नवी-प्रभृतीनामाश्रमान्तरालस्थानामपि आत्मवित्त्व-श्रुत्युपलब्धेर् ज्ञानोत्पत्तिकारणं ज्ञानसहकारित्वेन धर्मेण युक्तं च भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – रैक्व गार्गी वाचक्नवी प्रभृति आश्रमान्तरालस्थों का भी आत्मज्ञानित्व श्रुति में देखे जाने से विधुर प्रभृति आश्रमरहित लोगों से किए जाने वाले जप उपवास इत्यादि कर्म भी ज्ञानोत्पत्ति के कारण और ज्ञानसहकारित्वयुक्त भी होते हैं।

४६२. अपि च स्मर्यते ३।४।३७॥

संवर्तप्रभृतीनाम् आश्रमकर्मभिन्नेन नग्नचर्यादियोगेनाऽपि महायोगित्वम् इतिहासे स्मर्यते चेत्यर्थः। संवर्तस्याऽऽङ्गिरसस्योल्लेखो महाभारते बहुषु स्थलेषु प्राप्यते। किन्तु संवर्तस्य शङ्करोक्तं चरित्रं कस्मिन् ग्रन्थे वर्णितमस्तीति तु न ज्ञायते। वेदान्तसूत्रमुक्तावलौ तु एतत् सूत्रं **"जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः। कुर्यादन्यन् न वा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते"** (मनु.२।८७, द्र.-महा.शान्ति.६०।१९, २३०।१३) इत्यनेन आश्रमकर्मनिरपेक्षजपमात्रस्यैव मोक्षसिद्धिप्रयोजकत्वं स्मर्यते च इत्येवंरूपेण व्याख्यातमस्ति।

हिन्दी – संवर्त प्रभृति लोगों का आश्रमकर्मभिन्न नग्नचर्यादि योग से भी महायोगित्व की अर्थात् जीवात्मपरमात्मैक्य रूप योग से सम्पन्नत्व की प्राप्ति इतिहास ग्रन्थ में स्मृत भी है।

४६३. विशेषानुग्रहश्च ३।४।३८॥

जपोपवासतपोदानादिनाऽऽश्रमान्तरालस्थ-कर्मणा आत्मज्ञानस्योत्पत्तौ दार्ढ्ये च विशिष्टोऽनुग्रहो भवतीति च **'वेदानुवचनेन' 'ब्रह्मचर्येण' 'तपसा' 'श्रद्धया' 'दानेन' 'अनाशकेन'** (द्र.- मा.वा.शत.१४।७।२।२५, का.वाबृह.४।४।२२) इति पदेपदे श्रुतया तृतीयाश्रुत्या प्रतिपाद्यते चेत्यर्थ इति वेदान्तसूत्रमुक्तावलौ प्रोक्तम्।

हिन्दी – आश्रमविशेष में न रहने वाले पुरुषों से भी किए जा सकने वाले जप, उपवास, तप, दान इत्यादि कर्मों से आत्मज्ञान के उत्पत्ति में और आत्मज्ञान को विक्षेपरहित तथा दृढ करने मे भी विशेष अनुग्रह होने की बात "तमेतंव् वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति में वेदानुवचन दान तप अनशन (उपवास) इन प्रत्येक पद में जुडी हुई हेतुबोधक तृतियाओं से भी अवगत होती है।

४६४. अतस् त्वितरज् ज्यायो लिङ्गाच्च ३।४।३९॥

आश्रमान्तरालस्थकर्मणस्तु आश्रमस्थकर्म एव ज्यायो विद्यासाधनं विद्या सहकारि चेति **"तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च"** (मा.वा.शत.१४।७।२।१२ का.वा.बृह.४।४।९) इति श्रुतौ श्रूयमाणाद् आश्रमकर्मप्रतिपादकपुण्यशब्दरूपात् लिङ्गात्, **"अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः"** (दक्ष.१।१०,), **"अनाश्रम**

४६०. अनभिभवं च दर्शयति ३।४।३५॥

"एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणाऽनुविन्दते" (छा.८।५।३) इत्यादिका श्रुतिर् ब्रह्मचर्याश्रमाद्याश्रमधर्मरूपसाधनसम्पन्नस्य रागादिभिः क्लेशैरात्मज्ञानस्यानभिभवं दर्शयति चेति यज्ञादिकं विद्यासहकारित्वेन धर्मेण युक्तं चाऽवगन्तव्यमित्यर्थः।

हिन्दी– "एष ह्यात्मा न नश्यति" इत्यादि श्रुति ब्रह्मचर्याश्रमादि आश्रमों के धर्मरूप साधन से सम्पन्न पुरुष के आत्मज्ञान का रागादि क्लेश से अभिभूत न होने की बात बताती है। अतः आश्रमधर्मरूप यज्ञादि में विद्यासहकारित्व का होना अवगत होता है।

अथाऽऽश्रमकर्माधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"तमेतवं् वेदानुवचनेन विविदिषन्ति"** इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतं वेदानुवचनादिकम्।

विशयः– एतद् वेदानुवचनादिकं विद्याकामकर्मैव वा नित्यमाश्रमकर्माऽपीति।

पूर्वपक्षः– **"तमेतवं् वेदानुवचनेन"** इत्यादिकया श्रुत्या वेदानुवचनादिकस्य विद्योत्पत्तिसाधनत्वेन विहितत्वाद् विद्याकामकर्मत्वम्, विद्यानिरपेक्षस्य फलान्तरं कामयमानस्य यज्ञादिकं नाऽनुष्ठेयमिति तन् न नित्यमाश्रमकर्मेति।

उत्तरम्– **"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्"** इत्यादिकाभिः श्रुतिभिर् जीवनमात्रनिमित्तेनाऽग्निहोत्रादीनां विहितत्वात्, विदुषामात्मयाजिनां गृहस्थानामपि विद्यासहकारित्वेन च तेषां विहितत्वात्, आश्रमकर्मवतो रागादिभिः क्लेशैरात्मज्ञानस्याऽनभिभवस्य श्रुत्या दर्शितत्वाच्च वेदानुवचनयज्ञादिकं न केवलं विद्योत्पत्तिसाधनं विद्याकामकर्म, किन्तु विद्वदविद्वत्साधारणं देवयाजिना आत्मयाजिनाचाप्यनुष्ठेयं नित्यमाश्रमकर्माऽप्यस्तीति।

निर्णयः– वेदानुवचनयज्ञादिकं विद्वदविद्वत्साधारणं नित्यमाश्रमकर्माऽप्यस्तीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. वेदानुवचनाद्यस्ति ह्यनेकश्रुतिषु श्रुतम्।
२. तद् विद्याकामकर्मैव भवेद् वाऽऽश्रमकर्म च॥१॥
३. विद्यार्थं विहितत्वात् तत् स्याद् विद्याकामकर्म हि।
४-५. यावज्जीवं विधानात् तत् स्मृतमाश्रमकर्म च॥२॥

१४५.(९) विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्माधिकरणम् (सू. ३६-३९)

आश्रमकर्मणां ब्रह्मविद्यासहकारित्वे निरूपिते विधुरादिकर्मणां ब्रह्मविद्यासहकारित्वं न स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन्नाह–

४६१. अन्तरा चाऽपि तु तद्दृष्टेः ३।४।३६॥ इति।

जपोपवासादिकं विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्म चाऽपि रैक्व-वाचक्नवी-प्रभृतीनामाश्रमान्तरालस्थानामपि आत्मवित्त्व-श्रुत्युपलब्धेर् ज्ञानोत्पत्तिकारणं ज्ञानसहकारित्वेन धर्मेण युक्तं च भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – रैक्व गार्गी वाचक्नवी प्रभृति आश्रमान्तरालस्थों का भी आत्मज्ञानित्व श्रुति में देखे जाने से विधुर प्रभृति आश्रमरहित लोगों से किए जाने वाले जप उपवास इत्यादि कर्म भी ज्ञानोत्पत्ति के कारण और ज्ञानसहकारित्वयुक्त भी होते हैं।

४६२. अपि च स्मर्यते ३।४।३७॥

संवर्तप्रभृतीनाम् आश्रमकर्मभिन्नेन नग्नचर्यादियोगेनाऽपि महायोगित्वम् इतिहासे स्मर्यते चेत्यर्थः। संवर्तस्याऽऽङ्गिरसस्योल्लेखो महाभारते बहुषु स्थलेषु प्राप्यते। किन्तु संवर्तस्य शङ्करोक्तं चरित्रं कस्मिन् ग्रन्थे वर्णितमस्तीति तु न ज्ञायते। वेदान्तसूत्रमुक्तावलौ तु एतत् सूत्रं **"जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः। कुर्यादन्यन् न वा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते"** (मनु.२।८७, द्र.-महा.शान्ति.६०।१९, २३०।१३) इत्यनेन आश्रमकर्मनिरपेक्षजपमात्रस्यैव मोक्षसिद्धिप्रयोजकत्वं स्मर्यते च इत्येवंरूपेण व्याख्यातमस्ति।

हिन्दी – संवर्त प्रभृति लोगों का आश्रमकर्मभिन्न नग्नचर्यादि योग से भी महायोगित्व की अर्थात् जीवात्मपरमात्मैक्य रूप योग से सम्पन्नत्व की प्राप्ति इतिहास ग्रन्थ में स्मृत भी है।

४६३. विशेषानुग्रहश्च ३।४।३८॥

जपोपवासतपोदानादिनाऽऽश्रमान्तरालस्थ-कर्मणा आत्मज्ञानस्योत्पत्तौ दार्ढ्ये च विशिष्टोऽनुग्रहो भवतीति च **'वेदानुवचनेन' 'ब्रह्मचर्येण' 'तपसा' 'श्रद्धया' 'दानेन' 'अनाशकेन'** (द्र.- मा.वा.शत.१४।७।२।२५, का.वाबृह.४।४।२२) इति पदेपदे श्रुतया तृतीयाश्रुत्या प्रतिपाद्यते चेत्यर्थ इति वेदान्तसूत्रमुक्तावलौ प्रोक्तम्।

हिन्दी – आश्रमविशेष में न रहने वाले पुरुषों से भी किए जा सकने वाले जप, उपवास, तप, दान इत्यादि कर्मों से आत्मज्ञान के उत्पत्ति में और आत्मज्ञान को विक्षेपरहित तथा दृढ करने में भी विशेष अनुग्रह होने की बात "तमेतंव् वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति में वेदानुवचन दान तप अनशन (उपवास) इन प्रत्येक पद में जुडी हुई हेतुबोधक तृतियाओं से भी अवगत होती है।

४६४. अतस् त्वितरज् ज्यायो लिङ्गाच्च ३।४।३९॥

आश्रमान्तरालस्थकर्मणस्तु आश्रमस्थकर्म एव ज्यायो विद्यासाधनं विद्या-सहकारि चेति **"तेनैति ब्ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च्व"** (मा.वा.शत.१४।७।२।१२, का.वा.बृह.४।४।९) इति श्रुतौ श्रूयमाणाद् आश्रमकर्मप्रतिपादकपुण्यशब्दरूपाल् लिङ्गात्, **"अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः"** (दक्ष.१।१०,), **"अनाश्रमी**

संवत्सरं प्राजापत्यं चरित्वाऽऽश्रममुपेयात्" (याज्ञ.मिताक्षरायाम् {३।२८८}, अपरार्कव्याख्यायाम् {३।२८९, पृ.११५७} च हारीतवचनम्), "चातुराश्रम्यबाह्याश्च श्रुतिबाह्याश्च ये नराः। विकर्मभिश्च जीवन्ति ते वै नरकगामिनः" (महा.अनु.२३।७३), "वर्णाश्रमविरुद्धं च कर्म कुर्वन्ति ये नराः। कर्मणा मनसा वाचा निरयेषु पतन्ति ते" (विष्णुपु.२।६।३२), "स्वकर्मविच्युताः पापा वर्णाश्रमविवर्जिताः। नरके पूयसम्पूर्णे क्लिश्यन्ते ह्ययुतं समाः" (स्कन्द.आवन्त्य.३।१५५।९३-९४), "वर्णाश्रमोक्तं वर्तन्ते धर्मं त्यक्त्वा तु ये नराः। बहिश्शास्त्रं महाभाग ते वै निरयगामिनः" (विष्णुधर्मोत्तरपुराणे २।११८।७) इत्यादिकेषु स्मृति-पुराणवचनेषु दृश्यमानाद् अनाश्रमित्वनिन्दारूपाल् लिङ्गाच्चाऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में और स्मृति में दृश्यमान आश्रमधर्मप्रशंसापरक तथा अनाश्रमित्वनिन्दापरक लिङ्गों से भी विधुरादि आश्रमान्तरालस्थ के कर्मों से आश्रमकर्म ही प्रकृष्टतर विद्यासाधन और विद्यासहकारी कर्म अवगत होता है।

अथ विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्माधिकरणस्वरूपम्

विषयः– विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्म।

विशयः– विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्म ज्ञानोत्पत्तिकारणम् आत्मज्ञानसहकारि च न वेति।

पूर्वपक्षः– आश्रमस्थकर्मणां वेदानुवचनयज्ञादीनाम् आत्मज्ञानसहकारित्वस्य श्रुतत्वात्, अनाश्रमिणः स्मृतिषु निन्दितत्वाच्च विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्मणां न ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वं न चाऽऽत्मज्ञानसहकारित्वमिति।

उत्तरम्– रैक्व-वाचक्नवी-प्रभृतीनामाश्रमान्तरालस्थानामपि आत्मज्ञानवत्त्वस्य श्रुतौ दर्शनात्, स्मृतावपि आश्रमकर्मभिन्नकर्मवतामपि आत्मज्ञानवत्त्वस्य प्रतिपादितत्वात्, जपोपवासतपोदानादिनाऽऽश्रमान्तरालस्थ-कर्मणाऽपि आत्मज्ञानस्योत्पत्तौ दार्ढ्ये च विशिष्टोऽनुग्रहो भवतीति च श्रुत्या एव प्रतिपादितत्वाच्च आश्रमान्तरालस्थकर्मतः आश्रमस्थकर्मण एव प्रकृष्टतराऽऽत्मज्ञानसहकारिकर्मत्वेऽपि आश्रमान्तरालस्थकर्मणोऽपि आत्मज्ञानोत्पत्तिकारणत्वम् आत्मज्ञानसहकारित्वं च भवतीति।

निर्णयः– विधुराद्याश्रमान्तरालस्थकर्माऽपि आत्मज्ञानसाधनम् आत्मज्ञानसहकारि च भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. जपादि विधुरादीनामपि कर्म तु दृश्यते।
२. आत्मज्ञानस्य तत् कर्म सहकारि भवेन् न वा ॥१॥
३. अनाश्रमित्वनिन्दायाः स्मरणान् नेति के चन।
४-५. श्रुतेः स्मृतेश्च तद् ज्ञानसहकारीति निर्णयः ॥२॥

१४६.(१०) तद्भूताधिकरणम् (सू. ४०)

अनाश्रमिकर्मणामपि ब्रह्मविद्यासाधनत्वे निरूपिते आश्रमभ्रष्टानां द्विजातीनां कर्मणामपि ब्रह्मविद्यासाधनत्वं स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन्नाह–

४६५. तद्भूतस्य तु नाऽतद्भावो जैमिनेरपि नियमा-ऽतद्रूपाऽभावेभ्यः ३।४।४०॥ इति।

"ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" (छा. २।२३।१), **"अथाऽऽत्तँमन्त्रगृँनी समारोह्य्योत्तरनारायणेनाऽऽदित्त्यमुपस्त्था-याऽनपेक्षमाणोऽरण्यमभिप्रेयात् तदेव मनुष्येभ्यस्त् तिरोभवति"** (मा.वा.शत. १३।६।२।२०), **"त्रैधातव्यन्ते समारोह्य्यात्तँमन्त्रगृँनी सूर्य्यमुपस्त्थायादद्भ्यः सम्भृतऽइत्त्यनुवाकेनाऽनपेक्षमाणोऽरण्यङ् गत्त्वा न प्प्रत्त्येयात्"** (कात्यायनश्रौ. २१।१।१७) इत्यादिकात् श्रुतिस्मृतिनियमात्, यथा **"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्"** (जाबालो.४) इत्यादिरूपस्य आश्रमा-रोहप्रतिपादकस्य शास्त्रोपदेशस्योपलम्भस्तथा आश्रमप्रत्यवरोहप्रतिपादकस्य शास्त्रोपदेशस्य नोपलम्भ इति आश्रमप्रत्यवरोहस्य आश्रमारोहतुल्यरूपताया अभावेन अतद्रूपत्वात्, आश्रमप्रत्यवरोहस्य शिष्टाचारेऽभावाच्च प्रतिपन्नोत्तराश्र-मस्य पुरुषस्य पुनःप्रतिपन्नपूर्वाश्रमत्वरूपं त्यक्तप्रतिपन्नोत्तराश्रमत्वं न भवतीति सिद्धान्तो बादरायणस्य जैमिनेश्चाऽपि सम्प्रतिपन्न इत्यर्थः।

एवं चाऽऽरूढपतितस्य पुरुषस्य चेतसः सर्वथा शास्त्रशिष्टाचारविरोधि-भावनादूषितत्वेनाऽत्यन्तमेव कालुष्यात् तस्य कर्म तु कथमपि आत्मज्ञानसाधनम् आत्मज्ञानसहकारि च न भवतीति भावः।

हिन्दी – श्रुति-स्मृति शास्त्र में उत्तराश्रम से पूर्वाश्रम में न लौटने का नियम प्रतिपादित होने से, पूर्वाश्रम से उत्तर उत्तर आश्रम में जाने का जैसा विधान शास्त्र में है वैसा उत्तराश्रम से पूर्व पूर्व आश्रम में लौटने का विधान न होने से आश्रमप्रत्यवरोह में आश्रमारोहतुल्य शास्त्रविहितत्व रूप न होने से, और उत्तराश्रम से पूर्वाश्रम में लौटने का शिष्टाचार का अभाव होने से भी उत्तराश्रमी हो चुके पुरुष का अनुत्तराश्रमिभाव अर्थात् पुनः पूर्वाश्रमित्व तो केवल ब्रह्ममीमांसक बादरायण आचार्य के ही मत में नहीं, धर्ममीमांसक जैमिनि आचार्य के मत में भी नहीं ही हो सकता है।

आरूढपतितत्व सर्वथा शास्त्र-शिष्टाचारविरुद्ध होने से आरूढपतितों का कर्म वेदशास्त्रोक्त आत्मज्ञान का कथमपि साधन वा सहकारी नहीं हो सकता है, यह भाव है।

अथ तद्भूताधिकरणस्वरूपम्

विषयः– प्रव्रज्याप्रत्यवसिताद्याश्रमप्रत्यवरूढकर्म।

विशयः– आश्रमप्रत्यवरूढकर्म आत्मज्ञानसाधनम् आत्मज्ञानसहकारि च भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– अनाश्रमिणामपि कर्म आत्मज्ञानसाधनम् आत्मज्ञानसहकारि च भवति चेत् प्रव्रज्याप्रत्यवसितादीनां प्रतिपन्नादाश्रमात् पूर्वमाश्रमं प्रत्यवरूढानां कर्म तु आश्रम-कर्मत्वात् सुतरामात्मज्ञानसाधनम् आत्मज्ञानसहकारि च भवेदिति।

उत्तरम्– उत्तराश्रमात् पूर्वाश्रमेऽवरोहस्य व्यावर्तकस्य नियमस्य श्रुतिस्मृतिषु दर्शनात्, पूर्वाश्रमादुत्तराश्रमे गमनस्य शास्त्रे विधेर् दर्शनाद् उत्तराश्रमात् पूर्वाश्रमे प्रत्यवरोहस्य शास्त्रे विधेरदर्शनाद् आश्रमप्रत्यवरोहस्य आश्रमारोहतुल्यरूपत्वस्याऽभावात्, आश्रम-प्रत्यवरोहस्य शिष्टाचारेऽभावाच्च श्रुतिस्मृतिशिष्टाचारलङ्घनेन उत्तराश्रमात् पूर्वाश्रमं प्रत्यवरूढस्य पुरुषस्य चेतसोऽत्यन्तमेव कालुष्यात् तादृशेन पुरुषेण कृतं कर्म आत्म-ज्ञानसाधनम् आत्मज्ञानसहकारि च न भवतीति।

निर्णयः– प्रव्रज्याप्रत्यवसिताद्याश्रमप्रत्यवरूढपुरुषकर्म आत्मज्ञानसहकारि च नैव भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. कर्म प्रत्यवरूढस्याऽऽश्रमाल् लोके तु दृश्यते।
२. तत् कर्म चाऽऽत्मज्ञानस्य सहकारि भवेन् न वा ॥१॥
३. सहकारि भवेदस्य कर्माऽन्याश्रमिणो यथा।
४-५. नैव स्यात् सहकार्यस्य कर्म श्रुत्याद्यसम्मतेः ॥२॥

१४७.(११) आधिकारिकाधिकरणम् (सू. ४१-४२)

आश्रमभ्रष्टकर्मणां ब्रह्मविद्यासाधनत्वस्य विचारं प्रपञ्चयन्नाह—

४६६. न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ३।४।४१॥ इति।

"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" (अग्निपुराणे १६४।२३-२४) इति स्मृतेर् दर्शनाद् नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणोऽवकीर्णिभावं प्राप्तस्य प्रायश्चित्तरहितपतनस्य प्रतिपादिकायाः श्रुते-रनुमानात्, तादृशस्य पतितस्य च प्रायश्चित्तस्याऽयोगान् नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणो-ऽवकीर्णिनः खलु **"अथातोऽवकीर्णिप्रायश्चित्तम्, अमावास्यायाञ् चतुष्पथे गर्दभम् पशुमालभते, निर्ऋतिम् पाकयज्ञेन यजेत"** (पारस्करगृ.३।१२।१-३), **"यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात् सोऽवकीर्णी, स गर्दभं पशुमालभेत"** (बौधायनध. २।१।२९,३०), **"गर्दभेनाऽवकीर्णी निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत्"** (आपस्तम्बध.१।९।३।८), **"गर्दभेनाऽवकीर्णी निर्ऋतिं चतुष्पथे यजेत्"** (गौतमध.३।५।१७) इत्यादिना विहितं पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायामधिकारलक्षणे **"अवकीर्णिपशुश्च तद्वत्"** (जैमिनीयधर्ममी. ६।८।२१) इति निर्णीतमवकीर्णिप्रायश्चित्तमपि न भवतीत्यर्थः।

हिन्दी – आरूढपतित के प्रायश्चित्त का अभाव दिखाने वाली स्मृति से आरूढपतित का प्रायश्चित्तानर्हपतितत्व की प्रतिपादिका श्रुति का अनुमान होने से, उस प्रकार के पतित का प्रायश्चित्तयोग न होने से गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र-धर्ममीमांसासूत्रादि में प्रतिपादित उपाकुर्वाण ब्रह्मचारी के लिए विहित प्रायश्चित्त भी नैष्ठिक ब्रह्मचारिधर्म में आरूढ होकर पतित होनेवालों का तो नहीं होता है।

४६७. उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ३।४।४२॥

एके तु आचार्या महापातकेषु अपरिगणितत्वाद् गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणोऽवकीर्णित्वम् उपपातकं मन्यन्ते, उपाकुर्वाण-नैष्ठिकयोर् ब्रह्मचारिणोर् मधुमांसाद्यशने यथा समानशास्त्रात् समानं प्रायश्चित्तं तथैवाऽवकीर्णित्वेऽपि **"अथातोऽवकीर्णिप्प्रायश्चित्तम्"** (पारस्करगृ.३।१२।१) इत्यादिकात् समानशास्त्रात् समानस्य प्रायश्चित्तस्य भावमपि मन्यन्ते; तच्च मूलशास्त्रप्रसिद्धिबलीयस्त्वादुपपन्नतरं भवति, तद् धर्मे शास्त्रप्रसिद्धिबलीयस्त्वं च पूर्वतन्त्रे प्रमाणलक्षणे **"शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्"** (जैमिनीयधर्ममी.१।३।९) इति धर्मस्य शास्त्रमूलकत्वाद् धर्मे शास्त्रप्रसिद्धिरेव बलीयसीत्यभिधायोक्तमेवाऽस्तीत्यर्थः।

एवं वानप्रस्थ-सन्न्यासिनोरपि व्रतभङ्गे प्रायश्चित्तं **"वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्, भिक्षुर् वानप्रस्थवत् सोमवृद्धिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च"** इति वासिष्ठधर्मसूत्रवचनाद् (२१।३२।३३) अवगन्तव्यमिति शङ्करः।

हिन्दी – कोई आचार्य तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी का गुरुपत्नी से भिन्न अन्य स्त्री में अवकीर्णित्व महापातकों में अपरिगणित होने से उस को उपपातक मानते हैं, और जैसे मधु-मांसादि-भोजन में उपाकुर्वाण और नैष्ठिक दोनों प्रकार के ब्रह्मचारियों के लिए समानशास्त्र से समान ही प्रायश्चित्त का उपदेश है, वैसे ही अवकीर्णित्व में भी समानशास्त्र से समान ही प्रायश्चित्त का उपदेश भी मानते हैं, मूलशास्त्र की प्रसिद्धि ही बलीयसी होने से मूलशास्त्रानुकूल उन आचार्यों का मत युक्ततर भी है, धर्म में लोकप्रसिद्धि से शास्त्रप्रसिद्धि ही बलीयसी होने की बात पूर्वतन्त्र धर्ममीमांसा में भी "शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्" (१।३।९) इस सूत्र में कही ही गई है।

इसी प्रकार दीक्षाभेदी वानप्रस्थ और सन्न्यासियों का भी प्रायश्चित्त होने की बात वसिष्ठधर्मसूत्र के वचन के प्रमाण से शङ्कर ने दिखाई है।

अथाऽऽधिकारिकाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– अवकीर्णि-नैष्ठिकब्रह्मचारिकर्म।

विशयः– अवकीर्णि-नैष्ठिकब्रह्मचारिकर्म आत्मज्ञानस्य साधनं सहकारि च भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– अवकीर्णि-नैष्ठिकब्रह्मचारिणः **"आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्"** इत्यादेः स्मृतेर् दर्शनात् प्रायश्चित्तानर्हपतनस्य प्रतिपादिकायाः श्रुतेरनुमानात्, तादृशस्याऽवकीर्णिनो ब्रह्मचार्यधिकारस्थप्रायश्चित्तस्याऽप्यभावेन तस्य कर्मसु अधिकारस्यैवाऽभावात्, अनधिकारिणा कृतमकृतं भवतीति न्यायाद् अवैधरूपेण तेन कृतं कर्म आत्मज्ञानस्य साधनं सहकारि च न भवतीति।

उत्तरम्– नैष्ठिकब्रह्मचारिणोऽवकीर्णित्वस्य महापातकेष्वपरिगणितत्वात्, तस्य उपपातकत्वस्य तत्प्रायश्चित्तस्य च मूलशास्त्रतः प्राप्तत्वस्य च कैश्चिदाचार्यैरुच्यमानत्वाच्च अवकीर्णिनो नैष्ठिकब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तेन शुद्धस्य कर्मसु अधिकारात् तेन कृतं कर्म आत्मज्ञानस्य साधनं सहकारि च भवतीति।

निर्णयः– अवकीर्णिनोऽपि नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तेन शुद्धस्य कर्म आत्मज्ञानस्य साधनं सहकारि च भवत्येवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. दृश्यते कर्म शुद्धस्य नैष्ठिकस्याऽवकीर्णिनः।
२. भवेन् न वाऽऽत्मज्ञानस्य सहकारि तु कर्म तत्॥१॥
३. शुद्धेरभावात् तन् नैव सहकारीति के चन।
४-५. एकेषां तु मते शुद्धेर् भावात् तत् सहकार्यपि॥२॥

१४८.(१२) बहिरधिकरणम् (सू. ४३)

आश्रमभ्रष्टकर्मणां ब्रह्मविद्यासाधनताया विवेचनस्य प्रसङ्गे आश्रमभ्रष्टैः सह कृतानां कर्मणां ब्रह्मविद्यासाधनत्वं न वेति निरूपयितुमाह—

४६८. बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ३।४।४३॥ इति।

"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" (अग्निपुराणे १६४।२३-२४), **"आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच् च विनिस्सृतम्। उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्", "यश्च प्रव्रजिताज् जातः प्रव्रज्यावसितश्च यः। तावुभौ ब्रह्मचण्डालावाह वैवस्वतो यमः"** (यमवचनम्, पराशरमाधवीये आचारकाण्डे, पृ.६९५, द्र.- प्रायश्चित्तकाण्डे, पृ.२४८), **"ये च प्रव्रजितापत्या या चैषां बीजसन्ततिः। विदूरा नाम चण्डाला जायन्ते नाऽत्र संशयः"** (अत्रिस्मृतौ ८।८, अग्निपुराणे १६५।२४) इत्येवञ्जातीयाया निन्दातिशयस्मृतेः, ऊर्ध्वरेतसामवकीर्णिनाम्, प्रव्रजितानामाश्रमात् प्रत्यवरूढानां च बहिष्कारस्य शिष्टाचारप्राप्तत्वाच्च अवकीर्णित्वस्य आश्रमात् प्रत्यवरोहस्य च महापातकत्वे उपपातकत्वेऽपि चोभयथाऽपि कृतप्रायश्चित्ता अपि अवकीर्णिनो नैष्ठिकब्रह्मचारिण आश्रमात् प्रत्यवरूढाः प्रव्रजिताश्च शिष्टैर् यौन-स्रौव-मौखसम्बन्धवर्जनाद् बहिस्तु कर्तव्या एवेत्यर्थः।

तादृशैः पातकिभिः सह क्रियमाणमध्ययनाऽध्यापनयजनयाजनादिकं कर्म आत्मज्ञानसाधनम् आत्मज्ञानसहकारि च नैव भवतीति तात्पर्यम्।

हिन्दी– अवकीर्णित्व में प्राप्त नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का और सन्न्यासाश्रम से पुनः गृहस्थाश्रम में लौटे हुए सन्न्यासियों का अत्यन्त निन्दा करने वाली "आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्" इत्यादि स्मृतियों से तथा उन का बहिष्कार करने का अनादिपरम्पराऽऽगत शिष्टाचार देखे जाने से भी इस पातक को महापातक मानने पर और उपपातक मानने पर भी दोनों पक्षों में प्रायश्चित्त करने पर भी उन अवकीर्णी और आरूढपतितों का वेद-स्मृति-पुराण-व्यवस्थानुयायी सज्जनों को यौन-स्रौव-मौख सम्बन्धों के परिहार से बहिष्कार तो करना ही चाहिए।

इस प्रकार के पातकियों के साथ में किए गए अध्ययन-अध्यापन यजन-याजनादि कर्म आत्मज्ञान के साधन अथवा सहकारी नहीं होते हैं, यह तात्पर्य है।

अथ बहिरधिकरणस्वरूपम्

विषयः– कृतप्रायश्चित्तैरारूढपतितैः सह क्रियमाणम् अध्ययनाऽध्यापन-यजनयाजनादिकर्म।

विशयः– तादृशं कर्म आत्मज्ञानसहकारि भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– "एनस्विभिरनिर्णिक्तैर् नाऽर्थं कञ्चित् समाचरेत्। कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित्" (मनु.११।१८९) इति स्मृत्या कृतप्रायश्चित्तानां संव्यवहार्यतायाः प्रतिपादितत्वात् कृतप्रायश्चित्तैरारूढपतितैः सह क्रियमाणे अध्ययनाऽध्यापन-यजन-याजनादिके कर्मणि दोषस्याऽभावात् तादृशं कर्म आत्मज्ञानसहकारि भवेदिति।

उत्तरम्– आरूढपतितानां निन्दातिशयस्य प्रतिपादिकायाः स्मृतेर् दर्शनात्, तेभ्योऽध्ययनस्य तेषामध्यापनस्य तेषामार्त्विज्ये वरणस्य तेषां याजनस्य तैः सह यौनसम्बन्धस्य च शिष्टैः परिवर्ज्यमानत्वाच्च सर्वथा बहिष्कार्यैस्तैः सह क्रियमाणेऽध्ययनाध्यापनादिके कर्मणि चित्तकालुष्यातिशयजनकत्वस्य निश्चयात् तादृशं कर्म आत्मज्ञानस्य सहकारि न भवतीति।

निर्णयः– कृतप्रायश्चित्तैरपि आरूढपतितैः सह क्रियमाणमध्ययनाध्यापनयजनयाजनादि कर्म आत्मज्ञानस्य सहकारि नैव भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. पूतैरारूढपतितैः साकं कर्म कृतं क्व चित्।
२. आत्मज्ञानस्य तु भवेत् सहकार्यथवा न तत्।।१।।
३. पूतानामजुगुप्स्यत्वात् सहकारीति के चन।
४-५. निर्णिक्तानां च निन्द्यत्वान् न तथेति तु निर्णयः।।२।।

१४९.(१३) स्वाम्यधिकरणम् (सू. ४४-४६)

ऋत्विक्कर्तृकं यज्ञाङ्गाश्रितमुपासनं यजमाननिष्ठब्रह्मविद्यासाधनं भवति न वेति निरूपयितुमाह–

४६९. स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ३।४।४४॥ इति।

"वर्षति हाऽस्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते" (छा.२।३।२) इति उपासितुरेव फलप्राप्तेः श्रुतत्वाद् यज्ञफलस्य च स्वामिगामित्वाद् यज्ञाङ्गसामाद्याश्रितमुपासनं स्वामिनः कर्म, न ऋत्विज इत्यात्रेय आचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– आचार्य आत्रेय मानते हैं कि उपासक को ही फल प्राप्त होने की बात श्रुति से अवगत होने से यज्ञाङ्ग सामादि में आश्रित उपासना यज्ञस्वामी यजमान का ही कर्म है, ऋत्विक् का नहीं।

४७०. आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस् तस्मै हि परिक्रीयते ३।४।४५॥

यज्ञफलस्वामिनो यजमानस्य साङ्गाय कर्मणे ऋत्विग् दक्षिणया परिक्रीयते इति यज्ञाङ्गसामाद्याश्रितमुपासनम् ऋत्विक्कर्माऽस्ति न यजमानकर्मेति औडुलोमिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः। एष एव सिद्धान्तः। औडुलोमिग्रहणं पूजार्थम्।

हिन्दी– आचार्य औडुलोमि मानते हैं कि यज्ञ के फल का स्वामी यजमान के सभी यज्ञकर्मों को सम्पन्न करने के लिए ही ऋत्विक् दक्षिणा से परिक्रीत होता है, अतः यज्ञाङ्ग सामादि में आश्रित उपासन ऋत्विक् का ही काम है, यजमान का नहीं।

४७१. श्रुतेश्च ३।४।४६॥

"यावं वै काञ् च यजूंञ ऽऋत्त्विजऽआशिषमाशासते यजमानस्स्यैव सा" (मा.वा.शत.१।३।१।२६, १९।१।२१) इति ऋत्विक्कृतस्य सर्वस्यैव कर्मणः फलस्य यजमानगामितायाः श्रुतेश्च यजमानगामिफलकं यज्ञाङ्गसामाद्याश्रितमुपासनमपि ऋत्विक्कर्मैवेत्यर्थः।

ऋत्विक्कृतं यज्ञाङ्गसामाद्याश्रितमुपासनमपि यजमानस्य आत्मज्ञानस्य सहकारि भवतीति एतस्याऽधिकरणस्य तात्पर्यं प्रकरणबलाद् ज्ञेयम्।

हिन्दी– ऋत्विक् से किए गए सभी यज्ञकर्म के फलों का यजमानगामित्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से भी यज्ञाङ्ग सामादि में आश्रित उपासन भी ऋत्विक् का ही कर्म होने की बात अवगत होती है।

इस अधिकरण का तात्पर्य प्रकरण से यह अवगत होता है कि ऋत्विक् से किया जाने वाला यज्ञाङ्ग सामादि में आश्रित उपासन भी यजमान के आत्मज्ञान का सहकारी होता है।

अथ स्वाम्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ऋत्विक्कर्तृकं यज्ञाङ्गमाश्रितमुपासनम्।

विशयः– ऋत्विक्कर्तृकं यज्ञाङ्गमाश्रितमुपासनं यजमाननिष्ठात्मज्ञानसहकारि भवति न

पूर्वपक्षः– ऋत्विक्कर्तृकाणां यजमानद्रव्यनिर्वर्त्यानामन्येषां कर्मणां फलस्य यजमानगामितायाः सम्भवेऽपि ऋत्विक्कर्तृकस्य मानसस्य उपानसकर्मणो मानसैकाग्रतादिरूपस्य फलस्य यजमानगामिताया असम्भवाद् यज्ञाङ्गाश्रितस्योपासनस्य यजमानेनैव कर्तव्यत्वाद् ऋत्विक्कर्तृकं यज्ञाङ्गमाश्रितमुपासनं यजमाननिष्ठात्मज्ञानसहकारि न भवतीति।

उत्तरम्– यजमानेन याज्ञाय सर्वस्मै कर्मणे ऋत्विजः परिक्रीतत्वात्, ऋत्विजां सर्वेषां कर्मणां फलं यजमानगामि भवतीति श्रुतेः, ऋत्विक्कृतानामन्येषां कर्मणामिव यज्ञाङ्गाश्रितोपासनस्याऽपि यजमानमनसि प्रभावस्योपपद्यमानत्वाच्च ऋत्विक्कर्तृकं यज्ञाङ्गाश्रितमुपासनं यजमाननिष्ठात्मज्ञानसहकारि भवतीति।

निर्णयः– ऋत्विक्कर्तृकमपि यज्ञाङ्गाश्रितोपासनं यजमाननिष्ठात्मज्ञानसहकारि भवत्येवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतं यज्ञाङ्गाश्रितं हि ऋत्विक्कार्यमुपासनम्।
२. स्यान् न वा यजमानात्मज्ञानस्य सहकारि तत्॥१॥
३. उपासितर्येव फलमतो न सहकारि तत्।
४-५. परिक्रयादृत्विजस् तु सहकार्येव तत् स्मृतम्॥२॥

१५०.(१४) सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् (सू. ४७-४९)

ब्रह्मविद्यासहकारिनिरूपणप्रसङ्गे मौनस्य ब्रह्मविद्यासहकारित्वं प्रतिपादयितुमाह—

४७२. सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ३।४।४७॥ इति।

विध्यादिशब्दवाच्ये मुख्यविधौ अङ्गविधिरिव आत्मज्ञानप्रधाने प्रकरणे **"तस्मात्त् पण्डितः पाण्डित्त्यन् निर्व्विद्य बाल्ल्येन तिष्ठासेदद् बाल्ल्यञ् च पाण्डित्त्यञ् च निर्व्विद्याऽथ मुनिरमौनञ् च मौनञ् च निर्व्विद्याऽथ ब्राह्मणः"** (मा.वा.शत.१४।४।४।१, का.वा.बृह.३।५।१) इति वाक्येऽवगम्यमानः पाण्डित्यबाल्यापेक्षयाऽन्यस्य आत्मज्ञानसहकारिणो नियमविधिरूपो विधिः प्राकरणिकान् आत्मज्ञानवतः प्रति पूर्वसंस्कारप्रयुक्तभेददर्शनप्राबल्यात् पक्षेणाऽप्राप्तं पाण्डित्यबाल्यापेक्षया तृतीयं मौनं निदिध्यासनरूपं विधत्ते इत्यवगम्यते इत्यर्थः। तत्र **"तस्मात्त् पण्डितः"** इत्यादिकायाः श्रुतेरर्थस्तु– यस्मादात्मविदः सन्न्यस्य भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्मात् कृतश्रवण आत्मवित् पण्डितः श्रवणरूपं पाण्डित्यं नितरां

प्राप्य ज्ञानाऽध्ययन-धार्मिकत्वादि-प्रख्यापनरूप-दम्भदर्पादिरहितेन अप्ररूढेन्द्रिय-बालचित्ततुल्यसरलचित्तवत्त्वेनोपलक्षितस् तिष्ठासेत्, बाल्यं च पाण्डित्यं च नितरां प्राप्य अथ मुनिः सन् तिष्ठासेत्, मौनभिन्नं पाण्डित्यबाल्यद्वयं ज्ञानातिशयसम्पत्ति-रूपं निदिध्याशनशब्दवाच्यं मौनं च प्राप्य अथ ब्रह्माऽहमिति साक्षात्कारेण युक्तो ब्राह्मणो भवतीत्यवगन्तव्यः।

हिन्दी – विध्यादि शब्दवाच्य मुख्यविधि में अङ्गविधि की तरह "तस्म्मात्त् पण्डितः" इत्यादि श्रुतिवाक्य में अवगम्यमान पाण्डित्य और बाल्य से भिन्न आत्मज्ञानसहकारी का नियमविधिरूप विधि आत्मज्ञानवान् के लिए पूर्वसंस्कारप्रयुक्त भेदज्ञान के प्राबल्य से एक पक्ष में अप्राप्त श्रुत्युक्त तृतीय मौनशब्दवाच्य निदिध्यासन का विधान करता है, यह बात अवगत होती है।

४७३. कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः ३।४।४८॥

वाजसनेयके **"तस्म्मात्त् पण्डितः पाण्डित्यन् निर्व्विद्य बाल्ल्येन तिष्ठासेद्द् बाल्ल्यञ् च पाण्डित्यञ् च निर्व्विद्याऽथ मुनिरमौनञ् च मौनञ् च निर्व्विद्याऽथ ब्राह्मणः"** (मा.वा.शत.१४।६।४।१, का.वा.बृह.३।५।१) इति भिक्षु-विशेषधर्मसेवनेन ब्रह्मसंस्थतायाः प्राप्तेः उक्तत्वेऽपि गृहस्थधर्मे धर्मार्थकाममोक्ष-साधनभूतसर्वाङ्गपरिपूर्णतारूपस्य वैदिकधर्ममूलस्कन्धत्वरूपस्य च कृत्स्नभावस्य सत्त्वात् तत्राऽऽदरातिशयस्योचितत्वात् खलु छान्दोग्ये **"आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाऽभि समावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधी-यानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याऽहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयत् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तति न च पुनरावर्तति"** (८।१५।१) इति गृहिणा प्रतिपादितेन उपनिषद्ग्रन्थोपसंहारः कृतो वेदितव्यः। कृत्स्नशब्दः परिपूर्णतावाची **"व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्"** (निरुक्ते १।५।१), **"निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्"** (ऋग्वेदप्रातिशाख्ये १४।६८) इत्यादौ तथा प्रयोगात्। **"एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्"** (ब्र.मी.सू.२।२।३४) इत्यत्राऽपि सूत्र-कारेण व्यापकत्वमेव कार्त्स्न्यमित्याश्रित्य अकार्त्स्न्यमिति प्रयोगः कृतोऽस्तीति च न विस्मरणीयम्। शङ्करोऽपि तैत्तिरीयोपनिषद्व्याख्यायाम् (२।६) **"तद्ब्रह्म-प्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणं श्रद्दधानतया यथावत् प्रतिपद्यते"** इति वदन् सर्वस्यैव वर्णाश्रमधर्मस्य ब्रह्मात्मज्ञानसाधनत्वमपि प्रतिपादयत्येव।

हिन्दी – वाजसनेयिचरण में भिक्षुविशेषधर्मसेवन से ब्रह्मसंस्थता की प्राप्ति उक्त होनेपर भी गृहस्थधर्म में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-चतुष्टयरूप-पुरुषार्थसाधनभूत सर्वाङ्गपरिपूर्णतारूप और वैदिकधर्म-मूलस्कन्धत्वरूप कृत्स्नभाव वा परिपूर्णता होने से उस में आदरातिशय करना उचित होने से छान्दोग्योपनिषद् में गृहस्थ का प्रतिपादन करके ब्रह्मविद्याप्रकरण का अर्थात् उपनिषद् का उपसंहार किया गया है।

४७४. मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ३।४।४९॥

गृहस्थधर्मस्य कृत्स्नभावश्च यथा गृहस्थधर्मे **"आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य"** (छा.८।१५।१) इति मौनस्योपदेशः कृतस्तथैवाऽन्येषामपि स्वाध्याया-ध्ययनादिब्रह्मचारिविशेषधर्म-सर्वेन्द्रियसंयमादिवानप्रस्थविशेषधर्मा-ऽऽत्मदर्शनादिपरिव्राजकविशेषधर्माणां च गृहस्थधर्मान्तर्गतत्वेन प्रजननयजनादिभिर् गृहस्थविशेषधर्मैः सहोपदेशाद् गृहस्थधर्मेषु सर्वाश्रमाणां धर्माणामन्तर्भावादवगन्तव्य इत्यर्थः। वेदान्तसूत्रमुक्तावल्यनुकूलो ह्ययं सूत्रार्थः।

स्मृतिषु इतिहास-पुराणेषु च गृहस्थधर्मस्य कृत्स्नभावस्य महनीयत्वस्य, मोक्षफलकत्वस्य च प्रतिपादकानि वचनानि बहूनि दृश्यन्ते। तथा हि– **"ऐकाश्रम्यन् त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य"** इति गौतमधर्मसूत्रे (१।३।३५), **"अथाऽपि प्रजापतेर् वचनम्– त्रयीं विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम्। य एतानि कुर्वते तैरित् सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत् प्रशंसन्निति"** इति आपस्तम्बधर्मसूत्रे (२।९।८।४), बौधायनधर्मसूत्रे (२।११।३७) च; मनुस्मृतौ च–**"यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेन चाऽन्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही"** (३।७७,७८) इति, **"यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्"** (६।९०) इति, **"वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः। अन्तर्भवन्ति क्रमशस् तस्मिँस्तस्मिन् क्रियाविधौ"** (१२।८७) इति, **"वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते"** (१२।१०२) इति च। बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ च– **"स्वकर्मणामनुष्ठानात् सम्यगात्मनि दर्शनात्। वेदान्तानां परिज्ञानाद् गृहस्थोऽपि हि मुच्यते"** (११।४५) इति। याज्ञवल्क्यस्मृतौ च– **"न्यायागतधनस् तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः। श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते"** (३।२०५) इति। महाभारते च– **"अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे। विशेषणे गृहस्थस्य शेषास् त्रय इवाश्रमाः"** (आदि.१।७३, द्र.– आदि.२।३९०) इति, **"आश्रमाँस् तुलया सर्वान् धृतानाहुर् मनीषिणः। एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः"** (शान्ति.१२।१२) इति, **"एवं बहुविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः। त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः॥ यजन्तोऽहरहर् यज्ञैर् निराशीर्बन्धना बुधाः। तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम्॥ अपेतकामक्रोधानां दुश्चराचारकर्मणाम्। स्वकर्मभिः संशितानां प्रकृत्या संशितात्मनाम्॥ ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तताम्। सर्वमानन्त्यमेवाऽऽसीदिति नः शाश्वती श्रुतिः"** (शान्ति.२७०।१५-१९) इति च।

प्राप्य ज्ञानाऽध्ययन-धार्मिकत्वादि-प्रख्यापनरूप-दम्भदर्पादिरहितेन अप्ररूढेन्द्रिय-बालचित्ततुल्यसरलचित्तवत्त्वेनोपलक्षितस् तिष्ठासेत्, बाल्यं च पाण्डित्यं च नितरां प्राप्य अथ मुनिः सन् तिष्ठासेत्, मौनभिन्नं पाण्डित्यबाल्यद्वयं ज्ञानातिशयसम्पत्ति-रूपं निदिध्याशनशब्दवाच्यं मौनं च प्राप्य अथ ब्रह्माऽहमिति साक्षात्कारेण युक्तो ब्राह्मणो भवतीत्यवगन्तव्यः।

हिन्दी – विध्यादि शब्दवाच्य मुख्यविधि में अङ्गविधि की तरह "तस्मात्त् पण्डितः" इत्यादि श्रुतिवाक्य में अवगम्यमान पाण्डित्य और बाल्य से भिन्न आत्मज्ञानसहकारी का नियमविधिरूप विधि आत्मज्ञानवान् के लिए पूर्वसंस्कारप्रयुक्त भेदज्ञान के प्राबल्य से एक पक्ष में अप्राप्त श्रुत्युक्त तृतीय मौनशब्दवाच्य निदिध्यासन का विधान करता है, यह बात अवगत होती है।

४७३. कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः ३।४।४८॥

वाजसनेयके **"तस्मात्त् पण्डितः पाण्डित्यन् निर्व्विद्द्य बाल्ल्येन तिष्ठासेद्द् बाल्ल्यञ् च पाण्डित्त्यञ् च निर्व्विद्द्याऽथ मुनिरमौनञ् च मौनञ् च निर्व्विद्द्याऽथ ब्ब्राह्मणः"** (मा.वा.शत.१४।६।४।१, का.वा.बृह.३।५।१) इति भिक्षु-विशेषधर्मसेवनेन ब्रह्मसंस्थतायाः प्राप्तेः उक्तत्वेऽपि गृहस्थधर्मे धर्मार्थकाममोक्ष-साधनभूतसर्वाङ्गपरिपूर्णतारूपस्य वैदिकधर्ममूलस्कन्धत्वरूपस्य च कृत्स्नभावस्य सत्त्वात् तत्राऽऽदरातिशयस्योचितत्वात् खलु छान्दोग्ये **"आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाऽभि समावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याऽहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयत् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते"** (८।१५।१) इति गृहिणा प्रतिपादितेन उपनिषद्ग्रन्थोपसंहारः कृतो वेदितव्यः। कृत्स्नशब्दः परिपूर्णतावाची **"व्याकरणस्य कात्स्न्यम्"** (निरुक्ते १।५।१), **"निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्"** (ऋग्वेदप्रातिशाख्ये १४।६८) इत्यादौ तथा प्रयोगात्। **"एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्"** (ब्र.मी.सू.२।२।३४) इत्यत्राऽपि सूत्र-कारेण व्यापकत्वमेव कार्त्स्न्यमित्याश्रित्य अकार्त्स्न्यमिति प्रयोगः कृतोऽस्तीति च न विस्मरणीयम्। शङ्करोऽपि तैत्तिरीयोपनिषद्व्याख्यायाम् (२।६) **"तद्ब्रह्म-प्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणं श्रद्दधानतया यथावत् प्रतिपद्यते"** इति वदन् सर्वस्यैव वर्णाश्रमधर्मस्य ब्रह्मात्मज्ञानसाधनत्वमपि प्रतिपादयत्येव।

हिन्दी – वाजसनेयिचरण में भिक्षुविशेषधर्मसेवन से ब्रह्मसंस्थता की प्राप्ति उक्त होनेपर भी गृहस्थधर्म में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-चतुष्टयरूप-पुरुषार्थसाधनभूत सर्वाङ्गपरिपूर्णतारूप और वैदिकधर्म-मूलस्कन्धत्वरूप कृत्स्नभाव वा परिपूर्णता होने से उस में आदरातिशय करना उचित होने से छान्दोग्योपनिषद् में गृहस्थ का प्रतिपादन करके ब्रह्मविद्याप्रकरण का अर्थात् उपनिषद् का उपसंहार किया गया है।

४७४. मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ३।४।४९॥

गृहस्थधर्मस्य कृत्स्नभावश्च यथा गृहस्थधर्मे **"आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य"** (छा.८।१५।१) इति मौनस्योपदेशः कृतस्तथैवाऽन्येषामपि स्वाध्याया-ध्ययनादिब्रह्मचारिविशेषधर्म-सर्वेन्द्रियसंयमादिवानप्रस्थविशेषधर्मा-ऽऽत्मदर्श-नादिपरिव्राजकविशेषधर्माणां च गृहस्थधर्मान्तर्गतत्वेन प्रजननयजनादिभिर् गृहस्थ-विशेषधर्मैः सहोपदेशाद् गृहस्थधर्मेषु सर्वाश्रमाणां धर्माणामन्तर्भावादवगन्तव्य इत्यर्थः। वेदान्तसूत्रमुक्तावल्यनुकूलो ह्ययं सूत्रार्थः।

स्मृतिषु इतिहास-पुराणेषु च गृहस्थधर्मस्य कृत्स्नभावस्य महनीयत्वस्य, मोक्षफलकत्वस्य च प्रतिपादकानि वचनानि बहूनि दृश्यन्ते। तथा हि– **"ऐका-श्रम्यन् त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य"** इति गौतमधर्मसूत्रे (१।३।३५), **"अथाऽपि प्रजापतेर् वचनम्– त्रयीं विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनु-प्रदानम्। य एतानि कुर्वते तैरित् सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत् प्रशंसन्निति"** इति आपस्तम्बधर्मसूत्रे (२।९।८।४), बौधायनधर्मसूत्रे (२।११।३७) च; मनुस्मृतौ च–**"यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेन चाऽन्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही"** (३।७७,७८) इति, **"यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्"** (६।९०) इति, **"वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः। अन्तर्भवन्ति क्रमशस् तस्मिँस्तस्मिन् क्रियाविधौ"** (१२।८७) इति, **"वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते"** (१२।१०२) इति च। बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ च– **"स्वकर्म-णामनुष्ठानात् सम्यगात्मनि दर्शनात्। वेदान्तानां परिज्ञानाद् गृहस्थोऽपि हि मुच्यते"** (११।४५) इति। याज्ञवल्क्यस्मृतौ च– **"न्यायागतधनस् तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः। श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते"** (३।२०५) इति। महाभारते च– **"अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे। विशेषणे गृहस्थस्य शेषास् त्रय इवाश्रमाः"** (आदि.१।७३, द्र.– आदि.२।३९०) इति, **"आश्रमाँस् तुलया सर्वान् धृतानाहुर् मनीषिणः। एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः"** (शान्ति.१२।१२) इति, **"एवं बहुविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः। त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः॥ यजन्तोऽहरहर् यज्ञैर् निराशीर्बन्धना बुधाः। तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम्॥ अपेतकामक्रोधानां दुश्चराचारकर्मणाम्। स्वकर्मभिः संशितानां प्रकृत्या संशितात्मनाम्॥ ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तताम्। सर्वमानन्त्यमेवाऽऽसीदिति नः शाश्वती श्रुतिः"** (शान्ति.२७०।१५-१९) इति च।

देवीभागवते च– **"गृहाश्रमात् परो धर्मो न दृष्टो न च वै श्रुतः। वसिष्ठादिभिराचार्यैर् ज्ञानिभिः समुपाश्रितः"** (१।१४।६०) इति।

हिन्दी – गृहस्थ धर्म में "आत्मनि सर्वेन्द्रयाणि सम्प्रतिष्ठाप्य" इस वाक्यांश से जैसे मुनि-भाव का उपदेश किया गया है वैसे ही और भी स्वाध्यायाध्ययनादि ब्रह्मचर्याश्रमविशेषधर्म का, सर्वेन्द्रियसंयमादि वानप्रस्थविशेषधर्म का, आत्मदर्शनादि परिव्राजकविशेषधर्म का भी गृहस्थधर्म में अन्तर्भूत कर के गृहस्थ के विशेषधर्म प्रजननादि के साथ में उपदेश किए जाने से गृहस्थधर्म का कृत्स्नभाव (सर्वाङ्गपरिपूर्णत्व वा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-सर्वपुरुषार्थसाधनत्व) अवगत होता है।

अथ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "बाल्ल्यञ्च च पाण्डित्त्यञ्च च निर्व्विद्द्याऽथ मुनिः" इति श्रुतिवाक्यम्।

विशयः– एतद् वाक्यं सहकारि मौनं विधत्ते न वेति।

पूर्वपक्षः– प्रागेव प्राप्तत्वाद् ब्राह्मणत्वस्य विधानस्याऽभावाच्च यथा **"अथ ब्राह्मणः"** इति प्रशंसावादमात्रं तथैव **"अथ मुनिः"** इत्यत्र विधायिकाया विभक्तेरभावात्, मौनस्य पाण्डित्यविधानेनैव प्रागेव प्राप्तत्वाद् **"अथ मुनिः"** इति वाक्यं प्रशंसावादमात्रमिति एतद् वाक्यं सहकारि मौनं न विधत्ते इति।

उत्तरम्– एकं ब्रह्मसाक्षात्काररूपमात्मज्ञानफलमुद्दिश्याऽनेकसाधनविधानस्य प्रतीयमानत्वाद् **"अथ मुनिः"** इति वाक्येऽपि **"तिष्ठासेद्"** इत्यस्याऽनुषङ्गस्योचितत्वाद् विधिविभक्तेरपि तत्र सत्त्वस्य वक्तुं शक्यत्वाद्, ज्ञानातिशयरूपस्य निदिध्यासनापरपर्यायस्य मौनस्य सामान्यज्ञानमात्ररूपस्य पाण्डित्यस्य विधानेनाऽप्राप्तत्वात्, दर्शपूर्णमासविध्यादिषु प्रधानविधिषु प्रयाजाद्यङ्गविधिवद् आत्मज्ञानपरे श्रुतिवचने वाक्यभेदेन मौनविधेरुचितत्वाद् **"अथ मुनिः"** इति वाक्यं पूर्वसंस्कारप्रयुक्तभेददर्शनप्राबल्यात् पक्षेणाऽप्राप्तं श्रुतौ तृतीयसहकारित्वेन श्रुतं निदिध्यासनापरपर्यायं मौनं विधत्ते इति।

निर्णयः– "बाल्ल्यञ्च च पाण्डित्त्यञ्च च निर्व्विद्द्याऽथ मुनिः" इति वाक्यम् आत्मज्ञानस्य तृतीयं सहकारि निदिध्यासनापरपर्यायं मौनं विधत्ते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. वाक्यं श्रुतं ह्यथ मुनिरिति वाजसनेयके।
२. तद् विधत्ते न वा मौनं सहकारीति संशयः॥१॥
३. न विधत्ते तत्र विधिविभक्तेरश्रुतेः किल।
४-५. अनुषङ्गविशेषात् तु विधत्ते हीति निर्णयः॥२॥

१५१.(१५) अनाविष्काराधिकरणम् (सू. ५०)

विद्यासहकारिमौननिरूपणप्रसङ्गेन समानश्रुतौ श्रुतस्य विद्यासहकारिणो बाल्यस्य निरूपणायाऽऽह–

४७५. अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ३।४।५०॥ इति।

"बाल्ल्येन तिष्ठासेत्" (मा.वा.शत.१४।६।४।१, का.वा.बृह.३।५।१) इत्यत्र बाल्येनोपलक्षित इति ज्ञाना-ऽध्ययन-शास्त्रव्याख्यातृत्व-विद्याधर्मदर्शनसदाचार-प्रचारकत्व-धर्मसंस्थापकत्वादिभिरात्मानं लोकस्याऽग्रेऽप्रकटयन् दम्भदर्पादिरहित उच्यते इति स्वीकृते एव निरन्तरज्ञानाभ्यासविधानरूपेण प्रधानेन वाक्यार्थेनाऽस्य वाक्यस्याऽर्थस्य प्रधानोपकारितया सम्यगन्वयस्य उपपद्यमानत्वाद् **बाल्येनोपलक्षित** इत्यस्य ज्ञाना-ऽध्ययन-शास्त्रव्याख्यातृत्व-विद्याधर्मदर्शनसदाचारप्रचारकत्व-धर्मसंस्थापकत्वादिभिरात्मानं लोकस्याऽग्रेऽप्रकटयन् सरलो विशुद्धभावोऽप्ररूढे-न्द्रियो बाल इव दम्भदर्पादिरहित इत्यर्थोऽवगन्तव्य इत्यर्थः। एवं च उक्तविधो दम्भदर्पादिरहितः स्थातुमिच्छेत् इति श्रुतिवाक्यार्थः। **"यं न सन्तं न चाऽसन्तं नाऽश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः"** (वासिष्ठध.६।४४), **"अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः"** (वासिष्ठध.१०।१८), **"गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्। अन्धवज् जडवच्चाऽपि मूकवच्च महीं चरेत्"** इत्यादिकानि स्मृतिकार-वचनानि चाऽत्राऽनुकूलान्यवगन्तव्यानि।

अथाऽनाविष्काराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "बाल्ल्येन तिष्ठासेत्" इति श्रुतावनुष्ठेयत्वेन श्रुतं बाल्यम्।

विशयः– तत्र बाल्यं कामचारवादभक्षत्वादिकम् अथवा दम्भदर्पादिरहितविशुद्धचित्त-त्वमिति।

पूर्वपक्षः– प्रसिद्धत्वात् कामचारवादभक्षत्वादिकमेवाऽत्र बाल्यं विहितं भवितुमर्हतीति।

उत्तरम्– ज्ञानाध्ययनशास्त्रव्याख्यातृत्व-विद्याधर्मदर्शनसदाचारप्रचारकत्व-धर्मसंस्थापक-त्वादिभिरात्मनो लोकस्याऽग्रेऽप्रकटनस्य दम्भदर्पादिरहितविशुद्धचित्तत्वस्य च आत्म-ज्ञाननैरन्तर्यातिशयरूपप्रधानोपकारितयाऽन्वयस्यौचित्यात् तादृशमेव बाल्यमनुष्ठेयतया-ऽत्र विहितमिति।

निर्णयः– दम्भदर्पादिरहितविशुद्धचित्तत्वरूपं बाल्यमेवाऽत्राऽनुष्ठेयतया विहितमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतिर् बाल्येन तिष्ठासेदिति वाजसनेयिनाम्।
२. तत्र बाल्यङ् कामचारः शुद्धचित्तत्त्वमेव वा॥१॥
३. प्रसिद्धेः कामचारो हि बाल्यं स्यादिति के चन।
४-५. शुद्धचित्तत्वं हि बाल्ल्यमन्वयादिति निर्णयः॥२॥

१५२.(१६) ऐहिकाधिकरणम् (सू. ५१)

ब्रह्मविद्यासाधनविवेचने कृते ब्रह्मविद्योत्पत्तिकालं निरूपयति—

४७६. ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ३।४।५१॥ इति।

श्रवणादिना जननीयस्याऽऽत्मदर्शनरूपस्याऽऽत्मज्ञानस्य श्रवणादियुते जन्मनि एव जन्मनः **"तद् धाऽस्य विजज्ञौ"** (छा.६।१६।३) इत्यादौ दर्शनाद् असति प्रस्तुतेन फलं ददता प्रारब्धकर्मणा कृते आत्मदर्शनप्रतिबन्धे श्रवणादिना साधनेन जननीयमात्मदर्शनरूपमात्मज्ञानम् ऐहिकमपि भवति; **"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयमिति** (ऋ.४।२७।१) **गर्भ एवैतच् छ्यानो वामदेव एवमुवाच"** (ऐ.२।५) इत्यत्र श्रुतौ, **"अनेकजन्मसंसिद्धस् ततो याति परां गतिम्"** (गीता.६।४३) इत्यादिकासु स्मृतिषु च जन्मान्तरकृतश्रवणादिना जन्मान्तरे आत्मज्ञानस्य जन्मनो वर्णिततताया दर्शनात् प्रस्तुतेन फलं ददता प्रारब्धकर्मणा कृते आत्मदर्शनप्रतिबन्धे वर्तमाने सति तु ऐहलौकिकेन श्रवणादिना साधनेन जननीयमात्मदर्शनरूपमात्मज्ञानं पारलौकिकमपि भवतीति चाऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– श्रवणादि से श्रवणादियुत जन्म में ही आत्मज्ञान होने का उल्लेख श्रुति में (छा.६।१६।३) देखे जाने से फल देने के लिए प्रस्तुत (प्रारब्ध) कर्म से प्रतिबन्ध न होनेपर इस जन्म में किए गए श्रवणादि से इसी जन्म में भी आत्मदर्शनरूप आत्मज्ञान होता है, यह बात अवगत होती है; श्रुति-स्मृति में पूर्वजन्म में अनुष्ठित श्रवणादि से उत्तरजन्म में आत्मज्ञान होने का सङ्केत वा उल्लेख भी देखे जाने से (ऋ.४।२७।१, ऐ.२।५, गीता.६।४३) इस जन्म में किए गए श्रवणादि से इसी जन्म में आत्मदर्शनरूप आत्मज्ञान होने में फलदान के लिए प्रस्तुत (प्रारब्ध) कर्म से प्रतिबन्ध होनेपर उत्तरजन्म में आत्मदर्शनरूप आत्मज्ञान हो सकने की बात भी अवगत होती है।

अथैहिकाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– श्रवणादिभिः साध्यमात्मज्ञानजन्म।

विशयः– श्रवणादिभिः साध्यमात्मज्ञानजन्म ऐहिकमेव भवति वा पारलौकिकमपि भवतीति।

पूर्वपक्षः– इहैव जन्मनि आत्मज्ञानं भवतु इति श्रवणादिषु प्रवृत्तेर् दर्शनाद् ऐहिकमेव आत्मज्ञानजन्म भवेदिति।

उत्तरम्– "तद् धाऽस्य विजज्ञौ" इत्यादौ श्रवणादियुते जन्मन्येव आत्मज्ञानजन्मनो दर्शनात्, असति आत्मज्ञानजन्मप्रतिबन्धे श्रवणादिसाधनाद् ऐहिकमेवात्मज्ञानजन्म भवतीत्यवगन्तव्यम्; आत्मज्ञानजन्मप्रतिबन्धे वर्तमाने तु प्रतिबन्धापगमे पारलौकिकमपि आत्मज्ञानजन्म भवतीति च तदनुकूलश्रुतिस्मृतिदर्शनात् प्रारब्धप्राबल्याच्चाऽवगन्तव्यमिति।

निर्णयः– श्रवणादिसाधनाद् असति प्रतिबन्धे ऐहिकमेव सति तु प्रतिबन्धे पारलौकिकमपि आत्मज्ञानं भवतीत्यवगन्तव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतावात्मज्ञानजन्म श्रूयते श्रवणादिजम्।
२. तत् स्यादैहिकमेवाऽथो पारलौकिकमेव वा॥१॥
३. ज्ञानं मे स्यादिहैवेति श्रवणादैहिकं भवेत्।
४-५. ऐहिकं स्यादप्रत्यूहे प्रत्यूहे पारलौकिकम्॥२॥

१५३.(१७) मुक्तिफलानियमाधिकरणम् (सू. ५२)

ब्रह्मविद्योत्पत्तिकाले प्रतिपादिते ब्रह्मविद्याफलप्राप्तिकालं निरूपयति—

४७७. एवं मुक्तिफलाऽनियमस् तदवस्थावधृतेस् तदवस्थावधृतेः ३।४।५२॥ इति।

"तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्त्वमनुपश्श्यतः" (मा.वा.शु.य.वे.म.सं. ४०।७, का.ईशा.७), **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"** (तै.उ.२।१।१), **"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"** (श्वेता.२।१५, ४।१६), **"तरति शोकमात्मवित्"** (छा.७।१।३), **"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"** (मुण्डको.३।२।९) इत्यादिभिर् वचनैः श्रुत्या आत्मज्ञानोदये अविद्यानिवृत्ति-स्वस्वरूपपरमानन्दावाप्तिरूप-मुक्तेरवस्थाया अवधारितत्वाद् आत्मज्ञानस्य जन्मनि प्रतिबन्धाऽप्रतिबन्धकृतनियम इव आत्मज्ञानफलस्य मुक्तिरूपस्य प्राप्तौ प्रतिबन्धाऽप्रतिबन्धादिकृतः कोऽपि नियमो न भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः। निर्विशेषब्रह्मात्मसाक्षात्कारो यदा भवति तदैव मुक्तिर् भवत्येव, न तत्र कोऽपि प्रतिबन्धो भवतीत्यवगम्यते इति निष्कृष्टोऽर्थः। एषोऽर्थः वेदान्तसूत्रमुक्तावलि-रत्नप्रभाद्यनुकूलः। भाष्ये तु मुक्तौ उत्कर्षापकर्षकृतफलभेदनियमाऽभावोऽनेन सूत्रेणोक्त इत्युक्तम्। तथापि सोऽर्थस्तु **"सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्"** (४।४।१) इत्यादिना फलाध्याये एव निर्णेष्यते इति चिन्त्य एव भाष्योक्तोऽर्थः। यथा ज्ञानोत्पत्तौ नियम एवं मुक्तिफले नियमो न इति सूत्रस्य सङ्क्षिप्तः सरलोऽर्थो ज्ञेयः। सूत्रान्त्यपदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिसूचकः।

हिन्दी – श्रुतिवाक्यों से आत्मज्ञान से निश्चित रूप में मुक्तिफल मिलने की बात उपदिष्ट होने से मुक्तिफलप्राप्ति में प्रतिबन्ध वा अप्रतिबन्ध का कोई नियम नहीं होता है। आत्मज्ञान होनेपर तत्काल मुक्ति होती ही है, यह बात अवगत होती है।

अथ मुक्तिफलानियमाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– आत्मज्ञानफलं मुक्तिः।

विशयः– आत्मज्ञानोदये सति मुक्तिः कालान्तरे भवति उत तत्काले इति।

पूर्वपक्षः– आत्मज्ञानसाधनाद् आत्मज्ञानस्योदये यथा प्रतिबन्धे सति विलम्बोऽपि भवेत् तथैवाऽऽत्मज्ञानोदयाद् मुक्तिफलस्य लाभेऽपि केनापि कारणेन विलम्बोऽपि भवेदिति।

उत्तरम्– **"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"** इत्यादिभिः श्रुतिवचनैरात्मज्ञानोदये अविद्यानिवृत्तिस्वस्वरूपपरमानन्दावाप्तिरूपमुक्तेरवस्थाया अवधारितत्वात्, सामग्रीसङ्घटनविलम्बवशाद् दीपोत्पत्तौ विलम्बेऽपि उत्पन्ने तु दीपे तमोनिवृत्तौ विलम्बस्याऽदर्शनाच्च आत्मज्ञानोदये पुरुषः स्वतस्सिद्ध-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वप्रकाशाऽद्वैत-ब्रह्मानन्दात्मनाऽवतिष्ठते इति आत्मज्ञानोदयाद् मुक्तिफललाभे कोऽपि विलम्बो न भवति, आत्मज्ञानसमकालमेव मुक्तिफललाभो भवतीति।

निर्णयः– आत्मज्ञानसाधनाद् आत्मज्ञानोदये इव आत्मज्ञानोदयाद् मुक्तिफललाभे प्रतिबन्धसत्त्वासत्त्वादिकृतः कोऽपि नियमो न भवति, आत्मज्ञानसमकालमेव मुक्तिफललाभो भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. आत्मज्ञानान् मुक्तिरिति बहुशः श्रुतिषु श्रुतम्।
२. तत्र मुक्तौ विलम्बादिनियमस्तु भवेन् न वा ॥१॥
३. आत्मज्ञानोदय इव भवेत् स इति के चन।
४-५. ज्ञाने सद्यो मुक्तिरिति न स्यात् स इति निर्णयः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ तृतीये मोक्षसाधन-निरूपणपरेऽध्याये चतुर्थः
फलवन्निर्गुणब्रह्मविद्यातत्साधनविचारपरः
पादः समाप्तः॥

॥ समाप्तश्चाऽयं साधनाध्यायस्तृतीयः॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(फलाऽध्यायः)

तत्र प्रथमः पादः

(साधनशेष-सगुणनिर्गुणब्रह्मविद्याफलरूप-जीवन्मुक्ति-निरूपणपरः)

१५४.(१) आवृत्त्यधिकरणम् (सू. १-२)

चतुर्थेऽध्याये जीवतो मुक्तिम्, उत्क्रान्तिम्, देवयानमार्गम्, ब्रह्मभाव-ब्रह्मलोकौ च क्रमेण पादैः प्रतिपादयिष्यन् प्रथमं साधनविशेषविचारं तृतीयाध्याय-शेषं प्रस्तौति—

४७८. आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ४।१।१॥ इति।

"आत्तँमा वाऽअरे द्द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिद्ध्यासितव्यः" (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६; का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६) इत्यत्र दर्शनार्थं श्रुतस्यैव मननस्य, श्रुतस्य मतस्य चैव निदिध्यासनस्योपदेशेनाऽसकृदुपदेशाद् आत्मदर्शनार्थं श्रवणादीनाम् आ दर्शनादावृत्तिः कर्तव्येत्यवगम्यते इत्यर्थः। अथवा छान्दोग्योपनिषदि **"तत् त्वमसि"** इत्यस्य असकृद् उपदेशात् (६।८।७, ६।९।४, ६।१०।३, ६।११।३, ६।१२।३, ६।१३।३, ६।१४।३, ६।१५।३, ६।१६।३) श्रवणादीनामात्म-ज्ञानपर्यन्तमावृत्तिः कर्तव्येत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में आत्मज्ञान वारवार उपदिष्ट होने से श्रवण-मनन-निदिध्यासन की वारवार आवृत्ति करनी चाहिए।

४७९. लिङ्गाच्च ४।१।२॥

उद्गीथप्रत्ययावृत्तिं सिद्धामिव कृत्वा **"रश्मींस् त्वं पर्यावर्तयात्"** (छा. १।५।२) इत्यत्र उद्गीथप्रत्ययप्रकरणे रश्मिप्रत्ययस्याऽऽवर्तनस्योपदेशाल् लिङ्गाद् उद्गीथप्रत्यये इव अन्येषु सर्वेषु प्रत्ययेषु च आवृत्तेः करणीयताया अवगम्यमान-त्वात्, श्रवणादीनामात्मदर्शनपर्यन्तमावृत्तौ कृतायामेव आत्मदर्शनरूपस्य फलस्य सम्भवाच्च श्रवणादीनामप्यात्मदर्शनपर्यन्तमावृत्तिः कर्तव्येत्यर्थः।

हिन्दी – छान्दोग्योपनिषद् में (१।५।२) आदित्य में उद्गीथबुद्धि की आवृत्ति को सिद्ध मान कर रश्मिबुद्धि की आवृत्ति उपदिष्ट होने के लिङ्ग से भी अन्य सभी प्रत्ययों में भी आवृत्ति की करणीयता अवगत होने से और श्रवणादि की आत्मदर्शन होने तक आवृत्ति करनेपर ही आत्मदर्शन सम्भव होने से श्रवणादि की भी आवृत्ति करनी चाहिए।

अथाऽऽवृत्त्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "आत्तँमा वाऽअरे द्द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिद्ध्यासितव्यः" इत्यादौ विहिताः श्रवणादयः।

विशयः– श्रवणादीनामावृत्तिः कर्तव्या न वेति।

पूर्वपक्षः– सकृत्करणेनैव शास्त्रार्थस्य कृतत्वात् श्रवणादीनामावृत्तिर् न कार्येति।

उत्तरम्– श्रुतस्यैव मननस्य, श्रुतस्य मतस्य चैव निदिध्यासनस्योपदेशेनाऽसकृदुपदेशात्, तत् त्वमसीत्यस्य चाऽसकृदुपदेशात्, **"रश्मींस् त्वं पर्यावर्तयात्"** (छा.१।५।२) इत्यत्राऽऽवर्तनस्योपदेशाल् लिङ्गात् सर्वेषु प्रत्ययेषु आवृत्तेः करणीयतायाः प्रतीतेः, श्रवणादीनामात्मदर्शनादिपर्यन्तमावृत्तावेव आत्मदर्शनादिरूपस्य फलस्य सम्भवाच्च श्रवणादीनामात्मदर्शनादिपर्यन्तमावृत्तिः कर्तव्येति।

निर्णयः– श्रवणादीनामात्मदर्शनादिपर्यन्तमावृत्तिः कर्तव्येति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रवणाद्याः श्रुता वेदे ह्यात्मज्ञानादिहेतवः।
२. आवृत्तिः स्यान् न वा तेषामित्ययं खलु संशयः ॥१॥
३. नाऽऽवृत्तिः स्यात् कृतार्थत्वाच् शास्त्रस्य हि सकृत्कृतौ।
४-५. श्रुतेर् लिङ्गात् तथा युक्तेरावृत्तिर् हीति निर्णयः ॥२॥

१५५.(२) आत्मत्वोपासनाधिकरणम् (सू. ३)

श्रवणाद्यावृत्ति-प्रतिपादनप्रसङ्गे निदिध्यासनाऽऽवृत्तिकाले परमात्मध्यानप्रकारं प्रतिपादयति–

४८०. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ४।१।३॥ इति।

"सोऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।१७), **"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"** (का.वा.ईशा.१६), **"अहम् ब्रह्माऽस्मि"** (मा.वा.शत. १४।४।२।२१, २२; का.वा.बृह.१।४।१०), **"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते"** (वराहो. २।३४), **"योऽसौ सोऽहम्"** (ऐ.आ.२।२।४।६) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्यो ज्ञानिनः परमात्मानमात्मत्वेन जानन्ति, व्यवहरन्ति चेत्यवगम्यते, **"अयमात्त्ँमा ब्ब्रह्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत.१४।५।५।१९, का.वा.बृह.२।५।१९), **"एष तऽआत्त्ँमा सर्व्वान्तरः"** (मा.वा.शत.१४।६।४।१, का.वा.बृह.३।४।१), **"एष तऽआत्त्ँमाऽन्तर्य्याम्यमृतः"** (मा.वा.शत.१४।६।७।७, का.वा.बृह.३।७।३), **"स वाऽएष महानजऽआत्त्ँमाऽजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्ब्रह्म"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३१, का.वा.बृह. ४।४।२५), **"तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७), **"अयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्यो ज्ञानिनः परमात्मानमात्मत्वेन शिष्यान्

ग्राहयन्ति चेत्यवगम्यते, तस्मात् "आत्तँमा वाऽअरे द्द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिद्ध्यासितव्यः" (मा.वा.शत.१४।५।४।५, १४।७।३।६; का.वा.बृह.२।४।५, ४।५।६) इत्यादौ विहिते निदिध्यासने परमात्मा आत्मेत्येव तु ध्यातव्य इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – ज्ञानीलोग परमात्मा को आत्मा के रूप में जानते हैं और शिष्यों को भी समझाते हैं, यह बात श्रुतिवचनों से अवगत होती है; अतः "आत्तँमा वाऽअरे द्द्रष्टव्यः" इत्यादि वचन में विहित निदिध्यासन में परमात्मा का आत्मा के रूप में ही ध्यान करना चाहिए।

अथाऽऽत्मत्वोपासनाधिकरणस्वरूम्

विषयः – निदिध्यासने ध्यातव्यः परमात्मा।

विशयः – निदिध्यासने ध्यातव्यः परमात्मा आत्मत्वेन ध्यातव्य उत परमात्मत्वेनेति।

पूर्वपक्षः – अपहतपाप्मत्वादिगुणकस्य परमात्मनस् तद्विपरीतगुणकशारीरात्मत्वेन ग्रहीतुमयोग्यत्वात् स परमात्मत्वेन स्वामित्वेन ध्यातव्य इति।

उत्तरम् – श्रुतौ ज्ञानिनां परमात्मानमात्मत्वेनोपगच्छताम्, शिष्यानपि परमात्मानमात्मत्वेनैवोपदिशतां च वर्णितत्वात्, परमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिगुणकत्वेऽपि शारीरस्यात्मनस् तद्विपरीतगुणताया मिथ्यात्वेन तयोरैक्यस्योपपन्नत्वाच्च निदिध्यासने परमात्मा आत्मत्वेन ध्यातव्य इति।

निर्णयः – निदिध्यासने परमात्मा आत्मत्वेनैव ध्यातव्य इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतौ निदिध्यासितव्यः परमात्मा खलु श्रुतः।
२. स्वामीति ह्यथवाऽऽत्मेति स ग्राह्य इति संशयः॥१॥
३. ग्राह्यः स्वामीति हि पृथग्गुणैक्यासम्भवात् किल।
४-५. श्रुतेरात्मेति हि ग्राह्यो गुणमिथ्यात्वतश्च सः॥२॥

१५६.(३) प्रतीकाधिकरणम् (सू. ४)

यथा ब्रह्मणः स्वाऽभिन्नत्वात् स्वात्मत्वेन ध्यानं तथैव प्रतीकस्याऽपि ब्रह्मविकारत्वेन स्वाऽभिन्नब्रह्माऽभिन्नत्वात् स्वात्मत्वेनैव ध्यानं कार्यं स्यादित्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह—

४८१. न प्रतीके न हि सः ४।१।४॥ इति।

उपासनावस्थायाम् उपासकप्रतीकयोर् भेदस्य वर्तमानत्वात् स उपासकः प्रतीको न हि भवतीति **"मनो ब्रह्मेत्युपासीत"** (छा.३।१८।१) इत्यादिकासु श्रुतिषु विहितेषु प्रतीकोपासनेषु प्रतीके आत्मेति मतिर् न कार्येत्यर्थः।

हिन्दी – उपासनावस्था में उपासक और प्रतीक में भेद भासमान होने से उपासक प्रतीक नहीं हो सकता है; अतः *"मन का ब्रह्म के रूप में उपासन करे"* इत्यादि स्थलों की उपासनाओं में मन प्रभृति प्रतीकों में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए।

अथ प्रतीकाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादिकासु श्रुतिषु विहितानि प्रतीकोपासनानि।

विशयः– तत्र प्रतीके आत्मबुद्धिः कार्या न वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात् प्रतीकस्यापि ब्रह्मविकारत्वेन ब्रह्मत्वात् तत्राऽपि आत्मबुद्धेरुपपन्नत्वात् प्रतीकेऽपि आत्मबुद्धिः कार्येति।

उत्तरम्– उपासकप्रतीकयोर् द्वयोरेव ब्रह्मत्वेनाऽऽत्मत्वेऽपि उपासनकाले तयोर् भेदस्य वर्तमानत्वाद् भेदाऽभावे चोपास्योपासकभावस्यैवाऽपगमात् प्रतीकोपासनेषूपासनकाले प्रतीके आत्मबुद्धिर् न कार्येति।

निर्णयः– प्रतीकोपासनेषूपासनकाले आत्मबुद्धिर् नैव कार्येति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादिका श्रूयते श्रुतिः।
२. प्रतीके स्यादात्मबुद्धिर् न वेत्यत्र तु संशयः॥१॥
३. तत्राऽऽत्मबुद्धिः स्याद् ब्रह्मप्रतीकाभेदतः किल।
-४. उपासकोपास्यभेदात् प्रतीके नाऽऽत्मधीर् मता॥२॥

१५७.(४) ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् (सू. ५)

प्रतीकोपासनविचारप्रसङ्गे प्रतीकोपासने विशेषं प्रतिपादयति–

४८२. ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ४।१।५॥ इति।

लोके अमात्यादौ निकृष्टे कृताया उत्कृष्टराजादिबुद्धेः फलदत्त्वस्य दर्शनात्, उत्कृष्टे राजादौ कृताया निकृष्टामात्यादिबुद्धेः फलदत्त्वस्याऽदर्शनात्, प्रतीकाद ब्रह्मण उत्कर्षात् प्रतीकोपासनेषु प्रतीके ब्रह्मबुद्धिः कार्येत्यर्थः।

हिन्दी – लोक में अमात्य प्रभृति निकृष्ट में की गई उत्कृष्टराजादि बुद्धि का फलदत्त्व देखे जाने से और उत्कृष्ट राजादि में की गई अमात्यादिनिकृष्टबुद्धि का फलदत्त्व नहीं देखे जाने से प्रतीक से ब्रह्म उत्कृष्ट होने से प्रतीकोपासनाओं में प्रतीक में ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए।

अथ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा.३।१८।१) इत्यादिषु विहितं प्रतीकोपासनम्।

विशयः– तत्र ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः कार्या वा मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिः कार्येति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मणः फलप्रदत्त्वेन तस्यैव प्राधान्येनोपास्यत्वाद् ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः कार्येति।

उत्तरम्– उत्कृष्टे राजादौ अमात्यादिदृष्टौ कृतायामुत्कृष्टस्य निकर्षो भवति, ततश्चोत्कृष्टोऽप्रसन्नो भवति, फलं च न ददाति; निकृष्टे अमात्यादौ राजादिदृष्टौ कृतायां निकृष्टस्योत्कर्षो भवति, ततश्च निकृष्टः प्रसन्नो भवति, फललाभे हेतुश्च भवति इति लोके दृष्टत्वात्, प्रतीकाद् ब्रह्मण उत्कर्षात्, उपासने ब्रह्मणोऽप्राधान्यस्य प्रतीकस्यैव प्राधान्यस्येष्टत्वाच्च प्रतीकोपासनेषु मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिः कार्येति।

निर्णयः– प्रतीकोपासनेषु मनआदिषु प्रतीकेषु ब्रह्मदृष्टिः कार्येति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. मनो ब्रह्मेत्यादिकानि सन्ति चोपासनानि हि।
२. तेषु ब्रह्मण्यन्यदृष्टिर् ब्रह्मदृष्टिरुताऽन्यतः॥१॥
३. स्याद् ब्रह्मण्यन्यदृष्टिर् हि उपास्यत्वात् तु ब्रह्मणः।
४-५. अन्यस्मिन् ब्रह्मदृष्टिः स्यादुत्कर्षादिति निर्णयः॥२॥

१५८.(५) आदित्यादिमत्यधिकरणम् (सू. ६)

उद्गीथादीनां कर्मरूपाणां फलहेतुत्वेनोत्कृष्टत्वादादित्यादीनां सिद्धरूपाणां फलहेतुत्वस्याऽभावेन निकृष्टत्वात् पूर्वाधिकरणन्यायेनाऽऽदित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः कर्तव्येति शङ्कायामाह–

४८३. आदित्यादिमतयश् चाङ्ग उपपत्तेः ४।१।६॥ इति।

"य एवाऽसौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" (छा.१।३।१) इत्यादिषु कर्माङ्गावबद्धेषु उपासनेषु आदित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु अपूर्वसन्निकर्षात् कर्मसमृद्धिहेतुताया उपपत्तेरुद्गीथादिषु कर्माङ्गेषु आदित्यादिदृष्टयः कार्या इति।

हिन्दी – उद्गीथोपासनादि कर्माङ्ग उपासनाओं में आदित्यादिदृष्टि से संस्क्रियमाण होने पर हीं उद्गीथादि में अपूर्व के सन्निकर्ष से कर्मसमृद्धिहेतुत्व रहने की बात उपपन्न हो सकने से कर्माङ्ग उद्गीथादि में आदित्यादिदृष्टि करनी चाहिए।

अथाऽऽदित्यादिमत्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "य एवाऽसौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" इत्यादिकासु श्रुतिषु विहितानि कर्माङ्गावबद्धानि उपासनानि।

विशयः– तत्राऽऽदित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयः कार्या उतोद्गीथादिषु आदित्यादिदृष्टय इति।

पूर्वपक्षः– तत्रोद्गीथादीनां कर्मरूपाणां फलहेतुतयोत्कृष्टत्वात् सिद्धरूपाणामादित्यादीनां फलहेतुताया अभावेन निकृष्टत्वात् पूर्वन्यायेनाऽऽदित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयः कार्या इति।

उत्तरम्– यथा प्रोक्षणादिना व्रीह्यादिषु संस्कृतेषु प्रकृतकर्मापूर्वमुत्पद्यते तथैवाऽऽदित्यादिदृष्टिभिः कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु संस्कृतेषु प्रकृतस्य कर्मणोऽधिकफलदत्त्वरूपा समृद्धिर् भवतीति कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु आदित्यादिमतयः कार्या इति।

निर्णयः– कर्माङ्गावबद्धेषूपासनेषु कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु आदित्यादिमतयः कार्या इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. उद्गीथोपासनादीनि आम्नाये विहितानि हि।
२. तत्राऽऽदित्यादिषूद्गीथाऽऽदिकदृष्टिरुतोऽन्यथा ॥१॥
३. स्यादादित्यादिषूद्गीथाऽऽदिकधीरिति के चन।
४-५. युक्तेस् त्वादित्यादिमतिरुद्गीथादिषु युज्यते ॥२॥

१५९.(६) आसीनाऽधिकरणम् (सू. ७-१०)

प्रासङ्गिकं समाप्य आसननियमरूपमुपासनरूपसाधनगतं विशेषं प्रतिपादयन्नाह—

४८४. आसीनः सम्भवात् ४।१।७॥ इति।

आसीने सम्यगुपासनप्रयोगस्य सम्भवात् कर्माऽसम्बद्धेषु स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु आसीनः प्रवर्तेतेत्यर्थः।

हिन्दी– बैठनेपर ही ठीक प्रकार से उपासना का प्रयोग हो सकने से यज्ञकर्म से असम्बद्ध स्वतन्त्र फल वाले अभ्युदयार्थक उपासनों में बैठकर ही उपासना में संलग्न होना चाहिए।

४८५. ध्यानाच्च ४।१।८॥

आसीनस्य प्रशिथिलाङ्गचेष्टत्वनिरायासत्वयोः सम्भवात्, ध्यानस्य प्रशिथिलाङ्गचेष्टेन निरायासेन जनेन कर्तव्यत्वात्, उपासनस्य च ध्यानरूपत्वाच्च आसीन उपासनेषु प्रवर्तेतेत्यर्थः।

हिन्दी– बैठनेपर अङ्गों में तनाव कम होने से आयास न्यून हो सकने से, निरायास जन से ही ध्यान ठीक प्रकार से हो सकने से और उपासन का ध्यानरूप होने से भी बैठकर ही उपासना में संलग्न होना चाहिए।

४८६. अचलत्वं चाऽपेक्ष्य ४।१।९॥

"ध्यायतीव पृथिवी" (छा.७।६।१) इत्यादौ पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवाऽपेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति, अचलत्वं च विशेषत आसीनस्य भवति, तस्माच्चाऽऽसीन एवोपासनेषु प्रवर्तेतेत्यर्थः।

हिन्दी– "ध्यायतीव पृथिवी" इत्यादि प्रयोग में पृथिव्यादि के अचलत्व को लेकर ही ध्यानक्रिया की कल्पना की जाने की बात अवगत होने से, बैठने पर विशेषतः अचलत्व सम्भव होने से बैठकर ही उपासना में संलग्न होना चाहिए।

४८७. स्मरन्ति च ४।१।१०॥

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः" (गीता.६।११) इत्यादिना उपदेशकाः शिष्टाः स्थिरमासनमुपासनाङ्गत्वेन स्मरन्ति च, तस्मादपि आसीन एवोपासनेषु प्रवर्ततेत्यर्थः।

हिन्दी – उपदेशक शिष्टलोग स्थिर आसन को उपासना के अङ्ग के रूप में "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः" इत्यादि वचनों में स्मरण करते हैं, इस कारण से भी बैठकर ही उपासना में संलग्न होना चाहिए।

अथाऽऽसीनाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु कर्तुर् देहकृता स्थितिः।

विशयः– स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु कर्ता यथेच्छं तिष्ठन् शयान आसीनो वा प्रवर्तेत उत आसीन एवेति।

पूर्वपक्षः– श्रुतौ नियमस्याऽदर्शनाद् यथेच्छं निष्ठन् शयान आसीनो वा प्रवर्तेतेति।

उत्तरम्– आसीनेन सम्यगुपासनप्रयोगस्य कर्तुं शक्यत्वात्, उपासनस्य ध्यानरूपत्वाद् ध्याने च प्रशिथिलाङ्गचेष्टत्व-निरायासत्वयोरावश्यकत्वात् तयोश्चासीनस्यैव सम्भवात्, ध्याने चाऽचलत्वस्याऽऽवश्यकतायाः श्रुतिलिङ्गादवगम्यमानत्वाद्, अचलत्वस्य चाऽऽसीने एव विशेषतः सम्भवाद्, स्मृतिषु भगवद्गीतादिषु च स्थिरस्याऽऽसनस्योपासनाङ्गत्वेन स्मरणात् तेन शरीरस्थैर्यस्याऽप्युपलक्षितत्वाद्, गच्छतश् चित्तविक्षेपस्य प्रसङ्गात्, तिष्ठतो देहाऽव-स्थापनपरिश्रमस्य प्रसङ्गात्, शयानस्य निद्राऽभिभवस्य प्रसङ्गाच्च स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु आसीन एव प्रवर्तेतेति।

निर्णयः– स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु कर्ताऽऽसीन एव प्रवर्तेतेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सन्ति श्रुतानि श्रुतिषु स्वतन्त्रोपासनानि च।
२. तेषु कर्ता प्रवर्तेताऽऽसीनो वा शयितोऽपि वा॥१॥
३. यथेच्छं नियमाऽभावात् प्रवर्तेतेति के चन।
४-५. सम्भवादिभ्य आसीनः प्रवर्तेत इति स्थितिः॥२॥

१६०.(७) एकाग्रताधिकरणम् (सू. ११)

साधनगतविशेषविचारप्रसङ्गे उपासने दिग्-देश-काल-नियमविशेषं प्रतिपादयति—

४८८. यत्रैकाग्रता तत्राऽविशेषात् ४।१।११॥ इति।

यथा वैदिकेषु यज्ञेषु यथासम्भवं प्राची दिक् प्राचीनप्रवणो देशः पूर्वाह्णश् चाऽऽश्रयणीया इति दिग्देशकालेषु विशेषः श्रूयते तथा उपासने दिग्-देश-कालेषु विशेष-विधानस्याऽश्रवणाद् यत्र दिशि यत्र देशे यत्र काले च मनसः सौकर्येण एकाग्रता भवति तत्रैव दिशि तत्रैव देशे तत्रैव काले चोपासने प्रवर्तेतेत्यर्थः।

हिन्दी – जैसे वैदिक यज्ञ में यथासम्भव पूर्व दिशा, प्राक्प्रवण देश, पूर्वाह्ण काल लेने का विशेष नियम है, उपासन में वैसा नियम न होने से जिस दिशा में जिस स्थान में जिस काल में सुगमता से चित्त की एकाग्रता हो सके उसी दिशा में, उसी स्थान में, उसी काल में उपासन में प्रवृत्त होना चाहिए।

अथैकाग्रताधिकरणस्वरूपम्

विषयः– स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु दिग्-देश-कालाः।

विशयः– स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु दिग्-देश-कालविशेषाणां निश्चितो नियमोऽस्ति न वेति।

पूर्वपक्षः– वैदिकेषु कर्मसु दिग्-देश-कालविशेषाणां नियमस्य दृष्टत्वाद् उपनिषद्विहितेषु उपासनेष्वपि दिग्-देश-कालविशेषस्य कश्चन नियमः स्यादिति।

उत्तरम्– स्वतन्त्रफलेषूपासनेषु दिग्-देश-काल-विशेष-नियमस्याऽश्रुतत्वात् तत्र दिग्-देश-काल-विशेषाणां निश्चितो नियमो नास्ति, यत्र दिशि यत्र देशे यत्र काले च सौकर्येण मनस एकाग्रतयोपासनं भवितुं शक्नोति तत्रैव दिशि तत्रैव देशे तत्रैव काले चोपासने प्रवर्तितव्यमिति।

निर्णयः– यत्र दिशि यत्र देशे यत्र काले च मनस एकाग्रता भवितुं शक्नोति तत्रैव दिशि तत्रैव देशे तत्रैव काले चोपासने प्रवर्तितव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतानि सन्ति श्रुतिषु स्वतन्त्रोपासनान्यपि।
२. तत्र दिग्देशकालानां विशेषे नियमो न वा॥१॥
३. कर्मस्विवाऽत्राऽपि भवेन् नियमो वैदिकत्वतः।
४-५. चित्तैकाग्र्यं यत्र तत्रोपासनं नियमोऽत्र न॥२॥

१६१.(८) आप्रायणाऽधिकरणम् (सू. १२)

साधनगतविशेषविचारप्रसङ्गे यथा उपासने दिगादिनियमाश्रवणात् तद-भावस् तथैव यावज्जीवमुपासनं कार्यमित्यश्रवणात् तदभाव इति पूर्वाधिकरण-न्यायेन प्राप्तं निरस्यन्नाह–

४८९. आ प्रायणात् तत्राऽपि हि दृष्टम् ४।१।१२॥ इति।

"सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवाऽन्ववक्रामति" (का.वा.बृह.४।४।२, द्र.-मा.वा.शत.१४।७।२।३) इत्यादिकासु श्रुतिषु अग्निहोत्रादिषु कर्मान्तरेष्वपि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणेषु फलानुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाले कर्तव्यमिति दृष्टम्, **"स यावत्क्रतुरयमस्माल् लोकात् प्रैति"** (मा.वा.शत.१०।६।३।१), **"सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येत"** (छा.३।१७।६) इत्यादिकासु श्रुतिषु प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकेषु अभ्युदयफलेषूपासनेष्वपि प्रायणकालेऽपि प्राप्तव्यफलानुरूपभावनाविज्ञानं कर्तव्यमिति दृष्टम्, **"यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति"** (प्रश्नो.३।१०) इति श्रुतावपि तथैव दृष्टम् इति प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकेषु अभ्युदयफलेषूपासनेषु आ प्रायणात् प्रत्ययानामावृत्तिः कार्येत्यर्थः। अभ्युदयफलेषूपासनेषु आ मरणादुपासनं कार्यमिति सरलोऽर्थः।

हिन्दी– अन्य जन्म में उपभोग्य फल देने वाले अग्निहोत्रादि अन्य कर्मों में और अभ्युदय फल देने वाली उपासनाओं में भी मरणकाल में फलानुरूप भावना करने का आवश्यकत्व श्रुतियों में देखे जाने से प्राप्तव्य फल की भावना वाली अभ्युदयार्थक उपासनाओं में मरण तक ही भावना की आवृत्ति करनी चाहिए।

अथाऽऽप्रायणाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकानि अभ्युदयफलानि उपासनानि।

विशयः– तानि कदा चित् कार्याणि उत आमरणं कार्याणि इति।

पूर्वपक्षः– कालावधेरश्रुतत्वात् किञ्चित्कालानुष्ठानेनैव शास्त्रार्थानुष्ठानस्य सिद्धेश्च किञ्चित्कालमेवैतादृशानि उपासनानि कार्याणीति।

उत्तरम्– श्रुतिषु स्मृतिषु च मरणकालेऽपि प्रतिपत्तव्यफलानुरूपभावनायाः कर्तव्यताया दर्शनाद् एतादृशानि उपासनानि आमरणं कर्तव्यानीति।

निर्णयः– प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकानि अभ्युदयफलानि उपासनानि आमरणं कर्तव्यानीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. उपासनान्यभ्युदयफलानि च श्रुतानि हि।
२. तानि किञ्चित्कालमेव कार्याण्यामरणं हि वा॥१॥
३. किञ्चित्कालं हि कार्याणि विशेषाऽश्रवणात् किल।
४-५. कार्याण्यामरणं तेषां मृतिकालेऽपि दर्शनात्॥२॥

१६२.(९) तदधिगमाधिकरणम् (सू. १३)

ज्ञानसाधनानुष्ठाने यत्नाधिक्यस्याऽऽवश्यकत्वं दर्शयितुं फलाध्यायेऽपि तृतीयाध्यायशेषं साधनविषयकं विचारं पूर्वग्रन्थेन कृत्वाऽथ ब्रह्मविद्याफलविषयकं विचारमुपक्रमते–

४९०. तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ४।१।१३॥ इति।

"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ति एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छा.४।१४।३) इति विदुषि ब्रह्मज्ञानोत्तरकालभाविनोऽघस्याऽसंश्लेषस्य, **"तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते"** (छा.५।२४।३) इति विदुषि पूर्वोपचितस्याऽघस्य विनाशस्य च श्रुतौ कीर्तनात् सगुणब्रह्मज्ञाने निर्गुणब्रह्मज्ञाने च जाते सति विदुषि उत्तरस्याऽघस्याऽनुत्पत्त्या अनभिसम्बन्धः विदुषः पूर्वाघस्य विनाशश्च भवत इत्यर्थः।

हिन्दी – ब्रह्मज्ञानी में उत्तर काल में पाप-पुण्य की अनुत्पत्ति से अश्लेष और ब्रह्मज्ञानी के पूर्व काल के पाप-पुण्यों का विनाश श्रुतियों में प्रतिपादित होने से सगुण वा निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होनेपर ब्रह्मज्ञानी में उत्तर पाप-पुण्यों का असंश्लेष और ब्रह्मज्ञानी के पूर्व पाप-पुण्यों का विनाश होने की बात अवगत होती है।

अथ तदधिगमाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मज्ञानिनः पापसम्बन्धः।

विशयः– ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मज्ञानोत्तरकालकृतपापाऽनभिसम्बन्धो ब्रह्मज्ञानपूर्वोपचितपापनाशश्च भवतो न वेति।

पूर्वपक्षः– **"न हि कर्म क्षीयते"** (गौतमध.३।१।५), **"नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"** (ब्रह्मवैवर्तपुराणे प्रकृतिखण्डे २६।७०), **"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"** (तत्रैव २६।७१) इत्यादिकेभ्यो वचनेभ्यः फलभोगं विना पापनिवृत्तिर् न भवतीत्यवगम्यमानत्वात् फलभोगं विना पापनिवृत्तिर् न भवतीति ब्रह्मज्ञानिनोऽपि उत्तरपूर्वाघयोः फलभोगं विना निवृत्तिर् न भवितुमर्हतीति।

उत्तरम्– **"एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते"** (छा.४।१४।३) इति विदुषि ब्रह्मज्ञानोत्तरकालभाविनः पापस्याऽनभिसम्बन्धस्य, **"तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते"** (छा.५।२४।३) इति **"क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"** (मुण्डको.२।२।८) इति च विदुषः पूर्वोपचितपापनाशस्य श्रुत्यैव प्रतिपादितत्वात्, **"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा"** (गीता.४।३७) इत्युक्तत्वाच्च ब्रह्मज्ञाने जाते उत्तरकालभाविपापस्याऽनभिसम्बन्धः पूर्वोपचितपापनाशश्च भवत इति।

निर्णयः– ब्रह्मज्ञाने जाते उत्तरकालभाविपापस्याऽनभिसम्बन्धः पूर्वोपचितपापस्य विनाशश्च भवत एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. स्युः पापानि ज्ञानिनोऽपि पूर्वाणि चोत्तराणि च।
२. तानि ज्ञानेन नश्यन्ति न वेति खलु संशयः॥१॥
३. क्षीयते न हि कर्मेति वचनान् नेति के चन।
४-५. श्रुतेस् त्वश्लेषनाशौ हि पाप्मनोरिति निर्णयः॥२॥

१६३.(१०) इतराऽसंश्लेषाधिकरणम् (सू. १४)

पूर्वाधिकरणन्यायमेव पुण्येऽप्यतिदिशति—

४९१. इतरस्याऽप्येवमसंश्लेषः पाते तु ४।१।१४॥ इति।

"उभे ह्य्येषऽएते तरत्त्यमृतः साद्ध्वसाधुनी" (मा.वा.शत.१४।७।२।२७) इति, **"उभे उ हैवैष एते तरति"** (का.वा.बृह.४।४।२२), **"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर् भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा"** (गीता. ४।३७) इति व्यपदेशाद् ब्रह्माधिगमे अघाद् इतरस्य पुण्यस्याऽपि एवमघस्येवाऽश्लेषविनाशौ भवतः, अधिगतब्रह्मणो विदुषो देहस्य पाते तु पापस्य पुण्यस्य च सर्वथाऽश्लेषो विदेहमोक्षरूपो भवतीत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुति में ब्रह्मज्ञानी का पाप-पुण्य-तरण प्रतिपादित होने से ब्रह्मज्ञान होनेपर अघ से इतर का अर्थात् पुण्य का भी अघ (पाप) की ही तरह असंश्लेष और विनाश होते हैं, ब्रह्मज्ञानी के देह का पतन होने पर तो प्रारब्ध पाप और पुण्यों का भी सर्वथा असंश्लेष (विदेहमोक्ष) होता है।

अथेतराऽसंश्लेषाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मज्ञानिनः पुण्यसम्बन्धः।

विशयः– ब्रह्मज्ञानिन उत्तरकालकृतपुण्याऽनभिसम्बन्धः पूर्वोपचितपुण्यनाशश्च भवतो न वेति।

पूर्वपक्षः– शास्त्रीयस्य पुण्यस्य शास्त्रीयेण ज्ञानेन सहाऽविरोधाद् ब्रह्मज्ञानिनोऽपि उत्तरकालकृतस्य पुण्यस्याऽनभिसम्बन्धः पूर्वोपचितपुण्यस्य नाशश्च न भवितुमर्हत इति।

उत्तरम्– "उभे ह्य्येषऽएते तरत्त्यमृतः साध्वसाधुनी" इत्यादिकाद् व्यपदेशात्, पापस्येव पुण्यस्याऽपि मोक्षप्रतिबन्धकतायास्तुल्यत्वात्, अकर्तृरूपात्मबोधस्य पापनाशे पुण्यनाशे च हेतुतायास्तुल्यत्वाच्च ब्रह्मज्ञानिन उत्तरकालभाविपुण्यस्याऽनभिसम्बन्धः पूर्वोपचितपुण्यस्य नाशश्च भवत इति।

निर्णयः– ब्रह्मज्ञानिन उत्तरकालभाविपुण्यस्याऽनभिसम्बन्धः पूर्वोपचितपुण्यस्य नाशश्च भवत एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. पुण्यानि स्युर् ज्ञानिनोऽपि पूर्वाणि चोत्तराणि च।
२. नश्यन्ति तानि ज्ञानेन न वेत्यत्र तु संशयः॥१॥
३. शास्त्रीयत्वेनाऽविरोधान् नश्येयुर् नेति के चन।
४-५. श्रुतेर् युक्तेश्च दृष्टत्वान् नश्यन्तीति तु निर्णयः॥२॥

१६४.(११) अनारब्धकार्याधिकरणम् (सू. १५)

पूर्वाधिकरणन्यायाऽपवादं प्रदर्शयति—

४९२. अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ४।१।१५॥ इति।

"तस्य तावदेव चिरं यावन् न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा.६।१४।२) इति ब्रह्मज्ञानिनो मोक्षप्राप्तौ तस्य शरीरपातस्याऽवधेर् व्यपदेशाद् ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मज्ञानाऽऽयतनभूतशरीररूपं कार्यं सुखदुःखानुभवाय याभ्यां पुण्यपापाभ्यां नाऽऽरब्धं ते अनारब्धकार्ये ब्रह्मज्ञानोत्पत्तितः पूर्वे सञ्चिते पुण्यपापे एव तु ब्रह्मज्ञानाधिगमे विनश्यतो न त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे इत्यर्थः। तस्य तावदेव चिरमित्यादेः श्रुतेरर्थस् तु— तस्य ब्रह्मज्ञानिनस् तावत्कालपर्यन्तमेव मोक्षप्राप्तौ विलम्बो भवति यावत्कालपर्यन्तं स शरीरं न विमोक्ष्यते, अथ शरीरविमोक्षे स ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म सम्पत्स्यते इति ज्ञेयः। विमोक्ष्ये सम्पत्स्ये इति पुरुषव्यत्ययेन प्रयोगो वैदिकः।

हिन्दी— ब्रह्मज्ञानी की मोक्षप्राप्ति के अवधि के रूप में उस के देहपात का श्रुति में (छा.६।१४।२) निर्देश होने से जिस देह से ब्रह्मज्ञान हुआ उस देह से भोगे जाने वाले सुखदुःखफल देने वाले प्रारब्ध कर्म को छोडकर अन्य पूर्वसञ्चित पुण्य-पाप ही ब्रह्मज्ञान होनेपर नष्ट होते हैं, प्रारब्ध कर्म तो नहीं, यह बात अवगत होती है।

अथाऽनारब्धकार्याधिकरणस्वरूपम्

विषयः— ब्रह्मज्ञानिनः पुण्यपापसम्बन्धः।

विशयः— ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मात्मज्ञानेन निखिलपुण्यपापविनाशो भवति उताऽनारब्धकार्यपुण्यपापमात्रविनाश इति।

पूर्वपक्षः— **"उभे ह्य्वेष तरति साद्ध्वसाधुनी"** (मा.वा.शत.१४।७।२।२७) इत्यविशेषेण श्रुतत्वात्, सर्वेषामेव कर्मणामज्ञानमूलकत्वात्, अकर्तृरूपात्मावबोधस्य कर्मविनाशहेतुतायाः निखिलपुण्यपापेषु तुल्यत्वाच्च ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मात्मज्ञानेन निखिलपुण्यपापविनाशो भवतीति।

उत्तरम्— **"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"** (छा.६।१४।२) इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानिनो मोक्षप्राप्तौ शरीरपातस्याऽवधेर् निर्दिष्टत्वात्, ततश्च ब्रह्मज्ञानायतन-

भूतशरीररूपस्य कार्यस्याऽऽरम्भकस्य कर्मणः शरीरपातात् पूर्वमविनाशस्याऽवगम्यमानत्वाद् ब्रह्मात्मज्ञानेन ब्रह्मात्मज्ञानात् पूर्वे सञ्चिते अनारब्धकार्ये पुण्यपापे एव नश्यतो नाऽऽरब्धकार्ये इति निश्चयात्, कुलालचक्रभ्रमिदृष्टान्तेन मुक्तेषुदृष्टान्तेन चाऽऽरब्धकर्मक्षयाय कियतोऽपि कालस्याऽऽवश्यकताया औचित्याच्च ब्रह्मात्मज्ञानेन अनारब्धकार्ये सञ्चिते पुण्यपापे एव नश्यतो नाऽऽरब्धकार्ये पुण्यपापे इत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मात्मज्ञानेन ब्रह्मात्मज्ञानोदयात् पूर्वे अनारब्धकार्ये सञ्चिते पुण्यपापे एव नश्यतो नाऽऽरब्धकार्ये इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ज्ञानिनः पुण्यपापे हि प्रारब्धे सञ्चिते अपि।
२. तयोर् द्विविधयोरेव ज्ञानान् नाशो भवेन् न वा ॥१॥
३. श्रुतेर् युक्तेश्च नाशः स्यात् तयोर् द्विविधयोरपि।
४-५. नाशः सञ्चितयोरेव विशेषश्रुतितः खलु ॥२॥

१६५.(१२) अग्निहोत्राद्यधिकरणम् (सू.१६-१७)

नित्यनैमित्तिकातिरिक्तानामेवाऽनारब्धकार्याणां कर्मणां ज्ञानाद् विनाश इति प्रतिपादयन् पूर्वाधिकरणप्रदर्शिताऽपवादे विशेषं प्रतिपादयति—

४९३. अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ४।१।१६॥ इति।

"तदाहुरात्तँमयाजी श्श्रेया३न् देवयाजी३ऽइत्त्यात्तँमयाजीति ह ब्रूयात्त्स ह वाऽआत्तँमयाजी यो वेदेदम् मेऽनेनाऽङ्गँ संस्क्रियतऽइदम् मेऽनेनाऽङ्गमुपधीयतऽइति स यथाऽहिस्त् त्वचो निर्मुच्च्येतैवमस्म्मान्न् मर्त्त्याच् छरीरात्त् पाप्प्मँनो निर्म्मुच्च्यते सऽऋङ्ङ्मयो यजुर्म्मयः साममयऽआहुतिमयः स्वर्ग्गल् लोकमभिसम्भवति। अथ ह स देवयाजी यो वेद देवानेवाऽहमिदय् यजे देवान्त्सपर्य्यामीति स यथा श्श्रेयसे पापीयान्न् बलिँ हरेद् वैश्श्यो वा राज्ञँे बलिँ हरेदेवँ स स ह न तावन्तल् लोकञ्जयति यावन्तमितरः" (मा.वा.शत.११।२।६।१३, १४) इति श्रुतौ, "सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्श्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ इह चाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति" (मनु.१२।८८-९१) इति स्मृतौ च ब्रह्मात्मज्ञानिना कृतस्याऽग्निहोत्रादेर् वैदिककर्मणस् तस्य ज्ञानस्य यत् कार्यममृत-

त्वं तत्कारित्वस्य दर्शनाद् ज्ञानिना कृतमग्निहोत्रादि तु ज्ञानस्य यत् कार्यममृतत्वं तस्मै एव भवति, तस्य ज्ञानेन नाशो न भवतीति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– ब्रह्मज्ञानी से किए गए अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से तो ज्ञान का जो कार्य अमृतत्व है उसी कार्य की निष्पत्ति होने की बात श्रुति-स्मृतियों में देखी जाने से ब्रह्मज्ञानी से किए गए अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म तो आत्मज्ञान का जो कार्य अमृतत्व है उसी कार्य की निष्पत्ति के लिए होते हैं, उन का ब्रह्मज्ञान से नाश नहीं होता है, यह बात अवगत होती है।

४९४. अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ४।१।१७॥

एकेषां शाखिनाम् अतो नित्याद् अग्निहोत्रादिकाद् अन्याऽपि फलेच्छया क्रियमाणा साधुकृत्याऽस्ति हि, तस्या एव काम्यफलायाः साधुकृत्याया अश्लेष-विनाशौ हानोपादाने च यथायथं श्रुतितो व्यवतिष्ठेते इत्युभयोर् जैमिनिबादरायणयोः सम्प्रतिपत्तिरिति सूत्रार्थ इति शङ्करः।

वयं तु– अतोऽश्लेषविनाशविद्यासहकारित्वरूपाया गतेः अन्यापि हानोपादानरूपा उभयोरप्रारब्धकार्ययोः सञ्चितयोः पापपुण्ययोर् गतिः **"तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्"** (कौषी.१।४), **"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्"** इत्यादिके एकेषां शाखिनामाम्नाये श्रूयते, **"प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यान-योगेन ब्रह्माऽभ्येति सनातनम्"** (मनु.६।७९, बृहद्योगियाज्ञवल्क्य.११।५१) इति च तन्मूलायां स्मृतौ च स्मर्यते च; ब्रह्मज्ञानिनो मुक्तेर् लाभे सञ्चिताभ्यां पापपुण्याभ्यां न कथञ्चिदप्यवरोधः क्रियते इति सूत्रपदवाक्यप्रसङ्गानुरूपतरमर्थं भावं चाऽस्य सूत्रस्य रोचयामहे।

हिन्दी– इस नित्य अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से भिन्न काम्यफल वाला साधुकर्म भी कुछ वेदशाखाध्यायियों के आम्नाय में है ही, उसी काम्यफल वाले साधुकर्म का अश्लेष और विनाश तथा हान और उपादान श्रुति से व्यवस्थित होते हैं, इस तथ्य में जैमिनि और बादरायण दोनों आचार्यों की सम्मति है।

यह शाङ्करभाष्यानुकूल सूत्रार्थ है। प्रस्तुत वृत्तिकार का अभिमत सूत्रार्थ कुछ भिन्न है। उस को जिज्ञासु पाठक संस्कृतवृत्ति से समझें।

अथाऽग्निहोत्राद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मज्ञानिनोऽग्निहोत्रादिकर्म।

विशयः– ब्रह्मज्ञानिनो नित्यमग्निहोत्रादिकर्म ब्रह्मज्ञानेन नश्यति न वेति।

पूर्वपक्षः– अकर्तृरूपात्मवस्तुबोधस्य कर्मसम्बन्धनाशकतायाः सर्वत्र तुल्यत्वात्, अनारब्ध-कार्यक-कर्मत्वाऽविशेषाच्च ब्रह्मज्ञानिनो नित्यम् अग्निहोत्रादिकर्माऽपि ब्रह्मात्मज्ञानेन नश्यतीति।

उत्तरम्– श्रुतौ स्मृतौ च आत्मज्ञानपूर्वकस्य वैदिकनित्याग्निहोत्रादिकर्मणो ज्ञानसहकारिताया दर्शनाद् ब्रह्मज्ञानिनोऽग्निहोत्रादि नित्यं वैदिकं कर्म न नश्यति, किन्तु ज्ञानकार्याय अमृतत्वायैव भवतीति।

निर्णयः– ब्रह्मज्ञानिनोऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्म तु न नश्यति, ज्ञानकार्यायाऽमृतत्वायैव भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सम्भवत्येव विदुषोऽप्यग्निहोत्रादि कर्म च।
२. नश्येत् तदात्मज्ञानेन न वेति खलु संशयः॥१॥
३. तुल्यन्यायेन तन् नश्येतिदि के चन मन्वते।
४-५. नैव नश्येत् तद् धि ज्ञानकार्यायैवेति निर्णयः॥२॥

१६६.(१३) विद्यारहितकर्मवीर्यवत्त्वाधिकरणम् (सू. १८)

विद्यासहितानामग्निहोत्रादीनामिव विद्यारहितानामपि नित्यानामग्निहोत्रादीनां ज्ञानकार्यकारित्वं प्रतिपादयति—

४९५. यदेव विद्ययेति हि ४।१।१८॥ इति।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा. १।१।१०) इति श्रुतिर् विद्यया श्रद्धया धर्मेण च युक्तेन पुरुषेण कृतस्य कर्मणो वीर्यवत्तरत्वं प्रतिपादयन्ती विद्यादिना रहितेन पुरुषेण कृतस्य कर्मणोऽपि वीर्यवत्त्वमवगमयति, तस्माद् विद्यारहितमपि नित्यमग्निहोत्रादि वैदिकं कर्म ज्ञानस्य यत् कार्यममृतत्वं तस्मै एव भवतीत्यर्थः। श्रुतौ उपनिषदेति धर्मेणेत्यर्थः **"धर्मे रहस्युपनिषद्"** इति नामलिङ्गानुशासनात् (३।३।९३)।

हिन्दी– विद्या, श्रद्धा और धर्म से युक्त पुरुष द्वारा किए गए कर्म का वीर्यवत्तरत्व प्रतिपादित करती हुई श्रुति विद्यादि से रहित पुरुष से किए गए कर्म का भी वीर्यवत्त्व सूचित करती ही है, अत एव विद्यारहित होने पर भी नित्य अग्निहोत्रादि कर्म ज्ञान के कार्य अमृतत्व के लिए ही होते हैं।

अथ विद्यारहितकर्मवीर्यवत्त्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– विद्यारहितं नित्यमग्निहोत्रादिकं वैदिकं कर्म।

विशयः– विद्यारहितं नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म ज्ञानस्य कार्यायाऽमृतत्वाय भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– **"यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्म्मृत्युमपजयत्त्येववं विद्द्वान्"** (मा.वा.शत. १४।४।३।६, का.वा.बृह.१।५।२), **"दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय"** (गीता. २।४९) इत्यादिकात् श्रुतिस्मृतिवचनाद् विद्यारहितं नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म ज्ञानस्य कार्यायाऽमृतत्वाय न भवितुमर्हतीति।

उत्तरम्– "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा. १।१।१०) इति श्रुत्या विद्यारहितेन कृतस्याऽपि कर्मणो वीर्यवत्त्वस्याऽवबोधितत्वाद् विद्यारहितेन कृतमपि नित्यमग्निहोत्रादिकं वैदिकं कर्म वीर्यवत् सद् यथासामर्थ्यं ज्ञानस्य कार्यायाऽमृतत्वाय भवतीति।

निर्णयः– विद्यारहितेन कृतमपि नित्यमग्निहोत्रादि वैदिकं कर्म वीर्यवत् सद् ज्ञानफलाया-ऽमृतत्वायैव भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सविद्यं केवलं चाऽग्निहोत्रादि खलु दृश्यते।
२. केवलं त्वग्निहोत्रादि ज्ञानकार्याय स्यान् न वा॥१॥
३. सविद्यमेव ज्ञानस्य कार्याय इति केचन।
४-५. नित्यं त्वविद्यञ्च वीर्यवत्त्वे तस्याऽपि सङ्ग्रहात्॥२॥

१६७.(१४) इतरक्षपणाधिकरणम् (सू. १९)

ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि देहपातात् पूर्वं यथा संसारानुवृत्तिस् तथा देहपाता-नन्तरमपि संसारानुवृत्तिः स्यादिति शङ्कामपाकुर्वन्नाह–

४९६. भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ४।१।१९॥ इति।

अनारब्धकार्याभ्यां पुण्यपापाभ्यामितरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे तु सामान्यो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्माधिगमवति जन्मनि आधिकारिको ब्रह्मज्ञानी तु यावदधिकारमनेकेषु जन्मसु भोगेन क्षीणे कृत्वा ब्रह्म सम्पद्यते इत्यर्थः।

एष सूत्रार्थो वैयासकन्यायमाला-मिताक्षरा-वेदान्तसूत्रमुक्तावलिव्याख्या-नमपि विचार्य प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः।

हिन्दी – अनारब्धकार्य पुण्यपापों से भिन्न आरब्धकार्य पुण्य-पापों को तो ब्रह्मज्ञानी भोग द्वारा ही क्षीण कर के ब्रह्मभाव में प्राप्त होता है।

अथेतरक्षपणाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– प्रारब्धकार्यक-कर्म-फलभोगवान् सगुण-निर्गुणान्यतर-ब्रह्मविद्।

विशयः– देहपाते सगुण-निर्गुणान्यतर-ब्रह्मविद् ब्रह्म सम्पद्यते न वेति।

पूर्वपक्षः– देहेऽपतिते सगुण-निर्गुणान्यतर-ब्रह्माधिगमेऽपि यथा देहधारित्वानपायाद् भेद-दर्शनानुवर्तनाच्च सगुण-निर्गुणान्यतर-ब्रह्मविन् न ब्रह्म सम्पद्यते, तथैव स्थूलदेह-पातेऽपि लिङ्गदेहधारित्वस्य अनेकजन्मभोग्यप्रारब्धकर्मविशेषस्य च सम्भवाच्च तदाऽपि सगुण-निर्गुणान्यतर-ब्रह्मविद् ब्रह्म न सम्पद्यते इति।

उत्तरम्– आधिकारिको ब्रह्मविद् यथाधिकारमनेकेषु जन्मसु, सगुणब्रह्मविद् इह च ब्रह्मलोके च, आधिकारिकपुरुषभिन्नो निर्गुणब्रह्मवित् तु निर्गुणब्रह्माधिगमवति जन्मनि एव प्रारब्धकार्ये पुण्यपापे भोगेन क्षीणे कृत्वाऽज्ञाने च सर्वथा नष्टे ब्रह्म सम्पद्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मविद् आरब्धकार्ये पुण्यपापे भोगेन क्षीणे कृत्वा ब्रह्म सम्पद्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. भुञ्जानः सुखदुःखे हि ब्रह्मज्ञश्चाऽपि दृश्यते।
२. प्रारब्धकर्मग्रस्तश्च ब्रह्माऽप्येत्यथवा न सः॥१॥
३. प्रारब्धमूलाऽज्ञानस्याऽनाशान् नाऽप्येति ब्रह्म सः।
४-५. प्रारब्धे भोगतो नष्टेऽज्ञाने चाऽप्येति ब्रह्म सः॥२॥

इति श्रीवेदव्यासबादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ चतुर्थे ब्रह्मज्ञानफलनिरूपणपरेऽध्याये प्रथमो
जीवन्मुक्तिनिरूपणपरः पादः समाप्तः॥

अथ द्वितीयः पादः

(उत्क्रान्तिगतिनिरूपणपरः)

१६८.(१) वागधिकरणम् (सू. १-२)

अथ ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतः पुरुषस्य फलप्राप्तयेऽनुसरणीय-मर्चिरादिमार्गमनन्तरे पादे प्रतिपादयितुं तत्पूर्वं प्रतिपादनीयं विद्वदविदुषोः समान-मुत्क्रान्तिक्रमं प्रतिपादयितुं द्वितीयः पादः प्रारभ्यते। तत्र मुमूर्षोः वाचो मनसि वृत्त्या लयं प्रतिपादयति–

४९७. वाङ् मनसि दर्शनाच् छब्दाच् च ४।२।१॥ इति।

मुमूर्षोः पुरुषस्य मनोवृत्तौ वर्तमानायामेव वाग्वृत्तेर् लयस्य दर्शनात्, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदमुपचर्य वाग्वृत्तिं प्रतिपादयितुम् **"अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते"** (छा.६।८।६) इत्यत्र वाक्शब्दं प्रयुज्य वाग्वृत्तेर् मनसि सम्पत्तेः प्रतिपादकाद् वेदवाक्यरूपाच्छब्दाच्च मुमूर्षोः पुरुषस्य वाग्वृत्तिर् मनसि लीयते इत्यवगम्यते इत्यर्थः। **"अविभागो वचनात्"** (४।२।१६) इत्यत्र इन्द्रिय-स्वरूपलयस्य विशेषेण प्रतिपादितत्वादत्र वृत्तिलय एव प्रतिपादित इति गम्यते इति चाऽत्र बोद्धव्यम्।

हिन्दी – मरते हुए मनुष्य की मनोवृत्ति वर्तमान रहनेपर ही वाग्वृत्ति का लय देखे जाने से, वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेदोपचार कर के वाग्वृत्ति का प्रतिपादन करने के लिए वाक् शब्द का प्रयोग करते हुए वाग्वृत्ति का मन में लय होने की बात को प्रतिपादित करने वाला वेदवाक्य रूप शब्द (छा.६।८।६) उपलब्ध होने से भी मरते हुए मनुष्य की वाग्वृत्ति का मन में लय होने की बात अवगत होती है।

४९८. अत एव च सर्वाण्यनु ४।२।२॥

मुमूर्षोः पुरुषस्य मनोवृत्तौ वर्तमानायामेव चक्षुरादीनां सर्वेषामिन्द्रियाणां वृत्तेर् लोपस्य दर्शनात्, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदमुपचर्य इन्द्रियवृत्तीः प्रतिपादयितुम् **"इन्द्रियैर् मनसि सम्पद्यमानैः"** (प्रश्नो.३।९) इति इन्द्रियशब्दं प्रयुज्य इन्द्रियवृत्तीनां मनसि सम्पत्तेः प्रतिपादकाद् वेदवाक्यरूपाच्छब्दाच्च मुमूर्षोः पुरुषस्य सर्वाणि इन्द्रियाणि वृत्त्यैव मनसि अनुगतानि भवन्तीति अवगम्यते इत्यर्थः। अनुगमनं निर्वाणं लय इति यावत्, अग्निर् निर्वायादित्यर्थे अग्निरनुगच्छेदिति प्रयोगाणां वैदिकवाङ्मये बहुशो दर्शनात्।

हिन्दी – मरते हुए मनुष्य की मनोवृत्ति वर्तमान रहनेपर ही चक्षुरादि सभी इन्द्रियों की वृत्तियों का लय देखे जाने से, वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेदोपचार कर के इन्द्रियवृत्तियों का प्रतिपादन करने के लिए इन्द्रियशब्द का प्रयोग करते हुए इन्द्रियवृत्तियों का मन में लय होने की बात को प्रतिपादित करने वाला वेदवाक्य रूप शब्द (प्रश्नो.३।९) उपलब्ध होने से भी मरते हुए मनुष्य के चक्षुरादि सभी इन्द्रिय्रों की वृत्तियों का मन में लय होने की बात अवगत होती है।

अथ वागधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते"** (छा.६।८।६) इति श्रुतौ श्रुता वाक्सम्पत्तिः।

विशयः– तत्र वाच एव वृत्तिमत्या मनसि सम्पत्तिरुत वाग्वृत्तेरिति।

पूर्वपक्षः– **"वाङ् मनसि सम्पद्यते"** (छा.६।८।६). इति श्रुत्या वृत्तिमत्या वाच एव मनसि लयस्याऽभिधया बोधितत्वाद् वृत्तिमती वागेव मनसि लीयते इत्यवगन्तव्यमिति।

उत्तरम्– सूत्रकारः **"अविभागो वचनात्"** (४।२।१६) इत्यत्र आत्मतत्त्वविद इन्द्रियाणां स्वरूपलयं वक्ष्यतीति अत्र **"वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च"** (४।२।१) इति सूत्रे सूत्रकारस्य वाग्वृत्तिलयमात्रं विवक्षितमिति गम्यमानत्वात्, लोके मुमूर्षोर् मनोवृत्तौ वर्तमानायामेव वाग्वृत्तेर् लयस्य दर्शनात्, अतत्प्रकृतेर् वाचः स्वरूपेणैव मनसि लयस्याऽनुपपद्यमानत्वात्, वृत्तिलयस्य तु अप्रकृतावपि मनसि जले अग्निवृत्तिलयस्येवोपपद्यमानत्वात्, लक्षणाया आश्रयणेन **"वाङ् मनसि सम्पद्यते"** (छा.६।८।६) इति श्रुतौ वाक्शब्दस्य वाग्वृत्तिपरताया आश्रयणीयत्वाच्च मुमूर्षोर् वाग्वृत्तिर् मनसि लीयते इत्यवगन्तव्यमिति।

निर्णयः– मुमूर्षोर् वाग्वृत्तिर् मनसि लीयते इत्यवगन्तव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सम्पद्यते वाङ् मनसीत्यस्ति छन्दोगकश्रुतिः।
२. तत्र वाचः स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लयः॥१॥
३. स्वरूपेण लयो वै वाङ् मनसीति श्रुतेः किल।
४-५. शब्दाल् लोके दर्शनाच्च लयो वृत्त्येति निर्णयः॥२॥

१६९.(२) मनोऽधिकरणम् (सू. ३)

उत्क्रान्तिक्रमे मनसः प्राणे वृत्त्या लयं प्रतिपादयति–

४९९. तन् मनः प्राण उत्तरात् ४।२।३॥ इति।

पूर्वं विचारिताद् **"वाङ् मनसि सम्पद्यते"** (छा.६।८।६) इत्यस्माद् वाक्याद् उत्तरात् **"मनः प्राणे"** (छा.६।८।६) इत्यस्माद् वाक्यात्, मुमूर्षोः परिस्पन्दात्मिकायां प्राणवृत्तौ विद्यमानायामेव मनोवृत्तीनां लयस्य दर्शनात्, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदमुपचर्य मनोवृत्तिं प्रतिपादयितुम् **"मनः प्राणे"** (छा.६।८।६) इत्यत्र मनश्शब्दं प्रयुज्य मनोवृत्तेः प्राणे सम्पत्तेः प्रतिपादकाद् वेदवाक्यरूपाच् छब्दाच् च मुमूर्षोः पुरुषस्य वागादिबाह्येन्द्रियलयविशिष्टं मनः प्राणे वृत्त्या लीयते इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– पूर्व अधिकरण में विचारित "वाङ् मनसि सम्पद्यते" इस वाक्य से उत्तरवर्ती "मनः प्राणे" इस वाक्य से, मरते हुए मनुष्य की परिस्पन्दरूप प्राणवृत्ति वर्तमान होनेपर ही मनोवृत्तियों का लय देखे जाने से, वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेदोपचार कर के मनोवृत्तियों का प्रतिपादन करने के लिए मनश्शब्द का प्रयोग करते हुए मनोवृत्तियों का प्राण में लय होने की बात को प्रतिपादित करने वाला वेदवाक्य रूप शब्द (छा.६।८।६) उपलब्ध होने से भी मरते हुए मनुष्य की मनोवृत्तियों का प्राण में लय होने की बात अवगत होती है।

अथ मनोऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "मनः प्राणे" (छा.६।८।६) इति श्रुतौ श्रुता मनसः प्राणे सम्पत्तिः।

विशयः– तत्र मनस एव वृत्तिमतः प्राणे लय उत मनोवृत्तेरिति।

पूर्वपक्षः– "मनः प्राणे" इति श्रुत्या वृत्तिमतो मनस एव प्राणे लयस्याऽभिधया बोधितत्वात्, **"अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः"** (छा.६।६।५) इति, **"ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त"** (छा.६।२।४) इति च श्रुतत्वान् मनसः अब्विकाराऽन्नविकारत्वाद् अब्विकारे प्राणे मनसः स्वरूपेणैव लयस्य चोपपद्यमानत्वाद् वृत्तिमद् मन एव प्राणे लीयते इत्यवगन्तव्यमिति।

उत्तरम्– सूत्रकारः **"अविभागो वचनात्"** (४।२।१६) इत्यत्र तत्त्वविद इन्द्रियादीनां स्वरूपतो लयं वक्ष्यतीति अत्र तु सूत्रकारस्य वृत्तिलयमात्रं विवक्षितमिति गम्यमान-

त्वात्, लोके मुमूर्षोः परिस्पन्दात्मिकायां प्राणवृत्तौ विद्यमानायामेव मनोवृत्तीनां लयस्य दर्शनात्, प्राणाडिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनसः प्राणे लये स्वीकार्येऽपि, मनोऽन्ने, अन्नमप्सु, प्राणश्चाऽप्सु लीयेत इत्यापद्यते इति मनसः प्राणे लयो वक्तुमशक्य इति मनोवृत्तीनामेव प्राणे लयस्य स्वीकार्यत्वात्, लक्षणया मनःशब्देन मनोवृत्तेः प्रतिपादयितुं शक्यत्वाच्च मुमूर्षोर् मनोवृत्तिः प्राणे लीयते इत्यवगन्तव्यमिति।

निर्णयः– मुमूर्षोर् मनोवृत्तिः प्राणे लीयत इत्यवगन्तव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सम्पद्यते मनः प्राणे इत्येषा ताण्डिनां श्रुतिः।
२. स्यात् स्वरूपेण वा वृत्त्या तत्र प्राणे मनोलयः॥१॥
३. भवेत् स्वरूपेण लयो मनः प्राण इति श्रुतेः।
४-५. वृत्त्या लयस्तथा लोके दर्शनादिति निर्णयः॥२॥

१७०.(३) अध्यक्षाधिकरणम् (सू. ४-६)

उत्क्रान्तिक्रमे मुख्यस्य प्राणस्य जीवे वृत्त्या लयं प्रतिपादयति–

५००. सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ४।२।४॥ इति।

"एवमेवाऽत्तँमानमन्तकाले सर्व्वे प्प्राणाऽअभिसमायन्ति यत्रैतदूर्द्ध्वोच्छ्वासी भवति" (मा.वा.शत.१४।७।१।४४, का.वा.बृह.४।३।३८) इति, **"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति, सविज्ञानो भवति"** (का.वा.बृह.४।४।२, द्रं.– मा.वा.शत.१४।७।२।३) इति च सर्वेषां प्राणानां तं देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षं जीवं प्रति उपगमस्य, विशेषेण पञ्चवृत्तेर् मुख्यस्य प्राणस्याऽध्यक्षानुगमनस्य, अन्येषां प्राणानां मुख्यप्राणानुगमनस्य, अपीतकरणग्रामस्य प्राणस्याऽध्यक्षेऽवस्थानस्य च श्रुतौ प्रतिपादितत्वान् मुमूर्षोः पुरुषस्य स मुख्यः प्राणो देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीवे वृत्त्या लीयते इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– सभी प्राणों का उस देहेन्द्रियपञ्जर के अध्यक्ष जीव के प्रति जाने का, मुख्य प्राण का जीव के अनुगमन का, अन्य प्राणों का मुख्य प्राण के अनुगमन का, और विलीन सभी करणों के समूह से युक्त प्राण का अध्यक्ष जीव में अवस्थान का भी श्रुति में प्रतिपादन देखे जाने से मरते हुए पुरुष का उस मुख्य प्राण का देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्ष जीव में वृत्ति से लीन होने की बात अवगत होती है।

५०१. भूतेषु तच्छ्रुतेः ४।२।५॥

"प्राणस्तेजसि" (छा.६।८।६) इति तेषां तेजस्सहचरितानां भूतानामाधारत्वेन श्रुतत्वात् प्राणसम्पृक्तो देहेन्द्रियाध्यक्षो जीवस्तेजस्सहचरितेषु सूक्ष्मेषु देहबीजभूतेषु महाभूतेषु सम्पद्यते इत्यवगन्तव्यमित्यर्थः। यथा यो मथुराया वाराणसीं

गत्वा वाराणस्याः पाटलिपुत्रं गच्छति सोऽपि मथुरायाः पाटलिपुत्रं गच्छतीति वक्तुं शक्यते तथैव प्राणोऽध्यक्षे जीवे सम्पद्याऽध्यक्षेण जीवेन सह तेजसि सम्पद्यमानः सन्नपि प्राणस्तेजसि सम्पद्यते इति वक्तुं शक्यते एवेति **"प्राणस्तेजसि"** (छा.६।८।६) इति श्रुतिर् नाऽनुपपन्नेति बोध्यम्। सूत्रकारस्तु उत्क्रमणक्रमं श्रुत्यन्तरं च विचार्य समन्वयप्रदर्शनाय **"सोऽध्यक्षे"** (४।२।४) इति स्फुटतया सूत्रयामासेति वेदितव्यम्।

हिन्दी – "प्राणस्तेजसि" इस श्रुति में उन तेजस्सहचरित महाभूतों का आधार के रूप में श्रुत होने से प्राण से सम्पृक्त देहेन्द्रियाध्यक्ष जीव का देहबीजभूत सूक्ष्म तेजस्सहचरित सूक्ष्म महाभूतों में लय होने की बात अवगत होती है।

५०२. नैकस्मिन् दर्शयतो हि ४।२।६॥

"वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा.५।३।३, द्र.- मा.वा.शत.१४।९।१।३, का.वा.बृह.६।२।२) इति, **"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष-वचसो भवन्ति"** (छा.५।९।१) इति च प्रश्नप्रतिवचनश्रुती, **"आकाशमयो वायुमयस्त् तेजोमयऽआपोमयः पृथिवीमयः"** (मा.वा.शत.१४।७।२।६, का.वा.बृह. ४।४।५) इत्यादिका श्रुतिः, **"अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः श्रुताः। ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः"** (मनु.१।२७) इत्यादिका स्मृतिश्च जीवः शरीरा-न्तरगमनवेलायां भूतसूक्ष्मेषु लीयते इति दर्शयत इति जीवः शरीरान्तरगमनवेला-यामेकस्मिन्नेव तेजसि न सम्पद्यते, किन्तु पञ्चस्वेव भूतसूक्ष्मेषु सम्पद्यते इत्यव-गन्तव्यमित्यर्थः। एवञ्च **"तेजसि"** (छा.६।८।६) इति श्रुतिस्तेजस्सहचरितानि पञ्चैव भूतानि उपलक्षयतीति बोध्यम्।

हिन्दी – "वेत्थ यथा" इत्यादि श्रुति और "अण्व्यो मात्राः" इत्यादि स्मृति जीव का दूसरे शरीर लेने के लिए जाते समय सूक्ष्म महाभूत में लय होने की बात दिखातीं हैं, इस से जीव का दूसरे शरीर लेने के लिए जाते समय केवल एक ही तेज तत्त्व में लय होने की बात नहीं, किन्तु पाँच ही सूक्ष्म महाभूतों में लय होने की बात अवगत होती है।

अथाऽध्यक्षाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "प्राणस्तेजसि" (छा.६।८।६) इति श्रुतौ श्रुता प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिः।

विशयः– तत्र प्राणस्य तेजस्येव सम्पत्तिरुत देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीवे इति।

पूर्वपक्षः– श्रुतेरशङ्कनीयत्वाच् छ्रुतहानेरश्रुतकल्पनायाश्च अन्याय्यत्वाद् मुमूर्षोः प्राणस्य तेजशब्दमुख्यार्थे महाभूतविशेषे तेजस्येव सम्पत्तिरवगन्तव्येति।

उत्तरम्– श्रुत्यन्तरात् प्राणस्य देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीवे सम्पत्तेरवगम्यमानत्वात्, प्राणस्य अध्यक्षे जीवे सम्पन्नस्य तद्द्वारा तेजसि सम्पत्तावपि प्राणस्य तेजसि सम्पत्तेर् वक्तुं शक्यत्वात्, तेजशब्देन लक्षणया तेजसि सम्पन्नो जीवः श्रुत्या प्रतिपादित इति स्वीकर्तुं

शक्यत्वात्, **"प्राणस्तेजसि"** (छा.६।८।६) इति श्रुत्याऽपि मुमूर्षोः प्राणः प्रथमं देहेन्द्रियाध्यक्षे जीवे सम्पद्यते ततस् तेजसि इत्येव प्रतिपाद्यते इति स्वीकर्तव्यमिति।

निर्णयः– मुमूर्षोः प्राणः प्रथमं देहेन्द्रियाध्यक्षे जीवे ततस् तेजसि (तेजःसहचरितभूतसूक्ष्मेषु) सम्पद्यत इत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. सम्पद्यते मृतौ प्राणस्तेजसीति श्रुतौ श्रुतम्।
२. तत्र तेजसि वाऽध्यक्षे सम्पत्तिरिति संशयः॥१॥
३. यथाश्रुति हि सम्पत्तिस् तेजस्येवेति के चन।
४-५. अध्यक्षं प्राप्य सम्पत्तिस् तेजसीति तु निर्णयः॥२॥

१७१.(४) आसृत्युपक्रमाधिकरणम् (सू. ७)

उत्क्रान्तिविचारप्रसङ्गे ज्ञान्यज्ञानिनोरुत्क्रान्तेः समानत्वं प्रतिपादयति–

५०३. समाना चाऽऽसृत्युपक्रमादमृतत्वं चाऽनुपोष्य ४।२।७॥ इति।

सगुणब्रह्मविदादीनाममृतत्वं खलु अविद्यां देहबीजभूतानि महाभूतसूक्ष्माणि सेन्द्रियमनःप्राणानि अदग्ध्वैव उत्क्रान्तिपूर्वकं (छा.८।६।४-६) सम्पाद्या ब्रह्मलोकप्राप्तिरस्ति, न सद्योमुक्तिः, अतो देवयानमार्गोपक्रमात् पूर्वा मनआदिषु वागादिसम्पत्तिः प्रयतोऽविदुषः पुरुषस्य, सगुणब्रह्मविदो विदुषश्च समानैवेति चाऽवगन्तव्यमित्यर्थः। तथा हि सृत्युपक्रमविषया श्रुतिः **"एतद् वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्"** (छा.८।६।५) इति। सूत्रे द्वितीयश् चकारो ह्यर्थे। अनुपोष्य अदग्ध्वा। उष दाहे इति धातोरुपपूर्वस्य क्त्वायां ल्यपि नञ्समासे रूपम्।

हिन्दी– सगुणब्रह्मज्ञानी इत्यादि ब्रह्मलोकगामियों का अमृतत्व भी अविद्या को और इन्द्रिय-मन-प्राण-सहित स्वदेहबीजभूत सूक्ष्म महाभूतों को भी दग्ध किए विना ही प्राप्य ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप ही होने से देवयानमार्ग के उपक्रम से पूर्व होने वाला वागादि का लय मरते हुए अविद्वान् मनुष्य का और सगुणब्रह्मज्ञानी इत्यादि का भी समान ही होने की बात जाननी चाहिए।

अथाऽऽसृत्युपक्रमाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते" (छा.६।८।६) इत्यादिकया श्रुत्योक्ता प्रयतः पुरुषस्य मनआदिषु वागादिसम्पत्तिः।

विशयः– एषा सम्पत्तिरविदुषः पुरुषस्यैव उत विदुषोऽपि।

पूर्वपक्षः– पुनर्जन्मनि हि भूतान्याश्रीयन्ते, पुनर्जन्म चाऽविदुष एव भवतीति अविदुष एवैषा सम्पत्तिः स्यादिति।

उत्तरम्– सगुणब्रह्मविदो विदुषोऽपि अमृतत्वं खलु अविद्यां सेन्द्रियमनःप्राणानि भूतसूक्ष्माणि चाऽदग्ध्वैव उत्क्रान्तिपूर्वकं सम्पाद्या ब्रह्मलोकप्राप्तिरस्ति, न सद्योमुक्तिः, निर्गुणब्रह्मविदं

सद्योमुच्यमानं ह्यधिकृत्य "न तस्य प्राणा ऽउत्क्रामन्ति" (मा.वा.शत.१४।७।२।८, का.वा.बृह.४।४।६) इति श्रुतिः प्रवृत्ता, सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोकं गमिष्यतो विदुषस्तु भूतसूक्ष्माणि आश्रयणीयान्येव, तस्माद् "अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते" (छा.६।८।६) इत्यादिकया श्रुत्या उक्ता देवयानमार्गप्रारम्भात् पूर्वा वागादि-सम्पत्तिः सगुणब्रह्मविदो विदुषोऽविदुषश्च समानैवेति नेयं सम्पत्तिः केवलमविदुषः, किन्तु सगुणब्रह्मविदोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यमिति।

निर्णयः– "वाङ् मनसि सम्पद्यते" (छा.६।८।६) इत्यादिकया श्रुत्या उक्ता मनआदिषु वागादीनां सम्पत्तिः सगुणब्रह्मविदो विदुषोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुता वागादिसम्पत्तिः प्रयतो मनआदिषु।
२. सा स्यादविदुषो वाऽथ विदुषोऽपीति संशयः॥१॥
३. भूताश्रयविशिष्टत्वात् सा ह्यस्त्यविदुषः किल।
४-५. आसृतेः सगुणब्रह्मविदोऽपि सेति निर्णयः॥२॥

१७२.(५) संसारव्यपदेशाधिकरणम् (सू. ८-११)

उत्क्रान्तिविचारे लिङ्गशरीरबीजभूतस्य तेजआदिभूतसूक्ष्मस्य लये विशेषं प्रतिपादयति–

५०४. तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ४।२।८॥ इति।

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्" (कठो.५।७) इत्यादिना प्रेतस्य पुनर्जन्मादिसंसारस्य प्रतिपादितत्वात्, **"तेजः परस्यां देवतायाम्"** (छा.६।८।६) इत्यत्र तेजःशब्दप्रतिपादितस्य प्रयतः पुरुषस्य महाभूतसूक्ष्मवतः सेन्द्रियमनःप्राणस्य लिङ्गशरीरस्य सर्वथा विलये च पुनर्जन्मादिकस्य संसारस्याऽनुपपत्तेः, प्रायणेनैव स्वाप्ययरूपस्य मोक्षस्य सिद्धौ धर्मशास्त्रस्य मोक्षशास्त्रस्य चाऽऽनर्थक्यस्य प्राप्तेः प्रसङ्गाच् च तत् तेजआदिभूत-सूक्ष्मं वागादिकरणाऽऽश्रयभूतलिङ्गशरीरबीजरूपम् आ सम्यग्ज्ञाननिमित्ताज् जीवस्य आत्यन्तिकात् स्वाप्ययात् परस्यां देवतायां सदात्मिकायां कारणशरीर-रूपेणाऽवतिष्ठते, न सर्वथाऽविभागेन परस्यां देवतायां सम्पद्यते इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते" इत्यादि श्रुति में पुनर्जन्मादि संसार प्रतिपादित होने से, और मरते हुए व्यक्ति के लिङ्गशरीर का सर्वथा लय मानने पर पुनर्जन्मादि संसार की अनुपपत्ति होने से तथा सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र की निरर्थकता की भी आपत्ति आ जाने से वाक्-प्रभृति करणों के आश्रयभूत लिङ्गशरीर का बीजरूप उस तेजआदि भूतसूक्ष्म की स्थिति सम्यग् ज्ञान से जीव

का आत्यन्तिक स्वाप्यय (परमात्मैक्य) न होने तक सद्रूप परदेवता में कारणशरीर के रूप में होने की बात अवगत होती है।

५०५. सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ४।२।९॥

"तस्य हैतस्य हृदयस्याऽग्रम् प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैषऽआत्त्माँ निष्क्क्रामति चक्क्षुष्टो वा मूर्द्धँनो वाऽन्येब्भ्यो वा शरीरदेशेब्भ्यः" (मा.वा.शत. १४।७।२।३, का.वा.बृह.४।४।२), "शतं चैका हृदयस्य नाड्यस् तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" (कठो. २।३।१६, छा.८।६।६) इत्यादिकासु श्रुतिषु प्रयतो जीवस्याऽऽश्रयभूतस्य तेजआदिभूतसूक्ष्मस्य सूक्ष्मच्छिद्रनाडीनिष्क्रमणादिना स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मतायाः सूचितत्वस्योपलब्धेः, पार्श्वस्थैर् निर्गमनस्याऽदर्शनादपि तस्य तेजआदिभूतसूक्ष्मस्य अत्यन्तमेव सूक्ष्मताया अवगम्यमानत्वाच्च तद् वागादिकरणाऽऽश्रय-भूतलिङ्गशरीरबीजरूपं तेजआदिभूतसूक्ष्मम् अप्रतीघातयोग्यं स्वरूपतः स्वच्छं प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – श्रुतियों में मरते हुए जीव का आश्रयभूत तेजआदि भूतसूक्ष्म के सूक्ष्म छिद्रवाली नाडियों से निष्क्रमण की बात प्रतिपादित होने से और इस से उस भूतसूक्ष्म का स्वरूप में और प्रमाण में भी सूक्ष्म होने की बात अवगत होने से तथा समीपस्थ व्यक्तियों से उस निष्क्रमण को नहीं देखे जा सकने से भी वह वाक् आदि करण के आश्रयभूत लिङ्गशरीर के बीजरूप तेजआदि भूतसूक्ष्म समुदाय का अप्रतीघातयोग्यत्व, स्वच्छत्व, स्वरूप से और प्रमाण से भी सूक्ष्मत्व भी अवगत होता है।

५०६. नोपमर्देनाऽतः ४।२।१०॥

अत एवाऽतीव सूक्ष्मत्वात् तत् तेजआदिभूतसूक्ष्मं वागादिकरणाश्रयभूतलिङ्गशरीरबीजम् अस्य स्थूलस्य शरीरस्य दाह-कोथ-विष्ठाभावादिनोपमर्देन नोपमृद्यते इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – इसी अतिसूक्ष्मत्वरूप कारण से वह वागादि करण के आश्रयभूत लिङ्गशरीर का बीजरूप तेज आदि भूतसूक्ष्म इस स्थूल शरीर का भस्म-कृमि-विष्ठाभावादि से नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होता है।

५०७. अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ४।२।११॥

मृतावस्थायाम् अवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवदवस्थायामेवोपलभ्यते इति स्थितेः, "तद् धैतदेव जीविष्ष्यतश्च्च मरिष्ष्यतश्च्च विजज्ञँानमुष्णणऽएव जीविष्ष्यन्त्र् छीतो मरिष्ष्यन्" (मा.वा. शत.८।७।२।११) इति श्रुतस्य चोष्मणः प्रसिद्धस्थूलशरीरव्यतिरिक्तलिङ्गशरीरव्यपाश्रयत्व एवोपपत्तेरेष जीवतः स्थूलशरीरे स्पर्शेनोपलभ्यमान ऊष्मा अस्यैव

लिङ्गशरीर-सम्पृक्तस्य तेजआदिभूतसूक्ष्म-समुदायस्याऽस्तीत्यवगन्तव्यमित्यर्थः। अत एव ऊष्मकारणस्य स्थूलशरीरव्यतिरिक्तस्य लिङ्गशरीरसम्पृक्तभूतसूक्ष्म-समुदायस्य मोक्षपर्यन्तस्थायिनोऽस्तित्वं मन्तव्यमिति भावः।

हिन्दी – मृतावस्था में देह रहनेपर भी उस में उष्णत्व न रहने से और जीवितावस्था में ही उष्णत्व रहने से श्रुति में प्रतिपादित जीवनलक्षण उष्णत्व भी स्थूलशरीरभिन्न लिङ्गशरीर के आश्रयभूत तेजआदिभूतसूक्ष्मसमुदाय में आश्रित माननेपर ही उपपन्न होने से यह जीवित्त मनुष्य के स्थूल शरीर में स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उपलभ्यमान ऊष्मा इसी लिङ्गशरीरसम्पृक्त तेजआदिभूतसूक्ष्मसमुदाय का अवगत होता है।

अथ संसारव्यपदेशाधिकरणस्वरूपम्

विषयः – **"तेजः परस्यां देवतायाम्"** (छा.६।८।६) इति श्रुत्युक्ता प्रयतः पुरुषस्य वागादिकरणाश्रयभूतलिङ्गशरीरबीजरूपस्य तेजआदिभूतसूक्ष्मस्य परस्यां देवतायां सद्रूपायां सम्पत्तिः।

विशयः – सा सम्पत्तिः आत्यन्तिकस्वरूपप्रविलयरूपा वा सुषुप्तप्रलयवत् संसारबीज-भावाऽवशेषयुतैवेति।

पूर्वपक्षः – सद्रूपा परा देवता सर्वस्य जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिरिति तत्र तेजआदि-भूतसूक्ष्मस्य सम्पत्तिरात्यन्तिक-स्वरूपप्रविलय-रूपैव भवेदिति।

उत्तरम् – श्रुतौ प्रेतस्य पुनर्जन्मादेः संसारस्य प्रतिपादितत्वात्, प्रयतः सर्वस्यैव जनस्य परस्यां देवतायामात्यन्तिके लये च तथा प्रतिपादनस्याऽनुपपत्तेः, प्रायणेनैवात्यन्तिक-स्वाप्ययरूपस्य मोक्षस्य सिद्धौ धर्मशास्त्रस्य मोक्षशास्त्रस्य चाऽनर्थक्यस्य प्राप्तेः प्रसङ्गाच्च **"तेजः परस्यां देवतायाम्"** (छा.६।८।६) इत्युक्ता तेजआदिभूतसूक्ष्मसमुदायस्य परस्यां देवतायां सम्पत्तिर् नाऽऽत्यन्तिकी स्वरूपप्रविलयरूपा, किन्तु सुषुप्तप्रलयवद् बीजभावाऽवशेषयुतैवेति।

निर्णयः – **"तेजः परस्यां देवतायाम्"** (छा.६।८।६) इत्युक्ता तेजआदिभूतसूक्ष्मसमुदायस्य परस्यां देवतायां सम्पत्तिः संसृतिबीजभावाऽवशेषयुतैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रूयते प्रयतः पुंसः सम्पत्तिस् तेजसः सति।
२. साऽऽत्यन्तिकी बीजभावाऽवशेषा वेति संशयः॥१॥
३. आत्यन्तिकी भवेत् सर्वप्रकृतित्वात् सतः किल।
४-५. बीजावशेषा संसारव्यपदेशादितस् तु सा॥२॥

१७३.(६) प्रतिषेधाधिकरण् (सू. १२-१४)

निर्गुणब्रह्मविद उत्क्रान्तेर् विचारं प्रस्तौति—

५०८. प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ४।२।१२॥ इति।

निर्गुणब्रह्मज्ञानिनः **"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"** (का.वा.बृह.४।४।६) इति उत्क्रान्तेः प्रतिषेधाद् उत्क्रान्तिर् न भवतीति चेत् **"न तस्म्मात्त् प्राणाऽउत्त्क्रामन्ति"** (मा.वा.शत.१४।७।२।८) इति शाखान्तरे पञ्चम्याः प्रयोगाच् छारीरादात्मनः प्राणानामुत्क्रान्तेः प्रतिषेधोऽयं न शरीरादिति गम्यमानत्वान् न निर्गुणब्रह्मज्ञानिनः शरीराद् उत्क्रान्तेः प्रतिषेधः, तस्मात् परब्रह्मज्ञानिनोऽपि प्राणादिविशिष्टजीवस्य शरीरादुत्क्रान्तिर् भवत्येवेत्यर्थः। पूर्वपक्षसूत्रमेतत्।

हिन्दी – निर्गुणब्रह्मज्ञानी की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध श्रुति में (का.वा.बृह.४।४।६) होने से निर्गुणब्रह्मज्ञानी की उत्क्रान्ति नहीं होती है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्यों कि माध्यन्दिनीयशाखा में (मा.वा.शत.१४।७।२।८) पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग देखे जाने से उक्त प्रतिषेध शारीर आत्मा से प्राणों की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध है, शरीर से निर्गुणब्रह्मज्ञानी के जीव की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध नहीं है, यह बात अवगत होती है। यह पूर्वपक्षसूत्र है।

५०९. स्पष्टो ह्येकेषाम् ४।२।१३॥

एकेषां माध्यन्दिनीयानां काण्वानां चाम्नाये **"उदस्म्मात्त्प्राणाः क्क्रामन्त्याहो३ नेति, नेति होवाच याज्ञँवल्क्क्यः"** इत्युक्त्वा तस्यैवोपपादनाय **"अत्त्रैव समवनीयन्ते"** (मा.वा.शत.१४।६।२।१२, का.वा.बृह.३।२।११) इति प्राणानां विलयं प्रतिज्ञाय तस्य सिद्धये **"सऽउच्छ्वयत्त्याद्धॅमायत्त्याद्धॅमातो मृतः शेते"** (मा.वा.शत. १४।६।२।१२, का.वा.बृह.३।२।११) इति शरीरस्यैव उत्क्रान्त्यवधित्वेनाऽभिप्रेतस्योच्छ्वयनादिकमाम्नातमिति शरीरापादानाया एव उत्क्रान्तेः प्रतिषेधः स्पष्टोऽस्ति। तस्माद् ब्रह्मज्ञानिनः शरीरादुत्क्रान्तिर् न भवतीति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – माध्यन्दिनीयशाखाध्यायियों तथा काण्वशाखाध्यायियों के आम्नाय में निर्गुणब्रह्मज्ञानी के जीवात्मा की शरीर से ही उत्क्रान्ति का प्रतिषेध स्पष्ट है, अतः निर्गुणब्रह्मज्ञानी का शरीर से उत्क्रान्ति न होने की बात अवगत होती है।

५१०. स्मर्यते च ४।२।१४॥

परब्रह्मविदो गमनाभावेन पदचिह्नरहितस्य मार्गविषये पदचिह्नान्वेषणे लग्ना देवा अपि अज्ञानपराहता भवन्तीत्यादेरर्थस्य प्रतिपादनेन महाभारते **"सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर् भूतहितस्य च (सर्वभूतानि पश्यतः)। देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः॥ शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके। यथा गतिर् न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः"** (शान्ति.२३९।२३,२४; २६२।३२, २६९।२२; अनु.११३।७) इत्यादिना परब्रह्मविद उत्क्रान्त्याद्यभावः स्मर्यते चेत्यर्थः। उपपद्यते च गन्तव्यस्याऽभावात् सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य निर्गुणब्रह्मविद उत्क्रान्त्यभाव इति चशब्दस्याऽर्थः।

हिन्दी – महाभारतादि में भी निर्गुणब्रह्मज्ञानी के उत्क्रान्त्यादिका अभाव का स्मरण किया जाता है।

अथ प्रतिषेधाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– परब्रह्मविद उत्क्रान्तिः।

विशयः– परब्रह्मविद उत्क्रान्तिर् भवति न वेति।

पूर्वपक्षः– "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" (का.वा.बृह.४।४।६) इति श्रुत्या शारीरादात्मन एव प्राणानामुत्क्रान्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, परब्रह्मज्ञस्याऽपि प्राणयुतलिङ्गशरीरसहितस्य जीवस्य शरीरादुत्क्रान्तेरनिषिद्धत्वात्, महाभारते परब्रह्मज्ञस्याऽपि शुकस्याऽऽदित्यमण्डलं प्रति गमनस्य प्रतिपादितत्वाच्च परब्रह्मविदोऽपि प्राणयुतलिङ्गशरीरसहितस्य जीवस्य शरीरादुत्क्रान्तिर् भवतीति।

उत्तरम्– परब्रह्मविदः शरीरादुत्क्रान्तेः प्रतिषेधस्य माध्यन्दिनीयानां काण्वानां च वाजसनेयिनामाम्नाये उपनिषत्काण्डे आर्तभागयाज्ञवल्क्यप्रश्नप्रतिवचनप्रकरणे स्पष्टत्वात्, महाभारते च परब्रह्मविद उत्क्रान्त्याद्यभावस्य स्मृतत्वात्, शुकस्य च स्वप्रभावप्रदर्शनाय सशरीरस्यैव योगबलेन सूर्यमण्डलं प्रति गमनात्, सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्योत्क्रान्तेरनुपपत्तेश्च परब्रह्मविदः शरीरादुत्क्रान्तिर् न भवतीति।

निर्णयः– परब्रह्मविदः शरीरादुत्क्रान्तिर् न भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. मृतेः परब्रह्मविदोऽप्यत्रोत्क्रान्तिः प्रतीयते।
२. सा वस्तुतो भवेद् वाऽथ न भवेदिति संशयः ॥१॥
३. शारीरात् तन्निषेधेऽपि शरीरात् सा भवेत् किल।
४-५. न सा श्रुतेः स्मृतेर् युक्तेर् विदुषस् त्विति निर्णयः ॥२॥

१७४.(७) वागादिलयाधिकरणम् {कलालयाधिकरणं वा} (सू. १५)

निर्गुणब्रह्मविदः प्राणादीनां परे ब्रह्मणि लयं प्रतिपादयति–

५११. तानि परे तथा ह्याह ४।२।१५॥ इति।

"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्याऽस्तं गच्छन्ति" (प्रश्नो.६।५) इति श्रुतिः परब्रह्मविदः प्राणादीनामिन्द्रियाणां भूतानां च पुरुषपदोक्ते परे ब्रह्मणि लयं स्पष्टतया आह इति **"यत्राऽयम् पुरुषो म्म्रियतऽउदस्मात्त् प्राणाः क्क्रामन्त्याहो३ नेति, नेति होवाच याज्ञ्ँवल्क्क्योऽत्त्रैव समवनीयन्ते"** (मा.वा.शत. १४।६।२।१२, का.वा.बृह.३।२।११) इति श्रुतावपि परब्रह्मविदः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि तदाश्रयभूतमनःप्राणजीवभूतसूक्ष्मसहितानि परे ब्रह्मणि एव लीयन्ते इत्युक्तमित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– वे पूर्वसूत्रों में परामृष्ट और श्रुति में प्राणशब्द से प्रतिपादित वागादि इन्द्रियों का और तदाश्रयभूत मन, प्राण, जीव और महाभूतसूक्ष्मों का भी कलाशब्द से उल्लेख कर के उन का परब्रह्म में लीन होने की बात "एवमेवाऽस्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः" इत्यादि अन्य श्रुति में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित होने से "यत्राऽयम् पुरुषो म्म्रियते" इत्यादि श्रुति से भी प्राणशब्द से प्रतिपादित वागादि इन्द्रियों का उन के आश्रयभूत मन, प्राण, जीवात्मा और भूतसूक्ष्मों के साथ परब्रह्म में लय होने की बात अवगत होती है।

अथ वागादिलयाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"यत्राऽयम् पुरुषो म्म्रियतऽउदस्मात्त् प्राणाः क्क्रामन्त्याहो३ नेति, नेति होवाच याज्ञ्यँज्ञवल्क्क्योऽत्त्रैव समवनीयन्ते"** (मा.वा.शत.१४।६।२।१२, का.वा.बृह. ३।२।११।) इति श्रुतौ श्रुतः परब्रह्मविदः प्राणशब्दोदितेन्द्रियाणां लयः।

विशयः– उक्तः प्राणशब्दोदितेन्द्रियादीनां लयोऽन्यत्र भवति उत परे ब्रह्मणीति।

पूर्वपक्षः– "गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः" (मुण्डको.३।२।७) इति श्रुतौ कलाशब्दवाच्यानां परब्रह्मविद इन्द्रियाणां भूतानां च स्वस्वप्रकृतिषु पृथिव्यादिषु प्रतिष्ठाशब्दोक्तासु लयस्य प्रतिपादितत्वात्, **"अस्स्य पुरुषस्स्य मृतस्स्याऽग्ग्ँनिंव् वागप्य्येति बातम् प्राणश्च् चक्क्षुरादित्त्यम् मनश्च्चन्द्रन् दिशः श्रोत्त्रम् पृथिवीं शरीरमाकाशमात्त्ँमौषधीर्ल् लोमानि बनस्प्पतीन्न् केशाऽअप्प्सु लोहितञ्च रेतश्च्च निधीयते"** (मा.वा.शत.१४।६।२।१३, का.वा.बृह.३।२।१३) इति श्रुतौ वागादीनामग्न्यादिषु क्रमेण लयस्य श्रुतत्वाल् लोकेऽपि तथैव प्रतीयनानत्वाच्च परब्रह्मविदोऽपि प्राणशब्दोदितेन्द्रियभूतलयः स्वस्वप्रकृतिषु अग्न्यादिषु एव भवेदिति।

उत्तरम्– **"एवमेवाऽस्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्याऽस्तं गच्छन्ति"** (प्रश्नो.६।५) इति श्रुत्या विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षया परब्रह्मविदो वागादीनामिन्द्रियाणां भूतानां च पुरुषपदोक्ते परे ब्रह्मणि लयस्य दर्शितत्वात्, **"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः"** इति श्रुतेः **"अस्स्य पुरुषस्स्य मृतस्स्याऽग्ग्ँनिंव् वागप्य्येति"** इत्यादिकायाः श्रुतेश्च मुच्यमानपरब्रह्मवित्-पुरुषपार्श्ववर्तिलौकिकपुरुषदृष्टिमात्रानुवादपरत्वाच परब्रह्मविदः प्राणशब्दोदितानि इन्द्रियाणि मनःप्राणजीवभूतानि च परे ब्रह्मणि एव लीयन्ते इति।

निर्णयः– परब्रह्मविदः प्राणशब्दोदितानि इन्द्रियाणि मनःप्राणजीवभूतानि च परे ब्रह्मण्येव लीयन्ते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. प्राणा अत्त्रैव समवनीयन्त इति हि श्रुतम्।
२. लीयन्तेऽन्यत्र ते प्राणाः परे ब्रह्मणि वा किमु॥१॥
३. श्रुतेर् लोकप्रतीतेश्चाऽन्यत्रैवेति हि के चन।
४-५. परे ब्रह्मण्येव तथा श्रुतेर् ब्रह्मज्ञदृष्टितः॥२॥

१७५.(८) अविभागाधिकरणम् (सू. १६)

निर्गुणब्रह्मविदः प्राणादियुक्तलिङ्गशरीरस्य परे ब्रह्मणि आत्यन्तिकं लयं प्रतिपादयति–

५१२. अविभागो वचनात् ४।२।१६॥ इति।

कलाशब्दवाच्यानां लिङ्गशरीरतत्त्वानां परे पुरुषे लयमुक्त्वा तेषां परेण पुरुषेण सर्वथाऽविभागस्य प्रतिपादकाद् **"भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति"** (प्रश्नो.६।५) इति वचनात् प्राणशब्दोदितस्य इन्द्रियमनःप्राणभूतसूक्ष्मयुतस्य परब्रह्मविदां लिङ्गशरीरस्य परे ब्रह्मणि लीनस्य परब्रह्मणा सर्वथा अविभागोऽवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– कलाशब्द से प्रतिपादित लिङ्गशरीरतत्त्वों का परमपुरुष में लय बताकर उन तत्त्वों का परम पुरुष से सर्वथा अभेद बताने वाले "भिद्येते तासां नामरूपे" इत्यादि वचन से प्राणशब्द से प्रतिपादित इन्द्रिय-मन-प्राण-भूतसूक्ष्म-युक्त ब्रह्मज्ञानिसम्बन्धी लिङ्गशरीर का परब्रह्म में लय होनेपर उस का परब्रह्म से सर्वथा अभेद होने की बात अवगत होती है।

अथाऽविभागाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– परब्रह्मविदः प्राणशब्दोदितस्य लिङ्गशरीरस्य परब्रह्मणि लयः।

विशयः– परब्रह्मविदो लिङ्गशरीरस्य परब्रह्मणि लयो बीजावशेषयुतो भवति उत सर्वथा निरवशेषो भवतीति।

पूर्वपक्षः– अन्यप्रलयवत् सुषुप्तप्रलयवच्च बीजावशेषयुत एव भवेदिति।

उत्तरम्– कलाशब्दवाच्यानां लिङ्गशरीरतत्त्वानां परे पुरुषे लयं प्रतिपाद्य तेषां परेण पुरुषेण सर्वथाऽभेदस्य प्रतिपादकात् **"भिद्येते तासां नामरूपे"** (प्रश्नो.६।५) इत्यादिकाद् वचनात्, अविद्यानिमित्तानां तत्त्वानां विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वस्याऽनुपपन्नत्वात्, सावशेषत्वे च पुनरावृत्तिप्रसङ्गेन विद्याया आनर्थक्यस्य प्रसङ्गाच्च परब्रह्मविदः प्राणशब्दोदितस्य लिङ्गशरीरस्य परब्रह्मणि लय आत्यन्तिको निरवशेषो भवतीति गम्यते इति।

निर्णयः– परब्रह्मविदो लिङ्गशरीरस्य परे ब्रह्मणि लय आत्यन्तिको निरवशेषो भवतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. परब्रह्मविदः प्राणलयो ब्रह्मणि हि श्रुतः।
२. स सावशेषो निरवशेषो वेति तु संशयः॥१॥
३. सावशेषो भवेदन्यलयवद् धीति के चन।
४-५. श्रुतेर् युक्तेश्च निरवशेष एवेति निर्णयः॥२॥

१७६.(९) तदोकोधिकरणम् (सू. १७)

ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावतो जनस्योत्क्रान्तेर् विशेषं प्रतिपादयति–

५१३. तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेष-गत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ४।२।१७॥ इति।

ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावतो ब्रह्मरन्ध्रनाड्या निष्क्रम्योत्क्रमणेनाऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्रति गमने एव ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यायाः सामर्थ्यस्य उपयोगात्, ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावतो विद्याविशेषाङ्गभूतगतेरनुशीलयितव्यतायाश्चाऽवगमात्, तथा चाऽनुशीलितया गत्या गमनस्यैवौचित्याच्च ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावत उत्क्रमणस्य काले तस्योपसंहृतवागादिकस्योच्चिक्रमिषोर् विज्ञानात्मनोऽवस्थानायतनभूतहृदयरूपौकसोऽग्रस्य **"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रम् प्रद्योतते"** (मा.वा.शत.१४।७।२।३, का.वा.बृह.४।४।२) इत्यादिकायां श्रुतौ प्रसिद्धं प्रज्वलनं भवति, तेन प्रज्वलनेन प्रकाशितं द्वारं यस्य तादृशः सन् हार्दब्रह्मणाऽनुगृहीतः स ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावान् विद्वान् शतादतिरिक्तया एकशततम्या ब्रह्मरन्ध्रानुगतया नाड्या निष्क्रम्य ब्रह्मलोकगमनायोत्क्रामतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्यावाले ज्ञानी का ब्रह्मरन्ध्रसम्बद्ध नाडी से निकलकर अर्चिरादि देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक जाने की स्थिति होनेपर ही ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्या की चरितार्थता हो सकने से, ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्यावाले ज्ञानी के लिए विद्याविशेष से सम्बद्ध मार्ग का अनुशीलन भी आवश्यक अवगत होने से और अनुशीलित मार्ग से ही उत्क्रमण करने में औचित्य देखे जाने से भी ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्यावाले ज्ञानी के उत्क्रमण के समय में उस उपसंहृतवागादिकरणक उत्क्रमण करते हुए विज्ञानात्मा के अवस्थान के आयतनभूत हृदयरूप गृह के अग्रभाग का श्रुत्युक्तरूप प्रज्वलन होता है, और उस प्रज्वलन से जिस का निर्गमनद्वार प्रकाशित होता है वह हार्द ब्रह्म से अनुगृहीत ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्यावाला विद्वान् सौ से अतिरिक्त एक सौ एकवीं नाडी से निकलकर ब्रह्मलोकगमन के लिए चलता है, यह बात अवगत होती है।

अथ तदोकोऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावतो जनस्य उत्क्रान्तेर् द्वारम्।

विशयः– ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावान् उत्क्रमिष्यन् जनः किम् अविद्वानिवाऽनियतेन केन चिद् द्वारेण शरीरान् निष्क्रामति, उत नियतेन मूर्धन्यनाडीद्वारेणेति।

पूर्वपक्षः– **"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रम् प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष ऽआत्माँ निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्द्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः"** (मा.वा.शत. १४।७।२।३, का.वा.बृह.४।४।२) इति अविशेषश्रवणाद् ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावान् जनोऽप्युत्क्रमिष्यन् येन केनाऽपि अनियतेन द्वारेण शरीरान् निष्क्रामतीति।

उत्तरम्– **"शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति"** (कठो.२।३।१६, छा.८।६।६) इति श्रुतत्वात् ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावतो जनस्य ब्रह्मरन्ध्रनाड्या निष्क्रम्योत्क्रमणेना-

ऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्रति गमने एव ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यायाः सार्थक्यात्, तेन मूर्धन्यनाडीमार्गेणोर्ध्वं गमनस्य जीवनकालेऽपि चिन्तनेनाऽभ्यसनीयताया अवगमात्, अभ्यस्तेनैव मार्गेण प्रायणकालेऽपि निष्क्रमितुमुचितत्वाच्च उपसंहृतवागादिकस्योचिक-मिषोर् विज्ञानात्मनोऽवस्थानायतनभूतस्य हृदयरूपौकसोऽग्रस्य प्रज्वलने जाते तत्-प्रज्वलनप्रकाशितद्वारो हार्दब्रह्मानुगृहीत उत्क्रमिष्यन् ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावान् जनो नियतेन मूर्धन्यनाडीद्वारेणैव शरीरान् निष्क्रामतीति।

निर्णयः– ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यावान् जनः उत्क्रमिष्यन् नियतेन मूर्धन्यनाडीद्वारेणैव शरीरान् निष्क्रामतीति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. उत्क्रान्तिर् ब्रह्मलोकार्थविद्यायुक्तस्य चेष्यते।
२. सा स्यादनियतेनैव द्वारेण नियतेन वा॥१॥
३. द्वारेणाऽनियतेनैव विशेषाऽश्रवणात् किल।
४-५. विद्यासार्थक्यादितः स्यान् नाड्या मूर्धन्ययैव सा॥२॥

१७७.(१०) रश्म्यधिकरणम् (सू. १८-१९)

ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमत उत्क्रान्तावन्यं विशेषं प्रतिपादयति—

५१४. रश्म्यनुसारी ४।२।१८॥ इति।

"अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" (छा. ८।६।५) इति श्रुतौ विशेषस्याऽश्रवणाद् अहनि रात्रौ वा म्रियमाणः ब्रह्मलोकप्राप्ति-फलकविद्यादिमान् जनो मूर्धन्यया नाड्या निष्क्रम्य आदित्यरश्म्यनुसारी ऊर्ध्वं गच्छतीति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– श्रुति में (छा.८।६।५) विशेष प्रतिपादित न होने से दिन में अथवा रात में मरने वाला ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्यादिवाला व्यक्ति मूर्धन्य नाडी से निकलकर आदित्य के रश्मि का अनुसरण करता हुआ ऊपर जाता है, यह बात अवगत होती है।

५१५. निशि नेति चेन् न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च ४।२।१९॥

रात्रौ नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदाद् रात्रौ म्रियमाणः ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक-विद्यादिमान् रश्म्यनुसारी न भवेदिति चेत्, नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावि-त्वान् न तथा मन्तव्यम्, **"तद् यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चाऽमुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चाऽमुं चाऽमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये**

सृप्ताः" (छा.८।६।२) इति श्रुतिः खलु नाडीरश्मिसम्बन्धस्याऽविशेषेण रात्रिन्दिवं यावद्देहभावित्वं दर्शयति चेत्यर्थः। **"अहरेवैतद् द्रात्त्रौ दधाति"** (मा.वा.शत. ४।१।२।१३) इति श्रुतिरपि रात्रावपि आदित्यरश्मीनां स्तोकं प्रतानं दर्शयतीति च शङ्करः। **"यऽएष तपति तद्यदेषऽएव मृत्त्युस्त् तस्म्माद्याऽएतस्म्मादर्व्वाच्च्यः प्प्रजास्त् ता म्म्रियन्तेऽथ याः पराच्च्यस्त् ते देवास्त् तस्म्मादु तेऽमृतास्त् तस्स्येमाः सर्व्वाः प्प्रजा रश्मिम्मभिः प्प्राणेष्ष्वभिहिता यथाऽश्श्वोऽश्श्वाभिधान्न्या वाऽभीशुभिर् व्वैवमस्स्येमाः सर्व्वाः प्प्रजा रश्मिम्मभिः प्प्राणेष्ष्वभिहितास्त् तस्म्मादु रश्म्मयः प्प्राणानब्भ्यवतायन्ते"** (मा.वा.शत.२।३।३।७) इति च वाजसनेयके श्रूयते।

हिन्दी – रात में मूर्धन्य नाडी और आदित्यरश्मियों का सम्बन्ध विच्छिन्न होने से रात में मरनेवाला ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्यादिवाला व्यक्ति आदित्य के रश्मियों का अनुसरण नहीं कर सकेगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि मूर्धन्य नाडी और आदित्यरश्मियों का सम्बन्ध देह रहने तक अविच्छिन्न रहने से रात में भी नाडीरश्मिसम्बन्ध अविच्छिन्न ही रहता है, मूर्धन्य नाडी और आदित्यरश्मियों का सम्बन्ध देह रहने तक अविच्छिन्न रहने की बात को "तद् यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चाऽमुं च" इत्यादि छान्दोग्यश्रुति (८।६।२) दिखाती भी है।

अथ रश्म्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– मृतस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतो जनस्य रश्म्यनुसारित्वम्।

विशयः– ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतो जनस्याहनि मृतस्यैव रश्म्यनुसारित्वमुत निशि मृतस्य चेति।

पूर्वपक्षः– निशि मूर्धन्यनाडीनामादित्यरश्मिभिः सह सम्बन्धस्याऽसम्भवान् निशि मृतस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतो न रश्म्यनुसारित्वं किन्त्वहनि मृतस्यैवेति।

उत्तरम्– नाडीरश्मिसम्बन्धस्याऽविशेषेण रात्रिन्दिवं यावद्देहभावित्वस्य श्रुतौ श्रुतत्वाद् रात्रौ मृतस्याऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतो जनस्य रश्म्यनुसारित्वमवगम्यते इति।

निर्णयः– रात्रौ मृतस्यापि ब्रह्मलोकप्राप्तिफकविद्यादिमतो जनस्य रश्म्यनुसारित्वमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रुतं रश्म्यनुसारित्वं हार्दविद्यावतः श्रुतौ।
२. तदुत्क्रान्तस्याऽह्नि वाऽथो निश्यपीति तु संशयः॥१॥
३. अह्न्येव तद् रश्म्यभावान् निशि नेति हि के चन।
४-५. रश्मियोगस्य तुल्यत्वान् निश्यपीति तु निर्णयः॥२॥

१७८.(११) दक्षिणायनाधिकरणम् (सू. २०-२१)

ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमतो जनस्योत्क्रान्तावेवाऽन्यमपि विशेषं प्रतिपादयति–

५१६. अतश्चाऽयनेऽपि दक्षिणे ४।२।२०॥ इति।

आतिवाहिकोत्तरायणदेवतया सह सम्बन्धस्य उत्तरायण-दक्षिणायन-कालनिरपेक्षतया यावद्देहभावित्वादेव सूर्यस्य दक्षिणमार्गेण गमनेनोपलक्षिते वेदाङ्गज्योतिषाऽनुसारिणि चान्द्रनभोमासादिमासषट्कात्मके कालविशेषरूपे चान्द्रे दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणः ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक-विद्यादिमान् जनः रश्म्यर्चिरह-रापूर्यमाणपक्षोत्तरायणादिदेवयानमार्गेणैव ब्रह्मलोकं गच्छतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – आतिवाहिक उत्तरायणदेवता से सम्बन्ध उत्तरायण अथवा दक्षिणायन काल से निरपेक्ष रहकर देह रहने तक अविच्छिन्न रूप में रहने से ही सूर्य के दक्षिणमार्ग से चलने से उपलक्षित, वेदाङ्गज्योतिषानुसारी चान्द्रनभोमासादि (श्रावणमासादि) छह महीनों से युक्त कालविशेषरूप चान्द्र दक्षिणायन में मरने वाले ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्यावाले विद्वान् का भी रश्मि अर्चिः अहः आपूर्यमाण-पक्ष उत्तरायण इत्यादि देवयानमार्ग से ही ब्रह्मलोक को जाने की बात अवगत होती है।

५१७. योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ४।२।२१॥

"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ अग्निर् ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ धूमो रात्रिस् तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर् योगी प्राप्य निवर्तते" (गीता.८।२३-२५) इतीयं कालकृता व्यवस्था तु स्मार्तयोगिनः प्रति स्मर्यते, न हार्दविद्यादिश्रौतविद्यादिपरान् ब्राह्मणादि-वर्णाश्रमधर्मपरान् प्रति; **"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्य-नावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः"** (गीता.८।२६) इति निर्दिष्टे एते गती च स्मृत्युक्ते एव न श्रुत्युक्ते इत्यर्थः।

हिन्दी – "यत्र काले त्वनावृत्तिम्" इत्यादि वचन से प्रतिपादित जो उत्तरायाण-दक्षिणायन गति हैं वे योगियों के लिए हैं, हार्दविद्याप्रभृति-श्रौतविद्यादिवाले ब्राह्मणादि वर्णाश्रमधर्मपरायणों के लिए नहीं, "शुक्लकृष्णे गती ह्येते" इत्यादि वचन से प्रतिपादित ये गतियाँ केवल स्मृत्युक्त हैं, साक्षात् श्रुत्युक्त भी नहीं हैं।

अथ दक्षिणायनाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– दक्षिणायनकाले मृतः ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमान् जनः।

विशयः– दक्षिणायनकाले मृतः ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमान् जनः रश्म्यर्चिरहरापूर्य-माणपक्षोत्तरायणादिदेवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छति न वेति।

पूर्वपक्षः– भगवद्गीतायां दक्षिणायनकाले मृतस्य धूमादिपितृयाणमार्गेण चन्द्रलोकं प्रति गमनस्य प्रत्यावर्तनस्य च प्रतिपादितत्वात्, भीष्मस्य मरणायोत्तरायणस्य प्रतीक्षाया महाभारते वर्णितत्वाच्च दक्षिणायनकाले मृतः ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्यादिमान् जनः रश्म्यर्चिरहरापूर्यमाणपक्षोत्तरायणादिदेवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं न गच्छतीति गम्यते इति।

उत्तरम्– अन्यत्र कालवाचित्वेन दृष्टानामपि अहरापूर्यमाणपक्षोत्तरायणादिशब्दानां देवयानमार्गसम्बद्धानामातिवाहिकदेवतावाचकत्वाद्, आतिवाहिकदेवताभिः सह सम्बन्धस्य चोत्तरायणदक्षिणायनकालनिरपेक्षतया यावद्देहभावित्वात्, कालविशेषमरणमात्रेण ब्रह्मलोकप्रातिफलकविद्यादीनां निष्फलताया अनौचित्यात्, भगवद्गीतादिषु प्रोक्तस्य दक्षिणोत्तरायणकालनियमस्य च स्मार्तयोगिविषयकत्वात्, भीष्मेण च आत्मनः पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युतायाः ख्यापनार्थमविद्वद्विषयकोत्तरायणमरणप्राशस्त्यबोधकशास्त्रगौरवरक्षणार्थं च उत्तरायणकालस्य प्रतीक्षणाच्च दक्षिणायनकाले मृतोऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक-श्रौतविद्यादिमान् जनः रश्म्यर्चिरहरापूर्यमाणपक्षोत्तरायणादिदेवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छतीत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– दक्षिणायनकालेऽपि मृतः ब्रह्मलोकप्रासिफलकश्रौतविद्यादिमान् जनः देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छत्येवेत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. गतिर् विद्यादियुक्तस्य ब्रह्मलोकं प्रति श्रुता।
२. तस्याऽयने दक्षिणे तु मृतस्य स्यान् न वाऽथ सा।।१।।
३. न स्याद् गीतोक्तितो भीष्मप्रतीक्षादर्शनादपि।
४-५. स्यादेव देवतायोगतौल्यादेरिति तु स्थितिः।।२।।

इति श्रीवेदव्यास-बादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ चतुर्थे ब्रह्मज्ञानफलनिरूपणपरेऽध्याये द्वितीयः
उत्क्रान्तिगतिनिरूपणपरः पादः समाप्तः॥

अथ तृतीयः पादः

(अर्चिरादिदेवयानमार्गनिरूपणपरः)

१७९.(१) अर्चिराद्यधिकरणम् (सू. १)

अथ ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्याकर्मान्यतरवता पुरुषेण ब्रह्मलोकं प्रति गमनायोत्क्रान्तेनाऽनुसरणीयस्याऽर्चिरादिमार्गस्य देवयानमार्गाख्यस्य उत्तरमार्गापरपर्यायस्य निरूपणाय तृतीयः पादः प्रारभ्यते–

५१८. अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ४।३।१॥ इति।

तस्याऽर्चिरादिमार्गस्य **"ते य ऽ एवमेतद् विदुर् ये चाऽमी ऽअरण्ये श्रद्धाँ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।१५,

छा.५।१०।२, द्र.- छा.४।१५।५) इति नानाविद्याकर्मसु प्रख्यातत्वात् सर्वोऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्याकर्मान्यतरवान् ब्रह्मलोकं प्रेप्सुर् जनः अर्चिरादिना मार्गेण गच्छतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – अर्चिरादिमार्ग नाना विद्याकर्मों में प्रख्यात होने से सभी ब्रह्मलोकप्राप्तिफलक विद्याकर्मवाले ब्रह्मलोक जाने वाले लोगों का इसी अर्चिरादिमार्ग से गमन होने की बात अवगत होती है।

अथाऽर्चिराद्यधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मलोकं गच्छतां मार्गः।

विशयः– ब्रह्मलोकं गच्छन्तः अग्न्यादिना वा वाय्वादिना वा अर्चिरादिना वा रश्म्यादिना वा केन मार्गेण गच्छन्तीति।

पूर्वपक्षः– **"स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याऽग्निलोकमागच्छति"** (कौषी.१।३), **"यदा वै पुरुषोऽस्माल् लोकात्त् प्रैति स वायुमागच्छति"** (मा.वा.शत.१४।८।१२।१, का.वा.बृह.५।१०।१), **"अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नाऽर्चिषमेवाऽभिसम्भवन्ति"** (छा.४।१५।५), **"अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते"** (छा.८।६।५), **"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति"** (मुण्डको.१।२।११) इत्यादिषु श्रुतिषु नानाविद्यासु नानाब्रह्मलोकमार्गाणामुक्तत्वात् तत्तद्विद्याकर्मानुशीलनपरायणा उत्क्रम्य ब्रह्मलोकं गच्छन्तो जनास् तत्तद्विद्यादिशेषरूपैर् नानामार्गैर् ब्रह्मलोकं गच्छेयुरित्यवगम्यते इति।

उत्तरम्– **"ते यऽएवमेतद् विदुर् य्ये चामीऽअरण्ये श्रद्धाᳪ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१८) इति नानाविद्यासु अर्चिरादिमार्गप्राप्तेरुक्तत्वात्, अग्न्यादिमार्गाणामपि गन्तव्याभेदेन अर्चिरादिमार्गाऽभिन्नत्वस्याऽवगम्यमानत्वात्, **"अथ यऽएतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदन् दन्दशूकम्"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१९, का.वा.बृह.६।२।२६) इति श्रुत्या, **"अथैतयोः पथोर् न कतरेण चन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति"** (छा.५।१०।८) इति श्रुत्या च पितृलोकमार्ग-नरकमार्गभिन्नस्यैकस्यैव ब्रह्मलोकमार्गस्य प्रख्यापितत्वाच्च ब्रह्मलोकगमनायाऽर्चिरादिमार्गभिन्नस्याऽन्यस्य मार्गस्याऽभावान् नानाविद्याकर्मानुशीलनपरा उत्क्रम्य ब्रह्मलोकं गच्छन्तः सर्वेऽपि अर्चिरादिना मार्गेणैव गच्छन्तीत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– नानाविद्याकर्मानुशीलनपरा उत्क्रम्य ब्रह्मलोकं गच्छन्तः सर्वेऽपि जना अर्चिरादिना मार्गेणैव गच्छन्तीत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. नानाविद्यादियुक्तानां ब्रह्मलोकगतिः श्रुता।
२. ते यान्तोऽग्न्यादिना यायुर् मार्गेणाऽन्येन वा पुनः॥१॥
३. विद्यादिभेदभिन्नैस् ते मार्गैर् यायुरितीतरे।
४-५. सर्वेऽर्चिरादिना यायुर् मार्गैक्यादिति वैदिकाः॥२॥

१८०.(२) वाय्वधिकरणम् (सू. २)

अर्चिरादिमार्गनिवेशविशेषं प्रतिपादयति—

५१९. वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ४।३।२॥ इति।

कौषीतकिनामाम्नाये **"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याऽग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्"** (१।३) इत्यत्र वायुलोकस्य केवलपठितस्य पौर्वापर्यक्रमे अविशेषात्, वाजसनेयिनामाम्नाये **"यदा वै पुरुषोऽस्माल् लोकात्त् प्रैति स वायुमागच्छति तस्म्मै स तत्र् विजिहीते यथा रथचक्क्रस्स्य खन् तेन सऽऊर्द्ध्वमाक्क्रमते सऽआदित्त्यमागच्छति"** (मा.वा.शत.१४।८।१२।१, का.वा.बृह.५।१०।१) इत्यत्र वायोरादित्यात् पूर्वत्वस्य विशेषस्य दर्शनाच्चेति अविशेषविशेषाभ्याम् **"तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषो-ऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासाँस् तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच् चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः"** (छा.४।१५।५, ५।१०।१,२) इत्युक्ते देवयानमार्गे गच्छन्तः पुरुषास् तत्र श्रुतादब्दात् (संवत्सरात्) पराञ्चमादित्याद् अर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवन्तीत्यर्थः। संवत्सरादित्ययोर् मध्ये वायोर् निवेशोऽस्तीति भावः। श्रुतौ विजिहीते इत्यस्य अवकाशं दातुं कांश्चित् स्वावयवान् अपगमयति, स्वात्मनि छिद्रं करोतीत्यर्थः। वाजसनेयके **"तेऽर्च्चिरभिसम्भवन्त्यर्च्चिषोऽहरह्नऽ आपूर्य्यमाणपक्क्षमापूर्य्यमाणपक्क्षाद् द्यान् न्षण्ण् मासानुदङ्ङादित्त्यऽएति मासेब्भ्यो देवलोकन् देवलोकादादित्त्यमादित्त्याद् द्वैद्द्युतन् तान् न्वैद्द्युतात्त् पुरुषो मानसऽएत्त्य ब्ब्रह्म्मलोकान्न् गमयति ते तेषु ब्ब्रह्म्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्त्ति"** (मा.वा. शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।२५) इत्यत्र अब्दस्याऽश्रुतत्वात् सूत्रकारेण छान्दोग्यश्रुतिमुपादाय सूत्रं रचितमित्यवगम्यते। एवं च माससंवत्सरयोः सम्बद्धत्वाद् मासलोकात् परं संवत्सरस्य ततो देवलोकस्य ततो वायुलोकस्य सन्निवेशः कौषीतकक-वाजसनेयक-च्छान्दोग्य-समन्वयेनाऽवगन्तव्यः।

हिन्दी – देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक के लिए चलने वाले लोगों का वायुलोक में पहुँचने का लोकक्रमविशेषरहित केवल सामान्य उल्लेख ही कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में पाए जाने से और वाजसनेयियों के आम्नाय में आदित्यलोक पहुँचने से पूर्व वायुलोक में पहुँचने का लोकक्रमविशेषयुक्त विशेष उल्लेख पाए जाने से वे लोग अब्द (संवत्सर) के अनन्तर और आदित्य से पूर्व वायुलोक में पहुँचते हैं, यह बात अवगत होती है।

अथ वाय्वधिकरणस्वरूपम्

विषयः– अर्चिरादिमार्गे वायोः सन्निवेशः।

विशयः– "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याऽग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्" (कौषी.१।३) इति पाठक्रमाद् ब्रह्मलोकं गच्छन्त उपासका अर्चिषोऽनन्तरं वायुलोकमभिसम्भवन्तीत्यवगन्तव्यम्, उत "**यदा वै पुरुषोऽस्माल् लोकात्त् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खन् तेन सऽऊर्द्ध्वमाक्रमते सऽआदित्यमागच्छति**" (मा.वा.शत.१४।८।१२।१, का.वा.बृह.५।१०।१) इति श्रुताल् लोकप्राप्तिक्रमात् ते आदित्याद् अव्यवहितपूर्वम् अब्दात् (संवत्सरात्) परं वायुलोकमभिसम्भवन्तीत्यवगन्तव्यमिति।

पूर्वपक्षः– कौषीतकिनामाम्नायेऽग्निलोकात् परं वायुलोकस्य पाठादग्निवाय्वोः साहचर्यस्य वेदे लोके च प्रसिद्धत्वाच्च ब्रह्मलोकं गच्छन्त उपासका अग्निलोकानन्तरं वायुलोकमभिसम्भवन्तीत्यवगन्तव्यमिति।

उत्तरम्– कौषीतकिनामाम्नाये क्रमबोधकस्य शब्दस्याऽभावात्, वाजसनेयिनामाम्नाये तु आदित्यात् पूर्वं वायुलोकस्य स्थितेः प्रतिपादितत्वाद् ब्रह्मलोकं गच्छन्त उपासकादय आदित्यात् पूर्वं संवत्सरात् परं वायुलोकमभिसम्भवन्तीत्यवगन्तव्यम्। तत्राऽपि वाजसनेयके आदित्यात् पूर्वं देवलोकस्य श्रुतत्वाद् उपासका अब्दलोकाद् देवलोकं ततो वायुलोकं तत आदित्यलोकमभिसम्भवन्तीत्यवगन्तव्यमिति।

निर्णयः– अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छन्त उपासकादयः अब्दलोकात् (संवत्सरलोकात्) परमादित्यात् पूर्वं वायुलोकमभिसम्भवन्तीत्यवगन्तव्यमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अर्चिरादिसृतौ वायुं गच्छन्तीत्यवगम्यते।
२. यान्त्यर्चिषो हि वायुं वाऽन्यस्माद् वेति तु संशयः॥१॥
३. तथा पाठादर्चिषो हि वायुं यान्तीति के चन।
४-५. श्रुत्यन्तरात् परं ह्यब्दाद् वायुं यान्तीति निर्णयः॥२॥

१८१.(३) तडिदधिकरणम् (सू. ३)

अर्चिरादिमार्गनिवेशविशेषं हि प्रतिपादयति–

५२०. तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ४।३।३॥ इति।

तडिता सहाऽपां सम्बन्धस्य लोकसिद्धस्य "**विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वै**" (छा.७।११।१) इति श्रुत्याऽपि प्रतिपादितत्वाद्, अद्भिश्च अप्पतेर् वरुणस्य सम्बन्धस्य श्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धत्वाद्, एवं च प्रणाडिकया तडिता सह वरुणस्य

सम्बन्धात् "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याऽग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" (कौषी.१।३) इत्यत्र अर्चिरादिकदेवयानमार्गपर्वसु श्रुतो वरुणो ब्रह्मलोकं गच्छतामुपासकादीनामतिवहने तडित उपरिष्टाद् व्याप्रियमाणः सम्बद्धो भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – तडित् के साथ जल का सम्बन्ध लोक-वेदसिद्ध होने से और जल के साथ वरुण का सम्बन्ध वेद-स्मृति-लोकप्रसिद्ध होने से तडित् के साथ वरुण का परम्परासम्बन्ध सिद्ध होता है, अतः कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के अर्चिरादिक-देवायानमार्ग के पर्वों में श्रुत वरुण का ब्रह्मलोक जाने वाले उपासकादि के अतिवहन में छान्दोग्योपनिषद् में और वाजसनेयियों के आम्नाय में श्रुत तडित् के ऊपर व्यापृत होने की बात अवगत होती है।

अथ तडिदधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स एतं देवयानं पन्थानमापाद्याऽग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्" (कौषी.१।३) इत्यत्र श्रुतोऽन्यत्र देवयानपर्वसु अश्रुतो वरुणः।

विशयः– वरुणो देवयानमार्गपर्वसु सम्बद्धोऽस्ति न वेति।

पूर्वपक्षः– वरुणस्य छान्दोग्योक्तेषु वाजसनेयकोक्तेषु च देवयानमार्गपर्वसु सम्बन्धे प्रमाणस्याऽदर्शनात् तत्र वरुणः सम्बद्धो नास्तीत्यवगम्यते इति।

उत्तरम्– वरुणस्याऽपि कौषीतकिनामाम्नाये देवयानमार्गस्थितत्वेन श्रुतत्वाद् विद्युता सह वरुणस्य प्रणाडिकया सम्बन्धस्य सत्त्वाच्च वरुणो विद्युत उपरिष्टाद् देवयानमार्गे सम्बद्धोऽस्तीत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– वरुणो देवयानमार्गे विद्युत उपरिष्टात् सम्बद्धोऽस्तीत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. श्रूयते वरुणो देवयानमार्गे क्वचिच् छ्रुतौ।
२. स सम्बद्धो देवयानमार्गपर्वसु वा न वा॥१॥
३. प्रमाणाभावतः सोऽत्र सम्बद्धो नेति के चन।
४-५. सम्बन्धाद् विद्युताऽत्रोर्ध्वं सम्बद्धो विद्युतस्तु सः॥२॥

१८२.(४) आतिवाहिकाधिकरणम् (सू. ४-६)

देवयानमार्गस्थानामर्चिरादीनां स्वरूपं निरूपयति–

५२१. आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ४।३।४॥ इति।

"तान् न्वैद्द्युतात्त् पुरुषो मानसऽएत्त्य ब्ब्रह्ममलोकान्न् गमयति" (मा.वा.शत.१४।९।१।१८), का.वा.बृह.६।२।१५) इति श्रुतौ "तत् पुरुषोऽमानवः स

एनान् ब्रह्म गमयति" (छा.४।१५।५, ५।१०।२) इति श्रुतौ च अर्चिरादीनां गमयितृत्वस्य सिद्धवद् अनुवादस्य दर्शनाद् मानस इति पुरुषविशेषणस्य च पूर्वेषु गमयितृषु प्राप्तस्याऽमानसत्वस्य निवृत्तेर् बोधने तात्पर्यस्य दर्शनाच्च लिङ्गाद् अर्चिरादयः सर्वेऽपि आतिवाहिका देवताविशेषा अमानसपुरुषविशेषरूपा मानवपुरुषविशेषरूपा वा सन्तीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – वाजसनेयिश्रुति में और छन्दोगश्रुति में भी अर्चिरादिकों के गमयितृत्व का सिद्धवत् अनुवाद किए जाने के लिङ्ग से और पुरुष के मानस अथवा अमानव विशेषण का पूर्वोक्त अर्चिरादिक गमयिताओं में प्राप्त अमानसत्व वा मानवत्व की पुरुष में निवृत्ति के बोधन में तात्पर्य अवगत होने के लिङ्ग से अर्चिरादि सभी ही आतिवाहिक देवताविशेषरूप अमानसपुरुषरूप अथवा मानवपुरुषविशेषरूप अवगत होते हैं।

५२२. उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ४।३।५॥

ब्रह्मलोकं प्रति गन्तॄणामुपासकादीनां सम्पिण्डितकरणत्वेन व्यामोहात्, अर्चिरादीनां च स्वभावतोऽचेतनत्वेन व्यामोहाच्चेति उभयव्यामोहाच् चेतनानामर्चिराद्यभिमानिनीनां देवताविशेषाणामातिवाहिकानामभावे तेषामुपासकादीनां ब्रह्मलोकं प्रति गमनस्यैवाऽसम्भवात्, तस्य अर्चिरादीनामातिवाहिकत्वस्य सिद्धेश्च अर्चिरादयः सर्वेऽपि आतिवाहिका देवताविशेषा एव सन्तीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – ब्रह्मलोक प्रति जाने वाले सम्पिण्डितकरण उपासकादि और अर्चिरादि दोनों पक्ष अचेतन होने से चेतन अर्चिराद्यभिमानिनी देवताओं का आतिवाहिक रूप में क्रियाशील न होनेपर उन उपासकादि का ब्रह्मलोक प्रति जाना ही असम्भव होने से उन अर्चिरादियों का आतिवाहिकत्व सिद्ध होने से भी वे अर्चिरादि सभी ही आतिवाहिक देवताविशेष ही अवगत होते हैं।

५२३. वैद्युतेनैव ततस् तच्छ्रुतेः ४।३।६॥

विद्युल्लोकमागतेन मानसेन पुरुषेणैव ब्रह्मलोकं प्रति गन्तॄणामुपासकादीनां ब्रह्मलोकं प्रति नयनस्य **"तान् न्वैद्द्युतात्त् पुरुषो मानसऽएत्त्य ब्ब्रह्मलोकान्न् गमयति"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।१५) इति श्रुतौ **"तत् पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति"** (छा.४।१५।५, ५।१०।२) इति श्रुतौ च श्रुतत्वाद् विद्युल्लोकमागतेन वैद्युतशब्दप्रतिपादितेन मानसेन पुरुषेणैव नीयमानास्ततो विद्युल्लोकात् ते ब्रह्मलोकं प्रति गन्तार उपासकादयो ब्रह्मलोकं गच्छन्ति इत्यवगम्यते इत्यर्थः। वरुणादीनां तु अतिवाहनेऽनुकूलत्वमेवाऽवगम्यते इति भावः।

हिन्दी – विद्युल्लोक में आए हुए वैद्युतशब्द से प्रतिपादित मानस पुरुष द्वारा ही ब्रह्मलोक जाने वाले उपासकादि को ब्रह्मलोक के प्रति ले जाने की बात वाजसनेयिश्रुति में और छन्दोगश्रुति में श्रुत होने से विद्युल्लोक में आए हुए मानस पुरुष द्वारा ले जाए जाने वाले उपासकादि लोगों का उस मानस पुरुष के साथ में उस विद्युल्लोक से ब्रह्मलोक के प्रति जाने की बात अवगत होती है।

अथाऽतिवाहिकाऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"तेर्च्चिरभिसम्भवन्त्यर्च्चिषोऽहरह्न ऽआपूर्य्यमाणपक्षम्"** (मा.वा.शत. १४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।१५) इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुता अर्चिरादयः।

विशयः– एतेऽर्चिरादयो मार्गचिह्नानि वा भोगभूमयो वा आतिवाहिका नेतारो वेति।

पूर्वपक्षः– यथा लोके ग्रामविशेषं वा नगरविशेषं वा प्रति दूरदेशात् प्रतिष्ठासमानं प्रति मार्गचिह्नानि उपदिश्यन्ते गच्छ त्वमितोऽमूं नदीं ततो न्यग्रोधं ततो गिरिं तत उपत्यकां ततो ग्रामविशेषं नगरविशेषं वा प्राप्स्यसीति, एवं ब्रह्मलोकं गमिष्यन्तं प्रत्येते अर्चिरादयो मार्गचिह्नविशेषा उपदिष्टाः स्युः, अथवा **"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याऽग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्"** (कौषी.१।३) इति लोकशब्दोपादानाल् लोकशब्दस्य च **"अथ त्रयो बाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक ऽइति"** (मा.वा.शत. १४।४।३।२४, का.वा.बृह.१।५।१६) इत्यादौ भोगस्थाने प्रसिद्धत्वात् **"तद्येऽर्वाग्गिवँशेषु वर्षेषु प्रयान्त्यहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्ज्यन्ते"** (मा.वा.शत. १०।२।६।८) इत्यादौ अहोरात्रादिलोकानामपि भोगभूमित्वस्य प्रतीयमानत्वाच्च अग्निलोकाद्यपरपर्याया अर्चिरादयो भोगभूमिविशेषा वा स्युरिति।

उत्तरम्– **"तान् त्वैद्युतात्त् पुरुषो मानस ऽएत्य ब्रह्मलोकान्न् गमयति"** (मा. वा.शत.१४।९।१।१८) इति श्रुतौ अर्चिरादीनां सिद्धवद् गमयितृत्वस्यानुवादस्य दर्शनात्, मानस इति पुरुषविशेषणस्य च पूर्वेषु गमयितृषु प्राप्तस्याऽमानसपुरुषत्वस्य निवृत्तेर् बोधने तात्पर्यस्य दर्शनाच्च लिङ्गात्, ब्रह्मलोकं प्रति प्रस्थितानामुपासकादीनां सम्पिण्डितकरणकतया व्यामोहात्, अर्चिरादीनां च स्वभावतोऽचेतनत्वेन व्यामोहाच् चेतनानामर्चिराद्यभिमानिनीनां देवताविशेषाणामातिवाहिकानामभावे तेषामुपासकादीनां ब्रह्मलोकं प्रति गमनस्यैवाऽसम्भवाच्च अर्चिरादयः खलु कान्तारेषु सार्थानामतिवाहका लौकिका राजनियुक्ताः सम्प्रशासननियुक्ता वा खड्गधरा धनुर्धराश्चाथवा नाडिकास्त्रादिधरा रक्षकाः पुरुषा इव चेतना आतिवाहिका देवताविशेषा एवेत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– अर्चिरादयोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना आतिवाहिका देवताविशेषा एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. देवयाने खलु पथि श्रूयन्ते ह्यर्चिरादयः।
२. मार्गचिह्नानि ते भोगभुवो वाऽथाऽऽतिवाहिकाः॥१॥
३. मार्गचिह्नानि ते भोगभूमयो वेति के चन।
४-५. लिङ्गाद् युक्तेश्च ते ह्यातिवाहिका इति निर्णयः॥२॥

१८३.(५) कार्याधिकरणम् (सू. ७-१४)

गन्तव्यप्राप्तिहेतौ मार्गे निरूपिते गन्तव्यं निरूपयति—

५२४. कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ४।३।७॥ इति।

अस्य कार्यस्याऽपरस्य ब्रह्मणो गतिविषयत्वस्य सम्भवात्, **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** (छा.४।१५।५, ५।१०।२) इत्यत्रोक्तं ब्रह्म कार्यं ब्रह्माऽस्तीत्यवगम्यते इति बादरिराचार्यः प्राहेत्यर्थः'। अयमेव सिद्धान्तः। बादरिग्रहणं पूजार्थम्।

हिन्दी – कार्य ब्रह्म का ही गतिविषयत्व हो सकने से " स एनान् ब्रह्म गमयति" इस श्रुतिवाक्य में श्रुत गतिविषयभूत ब्रह्म को बादरि आचार्य कार्यब्रह्म बताते हैं।

५२५. विशेषितत्वाच्च ४।३।८॥

"पुरुषो मानसऽएत्त्य ब्ब्रह्मलोकान्न् गमयति" (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।२५) इत्यत्र श्रुत्यन्तरे गन्तव्यस्य ब्रह्मणो भोगभूमिविशेषवाचकेन लोकशब्देन स्वगतादिभेदवत्येवोपपन्नेन बहुवचनेन च विशेषितत्वाच्च पूर्वप्रदर्शित-च्छन्दोगश्रुत्युक्तं ब्रह्म कार्यमपरं ब्रह्मैवाऽस्तीत्यवगम्यते इति बादरिराचार्यः प्राहेत्यर्थः।

हिन्दी – दूसरी श्रुति में (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।२५) भोगभूमिविशेष के वाचक लोकशब्द से और स्वगतादिभेदयुक्त में ही उपपन्न होने वाले बहुवचन से यह गन्तव्य ब्रह्म विशेषित होने से इस ब्रह्म को बादरि आचार्य कार्यब्रह्म अर्थात् अपर ब्रह्म बताते हैं।

५२६. सामीप्यात् तु तद्व्यपदेशः ४।३।९॥

परब्रह्मणः सामीप्यात् तु तेन परब्रह्मवाचकेन ब्रह्मशब्देन प्राशस्त्यबोध-नाय लक्षणया कार्यब्रह्मणो व्यपदेशः श्रुतौ कृतोऽवगन्तव्य इति बादरिराचार्यः प्राहेत्यर्थः।

हिन्दी – परब्रह्म से सामीप्य को लेकर प्राशस्त्य के बोधन के लिए लक्षणा का आश्रय लेकर उक्त श्रुति में परब्रह्मवाचक ब्रह्मशब्द से कार्यब्रह्म को बताए जाने की बात बादरि आचार्य बताते हैं।

५२७. कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहाऽतः परमभिधानात् ४।३।१०॥

कार्यं ब्रह्म गता उपासकादयस्तत्रैव भोगान् भुञ्जाना अवस्थिताः सन्तः **"तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।२५), **"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति"** (कठो.२।३।१६, छा.८।६।६), **"एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवावर्तं नाऽऽवर्तन्ते"** (छा.४।१५।६), **"ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते"** (छा.८।१५।१) इत्यादिकाभिः श्रुतिभिरनावृत्तेरभिधानात्, **"तमेव विदित्त्वाऽतिमृत्त्यु-मेति नाऽन्न्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।१८, का.वा.शु.य.वे.म.सं.३५।२।२, श्वेता.३।८, ६।१५) इति श्रुत्या परब्रह्मज्ञानाद् विना मुक्तेरभाव-स्याऽभिधानाच्च कार्यब्रह्मलोकाध्यक्षस्य हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मण आयुषि पूर्णे सति

कार्यब्रह्मलोकप्रलयसमये प्राप्ते तत्रैव हिरण्यगर्भाद् ब्रह्मणो वेदान्तान् श्रुत्वा परब्रह्मज्ञानं कृत्वा ब्रह्मलोकाध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण ब्रह्मणा सह एतस्मात् कार्यब्रह्मलोकात् परं निर्विशेषं ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्यवगम्यते इति बादरिराचार्यः प्राहेत्यर्थः।

हिन्दी – कार्य ब्रह्म में पहुँचे हुए उपासकादि की इस लोक में न लौटने की बात श्रुतियों में बताई जाने से और परब्रह्मज्ञान के विना मुक्ति न होने की बात भी श्रुति में बताई जाने से कार्यब्रह्म में पहुँचे हुए उपासकादि वहीं भोग भोगते हुए रहकर कार्यब्रह्मलोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भाख्य ब्रह्माजी के स्वकीय शतवर्षात्मक आयु पूर्ण होने से कार्यब्रह्मलोक के प्रलय का सयम प्राप्त होने पर वहीं हिरण्यगर्भाख्य ब्रह्माजी से वेदान्त सुनकर निर्विशेष परब्रह्मज्ञान प्राप्त कर के इस ब्रह्मलोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भाख्य ब्रह्माजी के साथ में ही इस कार्यब्रह्मलोक से निर्विशेष परब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं, यह बात बादरि अचार्य बताते हैं।

५२८. स्मृतेश्च ४।३।११॥

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" {कूर्मपुराणे १।११।२८४ (१।१२।२७३), स्कन्दपुराणे काशीखण्डे च १।११।२८४} इति स्मृतेश्च ब्रह्मलोके हिरण्यगर्भाद् वेदान्तान् श्रुत्वा निर्गुणब्रह्मज्ञानेनाऽऽत्मानं कृतकृत्यं कृत्वा ते ब्रह्मलोकं गता उपासकादयो हिरण्यगर्भेण सह एतस्मात् कार्यब्रह्मलोकात् परं निर्विशेषं ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्यवगम्यते इति बादरिराचार्यः प्राहेत्यर्थः। स्मृतिवचने प्रतिसञ्चरो महाप्रलयः। एतादृशानि स्मृतिस्थानापन्नपुराणवचनानि अन्यान्यपि अनेकानि दृश्यन्ते। तथा हि— **"गङ्गासीकरसेकस्य प्रभावेणैव सत्तम। जगाम हरिसालोक्यं कालकल्पोऽतिपातकी॥ स्थित्वा कल्पशतं तत्र भुक्त्वा भोगान् मनोरमान्। ज्ञानमासाद्य तत्रैव परमं मोक्षमाप्तवान्"** इति पद्मपुराणे (क्रियाखण्डे ७।९४,९५; द्र.- ९।७६-७७; २०।१४५,१४६), **"भुक्त्वा तु विपुलान् भोगान् प्रलये समुपस्थिते। ज्ञानयोगं समासाद्य स तत्रैव विमुच्यते"** इति भविष्यपुराणे (१।१७।२०, १।१६२।७), **"एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः। तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं ब्रह्म प्रधानमुपायान्त्यगताभिमानाः"** इति विष्णुभागवते (३।३२।१०), **"तत्र भुक्त्वा महाभोगान् यावदाभूतसम्प्लवम्। ज्ञानं विचारतो लब्ध्वा रुद्रेभ्यस्तत्र मुच्यते"** इति लिङ्गपुराणे (१।७६।३५), **"तत्र ते ह्यवतिष्ठन्ति प्रीतियुक्ताः प्रसङ्गमात्। आनन्दं ब्रह्मणः प्राप्य मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह॥ अत्राऽपवर्गिणां तेषामपुनर्मार्गगामिनाम्। अभावः पुनरुत्पत्तौ शान्तानामर्चिषामिव"** इति वायुपुराणे (१।७।३०,३८), **"सेतुस्नानकरो मर्त्यः सप्तकोटिकुलान्वितः। सम्प्राप्य विष्णुभवनं तत्रैव परिमुच्यते"** इति स्कन्दपुराणे ब्राह्मखण्डे (१।१।२६), **"क्षीरकुण्डस्य वातेन स्पृष्टदेहो नरो द्विजाः। ब्रह्मलोकमनुप्राप्य तत्रैव परिमुच्यते"** इति च तत्रैव (१।३७।५७-५८), **"तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान् ज्ञानं

प्राप्य मयेरितम्। इह मुक्तिमवाप्स्यन्ति त्वत्संसर्गातिनिर्मलाः" इति च तत्रैव काशीखण्डे {२।२९।१११ (७९।१११)}, "ब्रह्मणः सदनात् तस्मात् परं स्थानं प्रकाशते। देवाऽपि यं न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम्" इति महाभारते (वन.१६३।१८)। पञ्चाग्निविद्यावतां गृहस्थानाम्, विद्यारहितानां नैष्ठिकानां ब्रह्मचारिणाम्, तथाविधानां वानप्रस्थानाम्, तीव्रवैराग्यमात्रधनानां परिव्राजकानाम्, सत्यब्रह्माद्युपासकानां चेति विद्यावतामन्येषां च समानतया "तद् य इत्थं विदुर् ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" (छा.५।१०।१) इत्यादौ देवयानमार्गप्राप्तेः श्रुतत्वाद् विद्यारहितानामपि विशिष्टपुण्यवतां पुराणवचनाभिप्रेता देवयानप्राप्तिः सङ्गच्छेतेति सुधीभिश्चिन्तनीयम्।

"ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे" (मुण्डको.३।२।६, महानारायणो.१०।६, कैवल्यो.४), "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा निर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्रश्नो.५।५) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्यश्च ब्रह्मलोकं गतास् तत्र निर्गुणब्रह्मज्ञानं प्राप्य मुच्यन्ते इत्यवगम्यते इति बादरिभणितिं च सूत्रकारः चकारेण सूचयति। एष चकारार्थः शङ्करानन्देनापि उल्लिखितोऽस्ति। एतेन उपासनादिब्रह्मलोकप्राप्तिफलककर्मणामपि निर्गुणब्रह्मज्ञाने एव तात्पर्यं च स्फुटं भवति।

हिन्दी – ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि लोगों का वहीं हिरण्यगर्भ से परब्रह्मज्ञान प्राप्त कर के अपने को कृतात्मा बनाकर महाप्रलय के समय में हिरण्यगर्भ के साथ में परब्रह्म में मिल जाने की बात "ब्रह्मणा सह ते" इत्यादि स्मृति से और "ते ब्रह्मलोकेषु" इत्यादि श्रुति से भी अवगत होने की बात बादरि आचार्य बताते हैं।

५२९. परं जैमिनिर् मुख्यत्वात् ४।३।१२॥

परस्य ब्रह्मण एव ब्रह्मशब्दार्थेषु मुख्यत्वात् "स एनान् ब्रह्म गमयति" (छा.४।१५।६) इत्यत्र स वैद्युतोऽमानवः पुरुषो देवयानेन पथा ब्रह्मलोकं प्रति गच्छत उपासकान् परमेव ब्रह्म प्रापयतीति प्रतिपादितमवगम्यते इति जैमिनिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – ब्रह्मशब्द के अनेक अर्थों में परब्रह्मरूप अर्थ ही मुख्य होने से (और उस मुख्य अर्थ को छोडकर दूसरे अर्थ को लेने में कोई कारण न होने से) "स एनान् ब्रह्म गमयति" (छा.४।१५।६) इस श्रुति में *"वह वैद्युत अमानव पुरुष देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को जाने वाले उपासकादि को परब्रह्म में पहुँचाता है"* यही अर्थ प्रतिपादित अवगत होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं।

५३०. दर्शनाच्च ४।३।१३॥

"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" (कठो.३।२।१६, छा.८।६।६) इति गतिपूर्वकस्याऽमृतत्वस्य प्रतिपादितताया दर्शनाच्च "स एनान् ब्रह्म गमयति" (छा.४।१५।६)

इत्यत्र सोऽमानवः पुरुषः परमेव ब्रह्म प्रापयतीति प्रतिपादितमवगम्यते इति जैमिनिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – गतिपूर्वक अमृतत्वप्राप्ति का प्रतिपादन "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इस श्रुति में देखे जाने से भी "स एनान् ब्रह्म गमयति" (छा.४।१५।६) इस श्रुति में *"वह अमानव पुरुष उपासकादि को परब्रह्म में पहुँचाता है"* यही अर्थ प्रतिपादित अवगत होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं।

५३१. न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ४।३।१४॥

"आकाशो वै नाम नामरूपयोर् निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" (छा.८।१४।१) इति कार्यब्रह्मविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् **"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये"** (छा.८।१४।१) इत्यत्र मरणकाले उपासकस्य कार्ये ब्रह्मणि प्रतिपत्तेः सङ्कल्पो न प्रतिपाद्यते इति गम्यते इति च जैमिनिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः। प्रतिपत्तिः=गतिः=प्राप्तिः, अभिसन्धिः=अभिप्रायः=सङ्कल्पः।

"सामीप्यात् तु तद्व्यपदेशः" इति सूत्रेण (४।३।९) **"परं जैमिनिर् मुख्यत्वात्"** (४।३।१२) इति सूत्रस्याऽर्थस्य खण्डितत्वात्, **"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहाऽतः परमभिधानात्"** (४।३।१०) इति सूत्रेण, **"स्मृतेश्च"** (४।३।११) इति सूत्रेण च **"दर्शनाच्च"** (४।३।१३) इति सूत्रस्यार्थस्य निराकृतत्वात्, श्रुत्या पदसङ्घातरूपेण वाक्येन च प्रकरणस्य बाध्यतायाः पूर्वतन्त्रे (जै.ध.मी.सू.३।३।१३) एव निरूपितत्वेन **"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये"** (छा.८।१४।१) इत्यत्र प्रजापति-सभा-वेश्म-श्रुतिभिः प्रपदनार्थपर्यवसितपदसङ्घातरूपेण वाक्येन च पूर्वस्य परब्रह्मप्रकरणस्य विच्छेदेन कार्यब्रह्मणः प्रतिपत्तेरभिसन्धेरेव प्रकाशितत्वस्याऽऽस्थेयत्वात्, गतिनिरपेक्षसद्यःफलप्रदनिर्गुणपरविद्यास्तुतये तत्प्रकरणेऽपि प्रकरणं विच्छिद्य सगुणविद्याया गतिसापेक्षप्रजापतिसभादिप्राप्तिफलकतायाः कीर्तनस्योपपन्नत्वाच् च बादरिव्याख्यानमेव सिद्धान्त इत्यवगन्तव्यम्। एवं च व्याख्यानद्वयविन्यासे पौर्वापर्यव्यत्यासस्य दर्शनेऽपि जैमिनिव्याख्यानं प्रज्ञाविकासनार्थकः पूर्वः पक्षः, बादरिव्याख्यानमेव तु सिद्धान्त इत्येव सूत्रकाराभिप्रायोऽवगन्तव्यः। पूर्वोत्तरपक्षव्यत्यासो रचनावैचित्र्यार्थः।

हिन्दी – परब्रह्म के प्रकरण में पठित होने से "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्यते" (छा.८।१४।१) इस श्रुतिवाक्य में उपासक का मरणकाल में कार्यब्रह्म में पहुँचने का सङ्कल्प प्रतिपादित न होने की बात अवगत होती है, ऐसा जैमिनि अचार्य मानते हैं।

किन्तु जैमिनि के व्याख्यान का पूर्वसूत्रों से निराकरण होने से और "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" (छा.८।१४।१) इस वचन से प्रजापति-सभा-वेशमशब्दों से तथा प्रापणार्थ में विश्रान्त पदसङ्घातरूप वाक्य से भी पूर्व परब्रह्मप्रकरण को छोडकर कार्यब्रह्म में पहुँचने का मरणोन्मुख उपासक का सङ्कल्प ही प्रकाशित होने से भी जैमिनि के व्याख्यान का पूर्वपक्षरूप होना और बादरि का व्याख्यान का ही सिद्धान्तरूप होना अवगत होता है। सूत्रव्यत्यास रचनावैचित्र्य के लिए है।

अथ कार्याऽधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स एनान् ब्रह्म गमयति" (छा.४।१५।५) इत्यत्र श्रुतं ब्रह्म।

विशयः– "स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्यत्र श्रुतं ब्रह्म परं ब्रह्म वा कार्यं ब्रह्म वेति।

पूर्वपक्षः– ब्रह्मशब्दार्थेषु परस्य ब्रह्मण एव मुख्यत्वात्, **"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति"** (कठो.३।२।१६, छा.८।६।६) इत्यत्र गतिपूर्वकस्यैवाऽमृतत्वस्य प्रतिपादनस्य दर्शनात्, **"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये"** (छा.८।१४।१) इत्यत्र च मरणकाले उपासकस्य अकार्ये परे ब्रह्मणि गमनस्येच्छाया एव परब्रह्मप्रकरणबलादवगम्यमानत्वाच्च **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** इत्यत्र गमनविषयत्वेन श्रुतं ब्रह्म परं ब्रह्माऽवगम्यते इति।

उत्तरम्– कार्ये ब्रह्मण्येव गन्तव्यत्वस्य सम्भवात्, परे ब्रह्मणि सर्वव्यापके नित्यप्राप्ते गन्तव्यत्वस्याऽसम्भवात्, गन्तव्यस्य ब्रह्मणः शाखान्तरे **"ब्रह्ममलोकान्"** (मा.वा.शत. १४।९।१।१८) **"ब्रह्मलोकेषु"** (मुण्डको.३।२।६, महानारायणो.१०।६, कैवल्यो.४) इति भोगभूमिविशेषवाचकेन लोकशब्देन बहुवचनेन च विशेषितत्वात् परब्रह्मणस्तु तथा विशेषयितुमशक्यत्वात्, कार्यब्रह्मणः परब्रह्मण एवौपाधिकरूपत्वेन परब्रह्मसामीप्यात् तत्र प्राशस्त्यबोधनाय लक्षणया परब्रह्मवाचकशब्दस्य प्रयोगस्यौचित्यात्, कार्यं ब्रह्म गतैरपि तत्रैव परब्रह्मज्ञानं कृत्वाऽमृतत्वस्य प्राप्यत्वात्, स्मृत्या श्रुत्या च तथैव प्रतिपादितत्वाच्च **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** इत्यत्र श्रुतं ब्रह्म कार्यं ब्रह्मैवेति।

निर्णयः– "स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्यत्र गन्तव्यत्वेन श्रुतं ब्रह्म कार्यं ब्रह्मैवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. स एनान् ब्रह्म गमयत्येवं हि श्रूयते श्रुतौ।
२. तत्र ब्रह्म परं वा स्यात् कार्यं वेति तु संशयः॥१॥
३. मुख्यत्वाच् चाऽमृतप्राप्तेः परं स्यादिति जैमिनिः।
४-५. उपपत्त्यादिवैशिष्ट्यात् कार्यमेवेति बादरिः॥२॥

१८४.(६) अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् (सू. १५-१६)

ब्रह्मलोकप्राप्त्यधिकारे विशेषं प्रतिपादयति–

५३२. अप्रतीकालम्बनान् नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात् तत्क्रतुश्च ४।३।१५॥ इति।

स वैद्युतो मानसः पुरुष अप्रतीकालम्बनान् कार्यं ब्रह्म नयतीति, सर्वासु विकारालम्बनासु उपासनासु देवयानमार्गसंयोगो भवति (३।३।३१) इति च उभयथाभावेऽभ्युपगतेऽपि उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थानाद् दोषस्याऽभावात्, स वैद्युतो मानसः पुरुषोऽप्रतीकालम्बनान् कार्यब्रह्मक्रतूँश्च विकारालम्बनान् उपास-

कान् कार्यं ब्रह्म नयति इत्यवगम्यते इति बादरायण आचार्यो मन्यते इत्यर्थः। **"तत्क्रतुश्च"** इति सूत्रांशपाठोऽध्येतृवैगुण्याद् भ्रष्टोऽवगम्यते। **"तत्क्रतूँश्च"** इति शुद्धः पाठः प्रतीयते। तथा पाठे अप्रतीकालम्बनान् कार्यब्रह्मक्रतूँश्च विकारालम्बनान् उपासकान् स वैद्युतो मानसः पुरुषः कार्यं ब्रह्म गमयतीत्यर्थः सुगमो भवति। अथवा सूत्राणि च्छन्दोवद् भवन्तीति तत्क्रतूनित्यर्थे तत्क्रतुः इति पदं प्रयुक्तं ज्ञेयम्, **"सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः"** (७।१।३९) इति पाणिनिस्मृतेः। तत्क्रतूनिति हि हेतुगर्भं विशेषणम्। उपासकाः खलु स्वस्वक्रत्वनुरूपां गतिं लभन्ते इति च **"तयं् यथायथोपासते तदेव भवति"** (मा.वा.शत.१०।५।२।२०) इति श्रुतेः, **"यथाक्रतुरस्मिंल् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति"** (छा.३।१४।१) इति श्रुतेः, **"यच्चित्तस् तेनैष प्राणमायाति प्राणस् तेजसा युक्तः सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति"** (प्रश्नो.३।१०) इति श्रुतेः, **"यंयं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तन्तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः"** (गीता.८।६) इति स्मृतेश्चाऽवगम्यते।

प्रतीकालम्बना उपासकास्तु पितृयाणमार्गेणैव गच्छन्ति, इहाऽऽवर्तन्ते चेति **"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते"** (छा.५।१०।३) इत्यत्र इतिशब्दस्य प्रकार-प्रदर्शनार्थत्वात् तत्र ब्रह्मक्रतुत्वरूपदर्शनवर्जिततत्वेन नामोपासनादीनामपि सङ्ग्रहा-दित्यवगम्यते। एवं च प्रतीकोपासनानि खलु अभ्युदयार्थान्येव न क्रममुक्त्यर्थानीति मन्तव्यम् (द्र.- कल्पतरुः, न्यायनिर्णयः, रत्नप्रभा च १।१।१२)। यत् तु अप्रतीका-लम्बनादिसूत्रभाष्यव्याख्याने भाष्यरत्नप्रभाकारेण **"यद्यपि प्रतीकध्यायिनां पितृ-याणतृतीयस्थानयोरप्रवेशादर्चिरादिमार्गो वाच्यस्तथापि तेषां विद्युत्पर्यन्तमेव गमनमस्तु"** इत्युक्तं तत्, तादृशमेव सूत्रमुक्तावलिकारब्रह्मानन्दोक्तं स्वयम्प्रकाशा-नन्दोक्तं च श्रुतावरोहमार्गानुक्तेरतीवाऽनुपपन्नमिति भृशं चिन्त्यं भाति।

हिन्दी – अप्रतीकालम्बन उपासकों को ही उस वैद्युत अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्म को ले जाने की बात को और सभी विकारालम्बन उपासनाओं में देवयानमार्ग का सम्बन्ध होने की बात को भी उत्सर्गापवाद रूप में मानने में कोई दोष न देखे जाने से वह वैद्युत अमानव पुरुष अप्रतीकालम्बन और ब्रह्मक्रतुयुक्त उपासकों को ही कार्यब्रह्म को पहुँचाता है, यह बात अवगत होती है, ऐसा बादरायण मुनि मानते हैं। इस से नामादि-प्रतीकालम्बन उपासकों को देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक जाने का अवसर न मिलने की बात भी अवगत होती है।

५३३. विशेषं च दर्शयति ४।३।१६॥

"यावद् वाचो गतं तत्राऽस्य कामचारो भवति" (छा.७।२।२) इत्यादिका छान्दोग्यश्रुतिः नामादिप्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्माद् उपासनादुत्तरस्मिन्नुत्तर-स्मिन्नुपासने फलविशेषं दर्शयति, एवं च प्रतीकोपासनेषु प्रतीकप्राधान्यमवग-

म्यते न ब्रह्मप्राधान्यमिति प्रतीकालम्बनानामब्रह्मक्रतुत्वात् तान् विहायाऽन्यान् ब्रह्मक्रतून् विकारालम्बनानुपासकान् स वैद्युतो मानसः पुरुषः कार्यं ब्रह्म नयतीति अवगम्यते इति बादरायण आचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "यावद् वाचो गतं तत्राऽस्य कामचारो भवति" (छा.७।२।२) इत्यादि छान्दोग्य-श्रुति नामादिप्रतीकोपासनों में पूर्वपूर्व उपासन से उत्तर उत्तर उपासनों में फल में विशेष बताती है, इस से उन उपासनों में प्रतीकों का प्राधान्य अवगत होता है, ब्रह्म का प्राधान्य नहीं अवगत होता है; अतः उन प्रतीकोपासकों का ब्रह्मक्रतुत्व न होने से उन नामादिप्रतीकोपासकों को छोडकर अन्य ब्रह्मक्रतुवाले विकारालम्बन उपासकों को ही वह वैद्युत अमानव पुरुष कार्यब्रह्म को पहुँचाता है, यह बात अवगत होती है, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं।

अथाऽप्रतीकालम्बनाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** (छा.४।१५।५, ५।१०।२) इत्यत्र श्रुता ब्रह्मलोकं गमयितव्या उपासकाः।

विशयः– **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** इत्यत्र श्रुता ब्रह्मलोकं गमयितव्या उपासकाः प्रतीकालम्बना अपि उपासकाः सन्ति उत अप्रतीकालम्बना एव ब्रह्मोपासका इति।

पूर्वपक्षः– पूर्वम् **"अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्"** (३।३।३१) इत्यत्रा-ऽविशेषेण सर्वेषामेव सगुणब्रह्मोपासकानां देवयानगतिर् भवतीति निर्णीतत्वात्, अब्रह्म-क्रतूनामपि पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानगतेः श्रुतत्वाच् च (छा.५।१०।१,२, मा.वा.शत. १४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।२५) **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** इत्यत्र श्रुता ब्रह्मलोकं गमयितव्या उपासकाः प्रतीकालम्बनोपासकसहिताः सर्वेऽपि ब्रह्मक्रतवोऽब्रह्मक्रतवश् च उपासकाः सन्तीत्यवगम्यते इति।

उत्तरम्– अनियमः सर्वासामित्यादिके सूत्रे सर्वशब्दस्य प्रतीकालम्बनोपासनाभिन्नसर्वो-पासनापरत्वात्, पञ्चाग्निविद्यावतां श्रुत्यनुरोधेनाऽपवादविषयताया अवगमेऽपि **"यथा-क्रतुरस्मिलँ् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति"** (छा.३।१४।१) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्यः स्मृतिभ्यश्च ब्रह्मक्रतूनामेव ब्रह्मलोकगमनस्य उत्सर्गविषयताया अवगमात्, नामादिब्रह्मोपासकानां प्रतीकालम्बनानामुपासकानाम् उपासनायाः प्रतीकतन्त्रत्वेन ब्रह्मक्रतुत्वस्याऽभावाच अप्रतीकालम्बना ब्रह्मोपासका एव **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** इत्यत्र श्रुता ब्रह्मलोकं गमयितव्या उपासकाः सन्तीत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– अप्रतीकालम्बना ब्रह्मोपासका एव **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** इत्यत्र श्रुता ब्रह्मलोकं गमयितव्या उपासकाः सन्तीत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. स एतानिति श्रुत्योक्ता ब्रह्म नेया उपासकाः।

२. ते ब्रह्मोपासकाः सर्वेऽप्रतीकालम्बना हि वा ॥१॥

३. अविशेषश्रुतेः सर्वे नेयाः स्युरिति के चन।

४-५. अप्रतीकालम्बना हि नेया ब्रह्मक्रतुत्वतः॥२॥

इति श्रीवेदव्यास-बादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-
शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां
वृत्तौ चतुर्थे ब्रह्मज्ञानफलनिरूपणपरेऽध्याये तृतीयः
अर्चिरादिदेवयानमार्गनिरूपणपरः
पादः समाप्तः॥

अथ चतुर्थः पादः

(निर्गुणब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थित्यादि-निरूपणपरः)

१८५.(१) सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् (सू. १-३)

अथ पराऽपरविद्याप्राप्यफलविशेषनिरूपणाय चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पाद आरभ्यते। तत्राऽऽदौ परविद्याफलमोक्षस्वरूपं निरूप्यते—

५३४. सम्पद्याऽविर्भावः स्वेनशब्दात् ४।४।१॥ इति।

"एष सम्प्रसादोऽस्माच् छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते" (छा.८।३।४, ८।१२।३) इति श्रुतौ श्रुतं सम्प्रसादशब्दोक्तस्य जीवस्य सम्पद्याऽभिनिष्पदनं स्वेनशब्दस्य श्रवणाद् आविर्भाव एवाऽस्ति, न तु केनाऽपि नवीनेन रूपेण अभिनिष्पदनमित्यर्थः।

हिन्दी– "एष सम्प्रसादः" इत्यादि श्रुतिवाक्य में श्रुत सम्प्रसादशब्दवाच्य जीव का परम-ज्योति को प्राप्त होकर होने वाला जो अभिनिष्पदन है वह स्वेनशब्द का प्रयोग होने से अपने वास्तविक स्वरूप का अविर्भाव मात्र है, कोई नवीन रूप की प्राप्ति नहीं।

५३५. मुक्तः प्रतिज्ञानात् ४।४।२॥

"य आत्माऽपहतपाप्मा" (छा.८।७।१) इत्युपक्रान्तस्य सकलदोषमुक्त-स्यैवात्मनः **"एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि"** (छा.८।९।३, ८।१०।४, ८।११।३) इति सम्यक्प्रतिपाद्यत्वेन प्रतिज्ञानात् **"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"** (छा.८।१२।१) इत्युपन्यासात्, **"स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः"** (छा. ८।१२।३) इत्युपसंहाराच्च **"स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते"** (छा.८।१२।३) इति प्रोक्ते स्वेन रूपेणाऽविर्भावे जाते सम्प्रसादशब्दोक्तो जीवः शरीराभिमानं परित्यज्य सकलात् संसारदोषाद् मुक्तोऽवतिष्ठते इति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "य आत्माऽपहतमाप्मा" (छा.८।७।१) इत्यादि वाक्य से प्रतिपादित सभी दोषों से मुक्त आत्मा का "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" (छा.८।९।३) इत्यादि वाक्यों से फिर सम्यक् प्रतिपादन करने की प्रतिज्ञा वार वार श्रुत होने से "स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते" (छा.८।१२।३) इस वाक्य से प्रतिपादित अपने वास्तविक रूप में आविर्भाव होनेपर सम्प्रसादशब्द से प्रतिपादित जीव शरीराभिमान को छोडकर सम्पूर्ण संसारदोषों से मुक्त होकर रहता है, यह बात अवगत होती है।

५३६. आत्मा प्रकरणात् ४।४।३॥

"एष सम्प्रसादोऽस्माच् छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य" (छा. ८।१२।३) इत्यत्र श्रुतं जीवेनोपसम्पदनीयं ज्योतिः खलु "य आत्माऽपहतपाप्मा" (छा.८।७।१) इत्यादिकाद् आत्मनः प्रकरणाद् आत्मा एवाऽस्ति नाऽन्यद् लौकिकं ज्योतिरित्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "एष सम्प्रसादः" इत्यादि श्रुति वाक्य में श्रुत जीव से प्राप्य ज्योति "य आत्मा" इत्यादि आत्मा के प्रकरण में प्रतिपादित होने से आत्मा ही है, अन्य लौकिक ज्योति नहीं, यह बात अवगत होती है।

अथ सम्पद्याविर्भावाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते" (छा.८।१२।३) इति श्रुतौ श्रुतं जीवस्याऽभिनिष्पदनम्।

विशयः– तद् अभिनिष्पदनं जीवस्य कस्य चनाऽऽगन्तुकस्य नवीनस्य स्वरूपस्य प्राप्तिरस्ति अथवा स्वस्वरूपाविर्भाव एवाऽस्तीति।

पूर्वपक्षः– अभिनिष्पद्यते इत्यस्य उत्पद्यते इत्यर्थकत्वाद् मोक्षस्याऽपि फलत्वस्य प्रसिद्धत्वाच्च जीवस्योक्तमभिनिष्पदनं कस्य चनाऽऽगन्तुकस्य नवीनस्य स्वरूपस्य प्राप्तिरस्तीत्यवगम्यते इति।

उत्तरम्– "स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते" इत्यत्र स्वेनशब्दस्य प्रयोगात्, बन्धनिवृत्तिमात्रेण मोक्षस्य फलताया व्यवहारात्, अभिनिष्पद्यते इत्यस्याऽपि अविद्याकृतपूर्वावस्थापेक्षया रोगनिवृत्तौ स्वस्थोऽभिनिष्पद्यते इत्यादाविव प्रयोगात्, उपसम्पदनीयस्य ज्योतिषोऽपि आत्मप्रकरणाद् आत्मत्वेन निश्चयाच्च उक्तश्रुतावुक्तं जीवस्याऽभिनिष्पदनं स्वस्वरूपाविर्भाव एवाऽस्तीत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– "एष सम्प्रसादः" इत्यादिकायां श्रुतावुक्तं जीवस्याऽभिनिष्पदनं स्वस्वरूपाविर्भाव एवाऽस्तीत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अभिनिष्पद्यते स्वेन रूपेणेति श्रुतं खलु।
२. भवेन् निष्पदनं तत्राऽऽगन्तुकं वा स्वभावजम्॥१॥
३. फलत्वादभिनिष्पत्तिशब्दाच्चाऽऽगन्तुकं भवेत्।
४-५. स्वेनशब्दाद् भवेदाविर्भावमात्रं स्वभावजम्॥२॥

१८६.(२) अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् (सू. ४)

निर्गुणब्रह्मविदो मुक्तस्य स्थितिं प्रतिपादयति—

५३७. अविभागेन दृष्टत्वात् ४।४।४॥ इति।

"प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ.५।४), "यस् त्वमसि सोऽहमस्मि" (कौषी.१।६) "तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्त्वमनुपश्श्यतः" (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।७), "सोऽसावहम्" (मा.वा.शु.य.वे.म.सं.४०।१७), "सोऽहमस्मि" (का.वा.ईशा.१६), "अहम् ब्रह्माऽस्म्मि" (मा.वा.शत.१४।४।२।२१, का.वा.बृह.१।४।१०), "यत्र त्त्वस्स्य सर्व्वमातत्त्मैवाऽभूत् तत्त् केन कम् पश्श्येत्" (मा.वा.शत.१४।५।४।१६, १४।७।३।२५; का.वा.बृह.२।४।१४, ४।३।२३), "अयमात्त्मा ब्ब्रह्म सर्व्वानुभूः" (मा.वा.शत. १४।५।५।१९, का.वा.बृह.३।९।२८), "विज्ज्ञानमानन्दम् ब्रह्म" (मा.वा.शत. १४।६।९।३४, का.वा.बृह.३।९।२८), "न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् द्विभक्क्तयं यत्त् पश्श्येत्" (मा.वा.शत.१४।७।१।२३, का.वा.बृह.४।३।२३), "स वाऽअयमात्त्मा ब्ब्रह्म" (मा.वा.शत.१४।७।२।६, का.वा.बृह.४।४।५), "ब्रह्मैव सन्न् ब्रह्माप्प्येति" (मा.वा.शत.१४।७।२।८, का.वा.बृह.४।४।६), "नेह नानाऽस्त्ति किञ्चन" (मा.वा.शत.१४।७।२।२१, का.वा.बृह.४।४।१९, कठो.२।१।११), "सलिलऽएको दद्रष्ट्टाऽद्द्वैतो भवत्त्येष ब्ब्रह्मलोकः" (मा.वा.शत.१४।७।१।३१, का.वा.बृह. ४।३।३२), "स वाऽएष महानजऽआत्त्माऽजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्ब्रह्म" (मा.वा. शत.१४।७।२।३१, का.वा.बृह.४।४।२५), "अभयव्ं वै ब्ब्रह्माऽभयꣳ हि ब्ब्रह्म भवति सऽएवव्ं वेद" (मा.वा.शत.१४।७।२।३१, का.वा.बृह.४।४।२५), "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर् विजानत आत्मा भवति गौतम" (कठो.२।१।५), "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते" (श्वेता.५।९), "तत् त्वमसि" (छा.६।८।७), "यत्र नाऽन्यत् पश्यति नाऽन्यच्छृणोति नाऽन्यद् विजानाति स भूमा" (छा.७।२४।१), "एतद् ब्रह्म" (छा.८।३।४), "स उत्तमः पुरुषः" (छा.८।१२।३), "ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" (मुण्डको.२।२।११), "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मुण्डको.३।२।८), "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्डको.३।२।९), "अयमात्मा ब्रह्म" (माण्डूक्यो.२) इत्यादिषु ऋग्-यजुस्-सामा-ऽथर्व-वेदवचनेषु जीवात्मनो वस्तुतः परमात्मनाऽविभागेन स्थितेः प्रतिपादितत्वस्य दृष्टत्वात् स्वेन रूपेणाऽविर्भूतो (छा.८।१२।३) मुक्तो जीवः परमात्मनाऽविभागेनाऽवतिष्ठते इत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यादि चारों वेदों के वचनों में जीवात्मा की परमात्मा से अविभक्त रूप में स्थिति का प्रतिपादन दृष्ट होने से अपने स्वरूप में आविर्भूत मुक्त जीवात्मा परमात्मा से अविभक्त (अभिन्न) रूप में रहता है, यह बात अवगत होती है।

अथाऽविभागेनदृष्टत्वाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– स्वेन रूपेणाऽऽविर्भूतो जीवः।

विशयः– स्वेन रूपेणाऽऽविर्भूतो जीवः परमात्मना विभागेनाऽवतिष्ठते उताऽविभागेनेति।

पूर्वपक्षः– "परं ज्योतिरुपसम्पद्य" (छा.८।१२।३) इति कर्तृकर्मभावनिर्देशात्, साधनीभूत-ज्ञानसम्बद्धा अभेदप्रतिपादिकाः **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** इत्यादिकाः श्रुतीरपेक्ष्य भेदद्योतिकानां प्रधानीभूतफलप्रतिपादिकानां श्रुतीनां बलवत्तरत्वाच् च स्वेन रूपेणाऽविर्भूतो जीवः परमात्मना विभागेनाऽवतिष्ठते इत्यवगम्यते इति।

उत्तरम्– **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** (ऐ.५।४), **अयमात्तँमा ब्ब्रह्म सर्व्वानुभूः"** (मा.वा.शत. १४।५।५।१९, का.वा.बृह.२।५।१९), **"तत् त्वमसि"** (छा.६।८।७), **"अयमात्मा ब्रह्म"** (माण्डूक्यो.२) इत्यादिषु चतुर्णामेव वेदानां वचनेषु जीवात्मपरमात्मनोरैक्यस्य दृष्टत्वात्, **"एष सम्प्रसादोऽस्माच् छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणा-ऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः"** (छा.८।१२।३) इत्यत्रैवाऽपि स्वरूपेणाऽभिनिष्पन्नस्य **"स उत्तमः पुरुषः"** इति फलवाक्य एवाऽपि परज्योतिरभेदनिर्देशस्य दृष्टत्वात् स्वेन रूपेणाऽऽविर्भूतो जीवः परमात्मनाऽविभागेनाऽवतिष्ठते इत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– स्वेन रूपेणाऽऽविर्भूतो जीवः परमात्मनाऽविभागेनैवाऽवतिष्ठते इत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. अभिनिष्पद्यते जीवः स्वरूपेणेति हि श्रुतम्।
२. एवं जीवोऽभिनिष्पन्नो भिन्नोऽभिन्नोऽथ ब्रह्मतः॥१॥
३. कर्तृकर्मादिनिर्देशाद् भिन्नः स्यादिति के चन।
४-५. अभिन्नो जीवपरयोरभेदस्य श्रुतत्वतः॥२॥

१८७.(३) ब्राह्माधिकरणम् (सू. ५-७)

निर्गुणब्रह्मविदो मुक्तस्य स्थितावेव विशेषं विचारयति–

५३८. ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ४।४।५॥ इति।

"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर् विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छा.८।७।१) इत्युपन्यासात्, **"स उत्तमः पुरुषः"** (छा. ८।१२।३) इति व्यपदेशात्, **"स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर् वा यानैर् वा ज्ञातिभिर् वा"** (छा.८।१२।३) इति ऐश्वर्यस्याऽऽवेदनाच्च स्वेन रूपेणा-

ऽभिनिष्पन्न इत्युक्तो जीवोऽपहतपाप्मत्वादिमता सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वादिमता च ब्राह्मेण रूपेणाऽवतिष्ठते इति जैमिनिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– अपहतपाप्मत्वादि गुण का उपन्यास देखे जाने से, उत्तमपुरुषशब्द से निर्देश होने से, और ऐश्वर्य का वर्णन भी पाए जाने से अपने स्वरूप में प्राप्त जीव अपहतपाप्मत्वादि गुणों से और सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व से युक्त ब्राह्म रूप से रहता है, यह बात अवगत होती है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं।

५३९. चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ४।४।६॥

"अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (का.वा.बृह.४।५।१३, द्र.– मा.वा.शत.१४।७।३।१३) इत्यादिकाभ्यः श्रुतिभ्य आत्मनश्चिन्मात्ररूपत्वस्याऽवगम्यमानत्वात् स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पन्न इत्युक्तो जीवश् चितिरूपं यत् तन्मात्रं निर्विशेषं रूपं तेनैव रूपेणाऽवतिष्ठते इत्यवगम्यते इति औडुलोमिराचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इत्यादि श्रुति से आत्मा का चिन्मात्ररूपत्व अवगत होने से अपने स्वरूप में प्राप्त मुक्त जीव निर्विशेष चितिरूप से ही रहता है, यह बात अवगत होती है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

५४०. एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ४।४।७॥

पारमार्थिकमुक्तजीवदृष्ट्या मुक्तस्य एवं चैतन्यमात्रस्वरूपत्वस्यौडुलोम्युक्तस्याऽभ्युपगमेऽपि व्यावहारिकबद्धजीवदृष्ट्या तु मुक्तस्य जीवस्य जैमिन्युपदर्शितोपन्यासादिहेतुभ्यो जैमिनिना पूर्वमुक्तस्य अपहतपाप्मत्वादिसर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वादिमतो रूपस्य भावस्याऽवगम्यमानत्वात् पारमार्थिक-व्यावहारिकदृष्ट्योः परस्परमविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– पारमार्थिक मुक्त जीव की दृष्टि से मुक्त जीव का आचार्य औडुलोमि की धारणा के अनुकूल रूप में चैतन्यमात्ररूपत्व होनेपर भी व्यावहारिक बद्ध अन्य जीवों की दृष्टि से तो आचार्य जैमिनि से निर्दिष्ट उपन्यासादि हेतुओं से मुक्त जीव के अपहतपाप्मत्वादि गुणों से और सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्वादि धर्मों से युक्त रूप का भाव (अस्तित्व) अवगत होने से इन पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियों का अविरोध होने की बात को आचार्य बादरायण युक्तियुक्त मानते हैं।

अथ ब्राह्माधिकरणस्वरूपम्

विषयः– स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पन्नस्य जीवस्य रूपम्।

विशयः– स्वेन रूपेणाऽनिष्पन्नस्य जीवस्य रूपं नानाविभूतिमद् ब्राह्मं रूपं वा निर्विशेषं चितिमात्रं रूपं वेति।

पूर्वपक्षः– "य आत्माऽपहतपाप्मा" (छा.८।७।१) इत्यादिकाद् उपन्यासात्, "स उत्तमः पुरुषः" (छा.८।१२।३) इति व्यपदेशात्, "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः"

(छा.८।१२।३) इति ऐश्वर्यस्याऽऽवेदनाच्च स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पन्नस्य जीवस्य रूपं नानाविभूतिमद् ब्राह्मं रूपमिति जैमिनेर् व्याख्यानं वा **"अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव"** (का.वा.बृह.४।५।१३, द्र.- मा.वा.शत.१४।७।३।१३) इति श्रुतेरात्मनो निर्विशेषचिन्मात्ररूपत्वात् स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पन्नस्य जीवस्य रूपं निर्विशेषचिदात्मकमेवेति औडुलोमेर् व्याख्यानं वा समीचीनं स्यादिति।

उत्तरम्– व्यावहारिकबद्धजीवानां दृष्ध्या जैमिन्युपदर्शितोपन्यासादिभ्यो हेतुभ्यो मुक्तस्य जीवस्य नानाविभूतिमतः पारमेश्वरस्य ब्राह्मस्य रूपस्य सत्त्वस्याऽवगम्यमानत्वात्, पारमार्थिकमुक्तजीवदृष्ध्या तु **"कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव"** (का.वा.बृह.४।५।१३) इत्यादिश्रुतिवचनेभ्यः मुक्तस्य जीवस्य निर्विशेषचिदात्मकरूपताया अवगम्यमानत्वाच्च उभयोर् व्यावहारिक-पारमार्थिकदृष्ध्योः परस्परमविरोध एवेति बादरायणमुनिव्याख्यानमेव समीचीनमिति।

निर्णयः– मुक्तस्य जीवस्य रूपं व्यावहारिकबद्धजीवानां दृष्ध्या नानाविभूतिमत् पारमेश्वरं ब्राह्मं रूपम्, पारमार्थिकमुक्तजीवदृष्ध्या तु निर्विशेषचिदात्मकमेवेति व्यावहारिकपारमार्थिकदृष्ध्योरविरोध एवेति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. स्वेन रूपेण जीवो हि निष्पद्यत इति श्रुतम्।
२. किं स्याज् जीवस्य स्वं रूपं ब्राह्मं वा चिन्मयं हि वा ॥१॥
३. ब्राह्मं मते जैमिनेः स्यादौडुलोमेस् तु चिन्मयम्।
४-५. द्वैरूप्यं दृष्टिभेदेन बादरायणसम्मतम् ॥२॥

१८८.(४) सङ्कल्पाधिकरणम् (सू. ८,९)

निर्गुणब्रह्मविद्याफले प्रतिपादिते ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकविद्याकर्मफलविचारमुपक्रमते—

५४१. सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ४।४।८ ॥ इति।

हार्दब्रह्मादिसगुणब्रह्मोपासकादेरुत्क्रम्याऽर्चिरादिना देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य सङ्कल्पादेव पित्रादीनां समुत्थानस्य **"स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति"** (छा.८।२।१) इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतत्वाद् ब्रह्मलोकं प्रासस्य सगुणब्रह्मोपासकादेः केवलात् सङ्कल्पादेव तु तद्भोगहेतूनां पित्रादीनां समुत्थानं भवतीति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में प्रास हार्दब्रह्मादि सगुण ब्रह्म के उपासक प्रभृति के सङ्कल्प मात्र से पितृप्रभृतियों का समुत्थान होने की बात श्रुति में श्रुत होने से ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि के सङ्कल्पमात्र से पितृप्रभृतियों का समुत्थान होने की बात अवगत होती है।

५४२. अत एव चाऽनन्याधिपतिः ४।४।९॥

सङ्कल्पादेव सर्वेषां भोगहेतूनां पित्रादीनां समुत्थानात्, **"तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"** (छा.८।१।६) इति श्रुतेश्च ब्रह्मलोकं प्राप्तो हार्दब्रह्मादि-सगुणब्रह्मोपासकादिको जनः खलु अविद्यमानाऽन्यनियन्त्रको भोगे सर्वथा स्वतन्त्रो भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– सङ्कल्पमात्र से सभी पित्रादि भोगहेतुओं का समुत्थान होने से और श्रुति में ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि का सभी लोकों में स्वच्छन्द विचरण और भोग होने की बात प्रतिपादित होने से (छा.८।१।६) भी ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकादि व्यक्ति दूसरे स्वामी के नियन्त्रण से सर्वथा रहित और भोग में स्वतन्त्र होता है, यह बात अवगत होती है।

अथ सङ्कल्पाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति"** इत्यादिकायां श्रुतौ (छा.८।२।१) श्रुतं ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य भोग-साधनानां पित्रादीनां समुत्थानम्।

विशयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य भोगसाधनानां पित्रादीनां समुत्थानं किमन्यसाधनसहितात् सङ्कल्पाद् भवति उत केवलात् सङ्कल्पादिति।

पूर्वपक्षः– उपकरणवतां महाधनिकानामिव सङ्कल्पितार्थसिद्धिकर्याः साधनान्तरसामग्र्याः सुलभतामपेक्ष्य सङ्कल्पादेवेति श्रुतावुक्तमित्यवगम्यमानत्वात्, लोके यथाऽन्यसाधन-सहितात् सङ्कल्पाद् भोगसाधनानां समुत्थानं भवति तथैव ब्रह्मलोकं प्राप्तस्याऽपि भोग-साधनानां समुत्थानं स्यादित्यवगमस्य युक्तियुक्तत्वात्, सङ्कल्पमात्रसमुत्थितानां पित्रा-दीनां पुष्कलभोगसाधनताया असम्भावितत्वाच्च ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्याऽपि अन्यसाधनसहितात् सङ्कल्पादेव भोगसाधनानां पित्रादीनां समुत्थानं स्यादिति।

उत्तरम्– श्रुतौ ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य सङ्कल्पादेव भोगसाधनानां पित्रा-दीनां समुत्थानस्य श्रुतत्वात्, श्रौतस्याऽर्थस्य केवलेन लोकदृष्टान्तेनाऽन्यथा स्वीकर्तुमनु-चितत्वात्, **"तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"** इति श्रुत्या ब्रह्मलोकं प्राप्तस्यो-पासकादिकस्य जनस्य भोगे स्वातन्त्र्यस्योक्तत्वाच्च ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य केवलात् सङ्कल्पादेव पित्रादीनां सर्वेषां भोगसाधनानां समुत्थानं भवतीत्यव-गम्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य केवलात् सङ्कल्पादेव सर्वेषां भोगसाधनानां समुत्थानं भवतीति गम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मलोके भोग्यसमुत्-थानं सङ्कल्पतः श्रुतम्।
२. ससाधनात् तु सङ्कल्पाद् भवेत् तत् केवलाद् धि वा॥१॥

३. ससाधनाल् लोकवत् स्यात् सङ्कल्पादिति के चन।

४-५. श्रुत्याऽवधारितत्वात् स्यात् केवलादिति निर्णयः॥२॥

१८९.(५) अभावाधिकरणम् (सू. १०-१४)

ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकसगुणब्रह्मविद्यादिमतो ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य देहादिभावाऽभावौ विचारयति—

५४३. अभावं बादरिराह ह्येवम् ४।४।१०॥ इति।

श्रुतिः **"मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते, य एते ब्रह्मलोके"** (छा.८।१२।५-६) इत्येवं मनसेति विशेषेणाऽऽहेति बादरिराचार्यो ब्रह्मलोकं गतस्योपासकादिकस्य जनस्य शरीरेन्द्रियाणामभावं मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– श्रुति ने ब्रह्मलोक में केवल मन से ही काम्य पदार्थों का भोग करने की बात कही है, अतः बादरि आचार्य ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि का शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते हैं।

५४४. भावं जैमिनिर् विकल्पामननात् ४।४।११॥

सगुणावस्थायां विद्यमानानामेव ऐश्वर्यविकल्पानां निर्गुणभूमविद्यास्तुतये **"स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव"** (छा.७।२६।२) इत्यादिकायां श्रुतौ आमननात्, तेषां विकल्पानां च शरीरभेदेन विनाऽनुपपत्तेः ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य शरीरेन्द्रियाणां भावं जैमिनिराचार्यो मन्यते।

हिन्दी– सगुणावस्था में रहने वाले ऐश्वर्यविकल्पों का ही निर्गुण भूमविद्या की स्तुति के लिए "स एकधा भवति त्रिधा भवति" (छा.७।२६।२) इत्यादि श्रुति में प्रतिपादन किए जाने से और वैसे विकल्पों का शरीरभेद के विना सम्भव न होने से जैमिनि आचार्य ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि के शरीर और इन्द्रियों का अस्तित्व मानते हैं।

५४५. द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ४।४।१२॥

यथा द्वादशाहः क्रतुः **"यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण यजेत"** (तै.सं.७।२।९।१) इति, **"एक एव यजेत"** (तै.सं.७।२।१०।३) इति च यजतिचोदनाया एककर्तृकत्वचोदनायाश्च दर्शनेन अहीनमस्तीति, **"उपरिष्टाद् द्वादशाहमुपयन्ति"** (तै.सं.७।४।५।३) इति, **"तैरेतं द्वादशाहमुपासीदत्"** (ताण्डि.१०।३।२) इति च उपायनचोदनाया उपसनदचोदनायाश्च दर्शनेन सत्रमस्तीति चाऽवगम्यते, निरूपितचरं चैतत् पूर्वतन्त्रे धर्ममीमांसायाम् **"सत्रमहीनश्च द्वादशाहस् तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात्"** (८।२।२४) इत्यादिना **"द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमान-**

बहुत्वेन च सत्रशब्दाभिसंयोगात्" (१०।६।६०) इत्यादिना च, तथैव **"मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते, य एते ब्रह्मलोके"** (छा.८।१२।५-६) इति शरीराऽभावलिङ्गस्य दर्शनात्, **"स एकधा भवति त्रिधा भवति"** (छा.७।२६।२) इति शरीरभावलिङ्गस्य दर्शनाच्चेत्येतस्माद् हेतोर् ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य अशरीरत्व-सङ्कल्पे शरीराभाववत्त्वम्, सशरीरत्वसङ्कल्पे तु शरीरभाववत्त्वमिति उभयविधं रूपं भवतीत्यवगम्यते इति बादरायण आचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– जैसे द्वादशाह क्रतु यजतिचोदना के और एककर्तृकत्वचोदना के दर्शन से अहीन अवगत होता है, उपायनचोदना के और उपसदनचोदना के तथा अनेककर्तृकत्वचोदना के दर्शन से सत्र भी अवगत होता है, वैसे ही ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि के शरीर के अभाव का और भाव का भी लिङ्ग श्रुति में दृष्ट होने से ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि के शरीर का अभाव और भाव दोनों अवगत होते हैं। अर्थात् ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि के अशरीरत्व के सङ्कल्प से उस का अशरीरत्व भी हो सकता है और सशरीरत्व के सङ्कल्प से उस का सशरीरत्व भी हो सकता है। यह बादरायण की व्याख्या है।

५४६. तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ४।४।१३॥

यथा सन्ध्ये स्वप्नस्थाने शरीरेन्द्रियविषयेषु अविद्यमानेष्वपि ज्ञानमात्र-रूपाः पित्रादिकामा भवन्ति तथा ब्रह्मलोकेऽपि सेन्द्रियायास्तनोरभावे ज्ञानमात्र-रूपाः पित्रादिकामाः स्युरिति उपपत्तेः शरीराभावपक्षोऽपि सुतरामुपपन्न इति बादरायण आचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– जैसे स्वप्नावस्था में शरीर इन्द्रिय और विषय न होनेपर भी ज्ञानमात्ररूप पितृ-प्रभृति काम्यभोगसाधन प्राप्त हो सकते हैं, वैसे ही ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकादि के इन्द्रियसहित शरीर का अभाव होनेपर भी उस को ज्ञानमात्ररूप पितृप्रभृति काम्यभोगसाधन प्राप्त हो सकते हैं, अतः शरीराभावपक्ष भी सुतराम् उपपन्न है, यह बादरायण की व्याख्या है।

५४७. भावे जाग्रद्वत् ४।४।१४॥

यथा जाग्रति शरीरेन्द्रियविषयेषु विद्यमानेषु पित्रादिकामा भवन्ति तथा ब्रह्मलोकेऽपि तनोः सत्त्वे तादृशा एव पित्रादिकामाः स्युरित्युपपत्तेः शरीरभावपक्षो-ऽपि सुतरामुपपन्न एवेति बादरायण आचार्यो मन्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– जैसे जागरित अवस्था में शरीर, इन्द्रिय और विषय रहनेपर पितृप्रभृति काम्यभोगसाधन स्थूलरूप में ही प्राप्त हो सकते हैं, वैसे ही ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि के इन्द्रियसहित शरीर का भाव होने पर उस को पितृप्रभृति काम्यभोगसाधन स्थूल रूप में ही प्राप्त हो सकते हैं, अतः शरीर की सत्ता का पक्ष भी उपन्न ही है, यह बादरायण की व्याख्या है।

अथाऽभावाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य शरीरेन्द्रियाणां स्थितिः।

विशयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य शरीरेन्द्रियाणामभावो भावो वेति।

पूर्वपक्षः– **"मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते, य एते ब्रह्मलोके"** (छा.८।१२।५-६) इति श्रुतौ मनसेति श्रवणाद् ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य शरीरेन्द्रियाणामभाव इति बादरेर् मतं वा, **"स एकधा भवति त्रिधा भवति"** (छा.७।२६।२) इति श्रुतौ विकल्पानामामननात् शरीराभावे च विकल्पानामसम्भवाद् ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्याऽपि शरीरेन्द्रियाणां भाव एवेति जैमिनेर् मतं वा समीचीनं स्यादिति।

उत्तरम्– यथोभयलिङ्गदर्शनाद् द्वादशाहस्य क्रतोरहीनत्वं सत्रत्वं च तथैव ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य च शरीरेन्द्रियाणामभावे भावे च लिङ्गस्य दर्शनात्, सङ्कल्पवशेन शरीरेन्द्रियाणामभावस्य भावस्य चोपपन्नत्वात्, शरीरेन्द्रियाभावेऽपि स्वप्ने इव पित्रादिभोगस्योपपत्तेः, शरीरेन्द्रियसत्त्वे च जागरितावस्थायामिव पित्रादिभोगस्योपपत्तेः ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य यथासङ्कल्पं शरीरेन्द्रियाणामभावो भावो वेत्युभयमुपपद्यते इति बादरायणमतमेव समीचीनमिति।

निर्णयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य यथासङ्कल्पं शरीरेन्द्रियाणामभावो भावो वेत्युभयमुपपन्नमिति बादरायणमतमेव समीचीनमिति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मलोकं गतस्याऽपि भोगस्तु श्रूयते श्रुतौ।
२. तस्य देहेन्द्रियाणां स्यादभावो भाव एव वा॥१॥
३. अभावस् स्याद् बादरेर् हि मते भावस् तु जैमिनेः।
४-५. सङ्कल्पतोऽभावभावौ बादरायणसम्मतौ॥२॥

१९०.(६) प्रदीपाधिकरणम् (सू. १५-१६)

ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य सगुणब्रह्मविद्यादिमतः सङ्कल्पेन निर्मितानां सर्वेषां शरीराणां साऽऽत्मकत्वं प्रतिपादयति–

५४८. प्रदीपवदावेशस् तथा हि दर्शयति ४।४।१५॥ इति।

"स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा" (छा.७।२६।२) इत्यादिका श्रुतिः खलु ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य एकस्यैवोपासकादिकस्य जनस्य अनेकेषु शरीरेषु अनेकेन भावेन चाऽऽवेशं दर्शयतीति यथा एकस्य प्रदीपस्य विकारशक्तियोगाद् अनेकासु वर्तिषु अनेकप्रदीपभावमापद्य आवेशो भवति तथैव एकस्याऽपि सतः सगुणब्रह्मोपासकादेर् जनस्य ऐश्वर्ययोगात् सत्यसङ्कल्पकत्वाद् एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवाऽपराण्यनेकानि शरीराणि सृष्ट्वा तेषूपाधिभेदादात्मनोऽप्यधिष्ठातृभावेनाऽनेकतां सम्पाद्य आवेशो भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "स एकधा भवति" इत्यादि श्रुति ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए एक ही उपासकादि का अनेक शरीरों में अनेक भावों से भी आवेश हो सकने की बात को दिखाती है। अतः जैसे एक ही प्रदीप का प्रदीप में विकार शक्ति होने से अनेक बत्तियों में अनेकप्रदीपभाव से आवेश हो सकता है, वैसे ही ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए एक ही उपासकादि का भी उस उपासकादि में ऐश्वर्य प्राप्त होने से सत्यसङ्कल्पत्व गुण आ जाने से एक ही मन के अनुवर्ती समनस्क अनेक शरीर उत्पादित कर के और उपाधिभेद से अपने को भी अनेक रूप में उपस्थापित कर के उन शरीरों में अधिष्ठातृभाव से आवेश हो सकता है।

५४९. स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ४।४।१६॥

"न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् द्विभक्क्तयं यत्त् पश्श्येत्" (मा.वा. शत.१४।७।१।२३, का.वा.बृह.४।३।३०) इति, "तत्त् केन कवं विजानीयात्" (मा.वा.शत. १४।७।३।२५, का.वा.बृह.४।५।१५) इति च विशेषसञ्ज्ञाऽभाववचनं स्वाप्ययरूपस्य सुषुप्तस्य सम्पत्तिरूपस्य विदेहकैवल्यस्य च मध्येऽन्यतरामवस्थामपेक्ष्य प्रवृत्तमस्तीति "अयम् पुरुषऽएतस्म्माऽअन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामङ् कामयते न कञ्चन स्स्वपप्ँनम् पश्श्यति" (मा.वा.शत.१४।७।१।१९, का.वा.बृह.४।३।१९) इति वचनेन "इदम् महद्द् भूतमनन्तमपारङ् कृत्स्नः प्प्रज्ञ्ँानघनऽएवैतेब्भ्यो भूतेब्भ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्श्यति न प्प्रेत्त्य सञ्ज्ञाऽस्तीति" (मा.वा.शत.१४।७।३।१३, द्र.– का.वा.बृह.४।५।१३) इति वचनेन च तस्मिँस्तस्मिन् प्रकरणे अधिकारवशादाविष्कृतमेवाऽस्तीति सुषुप्तस्य विदेहकैवल्यं प्राप्तस्य वैव विशेषसञ्ज्ञाऽभाववत्त्वम्, न तु सगुणब्रह्मविद्याविपाकादिमतो ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य सुषुप्तं विदेहकैवल्यं वाऽप्यप्राप्तस्योपासकादिकस्येति, ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य पित्रादिलोकभोगस्य नानाशरीरावेशस्य च प्रतिपादनं न विशेषसञ्ज्ञाऽभाववचनैर् विरुध्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "न तु तद् द्वितीयमस्ति" इत्यादि वचन से प्रतिपादित जीव के विशेष ज्ञान का अभाव सुषुप्तावस्था और विदेहकैवल्यावस्था में से किसी एक अवस्था को लेकर प्रतिपादित होने की बात उसी उसी प्रकरण के "अयम् पुरुषः" इत्यादि और "इदम् महद्द् भूतम्" इत्यादि वचन से स्पष्ट रूप में प्रकाशित ही है; अतः सुषुप्त अथवा विदेहकैवल्य में प्राप्त जीव का ही विशेषज्ञानरहितत्व होता है, सगुणब्रह्मोपासनादि से ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकादि का नहीं; अत एव ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकादि का पित्रादिलोक के भोग का और नाना शरीरों में नानाभाव से आवेश का प्रतिपादन जीव के विशेष ज्ञान के अभाव का प्रतिपादन करने वाले वचनों का विरुद्ध नहीं माना जा सकता है।

अथ प्रदीपाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा" (छा.७।२६।२) इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतानि ब्रह्मलोकं प्राप्तानां सगुणब्रह्मोपासकादीनां शरीराणि।

विशयः– एतानि शरीराणि दारुयन्त्रवन् निरात्मकानि उताऽस्मदादिशरीरवत् सात्मकानीति।

पूर्वपक्षः– अनाद्यन्तःकरणपरिच्छिन्नानां सगुणब्रह्मोपासनादिना ब्रह्मलोकं प्राप्तानां भोक्तृणामुपासकादीनां जीवानां नानाशरीरेषु युगपत् प्रवेशस्याऽसम्भवाद् उक्तानि शरीराणि दारुयन्त्रवन् निरात्मकानि स्युरिति।

उत्तरम्– यथा एकस्य प्रदीपस्य विकारशक्तियोगाद् अनेकासु वर्तिषु प्रदीपभावमापद्याऽऽवेशो भवितुं शक्नोति, तथैव एकस्याऽपि सतः सगुणब्रह्मोपासकादेर् जनस्य ऐश्वर्ययोगात् सत्यसङ्कल्पत्वाद् एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवाऽपराण्यनेकानि शरीराणि सृष्ट्वा तेषूपाधिभेदादात्मनोऽप्यनेकतां सम्पाद्याऽधिष्ठातृत्वेनाऽऽवेशो भवितुं शक्नोति, तस्माद् ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य भोक्तुरुपासकादेः ऐश्वर्यं गतस्य सत्यसङ्कल्पकत्वाद् भोगार्थं कृतानि अनेकानि शरीराणि अस्मदादिशरीरवत् सात्मकान्येव भवन्तीत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य भोक्तुरुपासकादेः ऐश्वर्यं गतस्य सत्यसङ्कल्पकत्वात् सङ्कल्पाऽनुसारं भोगार्थं कृतानि अनेकानि शरीराणि सात्मकान्येव भवन्तीत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. कार्यं ब्रह्म गतस्याऽपि शरीराणि श्रुतानि हि।
२. निरात्मकानि वा तानि भवेयुः सात्मकानि वा॥१॥
३. निरात्मकानि मनस एकत्वादिति के चन।
४-५. मनसामपि सृज्यत्वात् सात्मकानीति निर्णयः॥२॥

१९१.(७) जगद्व्यापाराधिकरणम् (सू. १७-२२)

सगुणब्रह्मविद्यादिमतो ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य ऐश्वर्यस्य विचारं प्रस्तौति–

५५०. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ४।४।१७॥ इति।

जगत्सृष्टिव्यापारस्य नित्यसिद्धं परमेश्वरं प्रकृत्य श्रुतौ (ऐ.१।१, तै.२।१, मा.वा.शत.१४।४।२।१-१७,२३-२६; का.वा.बृह.१।४।१-१५, छा.६।२।३) उपदेशात्, तत्र प्रकरणे सगुणब्रह्मोपासनादिना ब्रह्मलोकं गतानामनेकशरीरेन्द्रियमनःप्रभृतिसृष्ट्यादौ स्वातन्त्र्यमैश्वर्यं च प्राप्तानामप्युपासकादीनां जीवानामसन्निहितत्वात्, अनेकेषामीश्वराणां सत्त्वे जगत्सृष्टिस्थितिसंहाराणां विषये परस्परं विरोधस्य सम्भवाच्च तेषां जीवानां महाभूतादिजगत्सृष्ट्यादिव्यापारवर्जमन्येषु भोगव्यापारेष्वेवैश्वर्यं भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– जगत् की सृष्टि के कार्य का श्रुति में नित्यसिद्ध परमेश्वर के प्रकरण में ही प्रतिपादन होने से, उस प्रकरण में उपासनादि से ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए और अनेक शरीरादि की सृष्टि में स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य रखने वाले उपासकादि जीवों का सन्निधान (उल्लेख) न होने से, और

हिन्दी– "स एकधा भवति" इत्यादि श्रुति ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए एक ही उपासकादि का अनेक शरीरों में अनेक भावों से भी आवेश हो सकने की बात को दिखाती है। अतः जैसे एक ही प्रदीप का प्रदीप में विकार शक्ति होने से अनेक बत्तियों में अनेकप्रदीपभाव से आवेश हो सकता है, वैसे ही ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए एक ही उपासकादि का भी उस उपासकादि में ऐश्वर्य प्राप्त होने से सत्यसङ्कल्पत्व गुण आ जाने से एक ही मन के अनुवर्ती समनस्क अनेक शरीर उत्पादित कर के और उपाधिभेद से अपने को भी अनेक रूप में उपस्थापित कर के उन शरीरों में अधिष्ठातृभाव से आवेश हो सकता है।

५४९. स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ४।४।१६॥

"न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् द्विभक्क्तयं यतत् पश्श्येत्" (मा.वा. शत.१४।७।१।२३, का.वा.बृह.४।३।३०) इति, **"ततत् केन कवं विजानीयात्"** (मा.वा.शत. १४।७।३।२५, का.वा.बृह.४।५।१५) इति च विशेषसञ्ज्ञाऽभाववचनं स्वाप्ययरूपस्य सुषुप्तस्य सम्पत्तिरूपस्य विदेहकैवल्यस्य च मध्येऽन्यतरामवस्थामपेक्ष्य प्रवृत्तमस्तीति **"अयम् पुरुषऽएतस्म्माऽअन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामङ् कामयते न कञ्चन स्स्वप्पँनम् पश्श्यति"** (मा.वा.शत.१४।७।१।१९, का.वा.बृह.४।३।१९) इति वचनेन **"इदम् महद्द् भूतमनन्तमपारङ् कृत्स्नः प्प्रज्ज्ञानघनऽएवैतेब्भ्यो भूतेब्भ्यः समुत्थाय तान्न्येवाऽनुविनश्श्यति न प्प्रेत्त्य सञ्ज्ञाऽस्तीति"** (मा.वा.शत.१४।७।३।१३, द्र.– का.वा.बृह.४।५।१३) इति वचनेन च तस्मिँस्तस्मिन् प्रकरणे अधिकारवशादाविष्कृतमेवाऽस्तीति सुषुप्तस्य विदेहकैवल्यं प्राप्तस्य वैव विशेषसञ्ज्ञाऽभाववत्त्वम्, न तु सगुणब्रह्मविद्याविपाकादिमतो ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य सुषुप्तं विदेहकैवल्यं वाऽप्यप्राप्तस्योपासकादिकस्येति, ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकादिकस्य जनस्य पित्रादिलोकभोगस्य नानाशरीरावेशस्य च प्रतिपादनं न विशेषसञ्ज्ञाऽभाववचनैर् विरुध्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– "न तु तद् द्वितीयमस्ति" इत्यादि वचन से प्रतिपादित जीव के विशेष ज्ञान का अभाव सुषुप्तावस्था और विदेहकैवल्यावस्था में से किसी एक अवस्था को लेकर प्रतिपादित होने की बात उसी उसी प्रकरण के "अयम् पुरुषः" इत्यादि और "इदम् महद्द् भूतम्" इत्यादि वचन से स्पष्ट रूप में प्रकाशित ही है; अतः सुषुप्त अथवा विदेहकैवल्य में प्राप्त जीव का ही विशेषज्ञानरहितत्व होता है, सगुणब्रह्मोपासनादि से ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकादि का नहीं; अत एव ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकादि का पित्रादिलोक के भोग का और नाना शरीरों में नानाभाव से आवेश का प्रतिपादन जीव के विशेष ज्ञान के अभाव का प्रतिपादन करने वाले वचनों का विरुद्ध नहीं माना जा सकता है।

अथ प्रदीपाधिकरणस्वरूपम्

विषयः– "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा" (छा.७।२६।२) इत्यादिकायां श्रुतौ श्रुतानि ब्रह्मलोकं प्राप्तानां सगुणब्रह्मोपासकादीनां शरीराणि।

विशयः– एतानि शरीराणि दारुयन्त्रवन् निरात्मकानि उताऽस्मदादिशरीरवत् सात्मकानीति।

पूर्वपक्षः– अनाद्यन्तःकरणपरिच्छिन्नानां सगुणब्रह्मोपासनादिना ब्रह्मलोकं प्राप्तानां भोक्तृणामुपासकादीनां जीवानां नानाशरीरेषु युगपत् प्रवेशस्याऽसम्भवाद् उक्तानि शरीराणि दारुयन्त्रवन् निरात्मकानि स्युरिति।

उत्तरम्– यथा एकस्य प्रदीपस्य विकारशक्तियोगाद् अनेकासु वर्तिषु प्रदीपभावमापद्याऽऽवेशो भवितुं शक्नोति, तथैव एकस्याऽपि सतः सगुणब्रह्मोपासकादेर् जनस्य ऐश्वर्ययोगात् सत्यसङ्कल्पत्वाद् एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवाऽपराण्यनेकानि शरीराणि सृष्ट्वा तेषूपाधिभेदादात्मनोऽप्यनेकतां सम्पाद्याऽधिष्ठातृत्वेनाऽऽवेशो भवितुं शक्नोति, तस्माद् ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य भोक्तुरुपासकादेः ऐश्वर्यं गतस्य सत्यसङ्कल्पकत्वाद् भोगार्थं कृतानि अनेकानि शरीराणि अस्मदादिशरीरवत् सात्मकान्येव भवन्तीत्यवगम्यते इति।

निर्णयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य भोक्तुरुपासकादेः ऐश्वर्यं गतस्य सत्यसङ्कल्पकत्वात् सङ्कल्पाऽनुसारं भोगार्थं कृतानि अनेकानि शरीराणि सात्मकान्येव भवन्तीत्यवगम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. कार्यं ब्रह्म गतस्याऽपि शरीराणि श्रुतानि हि।
२. निरात्मकानि वा तानि भवेयुः सात्मकानि वा॥१॥
३. निरात्मकानि मनस एकत्वादिति के चन।
४-५. मनसामपि सृज्यत्वात् सात्मकानीति निर्णयः॥२॥

१९१.(७) जगद्व्यापाराधिकरणम् (सू. १७-२२)

सगुणब्रह्मविद्यादिमतो ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य ऐश्वर्यस्य विचारं प्रस्तौति—

५५०. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ४।४।१७॥ इति।

जगत्सृष्टिव्यापारस्य नित्यसिद्धं परमेश्वरं प्रकृत्य श्रुतौ (ऐ.१।१, तै.२।१, मा.वा.शत.१४।४।२।१-१७,२३-२६; का.वा.बृह.१।४।१-१५, छा.६।२।३) उपदेशात्, तत्र प्रकरणे सगुणब्रह्मोपासनादिना ब्रह्मलोकं गतानामनेकशरीरेन्द्रियमनःप्रभृतिसृष्ट्यादौ स्वातन्त्र्यमैश्वर्यं च प्राप्तानामप्युपासकादीनां जीवानामसन्निहितत्वात्, अनेकेषामीश्वराणां सत्त्वे जगत्सृष्टिस्थितिसंहाराणां विषये परस्परं विरोधस्य सम्भवाच्च तेषां जीवानां महाभूतादिजगत्सृष्ट्यादिव्यापारवर्जमन्येषु भोगव्यापारेष्वेवैश्वर्यं भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी– जगत् की सृष्टि के कार्य का श्रुति में नित्यसिद्ध परमेश्वर के प्रकरण में ही प्रतिपादन होने से, उस प्रकरण में उपासनादि से ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए और अनेक शरीरादि की सृष्टि में स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य रखने वाले उपासकादि जीवों का सन्निधान (उल्लेख) न होने से, और

जगत्सृष्टि में अनेक ईश्वर संलग्न होनेपर जगत् के सृष्टि-स्थिति-संहारों के विषय में परस्पर विरोध होने की सम्भावना भी रहने से उपासनादि से ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि जीवों का महाभूतादि जगत् के सृष्ट्यादि के व्यापार को छोडकर अन्य भोगसामग्री के सृष्ट्यादि के व्यापार में ही स्वातन्त्र्य तथा ऐश्वर्य होने की बात अवगत होती है।

५५१. प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ४।४।१८॥

सगुणब्रह्मोपासकादीनां विदुषाम् "आप्नोति स्वाराज्यम्" (तै.१।६।२) इति प्रत्यक्षया श्रुत्या ऐश्वर्यस्योपदिष्टत्वात् तेषां निरङ्कुशमैश्वर्यं गम्यते इति चेत्, विदुषः प्राप्यत्वेन उत्तरवाक्ये "आप्नोति मनसस्पतिम्" (तै.१।६।२) इति आधिकारिकस्याऽऽदित्यमण्डलस्थस्य परमेश्वरस्योक्तत्वाद् न विदुषां तादृशं जगत्सृष्ट्यादिव्यापारेऽपि निरङ्कुशमैश्वर्यं गम्यते, किन्तु परमेश्वराधीनमेव पित्रादिलोकभोगविषयकं तेषामैश्वर्यं गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "आप्नोति स्वाराज्यम्" इस प्रत्यक्षश्रुतिवाक्य से सगुणब्रह्म के उपासक विद्वानों का ऐश्वर्य प्रतिपादित होने से उन का ऐश्वर्य निरङ्कुश ही अवगत होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्यों कि "आप्नोति मनसस्पतिम्" इस उत्तरवाक्य में विद्वानों के प्राप्तव्य के रूप में आदित्यमण्डलस्थ आधिकारिक पूर्वसिद्ध ईश्वर का प्रतिपादन होने से विद्वानों का ऐश्वर्य पूर्वसिद्ध ईश्वर के अधीन ही होने की बात अवगत होती है।

५५२. विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ४।४।१९॥

"एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश् च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" (ऋ.१०।९०।३, मा.वा.शु.य.वे.म.सं.३१।३, द्र.- छा.३।१२।६) इति श्रुतिर् विकारवर्ति विकाराऽवर्ति च पारमेश्वरं रूपमिति तस्य द्विविधां स्थितिमाह इति विकाराऽवर्ति च पारमेश्वरं रूपमस्तीति गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "एतावानस्य महिमा" इत्यादि श्रुति परमेश्वर का रूप विकारों में व्याप्त और विकारों से बाहर भी होने से परमेश्वर की द्विविध स्थिति को बताती है, अतः पारमेश्वर रूप का विकारों से बाहर भी रहने की बात अवगत होती है।

५५३. दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ४।४।२०॥

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः" (कठो.२।२।१५, श्वेता.६।१४, मुण्डको.२।२।१०) इति प्रत्यक्षशब्दप्रतिपाद्या श्रुतिः, "न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः" (गीता.१५।६) इति अनुमानशब्दबोध्या स्मृतिश्च एवं विकाराऽवर्ति पारमेश्वरं रूपं स्फुटतरं दर्शयतश्चेत्यर्थः।

यथा तद् विकारावर्ति पारमेश्वरं रूपं सगुणब्रह्मोपासकादिभिर् ब्रह्मलोकं प्राप्तैरपि तदानीं न प्राप्यते तथैव सगुणस्य परमेश्वरस्य निरङ्कुशमैश्वर्यमपि तैस्

तदानीं न प्राप्यते; अतस् तेषामैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादिव्यापारवर्जमेव भवतीति सूत्रद्वय-तात्पर्यं बोध्यम्।

हिन्दी – "न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि प्रत्यक्षशब्दवाच्य श्रुति और "न तद् भासयते सूर्यः" इत्यादि अनुमानशब्दवाच्य स्मृति ये दोनों ही इस प्रकार के विकारों से बाहर भी रहनेवाले परमेश्वर के रूप को दिखाती ही हैं।

जैसे विकार से बाहर रहनेवाले उस परमेश्वर के रूप को ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि उस समय में प्राप्त नहीं करते हैं, वैसे ही सगुण परमेश्वर के निरङ्कुश ऐश्वर्य को भी वे उपासकादि नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस स्थिति में ब्रह्मलोक में प्राप्त उन उपासकादि का ऐश्वर्य जगत् के सृष्ट्यादि व्यापार को छोड कर अन्य उपभोग्य पितृप्रभृतिलोकों के सृष्ट्यादि के विषय में ही होने की बात स्पष्ट होती है। विकारावर्ति च इत्यादि दो सूत्रों का यही भाव है।

५५४. भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ४।४।२१॥

"स यथैतान् देवता੦ सर्व्वाणि भूतान्यवन्त्येव६ हैवंविद६ सर्व्वाणि भूतान्यवन्ति" (मा.वा.शत.१४।४।३।२९, का.वा.बृह.१।५।२०) इत्यादिकासु श्रुतिषु दृश्यमानाद् ब्रह्मलोकस्थ-सगुणब्रह्मोपासकादिजीव-परमेश्वरयोर् भोगयोरेव साम्यस्य लिङ्गात्, "तेनोऽएतस्यै देवतायै सायुज्ज्य६ सलोकताञ्जयति" (मा.वा.शत. १४।४।३।३४, का.वा.बृह.१।५।२३) इत्यादिकासु श्रुतिषु दृश्यमानात् सगुणब्रह्मो-पासकादिजीव-परमेश्वरयोर् भेदस्य लिङ्गाच्च सगुणब्रह्मोपासकादीनां ब्रह्मलोकं प्राप्तानां जीवानामैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादिव्यापारवर्जमन्येषु भोगेष्वेव भवतीति अव-गम्यते इत्यर्थः।

हिन्दी – "स यथैतान्" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकादि के और परमेश्वर के भोगों में ही साम्य का लिङ्ग देखे जाने से, और "तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्ज्यं सलोकताञ्जयति" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासक में और परमेश्वर में भेद रहने का लिङ्ग देखे जाने से भी उपासनादि से ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकादि का स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य जगत् के सृष्ट्यादि के व्यापार को छोडकर अन्य भोगसामग्री के सृष्ट्यादि के व्यापार में ही होने की बात अवगत होती है।

५५५. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ४।४।२२॥

यावज्जीवं सगुणब्रह्मोपासनादिकं कृत्वा स्थूलशरीरपातकाले मूर्धन्य-नाडीरश्मिसमन्वितेन अर्चिरादिपर्वणा देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तानां जीवाना-मैश्वर्यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण साङ्कुशत्वेऽपि "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" (कठो.२।३।१६, छा.८।६।६), "तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति" (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह. ६।२।२५), "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवावर्तं नाऽऽवर्तन्ते" (छा.४।१५।६), "ब्रह्म-

लोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते" (छा.८।१५।१) इत्यादिकाच्छब्दाद् ब्रह्मलोकादेतस्मिँल्लोके त्वनावृत्तिरेव भवति; यावन्महाप्रलयं ब्रह्मलोके एव पुनःपुनरावर्तनेऽपि ब्रह्मलोकादेतं मर्त्यलोकं प्रति आवर्तनं तु नैव भवतीत्यवगम्यते इत्यर्थः। **"इह"** इति **"इमं मानवावर्तम्"** इति च श्रुतत्वात्, **"आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन"** (गीता.८।१६) इति स्मृतत्वाच्च ब्रह्मलोकं गतानामपि आ महाकल्पप्रलयं प्रतिकल्पं ब्रह्मलोके एव पुनःपुनर् जन्मेति ब्रह्मलोके त्वावर्तनं भवतीति गम्यते। यत् तु मधुसूदनेन गीताव्याख्यायाम् आ ब्रह्मभुवनाल्लोका इत्यादिके श्लोके **"अत्रेयं व्यवस्था ये क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिर् ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनानां ब्रह्मणा सह मोक्षः, ये तु पञ्चाग्निविद्यादिभिरतत्क्रतवोऽपि तत्र गतास्तेषामवश्यम्भावि पुनर्जन्म, अत एव क्रममुक्त्यभिप्रायेण *'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते', 'अनावृत्तिः शब्दात्'* इति श्रुतिसूत्रयोरुपपत्तिः, इतरत्र *'तेषामिह न पुनरावृत्तिः', 'इमं मानवावर्तं नाऽऽवर्तन्ते'* इति *'इह', 'इमम्'* इति च विशेषणाद् गमनाधिकरणकल्पादन्यत्र पुनरावृत्तिः प्रतीयते"** (८।१६) इत्युक्तम्; यच्च नीलकण्ठेन, धनपतिना, श्रीधरेण, अभिनवगुप्ताचार्यपूर्ववर्तिभिर् बहुभिर् व्याख्यातृभिश्च मधुसूदनोक्तार्थानुकूलं जल्पितम्, तत् सर्वमेव यथा श्रुतौ पितृलोकादावर्तनस्य मार्गो वर्णितस्तथा ब्रह्मलोकादावर्तनस्य मार्गो न वर्णित इति, अप्रतीकालम्बनानिति सूत्रे (४।३।१५) पञ्चाग्निविद्याप्रकरणस्थायाः **"स एनान् ब्रह्म गमयति"** (छा.५।१०।२) इत्यादिकायाः श्रुतेरनुरोधादतत्क्रतूनामपि ब्रह्मलोकं प्रति गमनं शङ्करभगवत्पादेनाऽपि यथाश्रुतमेव स्वीकृतमिति, **"एकया यात्यनावृत्तिम्"** (गीता.८।२६) इति गीतावचनस्यैवाऽपि प्रतिकूलमिति च अनुपपन्नमेवाऽवसीयते। न च मधुसूदनोक्तार्थानुकूलं व्याख्यानं शङ्करभगवत्पादेन क्वचित् कृतं दृश्यते। अभिनवगुप्ताचार्येण च स्वपूर्ववर्तिभिः सर्वैः कृतमपि मधुसूदनोक्तार्थानुकूलं व्याख्यानमनादृतमेव दृश्यते। ब्रह्मलोकं गतानां यथा न पुनरावृत्तिर् भवति तथा **"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहाऽतः परमभिधानात्"** (४।३।१०) इति सूत्रे प्रतिपादितमेव। एतस्य सूत्रस्याऽपवादसूत्रं तु ब्रह्ममीमांसासूत्रे किमपि न दृश्यते। यच् च **"यस्तु वैराग्यवानेव ज्ञानहीनो म्रियेत चेत्। ब्रह्मलोके वसेन् नित्यं यावत्कल्पं ततः परम्॥ शुचीनां श्रीमतां गेहे भवेत् तस्य जनिः पुनः। करोति साधनं पश्चात् ततो ज्ञानं हि जायते"** इति देवीभागवते (७।३७।३६,३७) पठितं तत् तु **"पार्थ नैवेह नाऽमुत्र विनाशस् तस्य विद्यते। न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥ प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां**

गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" इत्यादिकया गीतोक्त्या (६।४१) तुल्यमवगम्यमानं सद् दक्षिणमार्गेणैव प्राप्यस्य स्वर्गविशेषस्य ब्रह्मलोकत्वं स्वीकृत्य प्रोक्तं प्रतीयते। अधिकं **"स्मृतेश्च"** (४।३।१०) इति सूत्रस्य व्याख्याने द्रष्टव्यम्। इहैव निर्विशेष-परमात्मज्ञानं कृतवतां सर्वथाविनिवृत्ततमसां नित्यसिद्धमोक्षाणां विदुषां तु आवृत्तेः काऽपि सम्भावनैव न भवतीति परविद्याफलप्रतिपादनप्रसङ्गे (४।४।१-७) आवृत्त्य-नावृत्त्योश् चर्चा न कृता सूत्रकारेणेति च बोध्यम्। सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्ति-द्योतनाय कृतोऽवगन्तव्यः।

हिन्दी – सगुणब्रह्मोपासनादि से ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए उपासकों का इस लोक में आवृत्ति (पुनर्जन्म) न होने की बात **"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति"**, **"तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्त्ति"** इत्यादि वेदशब्द से अवगत होती है।

अथ जगद्व्यापाराधिकरणस्वरूपम्

विषयः– **"तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"** (छा.७।२५।२, ८।१।६) इत्यादिकासु श्रुतिषु श्रुतं ब्रह्मलोकं प्राप्तानामुपासकादीनामैश्वर्यम्।

विशयः– ब्रह्मलोकं प्राप्तानामुपासकादीनामैश्वर्यं निरपवादं वा सापवादमिति।

पूर्वपक्षः– **"आप्नोति स्वाराज्यम्"** (तै.१।६।२), **"सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति"** (तै.१।५।३) इत्यादिकानां श्रुतीनां दर्शनान् निरपवादमेव खलु ब्रह्मलोकं प्राप्तानामुपासकादीनामैश्वर्य-मवगम्यते इति।

उत्तरम्– जगत्सृष्ट्यादिव्यापारस्य नित्यसिद्धं परमेश्वरं प्रकृत्य श्रुतावुपदेशात्, जगत्-सृष्ट्यादिप्रकरणे ब्रह्मलोकं गतानामुपासकादीनां सन्निधानस्याऽनुक्तत्वात्, अनेकेषां परमेश्वराणां सत्त्वे जगत्सृष्टिस्थितिसंहाराणां विषये परस्परं विरोधस्य सम्भवात्, ब्रह्म-लोकं गतानामुपासकादीनामपि प्राप्यत्वेन आधिकारिकस्याऽऽदित्यमण्डलस्थस्य परमेश्वर-स्योक्तत्वात्, ब्रह्मलोकं प्राप्तानां जीवानां विकाराऽवर्तिनः पारमेश्वररूपस्याऽप्राप्तेरिव जगत्सृष्ट्यादावैश्वर्यस्याऽप्राप्तेरपि समुचितत्वात्, श्रुतौ ब्रह्मलोकस्थोपासकादिजीव-परमे-श्वरयोर् भोगयोरेव समताया लिङ्गस्य दर्शनात्, जगत्सृष्ट्यादिव्यापारे अनैश्वर्येऽपि ब्रह्म-लोकं प्राप्तानां परमेश्वरतुल्यानां जीवानां परमेश्वरभिन्नत्वादेव तेषां मर्त्यलोकं प्रति पुन-रावर्तनस्य सम्भावनामपेक्ष्य **"तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्त्ति"** (मा.वा.शत.१४।९।१।१८, का.वा.बृह.६।२।२५), **"न च पुनरावर्तते"** (छा.८।१५।१) इत्यादिना तेषां पुनरावर्तन-स्याऽभावस्य श्रुत्या प्रतिपादितत्वाच्च परमेश्वरभिन्नानां तेषां सापवादमेवैश्वर्यमिति गम्यते इति।

निर्णयः– सगुणब्रह्मोपासनादिना ब्रह्मलोकं प्राप्तानां जीवानां जगत्सृष्ट्यादिव्यापारं विहाया-ऽन्येषु भोगव्यापारेष्वेवैश्वर्यं भवतीति सापवादमेवैश्वर्यमिति गम्यते इति।

तत्राऽयमधिकरणार्थसङ्ग्रहः

१. ब्रह्मलोकं गतानां हि कामचारः श्रुतः श्रुतौ।
२. जगत्सृष्ट्यादिकेऽपि स्याद् व्यापारे सोऽथवा न वा॥१॥
३. स्वाराज्यप्राप्तेः श्रवणात् स्यात् तत्राऽपीति के चन।
४-५. सृष्टिवाक्येऽश्रुतेस् तेषां नैव तत्रेति निर्णयः॥२॥

अथ वृत्तिकारपरिचयादिकम्

एतद्ब्रह्माण्डमध्यस्थ-भूर्लोकान्तर्गते शुभे।
भूमण्डलगते जम्बूद्वीपे भारतवर्षके॥१॥
कुमारीखण्डके चाऽपि हिमवत्खण्डमध्यगे।
पावने गण्डकीक्षेत्रे त्रितुङ्गाचलमण्डिते॥२॥
पूते जनपदे रम्ये पादैर् गौरीगुरोर् युते।
वसिष्ठस्याऽरुन्धतीतोऽन्यस्यां पत्न्यां समुद्गतः॥३॥
मैत्रावरुणनामा य ऋषिस् तस्य सुतस्य च।
कुण्डिनस्य ऋषेर् मन्त्रद्रष्टुर् वंशे समुद्गतः॥४॥
माध्यन्दिनीयकाचार्यो वार्तावृत्तिगृहस्थकः।
नारनाथिश्च गाङ्गेयो मतिसागरशिष्यकः॥५॥
पूषदत्तो भनाम्ना हि लगधोक्त्यनुसारिणा।
शिवाभिधो ह्यतनुत वृत्तिमेतां द्विजोत्तमः॥६॥
गतप्राये च खखखा-ऽक्षि-सूच्ये (२०००) क्रैस्तवत्सरे।
प्रविष्टे चर्तुरसखभूतैः (५०६६) संसूच्यके शुभे॥७॥
कृष्णस्वर्गारोहणतो गणिते तु युगाब्दके।
आहिर्बुध्न्ये युगे षष्ठे पञ्चाब्दे वेदभाषिते॥८॥
संवत्सराख्ये प्रथमे वर्षे नन्दननामके।
तपश्शुक्लादिके चान्द्रे वर्षे वैदिकसम्मते॥९॥
शिशिरर्तौ तपोमासे पक्षे च धवले स्थिते।
द्वितीयायां चोत्तराभिरषाढाभिर् युते विधौ॥१०॥
धनुर्मासे निरयणे द्वादशे दिवसे स्थिते।
सायने मकरेऽर्के तु स्थिते च बुधवासरे॥११॥
श्रौतस्य ब्रह्ममीमांसासूत्रस्य प्रथितस्य च।
विविधाङ्गयुता वृत्तिरेषा सम्पूर्णतां गता॥१२॥

गणिते जन्मतो ग्रन्थ-कर्तुः षष्टितमेऽब्दके।
पूर्णकल्पे पुराऽऽरब्धो ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ॥१३॥

परमात्मप्रसादेन निष्पन्ना वृत्तिरीदृशी।
बुभूत्सूनां च विदुषां साम्येन प्रियतामियात् ॥१३॥

इति श्रीवेदव्यास-बादरायणमुनिकृते ब्रह्ममीमांसासूत्रे शङ्करभगवत्पादकृत-शारीरकमीमांसाभाष्यानुकूलायां कौण्डिन्न्यायनाचार्यकृतायां वृत्तौ चतुर्थे ब्रह्मज्ञानफलनिरूपणपरेऽध्याये चतुर्थो निर्गुणब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणाख्यः पादः समाप्तः॥

॥ समाप्तश्चाऽयं फलाध्यायश्चतुर्थः॥

॥ परिपूर्णश्च कौण्डिन्न्यायनवृत्तिसहितो ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थः॥

ब्रह्ममीमांसासूत्रपदानुक्रमणिका

(अत्र स्थूलाक्षराणि पदानि सूत्रादावागतानि बोध्यानि)

उ

च

फ

म

य

ह

वृत्त्युदधृतग्रन्थान्तरवाक्यानुक्रमणिका

सङ्केतानुक्रमणिका

अथर्व.= शौनकिनाम् अथर्ववेदमन्त्र-संहितायाम्।

अनु.= अनुशासनपर्वणि (महाभारतस्य, चित्रशालासंस्करणस्य)।

आदि.= आदिपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशलासंस्करणस्य)।

आनन्दाश्रम.=आनन्दाश्रमप्रकाशिते संस्करणे।

आपस्तम्बध.= आपस्तम्बधर्मसूत्रे।

आपस्तम्बश्रौ.= आपस्तम्बश्रौतसूत्रे।

आश्व.= आश्वमेधिकपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य)।

इ.= इत्यादि इत्यादौ वा।

ईशा.= ईशावास्योपनिषदि।

उद्योग.= उद्योगपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य।

ऋ.= शैशिरीय-शाकल-ऋग्वेद-मन्त्रसंहितायाम्।

ऐ.= ऐतरेय्युपनिषदि (ऐतरेयोपनिषदि)।

ऐ.आ.= ऐतरेय्यारण्यके (ऐतरयारण्यके)।

ऐ.ब्रा.= ऐतरयिब्राह्मणे (ऐतरयब्राह्मणे)।

कठो.= कठोपनिषदि (काठकोपनिषदि)।

कपिष्ठलकठ.= कपिष्ठलकठ-कृष्णयजुर्वेदसंहितायाम्।

का.ईशा.= काण्व-वाजसनेयिशुक्ल यजुर्वेदेशावास्योपनिषदि।

काठक.= काठककृष्णयजुर्वेदसंहितायाम्।

कात्यायनश्रौ.= कात्यायनश्रौतसूत्रे।

का.वा.बृह.= काण्ववाजसनेयि-शुक्ल यजुर्वेदबृहदारण्यकोपनिषदि।

का.वा.शत.=काण्व-वाजसनेयिशुक्ल यजुर्वेदशतपथब्राह्मणे।

कूर्मपु.= कूर्मपुराणे।

केनो.=केनोपनिषदि।

कैवल्यो.= कैवल्योपनिषदि।

कौषी.= कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि।

क्रै.= क्रैस्ताब्दे।

गीता.= गीतायाम् (श्रीमद्भगवद्गीतायाम्)।

गौतमध.= गौतमधर्मसूत्रे।

छा.= छान्दोग्योपनिषदि।

जाबालो.= जाबालोपनिषदि।

जैमिनीयधर्ममी.= जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रे।

ताण्डि.= ताण्डिमहाब्राह्मणे।

तै.= तैत्तिरीयोपनिषदि।

तै.आ.= तैत्तिरीयारण्यके।

तै.ब्रा.= तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेदब्राह्मणे।

तै.सं.= तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेदसंहितायाम्।

दक्ष.= दक्षस्मृतौ।

देवीभाग.= देव्रीभागवते।

द्र.= द्रष्टव्यम् (द्रष्टव्यः, द्रष्टव्या)।

ध्यान.= ध्यानदीपे।

नृसिंहोत्तर.= नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषदि।

पञ्च.= पञ्चदश्याम्।

पद्मपु.= पद्मपुराणे।

पारस्करगृ.= पारस्करगृह्यसूत्रे।

पा.व्या.अष्टा.= पाणिनीयव्याकरणाष्टाध्याय्याम्।

पा.व्या.भा.= पाणिनीयव्याकरणभाष्ये।

पृ.= पृष्ठे।

प्रश्नो.= प्रश्नोपनिषदि।

बृ.भा.वा.= बृहदारण्यकभाष्यवार्तिके।

बृह.= (काण्व-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद-) बृहदारण्यकोपनिषदि।

बौधायनध.= बौधायनधर्मसूत्रे।

बौधायनश्रौ.= बौधायनश्रौतसूत्रे।

ब्रह्ममी.= ब्रह्ममीमांसासूत्रे।
ब्रह्माण्डपु.= ब्रह्माण्डपुराणे।
भाग.= भागवते (विष्णुभागवते, श्रीमद्भागवते)।
भारद्वाजश्रौ.= भारद्वाजश्रौतसूत्रे।
मत्स्यपु.= मत्स्यपुराणे।
मनु.= मनुस्मृतौ।
महा.= महाभारते (चित्रशालासंस्करणे)।
महानारायणो.= महानारायणोपनिषदि।
माण्डूक्यो.= माण्डूक्योपनिषदि।
मा.वा.ईशा.= माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेदेशावास्योपनिषदि।
मा.वा.शत.= माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद-शतपथब्राह्मणे।
मा.वा.शु.य.वे.म.सं.= माध्यन्दिनीय-वाजसनेयि-शुक्लयजुर्वेद-मन्त्रसंहितायाम्।
मिता.= मिताक्षरायां गौतमधर्मसूत्रवृत्तौ।
मुक्तिको.= मुक्तिकोपनिषदि।
मुण्डको.= मुण्डकोपनिषदि।
मैत्रायणीयसं.= मैत्रायणीय-कृष्णयजुर्वेद संहितायाम्।
मैत्रायणीयो.= मैत्रायणीयोपनिषदि।
याज्ञ.= याज्ञवल्क्यस्मृतौ।
लिङ्गपु.= लिङ्गपुराणे।
वन.= वनपर्वणि (महाभारतस्य, चित्रशालासंस्करणस्य)।
वराहो.= वराहोपनिषदि।
वायुपु.= वायुपुराणे।
वासिष्ठध.= वासिष्ठधर्मसूत्रे।
विष्णुपु.= विष्णुपुराणे।
वैखानसश्रौ.= वैखानसश्रौतसूत्रे।
शल्य.= शल्यपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य)।
शा.आ.= शाङ्खायनीयारण्यके।
शाट्यायनीयो.= शाट्यायनीयोपनिषदि।
शाण्डिल्यो.= शाण्डिल्योपनिषदि।
शान्ति.= शान्तिपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य)।
शाबरभा.= (जैमिनीयधर्ममीमांसासूत्रस्य) शाबरभाष्ये।
शिवपु.= शिवपुराणे।
श्लो.= श्लोकसङ्ख्या।
श्वेताश्वतरो.= श्वेताश्वतरोपनिषदि।
सङ्क्षेपशा.= सङ्क्षेपशारीरके।
सत्याषाढश्रौ.= सत्याषाढश्रौतसूत्रे।
सभा.= सभापर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य)।
साङ्ख्यका.= साङ्ख्यकारिकायाम्।
सात.= सातवलेकरसंस्करणे (महाभारतस्य)।
सृष्टि.= सृष्टिखण्डे (पद्मपुराणस्य)।
सौप्तिक.= सौप्तिकपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य)।
स्त्री.= स्त्रीपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य)।
स्वर्गारोहण.= स्वर्गारोहणपर्वणि (महाभारतस्य चित्रशालासंस्करणस्य)।